1.4

अद्वैत-वेदान्त

इतिहास तथा सिद्धान्त

प्रोफ़ेसर राममूर्ति शर्मा

ABOUT THE BOOK

On behalf of myself and my Russian colleagues who are studying the problems of Ancient Indian Literature, we wish great success to Dr. Ram Murti Sharma Ph.D., D. Litt. and through him all research scholars, new successes and fruitful results of their deep investigation. Dr. Sharma has made a most valuable contribution to the subject through his D. Litt. thesis -Advaita Vedānta. Undoubtedly his work is first of its kind.

-E. P. CHELISHEV

Doctor of Literature, Professor
Vice-President of the Society of Joint Indian Culture Relations
Member of the Soviet Peace Cammitteh
Jawahar Lal Nehru Award Winner

.........Taking into consideration the vast range of the topic, its comprehensive outlook and the scholarly method employed in working out its detailed treatment, characterized both by caution and critical insight, there is no doubt that the present work is a most valuable and scholarly contribution to the subject. The work is first of its kind and I congratulate Dr. Sharma for his high scholarship and contribution to the subject

DR. MANGAL DEV SHASTRI
M.A., D. Phil. (Oxon)
Ex-Vice-Chancellor, Sanskrit University, Varanasi

Dr. Sharma has consulted all possible relevant sources for collecting material for his thesis. He has ably made out a case to prove that Vedānta has been one of the main currents of philosophic thoughts in the east and the west. He has for the first time given a systematic exposition of the development of the Advaita from the earliest times till up to date and as such his thesis is charactrised by a fresh aproach towards interpretation of facts,

DR. UMESH MISHRA
M.A., D. Litt.
University of Allahabad

Rs. 550.00

अद्वैत वेदान्त

SATISH KUMAR MISHRA

अद्वैत वेदान्त

(इतिहास तथा सिद्धान्त)

डॉ० राममूर्ति शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी., डी० लिट्., शास्त्री,
एफ़. आर. ए. एस. (लन्दन),
राष्ट्रपतिसम्मानित एवं पुरस्कृत

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली–११०००७

तृतीय संस्करण : १९९८

I.S.B.N. : 81-86339-53-1

मूल्य : रु० ५५०.००

लेज़र कम्पोजिंग : एस० एन० कम्प्यूटर्स
लारेंस रोड, दिल्ली-३४ फोन-७२८०७९९

मुद्रक–अमर प्रिंटिंग प्रेस, (शाम प्रिंटिंग एजेन्सी)
८/२५ डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली–११०००९

परम पूज्य-

'परमाचार्य' श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती

श्री शङ्कराचार्य, काञ्ची कामकोटि पीटम्

(काञ्चीपुरम्) की पुण्य स्मृति में

ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते

–शंकराचार्य

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः

–गौडपादकारिका, १।१०

भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा

–गौडपादकारिका, २।३३

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ।।

–गौडपादकारिका, २।३६

प्राक्कथन

तृतीय संस्करण

(१९९७)

मुझे परम हर्ष है कि मेरे जैसे अल्पज्ञ द्वारा किए गए भारतीय दर्शन, विशेषतः वेदान्त के चिन्तन को भारतीय दर्शन एवं वेदान्त के जिज्ञासुओं, विद्यार्थियों एवं विपश्चिद्वर्ग ने हृदय से स्वागत किया है। मैं इन सभी का अत्यन्त कृतज्ञ हूं। मुझे प्रस्तुत प्रयास–"अद्वैत वेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त" को भारतीय दर्शन एवं वेदान्त के पाठकों को उपहृत करते समय प्रचुर प्रसन्नता हो रही है।

मैं मानता हूं कि वेदान्त के अनुशीलन से जीवन में जो शान्ति एवं सुख मिलता है, वह अन्य किसी पद्धति से नहीं। इसका कारण इस दर्शन की सत्ताविवेचना, आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, धर्मानुकूलता, लोकोपादेयता एवं इसका निर्गलित होना है। साम्प्रदायिक एवं सामाजिक समस्याप्रधान युग में वेदान्त की उपादेयता देश विदेश में जिस मुग्धभाव से स्वीकार की जा रही है, वह इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। इस लोकप्रियता का कारण यही है कि एकात्मवाद की दृष्टि के कारण वेदान्त दर्शन एक सार्वभौम सम्पत्ति है, जिसमें मानव मात्र भागीदार है। वेदान्त का उद्देश्य यदि देखा जाय तो एक ऐसे आदर्श मानव का स्वरूप प्रस्तुत करना है, जो मोह एवं दम्भादि से दूर रह कर अनासक्ति भाव से सत्कर्मों का सम्पादन करते हुए जीवन्मुक्त का व्यवहार करता है। न उसमें आकांक्षाऐं होती हैं और न तृष्णा, न ईर्ष्या और न द्वेष। ऐसे आदर्श व्यक्ति का एक ही भाव प्रधान होता है, और वह है–अद्वैत भाव।

यह निःसङ्कोच कहा जा सकता हैं कि मेरी कृतियों–"शङ्कराचार्य के मायावाद का आलोचनात्मक अध्ययन" तथा "अद्वैत वेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त" के पाठकों से मिले प्रोत्साहन का ही यह परिणाम है कि इनके पश्चात् मैं, वेदान्तसार (सम्पादित) वैदिक साहित्य का इतिहास, Some Aspects of Advaita philosophy, Glimpses of vedānta, Encyclopaedia of vedānta. The Veda and Vedanta तथा Vedic cosmogony को वेद-वेदान्त के सुहृत् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूं।

जहां तक प्रस्तुत ग्रन्थ, "अद्वैत वेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त" की बात है, इसके समादर का इस से बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वेदान्त का कदाचित् ही कोई शोधार्थी हो जो अपने शोधकार्य में इस ग्रन्थ का उपयोग न करता हो। मेरे लिए यह "काव्यं यशसे" की दृष्टि से परम सन्तोष का विषय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारतीय दर्शन एवं वेदान्त का सुधी पाठकसमाज इस ग्रन्थ का पूर्ववत् स्वागत करेगा तथा मुझे स्वाध्याय की पुनः प्रेरणा देगा।

अरविन्द दर्शन के मनीषी चिन्तक श्रद्धेय डा० किरीट जोशी जी से मुझे अपने अध्ययन-चिन्तन में सदैव सत्परामर्श मिलता रहा है, जिसके लिए मैं उनका अतिशय कृतज्ञ हूँ।

ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वत्वाधिकारी श्री शाम मलहोत्रा मेरे हर लेखन को सादर एवं सप्रेम प्रकाश में लाने के लिए संनद्ध रहते हैं, इसके लिए उन्हें मेरा धन्यवाद एवं शुभ कामनाऐं हैं। इसी प्रकार उनके पुत्रद्वय– भी उनके अनुसर्ता हैं, एवतदर्थ मैं उनकी पूर्ण सफलता की कामना करता हूं।

मणिद्वीप — रामपूर्ति शर्मा

दिल्ली, १९९७

प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

(१९८७)

सम्प्रति 'अद्वैत वेदान्त : इतिहास का सिद्धान्त' का द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। भारतीय दर्शन के सामान्य जिज्ञासुओं विशेषतः' वेदान्त के अध्येताओं, शोधकर्ताओं एवं मनीषी विपश्चितों द्वारा इस ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन किया गया है, यह मेरे लिए गौरव की बात है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वानों ने इस के सम्बन्ध में गद्यात्मक एवं पद्यात्मक पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार के पत्र मुझे देश के प्रत्येक भाग से उपलब्ध हुए है, जिनका विवरण प्रस्तुत करना यहां सम्भव नहीं है। इन 'सन्ति सन्तः कियन्तः श्री का मैं हृदय से आभारी हूँ। अनेकानेक विश्वविद्यालयों ने इसे एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है। उत्तर प्रदेश शासन ने इसे विशेष पुरस्कार से पुरस्कृत किया है, इसके लिए मैं उत्तर प्रदेश शासन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

यहां यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही मेरे कई अन्य ग्रन्थों— शंकराचार्य : उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन 'वैदिक साहित्य का इतिहास' तथा 'वेदान्तसार' का भी पाठकों ने हृदय से स्वागत किया है। इनमें, शंकराचार्य एवं वेदान्तसार भी उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुए हैं। इन ग्रन्थों के नवीन संस्करण भी पाठकों की सेवा में शीघ्र ही प्रस्तुत किए जाऐंगे। इनमें से 'वैदिक साहित्य का इतिहास' भी वर्तमान प्रकाशक–ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली द्वारा शीघ्र प्रस्तुत किया जा रहा है। ईस्टर्न बुक लिंकर्स द्वारा ही मेरे एक अन्य ग्रन्थ–Some Aspects of Advaita Philosophy का भी प्रकाशन किया गया है। इस ग्रन्थ का भी देश-विदेश में स्वागत हुआ है। इसके विषय में प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान गेराल्ड लारसन ने लिखा है–The book because if its clear and systematic presentation of the

subtleties of Vedānata, will be especially welcome to the scholars of Advaita Vedānta,

It shows the eminence of Professor Ram Murti Sharma whom I consider one of the topmost scholars of the field (Foreword)

मुझे अपने दर्शनसम्बन्धी शोधकार्य के सम्बन्ध में दर्शशास्त्र के परम-विशिष्ट विद्वान् एवं मनीषी चिन्तक आचार्य श्री के० सच्चिदानन्द मूर्त्ति जी से विशेष प्रेरणा एवं परामर्श मिलता रहा है, जिसके लिए मेरा कृतज्ञताज्ञापन न्यूनतम है।

अनेकानेक पत्रों द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन आग्रह होने पर भी इसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सका, इसका मुझे खेद है। इसका प्रथम प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंज, दिल्ली, द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस समय 'ईस्टर्न बुक लिंकर्स' के स्वत्वाधिकारी श्री शाम जी मलहोत्रा इसे प्रकाश में ला रहे हैं, जिन्हें मैं धन्यवाद देता हूं।

मुझे पूर्ण आशा है, सुधी पाठक इस द्वितीय संस्करण का पूर्ववत् स्वागत करेंगे तथा मुझे इसकी न्यूनताओं से अवगत कराऐंगे।

मकरसंक्रान्ति
१९८७ रामूर्ति शर्मा
चण्डीगढ़

पुरोवाक् (१९७३)

प्रथम संस्करण

वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद का सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की परम्परा में अति प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित रूप आचार्य शंकर ने प्रदान किया, तथापि इसका प्रारूप वेदों तक में मिल जाता है। अद्वैत-विषयक विचार समस्त संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व ही भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनेकता में एकता के दर्शन कर लिये थे। सृष्टि की समस्त विविधता के पीछे एकता है, जिससे उसका उद्भव हुआ है और जिसमें उसे समा जाना है–यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, यह उन्होंने जान लिया था। इस तथ्य को भी उन्होंने हृदयंगम कर लिया था कि परमार्थतत्व वस्तुतः एक है, उसे ही भिन्न नामों से पुकारा जाता है–एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः। मायोपहित वह तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों को अपना लेता है–मायोपहिततत्त्वस्य विवर्तो बहुधा मतः। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए माया के स्थान पर कालशक्ति को स्वीकार किया है और जन्म इत्यादि विकारों को तज्जन्य माना है–

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मोदयो विकाराः षड् भुविभेदस्य योनयः।।

इस कालशक्ति की वेदान्त-समस्त विक्षेप और आवरणशक्तियों के समकक्ष प्रतिवन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्तियों को उन्होंने स्वीकार किया है। किंच उनकी कालशक्ति का अद्वैत वेदान्त की माया से भी मूल भेद है। जबकि माया ब्रह्म से पृथक् है, कालशक्ति शब्द ब्रह्म से अभिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने भर्तृहरि-सिद्धान्त को शब्दाद्वैतवाद की संज्ञा दी है। वह समीचीन ही है।

अद्वैतवाद के अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। इस सिद्धान्त ने अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी में इस पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से कोई भी एक ऐसा ग्रन्थ नहीं था जिसमें इस महत्त्वपूर्ण दर्शन का सांगोपांग सैद्धान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादन हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना महत्त्व है। विद्वान् ग्रन्थकार का अद्वैतवाद का अध्ययन तलस्पर्शी है। उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में बहुत परिश्रम किया है। न केवल अद्वैतवाद को ही अपितु अन्य भारतीय दर्शनों को भी हृदयंगम कर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। मुझे आशा है कि विद्वत्समाज इसका समुचित आदर करेगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डा० सत्यव्रत शास्त्री
एम्.ए., एम्.ओ.एल्., पी-एच. डी., व्याकरणाचाय

उपस्थापन

अनुभूति एवं विचार मानवीय अन्तजर्गत् के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। दोनों ही पक्षों के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा अत्यधिक स्पष्ट है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा तो इसी से समझी जा सकती है कि विश्व का परिष्कृत-भावभूमि-सम्पन्न प्रत्येक मानव अद्वैतवाद एवं उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति को अपने जीवन की चरम उपलब्धि मानता है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैत वेदान्त की उक्त प्रतिष्ठा लौकिक एवं अलौकिक, दोनों ही दृष्टियों से है। जहां तक, अद्वैत वेदान्त दर्शन की वैचारिक प्रतिष्ठा की बात है, भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम एवं अमूल्य निधि–संहिताओं से ही अद्वैतसम्बन्धी विचार का दर्शन आरम्भ हो जाता है। आधुनिकतम विचारप्रधान एवं विश्वजनीन साहित्य के अन्तर्गत भी कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक होगा, जिसने अपने प्रयोजनीय लक्ष्य के मूल में अद्वैतपरक विचार का शिलान्यास न किया हो।

शास्त्रीय दृष्टि से भी अद्वैत दर्शन का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियां, यद्यपि अद्वैत वेदान्त की यत्किंचित् विरोधिनी हैं, परन्तु फिर भी इन पर उपनिषद्वर्ती अद्वैतपरक विचारसूत्रों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस्लामी दर्शन, यूनानी दर्शन एवं यूरापीय दर्शन को भी भारतीय अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त से अमूल्य देन प्राप्त हुई है और इस मध्य को क्रमशः, डा० ताराचन्द एवं कामिल हुसैन, मेगस्थनीज और शोपेनहार आदि समालोचकों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन के महत्त्व की दिशा तो अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु यह आश्चर्य है कि इतने महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अनुशीलन व्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूप में पूर्ण नहीं हो सका है, जबकि ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन ही किसी सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप का परिचायक होता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, डा० दासगुप्त जैसे विद्वान् ने यदि कुछ प्रयत्न किया भी है, तो वह न्यून रूप में ही। परन्तु यह डा० दासगुप्त के अध्ययन की न्यूनता कदापि नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि डा० दासगुप्त का उद्देश्य भारतीय दर्शन जैसे विशाल शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास लिखना था, केवल अद्वैत वेदान्त का नहीं। अपने उद्देश्य की पूर्ति में डा० दासगुप्त पूर्णतया सफल हुए हैं, यह इस लेखक की निःसंदिग्ध मान्यता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, महा-महोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का भी कार्य स्तुत्य है। तन्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कविराज जी ने 'अच्युत' पुस्तिका के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म ऐतिह्य प्रस्तुत किया है, परन्तु कविराज जी ने अठाहरवीं शताब्दी तक के अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का ही उल्लेख किया है। अद्वैत वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों की समालोचना तो इस पुस्तिका में अनुपलब्ध ही है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन के दृष्टिकोण से, बंगला लेखक आशुतोष शास्त्री का 'वेदान्त-दर्शन-अद्वैतवाद'

नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु इस ग्रन्थ के अन्तर्गत भी सिद्धान्त-समालोचना एवं तुलनात्मक-दृष्टिकोण की न्यूनता बनी रही है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक पूर्णता का भी उक्त ग्रन्थ में अभाव ही है। जहां तक, अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, कोई ऐसा ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया, जिसमें अद्वैत वेदान्त की न्याय आदि भारतीय-दर्शनपद्धतियों, वैष्णवदर्शनपद्धतियों, ग्रीकदर्शन, यूरोपीय दर्शन एवं इस्लामी दर्शन के साथ तुलनात्मक विवेचना उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद की शक्त्यद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञावाद, बौद्धविज्ञानवाद एवं शून्यवाद, योगवासिष्ठ के अद्वैतवाद, भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं गौडपादाचार्य के अजातवाद आदि सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक समीक्षा भी, मेरे विचार में अन्यत्र अलभ्य ही है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन की उपर्युक्त न्यूनताओं के कारण ही, इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार हो गया है। इस भ्रान्त धारणाओं का फल यहां तक हुआ है कि समालोचकों ने बौद्ध दर्शन के शून्यवाद को अद्वैतवाद एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया है। ऐसी ही अनेक विषमताओं के फलस्वरूप अद्वैत वेदान्त-सिद्धांत का मूल स्वरूप एवं महत्त्व दिन-प्रतिदिन आच्छन्न होता जा रहा है, यह स्पष्ट ही है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की उपर्युक्त महत्ता, उसके अपेक्षित अनुशीलन की अपूर्ति एवं अव्यवस्था, प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखन के मूल कारण है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (डी० लिट्०) के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के इतिहास एवं सिद्धान्तों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। दूसरे शब्दों में, यही इस प्रबन्ध की मौलिकता कही जा सकती है।

उपर्युक्त प्रयत्न के फलस्वरूप प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक महत्त्व एवं मूल्यांकन के सन्दर्भ में, अद्वैत वेदान्त का न्यायादि भारतीय दर्शन पद्धतियों, यूनानी दर्शन, विविध यूरोपीय दर्शन पद्धतियों एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे विश्व-दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त की महत्ता स्पष्ट हुई है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा के सैद्धान्तिक स्वरूप की समीक्षा भी, इस अध्याय के अन्तर्गत वर्तमान है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का भारतीय एवं विदेशीय दर्शन के सिद्धान्तों के साथ साम्य एवं सम्बन्ध स्पष्ट हुआ है। द्वितीय अध्याय से इस प्रबन्ध का ऐतिहासिक पक्ष प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में, ऋग्वेद से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य और काश्यप तक के काल का अद्वैत दर्शन का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता, तन्त्र-साहित्य, योगवासिष्ठ एवं उपर्युक्त बादरि आदि ऋषियों एवं आचार्यों के सिद्धान्तों के अन्तर्गत अद्वैत दर्शन का अव्यवस्थित एवं असैद्धान्तिक इतिहास ही उपलब्ध होता है। परन्तु यह निश्चित है कि इन ग्रन्थों एवं आचार्यों की देन के द्वारा अद्वैत वेदान्त की अत्यन्त पुष्ट पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है। तृतीय अध्याय में, पहले, शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र,

ब्रह्मनन्दी, टंक, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दरपाण्ड्य तथा गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के गुरु–गोविन्द भगवत्पाद की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में विचार किया गया है और फिर अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग विवेचन किया गया है। यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती साहित्य के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के सबल पृष्ठाधार का निर्माण तो हो चुका था, परन्तु अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित प्रतिपादन शंकराचार्य ने ही किया था। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद से सम्बद्ध ब्रह्म, जीव एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का सालोचन विवेचन किया गया है और इसके पश्चात् शंकराचार्य के पश्चाद्वर्ती सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पतिमिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोधभट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मा, विमुक्तात्मा, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि एवं अठारहवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादकों में, पंचानन-तर्करत्न एवं महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री की दार्शनिक देन का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोबा आदि के व्यावहारिक अद्वैतवाद का निरूपण भी इस अध्याय के अन्तर्गत उपलब्ध है। इसके साथ-साथ अद्वैत वेदान्त के भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षकों का उल्लेख भी इस अध्याय के अन्त में वर्तमान है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत अद्वैतवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए, सगुण-निर्गुण, जगन्मिथ्यात्व, अज्ञान, अनिर्वचनीयख्यातिवाद, कार्य-कारणवाद, विवर्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद एवं सृष्टि-दृष्टिवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। पंचम अध्याय के अन्तर्गत भी अद्वैतवाद के दार्शनिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए अधिष्ठानवाद, अध्यासवाद, ईश्वरोपासनासम्बन्धी सिद्धान्त, मुक्तिः सम्बन्धी सिद्धान्त तथा वृत्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत 'काश्यां मरणान्मुक्ति' के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वैष्णवदर्शनपद्धतियों का विवेचन है। इस सम्बन्ध में, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य स्वामी, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण एवं अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्णतया तुलनात्मक अंश है। फलतः, इस अध्याय में, अद्वैतवाद की शाक्तों के शक्त्यद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद, योगवासिष्ठ के कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं गौडपादाचार्य के अजातवाद के साथ तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा वेदान्तिक अद्वैतवाद के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं का निराकरण भी हुआ है। उदाहरण के लिए, शंकराचार्य के सम्बन्ध में प्रचलित 'प्रच्छन्न बौद्धत्व' वाली धारणा का निराकरण, इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। अष्टम अध्याय, इस ग्रन्थ का उपसंहार रूप है। इस अध्याय में अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक विकास एवं स्वरूप के सम्बन्ध में एक विहंगम-दृष्टिपात किया गया है और इसके पश्चात् अद्वैतवाद दर्शन की विशेषताओं एवं उसके दार्शनिक तथा व्यावहारिक महत्त्व का निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवाद एक सफल जीवनदर्शन का सिद्धान्त है।

उपर्युक्त विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन करते समय, लेखक ने प्रधानतया संस्कृत के मूल एवं टीका-ग्रन्थों का ही आश्रय लिया है, परन्तु आलोचनापद्धति के अन्तर्गत लिखे गए, अंग्रेज़ी, बंगला

एवं हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में उपलब्ध ग्रन्थों से भी लेखक को पूर्ण सहायता मिली है। अपने कथन की पुष्टि एवं प्रामाणिकता के लिए लेखक ने संस्कृत के मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त डा० दासगुप्त और डा० राधाकृष्णन् आदि समालोचक विद्वानों के ग्रन्थों को निःसंकोचभाव से उद्धृत किया है। यह लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है, जिनके ग्रन्थों का उसने प्रवन्ध-लेखन के सम्बन्ध में कुछ भी उपयोग किया है।

विषय की असाधारणता एवं उसकी क्षेत्रगत विशालता के कारण, अनुसंधान काल में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों एवं संदिग्धताओं का उत्पन्न होना, कम-से-कम इस लेखक के लिए तो स्वाभाविक ही था। इस सम्बन्ध में लेखक ने भारतीय दर्शन के अनेक विद्वानों से परामर्श प्राप्त कर अपनी अपूर्तियों के पूर्ण करने की चेष्टा की है।

अनुसंधान काल के अन्तर्गत, अद्वैत वेदान्त के विशेषज्ञ विद्वान् जगद् गुरु शंकराचार्य, श्रीकृष्णबोधाश्रम जी महाराज (ज्योतिर्मठ) से जो आशीर्वाद, सत्परामर्श एवं प्रेरणा मिली है, उसके लिए मैं श्री शंकराचार्य जी के प्रति श्रद्धावनत हूं। इसके अतिरिक्त काशी में सुमेरुमठ (शंकराचार्य-मठ) के अधीश्वर पूज्यपाद स्वामी आनन्दबोधाश्रम जी महाराज का मैं अत्यधिक ऋणी हूं कि उनके आश्रम में सौविध्यपूर्वक दीर्घ काल तक रहकर वेदान्त का अध्ययन कर सका हूं। भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन्, महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ जी कविराज एवं डा० मंगलदेव जी शास्त्री (एम० ए०, डी० फिल०) का मैं अत्यधिक ऋणी हूं कि इन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय प्रदान कर प्रोत्साहित किया है।

श्रद्धेय गुरूवर, डा० गोविन्दशरण जी त्रिगुणायत (एम० ए०, पी-एच० डी, डी० लिट्०) से प्रस्तुत शोधकार्य में अपूर्व साहाय्य एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं कृतज्ञताज्ञापन पर्याप्त नहीं समझता।

संस्कृत-जगत् के प्रख्यात विद्वान् पद्मभूषण, डा० वे० राघवन, पंडित बदरीनाथ जी शुक्ल, डा० सिद्धेश्वर जी भट्टाचार्य एवं डा० एन० के देवराज से भी वर्तमान शोधकार्य के सम्बन्ध में अनेक मूल्यवान् सुझाव उपलब्ध हुए है। इन सम्मान्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मुझे हर्ष है।

सम्मान्य डा० सत्यव्रत जी शास्त्री, एम० ए०, ए० ओ० एल०, व्याकरणाचार्य, पी-एच० डी० (मनमोहन नाथ दर प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने अधिक व्यस्त रहने पर भी जो इस ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने का अनुग्रह किया है, यह उनके विद्वत् स्वभावजन्य स्नेह का ही परिणाम है। डा० सत्यव्रत जी से दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग को जो प्रेरणा मिलता रहता है, वह किसी से छिपा नहीं है। उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना नितान्त स्वाभविक है।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् एवं अनुरागी परमादरणीय डा० रामकरण जी शर्मा (निदेशक, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली तथा ऑफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी (संस्कृत), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के महान सौजन्य से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त शिक्षा मन्त्रालय की ओर से जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया गया है, उसका मैं वस्तुतः ऋणी हूं। पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० उपाधियों के निमित्त किए गए शोधकार्य में विद्वत्सेवी श्री शम्भुनाथ जी खन्ना (मुरादाबाद) से जो सौविध्य प्राप्त हुआ है, उसके लिए, मैं उनका आभारी हूं। अपने परिवार के सदस्यों में धर्मपत्नी श्रीमती चेतना शर्मा, भ्रातृव्य श्रीकृण शर्मा, अनुज वाचस्पति एवं आत्मज सुनीलकुमार का भी इस कृत्य में येन केन प्रकारेण सहयोग

प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं इनका सर्वथा शुभैषी हूं। श्री रोहिताशकुमार शर्मा ने इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तैयार करने में सहयोग दिया है, इसके लिए मैं इनके प्रति श्रेयस्काम हूं।

सरस्वती भवन पुस्तकालय, काशी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता, गोयनका लाइब्रेरी, काशी, दिल्ली विश्वविद्यालय लाइब्रेरी तथा के०जी०के० कॉलेज लाइब्रेरी, मुरादाबाद के अधिकारियों से अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है, अतः ये सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

विद्वत्प्रेमी श्री कन्हैयालाल मलिक, प्रोप्राइटर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली बहुशः धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का अवसर दिया है। राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स के अध्यक्ष श्री श्यामकुमार जी गर्ग का भी मैं कृतज्ञ हूं कि उन्होंने इस ग्रन्थ को सुचारु रूप से मुद्रित करने में पूर्ण सहयोग दिया है। यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी ग्रन्थ में त्रुटियों का पाया जाना असम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में शुद्धि-पत्र भी दे दिया गया है, परन्तु इसका अपर्याप्त होना आश्चर्यजनक नहीं है। अन्त में, नीरक्षीर-विवेकी विद्वानों एवं जिज्ञासुजनों की सेवा में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का मुझे अपार हर्ष है।

संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—राममूर्ति शर्मा

अनुक्रम

१ : विषय-प्रवेश

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान १–५

न्याय दर्शन और अद्वैत वेदान्त ५

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, ५; प्राचीन और नव्य-न्याय, ५-६; प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर, ६; न्याय दर्शन की प्रक्रिया, ६; न्यायदर्शन में आत्मा और मुक्ति का स्वरूप, ७; नैयायिक की अन्यथाख्याति, ७; न्यायदर्शन और असत्कार्यवाद, ७-८; अद्वैत वेदान्त और न्यायदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, ८; न्याय और अद्वैत वेदान्त की मुक्ति, ६-११।

वैशेषिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त ११

वैशेषिक दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, ११-१२; वैशेषिक का परमाणुकारणवाद, १२; ईश्वर, १२-१३; वैशेषिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलनात्मक समीक्षा, १३-१४।

सांख्य और अद्वैत वेदान्त दर्शन १४

सांख्य दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, १४; सांख्य का अर्थ, १४; सांख्य दर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप, १५ उपनिषद् तथा भगवद्गीतावर्ती सांख्य, १५; महाभारतवर्ती तथा पौराणिक सांख्य, १५; चरक सांख्य, १५; ब्रह्म सूत्र तथा सांख्यकारिका का सांख्य, १५; विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य, १५; सांख्य दर्शन और कार्य-कारणवाद, १५-१६; प्रकृति, १६-१७; गुण, १७-१८; पुरुष, १८-१६; पुरुषबहुत्व, १६; प्रकृति पुरुष एवं सृष्टि, १६-२१; मुक्ति, २१; जीवनमुक्ति और विदेह-मुक्ति, २१-२२; ईश्वर, २२; अद्वैत वेदान्त और सांख्य दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, २३-२४।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन २४

योगदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, २४-२५; योग शब्द का अर्थ, २५-२६ योगदर्शन में चित्त का स्वरूप, २६–क्षिप्त, २६; मूढ, २६; विक्षिप्त, २६; एकाग्र, २६-२७; निरुद्ध, २७; वृत्तियों का स्वरूप विवेचन, २७; प्रमाण, २७ विपर्यय, २७; विकल्प, २७; निद्रा, २७; स्मृति, २७; संस्कार, २८; योगदर्शन का क्लेश सम्बन्धी दृष्टिकोण, २८; अविद्या, २८; अस्मिता, २८; राग, २८; द्वेष, २६; अभिनिवेश, २६; योग के साधन, २६–यम, २६; नियम, २६; आसन, २६;

प्राणयाम, ३०; प्रत्याहार, ३०; धारणा, ३०; ध्यान, ३०; समाधि, ३०; समाधि के भेद, ३०-३१; ईश्वर सम्बन्धी मान्यता, ३१-३२; पुरुष की अपेक्षा 'पुरुष विशेष ईश्वर' की विशेषताएं, ३२-३३; योग की मुक्ति का सिद्धान्त, ३३; अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, ३३-३४; अद्वैत वेदान्त तथा योग में चित्तवृत्ति निरोध का साम्य, ३४; अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूप, ३४-३५; अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त, ३५-३६; अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति, ३६-३७; आलोचना, ३७-३८।

अद्वैत वेदान्त (उत्तरमीमांसा) और पूर्वमीमांसा दर्शन ३८

पूर्वमीमांसा का संक्षिप्त स्वरूप, ३८; पूर्वमामांसा का अर्थ, ३८-३९; मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया-प्रमाण निरूपण, ३९-४०; प्रत्यक्ष प्रमाण, ४०; प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद, ४०; आलोचना, ४०-४१; अनुमाण प्रमाण, ४१; आलोचना, ४१; शाब्द प्रमाण, ४१-४२; उपमान प्रमाण, ४२; अर्थापत्ति, ४२; अनुपलब्धि, ४२; प्रामाण्यवाद, ४२-४३; प्रभाकरमत, ४३; भट्टमत, ४३; मुरारि का मत, ४४; परतःप्रामाण्यवाद का निराकरण, ४४-४५; मीमांसक का अख्यातिवाद, ४५; पदार्थ-निरूपण, ४५; द्रव्य, ४५-४६; पृथ्वी,४६; जल,४६; तेज,४६; वायु,४६; आकाश,४६; काल,४६; दिशा,४६; आत्मा, ४६; मन,४६; शब्द,४६; अन्धकार,४६-४७; गुण, ४७; कर्म,४७; सामान्य,४७; शक्ति,४७; अभाव,४७; जगत् ,४७-४८; ईश्वर,४८; धर्म,४८-४९; विधि,४९; अर्थवाद,४९; मन्त्र,४९; स्मृति,४९; आचार,५०; नामधेय,५०; वाक्यशेष, ५०; सामर्थ्य, ५०; भावना, ५०; मोक्ष, ५० अद्वैत वेदान्त और मीमांसा दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, ५१; आत्मा, ५१-५२; ईश्वर, ५२; मोक्ष, ५२-५३; समालोचना, ५३।

अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन ५४

एलिया के दार्शनिक और अद्वैत वेदान्त, ५५; क्सेनोफेन की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ५५-५६; आलोचनात्मक दृष्टिकोण, ५६; फ्रूडेन्थल का मत, ५६; विलमोवित्ज का मत, ५६; डील्स का मत, ५६-५७; परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ५७-५८; आलोचना, ५८-६०; ज़ेनो की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६०-६१; प्लेटो की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६१-६३; अरस्तु की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६३-६६।

अद्वैत वेदान्त और कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त ६६-६७

डेकार्ट और अद्वैत वेदान्त, ६७; स्पिनोज़ा और अद्वैत वेदान्त, ६८-६९; लाइब्निज़ और अद्वैत वेदान्त, ६९-७०; अद्वैत वेदान्त की 'माया' और लाइब्निज़ का 'मेटिरियाप्राइमा' का सिद्धान्त, ७०-७१; बर्कले और अद्वैत वेदान्त, ७१-७२; बर्कले और दृष्टि-सृष्टिवाद, ७२; काण्ट और अद्वैत वेदान्त, ७२-७५; फिक्ते और अद्वैत वेदान्त, ७५-७६; फिक्ते का 'अंस्टास' सम्बन्धी और अद्वैत वेदान्त की माया, ७६-७७; शेलिंग और अद्वैत वेदान्त, ७७-७८; अद्वैत दर्शन की 'माया' तथा शेलिंग का 'डार्कग्राउन्ड' का सिद्धान्त, ७८-७९; हेगल और अद्वैत वेदान्त, ७९-८१; शोपेनहार और अद्वैत वेदान्त, ८१-८२–शोपेनहार और उपनिषद्वर्ती

संकल्पवाद ८२-८४।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन ८५

इस्लामी दर्शन के कुछ प्रवर्तक, ८५–मोतज़ला सम्प्रदाय, ८५; करामी सम्प्रदाय, ८५; अशअरी सम्प्रदाय, ८५-८६; अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद और इस्लामी दर्शन, ८६-८७; अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त, ८७; जीव का अविनाशित्व, ८७-८८; परमतत्त्वज्ञान के स्वरूप का विचार, ८८; जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएं, ८८-८६।

अद्वैतवाद की सैद्धान्तिक विचारधारा का संक्षिप्त स्वरूप ८६-६०

अद्वैतवाद और आचार दर्शन, ६१; उपनिषद्वर्ती आचार तत्त्व, ६१-६२; शांकर अद्वैत और आचार दर्शन, ६२; अदैत दर्शन का कर्म सिद्धान्त तथा आचार पक्ष, ६२-६३; आश्रम व्यवस्था और आचार पक्ष, ६३-६४।

२ : अद्वैतवाद का अव्यवस्थित इतिहास

वैदिक अद्वैतवाद ६५

संहिताएं और अद्वैत वेदान्त, ६५–ऋग्वेद संहिता और अद्वैतवाद, ६६–देवतावाद और अद्वैतवाद, ६६-०७; प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा के वर्णन में अद्वैतवाद के बीज, ६७; परमतत्त्व के एकत्त्व एवं अजत्त्व की अभिव्यक्ति, ६७; पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष में ब्रह्म के स्वरूप की पृष्ठभूमि, ६७-६८; नासदीय सूक्त और अद्वैत वेदान्त, ६८-६६; हंसवती ऋचा और अद्वैत वेदान्त, ६६-१००; सामवेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १००-१०१; यजुर्वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १०१-१०२; यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग, १०२; यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग, १०२; अथर्व वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १०२-१०४; ब्राह्मण ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त, १०४-१०५; आरण्यक ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त; १०५-१०७; उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त, १०७–सदानन्द का मत, १०७; ब्लूमफील्ड का मत, १०७; मैक्समूलर का मत, १०७; डायसन का मत, १०७; प्रो० जे० एस० मेर्केजी का मत, १०८; प्रो० ग़फ का मत, १०८; उपनिषद् और ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन, १०८-१०६; सत् एवं असत्रूप में ब्रह्मा का वर्णन, ११०; ब्रह्म का वर्णन, ११०; कालातीत ब्रह्म का वर्णन, ११०; कार्यकारण अवस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन, ११०-१११; पूर्ण सत्य के रूप में ब्रह्म वर्णन, १११; ईश्वर रूप में ब्रह्म वर्णन, १११; स्रष्टा रूप में ब्रह्म वर्णन, १११; रक्षक रूप में ब्रह्म वर्णन, १११-११२; उपनिषदों में ब्रह्म के नियन्ता का रूप वर्णन, ११२; उपनिषदों में ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन; ११२; डा० दासगुप्त का मत और उसकी आलोचना, ११३-११४; 'नेति-नेति' के सम्बन्ध में हिलेब्रां और एकहार्ट का मत और उसकी आलोचना, ११४; उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप, ११४; उपनिषदों में आत्मा के भेदों (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण, ११४-११५; उपनिषदों में माया का स्वरूप, ११५; उपनिषदों में मुक्ति का सिद्धान्त, ११५-११६।

सूत्र साहित्य और अद्वैतवाद ११६

पुराण साहित्य और अद्वैतवाद ११६

विष्णुपुराण, ११७; शिवपुराण, ११७; श्रीमद्भागवतमहापुराण, ११७-११८; मार्कण्डेयपुराण, ११८; नारदीय पुराण, ११८; कूर्मपुराण, ११६; वायुपुराण, ११६; स्कन्द पुराण, ११६; गरुड़ पुराण, ११६; ब्रह्म पुराण, १२०; वामन पुराण, १२०-१२१; श्रीमद्देवीभागवत, १२१; मत्स्यपुराण, १२१।

श्रीमद्भगवद्गीता और अद्वैतवाद १२१-१२३

तन्त्र और अद्वैतवाद १२३

शक्त्यद्वैतवाद का स्वरूप, १२३; शक्त्यद्वैतवाद मत में जीव और शिव के ऐक्य एवं मुक्ति का विचार, १२४।

योगवासिष्ठ एवं अद्वैतवाद १२४

योगवासिष्ठ में परमार्थ सत्य ब्रह्म का स्वरूप, १२४-१२५; जीव का स्वरूप, १२५; योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, १२५-१२६।

वेदान्त-दर्शन के प्रवर्तक प्रमुख महर्षि एवं आचार्य १२६

बादरि, १२६; जैमिनि, १२७; काशकृत्स्न, १२७-१२८; औडुलौमि, १२८; कार्ष्णाजिनि, १२८; आत्रेय, १२८-१२६; आश्मरथ्य, १२६; काश्यप, १२६।

३ : अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्ती आचार्य और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज १३०

बोधायन, १३०; उपवर्ष, १३०; गुहदेव और कपर्दी, १३१; भारुचि, १३१; भृर्तहरि, १३१-१३२; भर्तृमित्र, १३२; ब्रह्मनन्दी, १३२; टंक, १३३; द्रविड़ाचार्य, १३३; ब्रह्मदत्त, १३३-१३४; भृर्तप्रपंच, १३३—भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त, १३४; भर्तृप्रपंच का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त, १३५; भृर्तप्रपंच का परिणामवाद, १३५; भर्तृप्रपंच का प्रमाणसमुच्चयवाद, १३५; सुन्दरपाण्ड्य, १३५-१३६; गौडपादाचार्य का दर्शन, १३६-१३७—गौडपादाचार्य द्वारा अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन, १३७—ब्रह्म का स्वभाव, १३७-१३८; गौडपादाचार्य द्वारा स्वप्नसादृश्य के आधार पर किया गया जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन, १३८-१३६; शंकराचार्य द्वारा किया गया स्वप्न एवं जाग्रत के भेद का प्रतिपादन, १३६-१४०; समालोचना, १४०-१४१; गौडपादाचार्य का आजातवाद का सिद्धान्त, १४१-१४२; गौडपादाचार्य और माया सम्बन्धी सिद्धान्त, १४१-१४३—अधिष्ठान और माया, १४३; गोविन्दपाद एवं उनकी दार्शनिक देन, १४३-१४४।

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन १४५

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन, १४५-१४६; ब्रह्म

के अस्तित्व का निरूपण, १४६-१४८; शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म की जगत् कारणता के सम्बन्ध में विचार, १४८-१४६; शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर का स्वरूप, १४६–नृसिंहाश्रम का मत, १४६; सर्वज्ञात्मा का मत, १४६-१५०; विद्यारण्य का मत, १५०; अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत, १५०; ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व, १५०; ईश्वर की लीला और सृष्टि, १५०-१५१; शांकर दर्शन में सृष्टिवैषम्य और ईश्वर, १५१; शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप, १५१-१५२–वाचस्पति मिश्र का मत, १५२; प्रकटार्थ विवरणकार का मत, १५२; विद्यारण्य का मत, १५२; सर्वज्ञात्ममुनि का मत, १५२; दृग् दृश्यविवेक के अनुसार जीव के तीन भेद, १५२; अप्पयदीक्षित द्वारा उद्धृत कुछ अन्य मत, १५२; इस लेखक का दृष्टिकोण, १५३; जीव और ईश्वर, १५३-१५४; जीव और साक्षी का अन्तर, १५४; जीव और आत्मा, १५४-१५५; जीव की एकता एवं अनन्तता का विचार, १४५–एकजीववाद के अनेक स्वरूप, १५६-१५७।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त १५७

थीवो का मत, १५७-१५८; कोलब्रुक का मत, १५८; मैक्समूलर का मत, १५८; रेगनाड का मत, १५८; गफ़ का मत, १५८; डा० प्रभुदत्त शास्त्री का मत, १५८-१५६; समालोचना, १५६-१६०; शांकर मायावाद का स्वरूप, १६०-१६२–माया की विषयिता एवं विषयता, १६२; शांकर वेदान्त में माया का विषयित्व, १६२; विषयत्व की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निरूपण, १६२-१६४; रामतीर्थ का मत, १६४; प्राणरूप से अविद्या के विषयत्व का निरूपण १६४-१६५; शंकराचार्योत्तरकाल में अविद्या एवं माया का भेद-निरूपण, १६५–विवरणकार का मत, १६५; विद्यारण्य का मत, १६५; अद्वैत चन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत, १६५-१६६; माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियां, १६६।

शंकराचार्य-पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण १६६-१६७

सुरेश्वराचार्य, १६७–सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत, १६७; सुरेश्वराचार्य का आभासवाद का सिद्धान्त, १६७-१६८; पद्मपादाचार्य, १६६–जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार, १६६-१७०; वाचस्पति मिश्र, १७०–वाचस्पति मिश्र द्वारा अद्वैत वेदान्त की व्याख्या, १७०-१७१; सर्वज्ञात्म मुनि, १७१-१७२–सर्वज्ञात्ममुनि और अधिष्ठानवाद, १७२; अद्वैतानन्द बोधेन्द्र, १७२; आनन्दबोध भट्टारकाचार्य, १७३; प्रकाशात्मयति, १७३-१७४; विद्यारण्य, १७७–विद्यारण्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन, १७८; प्रकाशानन्द, १७८–१८०; मधुसूदन सरस्वती, १८०-१८१; एकजीववाद, १८१; मिथ्यात्त्व, १८१–१८२; ब्रह्मानन्द सरस्वती, १८२-१८३; धर्मराजाध्वरीन्द्र, १८२-१८४; गंगापुरी भट्टारकाचार्य, १८४; श्रीकृष्णमिश्रयति, १८४; श्री हर्ष मिश्र, १८४; श्री रामद्वाचार्य, १८४; शंकरानन्द, १८५; आनन्दगिरी, १८५; अखण्डानन्द, १८५; मल्लनाराध्य, १८५; नृसिंहाश्रम, १८५; भट्टोजिदीक्षित, १८६; सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, १८६; नीलकण्ठसूरि, १८६; सदानन्द सरस्वती, १८६; आनन्दपूर्ण विद्यासागर, १८७; नृसिंह सरस्वती, १८७; रामतीर्थ, १८७; आपदेव, १८७; गोविन्दानन्द, १८७; रामानन्द सरस्वती, १८७; काश्मीरक सदानन्द यति, १८७; रंगनाथ, १८८; अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ,

१८८; महादेव सरस्वती, १८८; सदाशिवेन्द्र सरस्वती, १८८; आयन्न दीक्षित, १८८।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक १८८-१८६

बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखक, १८६; उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के नवीन परम्परा के कतिपय अद्वैती दार्शनिक एवं तत्त्ववेत्ता, १८६-१६०; स्वामी रामकृष्ण परमहंस और उनका दार्शनिक सिद्धान्त, १६०-१६२; अरविन्द और उनका दार्शनिक सिद्धान्त, १६२-१६३; आचार्य विनोवा भावे और उनका दर्शन, १६३-१६५।

४ : अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (पूर्वार्द्ध)

ब्रह्म का सगुण एवं निगुर्ण रूप १६६

ब्रह्म का निगुर्ण रूप, १६६-१६७; ब्रह्म का सगुण रूप, १६७; निगुर्ण एवं सगुण का समन्वय, १६७-१६८।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्यावहारिकता १६८-१६६

जगत् की अभावरूपता का निराकरण, १६६-२००; अध्यास के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन, २००-२०१; अनिर्वचनीयख्यातिवाद, २०१; आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०१; असत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०२; अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०२; अख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०२; सत् ख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०२; उपर्युक्त मतों की समालोचना, २०२-२०३; अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का सिद्धान्त, २०३-२०४।

क्या अद्वैत वेदान्त में कार्यकारणवाद सम्भव है ? २०५-२०६

वैदिक कार्यकारणवाद, २०६-२०८; अद्वैत वेदान्त और कार्यकारणवाद का सिद्धान्त, २०८-२०६; विवर्तवाद का स्वरूप, २०६-२१०; विवर्तवाद एवं सांख्य का सत्कार्यवाद और परिणामवाद, २१०; विवर्तवाद और असत्कार्यवाद का सिद्धान्त, २१०-२११।

अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्य-परवर्ती आचार्यों द्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना २११

संक्षेप शारीरककार का मत, २११-२१२; विवरणकार का मत, २१२; वाचस्पति मिश्र का मत, २१२; अद्वैत सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का मत, २१२; प्रकाशानन्द का मत, २१२; कतिपय अन्य मत, २१२-२१३; आलोचना, २१३-२१४; दृष्टि-सृष्टिवाद, २१४; प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप, २१४; प्रथम मत की आलोचना, २१४-२१५; द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण, २१५-२१६; समीक्षा, २१६; सृष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त, २१६।

अध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना २१६-२१७

अपवाद के तीन भेद, २१७; यौक्तिक अपवाद, २१७; प्रत्यक्ष अपवाद, २१७।

५ : अद्वैतवाद का स्वरूप-विवेचन (उत्तरार्द्ध)

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान का स्वरूप २१८-२१६

शून्यवादी बौद्ध का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार, २१६; बीजांकुर न्याय अधिष्ठान का समर्थन, २१६-२२०; जागरण एवं स्वप्नकालिक अध्यास का अधिष्ठान, २१६-२२२।

अध्यात्मवाद और अद्वैत दर्शन २२२

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का अध्यास सम्बन्धी मत, २२२; आत्मख्यातिवाद क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध का मत, २२२; शून्यवादी बौद्ध का मत, २२२-२२३; अख्यातिवादी मीमांसक का मत, २२३; अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप, २२३-२२४; अध्यास का विभिन्न रूप, २२४; अध्यास का महत्त्व, २२४-२२५।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्त्व २२५

ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले सगुणोपासकों की मुक्ति, २२५-२२६; सुरेश्वराचार्य का मत, २२६; अहंग्रह और प्रतीक उपासनाएं, २२६-२२७; संन्यास की उपयोगिता और योग्यता, २२७-२२८।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति का स्वरूप २२८

मुक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप, २२८-२२६; अविद्या निवृत्ति और आत्मबोध, २२६-२३०; मुक्त पुरुष का व्यवहार, २३१-२३२; क्या मुक्त पुरुष का परलोकगमन सम्भव है ?, २३२; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, २३२-२३३; मुक्तात्माओं द्वारा शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार, २३३; समीक्षा—२३३-२३५; 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' के सम्बन्ध में विचार, २३५-२३६।

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति-निरूपण २३६

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति, २३७; वृत्ति का महत्त्व, २३७-२४०; 'अहंब्रह्मास्मि वृत्ति का स्वरूप और उसकी उपयोगिता, २४०-२४१; 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं जडघटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति का भेद-निरूपण, २४१; तत्त्वमसि द्वारा ब्रह्मबोध, २४१-२४२; तत्त्वमसि के अन्तर्वर्ती पदों का अर्थ, २४२; 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ, २४२; तत्त्वमसि का लक्षणा प्रतिपाद्य अर्थ, २४२-२४३; जहल्लक्षणा और तत्त्वमसि, २४३; अजहल्लक्षणा और तत्त्वमसि, २४३-२४४; तत्त्वमसि और भाग लक्षणा या जहद जहल्लक्षणा, २४३-२४५; समानाधिकार सम्बन्ध, २४५; विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध, २४५-२४६; वेदान्तपरिभाषाकार का मत, २४६-२४७।

६ : अद्वैतवाद तथा अन्य विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद—तुलनात्मक अध्ययन

रामानुजाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद) २५०-२५७

ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन, २५०; ब्रह्म का आधार रूप, २५०-२५१; ब्रह्म का नियन्ता

रूप, २५१; ब्रह्म का शासक एवं रक्षक रूप, २५१-२५२; ब्रह्म का शेषी रूप, २५२; ब्रह्म का स्रष्टा रूप, २५३; रामानुज-दर्शन में जीव का स्वरूप, २५२-२५४; जीवों के भेद, २५४; जगत्, २५५; मुक्ति का स्वरूप, २५५-२५६; रामानुज दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप, २५६-२५७; फल समर्पण, २५७; भार समर्पण, २५७; स्वरूप समर्पण, २५७; टेंकलई मत, २५७; बडकलै मत, २५७-२५८।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना २५८-१७०

ब्रह्म, २५९-१६०; जीव, २६०; जगत्, २६१; कार्यकारणवाद, २६१-२६२; मुक्ति का विचार, २६२; तत्त्वमसि, २६३; माया सम्बन्धी दृष्टिकोण, २६३-२६४; आश्रयानुपपत्ति, २६४-२६५; ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति, २६६; स्वरूपानुपपत्ति, २६६-२६७; अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति, २६७-२६८; प्रमाणानुपपत्ति, २६८; निवर्तकानुपपत्ति, २६८-२६९; निवृत्यनुपपत्ति, २६९-२७०।

निम्बार्क दर्शन का स्वरूप २७०

द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त २७०-२७३

ईश्वर, २७१; जीव, २७२; ईश्वर एवं जीव का सम्बन्ध, २७२; जगत्, २७२-२७३; मुक्ति, २७३।

निम्बार्क दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन २७३-२७४

मध्वाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त २७४-२७८

ईश्वर, २७६; जीव, २७६-२७७; जगत्, २७७; मुक्ति, २७७-२७८।

अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन २७८

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त (शुद्धाद्वैतवाद) २७९-२८२

ब्रह्म, २७९; कार्यकारण सम्बन्ध, २७९-२८०; वल्लभ दर्शन का जीव संबंधी सिद्धान्त, २८०-२८१; जीवों के भेद, २८१; वल्लभ दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप, २८१; वल्लभ दर्शन के अनुसार जगत् और संसार का भेद, २८१-२८२।

वल्लभ दर्शन के अनुसार भक्ति का स्वरूप २८२-२९६

शाण्डिल्य सूत्र और भक्ति, २८२; विष्णुपुराण और भक्ति, २८२; श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का स्वरूप, २८२-२८३; रामानुजाचार्य और भक्ति, २८३; भक्ति-चिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप, २८३; कुछ अन्य आचार्यों एवं विद्वानों के मत, २८३; गोपेश्वर जी महाराज का मत, २८३; गोपेश्वर जी महाराज का मत, २८३; इस लेखक का दृष्टिकोण, २८३; वल्लभाचार्य और उनका भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, २८३-२८४; वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग, २८४; मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति, २८४-२८५; प्रवाहमार्ग और पुष्टिमार्ग, २८५; भक्ति के साधन, २८५; वल्लभ दर्शन में मुक्ति स्वरूप, २८६।

अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभ दर्शन, तुलनात्मक विवेचन २८६-२८६

कतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त २८६

महाप्रभु चैतन्य और उनका दार्शनिक सिद्धान्त २६०-२६१

पंचधा भक्ति, २६१; शुद्धा भक्ति, २६१।

जीव गोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त २६१

जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप २६२-२६४

भगवान् की शक्तियां, २६२-२६३; जीव का स्वरूप, २६३; जगत् का स्वरूप, २६३; जीवगोस्वामी और परमात्मसाक्षात्कार का स्वरूप, २६३-२६४; मुक्ति के अन्य रूप, २६४।

जीव गोस्वामी और भक्ति का स्वरूप २६४-२६६

भगवन्नाम का महत्त्व, २६४-२६५; भक्ति की नौ विशेषताएं, २६५; भक्ति के भेद, २६५; शरणागतिभाव और उसके प्रमुख तत्त्व, २६५; भक्तों की विभिन्न कोटियां, २६५-२६६।

अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण) २६६-२६८

बलदेव विद्याभूषण और उनका दार्शनिक सिद्धान्त २६८-३००

ईश्वर, २६८; बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त, २६८-२६६; भगवान् की शक्तियां, २६६; भक्ति, २६६; समीक्षा, २६६-३००।

७ : अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन

वेदान्तिक अद्वैतवाद और तान्त्रिक शक्त्यद्वैतवाद ३०१-३०७

अद्वैतवादी का ब्रह्म और शक्त्यद्वैतवादी का शक्ति तत्त्व, ३०३-३०४; अद्वैतवादी की माया और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति, ३०४; अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवादी के अनुसार जगत् का स्वरूप, ३०४-३०५; अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत मोक्ष का तुलनात्मक विवेचन, ३०५-३०७।

शक्त्यद्वैतवाद की कुछ समस्याएं ३०७-३०८

वेदान्तिक अद्वैतवाद और काश्मीरी शैव दर्शन का ईश्वराद्वयवाद ३०८-३११

क्रमणिका, ३०८-३०६; शैव सम्प्रदाय, ३०६-३११।

काश्मीर-शैवदर्शन का सैद्धान्तिक रूप ३११-३१७

स्पन्ददर्शन, ३११-३१३; प्रत्यभिज्ञा दर्शन, ३१३-३१४; स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन, ३१४-३१५; स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का ईश्वराद्वैयवाद और वेदान्तिक अद्वैतवाद–तुलनात्मक विवेचन, ३१५-३१७।

वेदान्त का अद्वैतवाद औरं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद–तुलनात्मक विवेचन ३१७-३२०

वेदान्तिक अद्वैतवाद और बौद्ध दर्शन (विज्ञानवाद एवं शून्यवाद)–

तुलनात्मक अध्ययन ३२०-३२१

विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय ३२१-३२७

योगाचार और विज्ञानं का अर्थ, ३२१-३२२; क्षणिकविज्ञानवाद एवं प्रतीत्य समुत्पादवाद, ३२२-३२३; विज्ञानवादी का सांवृत्तिक सत्य, ३२३; परमार्थ सत्य, ३२३-२४; असंग और वसुवन्धु का चरम सत्य, ३२४; लंकावतार सूत्र में चरम सत्य का रूप, ३२४; अश्वघोष और चरम सत्य, ३२४; विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद, ३२५-३२७।

शून्यवाद एक दिग्दर्शन ३२७-३३२

प्रतीत्य समुत्पादवाद का स्वरूप, ३२८; शून्यता के विभिन्न रूप, ३२६–अध्यात्म शून्यता, ३२६; वहिर्धाशून्यता, ३२६; अध्यात्म वहिर्धाशून्यता, ३२६; शून्यता की शून्यता, ३२६; महाशून्यता, ३२६; परमार्थ शून्यता, ३२६; संस्कृत शून्यता, असंस्कृतशून्यता ३२६, अत्यन्त शून्यता ३२६; अनवराग्र शून्यता ३२६; अनवकार शून्यता, ३२६; प्रकृति शून्यता, ३२६; सर्वधर्म शून्यता, ३२६; लक्षण शून्यता, ३२६ उपलम्भ शून्यता, ३३०; अभावस्वभावशून्यता, ३३०; भावशून्यता, ३३०; अभाव शून्यता, ३३० स्वभाव शून्यता, ३३०; परभाव शून्यता, ३३०; धर्म निःस्वभावता, ३३०; शून्यवादी की सत्यद्वयवादी कल्पना, ३३०-३३१; विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की संवृत्ति का अन्तर, ३३१; निर्वाण, ३३१; अपर प्रत्यय, ३३२; शान्त, ३३२; प्रपंचा-प्रपंचित, ३३२, निर्विकल्प, ३३२; अनानार्थ, ३३२; निर्वाण की असत्यता, ३३२।

शून्यवाद और अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन ३३२-३३६

सत्ता सम्बन्धी विचार, ३३४; संवृति एवं अविद्या; ३३४-३३६।

क्या अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं? ३३६-३४०

पद्‌ पुराण का मत, ३३६; रामानुजाचार्य का मत, ३३६-३३७; भास्कराचार्य का मत, ३३७; योगवासिष्ठ का मत, ३३७; डा० दासगुप्त का मत, ३३७; डा० वरुआ का मत, ३३७; राहुल सांकृत्यायन का मत, ३३७; समालोचना, ३३८-३४०।

भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद और शंकराचार्य का अद्वैतवाद ३४०-३४१

गौडपादाचार्य का अजातवाद और शांकर अद्वैतवाद ३४१-३४२

८ : उपसंहार

अद्वैत वेदान्त पर विहंगम दृष्टि ३४३-३५२

अद्वैतवाद की विशेषताएं, ३४६; ब्रह्म की सगुणता एवं निगुर्णता, ३५०; सृष्टि वैषम्य और

ईश्वर, ३५०; आचार का महत्त्व, ३५०; सत्तात्रय की कल्पना, ३५०-३५१; मायावाद की देन, ३५१; जगत् का मिथ्यात्व, ३५१; विवर्तवाद, ३५१; अधिष्ठानतावाद और अध्यासवाद, ३५१; मुक्ति का सिद्धान्त, ३५२; अनिर्वचनीयख्यातिवाद, ३५२।

अद्वैतवाद का दार्शनिक एवं व्यावहारिक महत्त्व ३५२-३५३

परिशिष्ट–१

सहायक ग्रन्थ-सूची ३५५-३६४

(क) संस्कृत ग्रन्थ
(ख) अंग्रेज़ी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं आदि
(ग) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं आदि
(घ) वंगला-ग्रन्थ
(ङ) संस्कृत-जर्मन ग्रन्थ
(च) अरबी ग्रन्थ

परिशिष्ट-२ ३६५-३८६

अनुक्रमणिका ३८७-३८८

संकेत-निर्देश-सूची

अ० वे० सं०	अथर्व वेद संहिता
ई० उ०	ईशावास्य उपनिषद्
उ० सा०	उपदेश साहस्री
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ०	कठ उपनिषद्
गौ० का०	गौडपाद कारिका
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
पा० टि०	पाद टिप्पणी
प्र० पा० भा०	प्रशस्त पाद भाष्य
ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र
ब्र० सू० शा० भा०	ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० भा० वा०	बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिका
म० का०	मध्यमक कारिका
मा० उ०	माण्डूक्य उपनिषद्
मा० का० वृ०	माध्यमिक कारिका वृत्ति
यो० वा०	योग वासिष्ठ
लं० सू०	लङ्कावतार सूत्र
वि० प्र० सं०	विवरणप्रमेयसंग्रह
वे० सि० मु०	वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा० भा	शाबर भाष्य
शा० भा० क० उ०	शंकर भाष्य कठ उपनिषद्
शा० भा० छा० उ०	शंकर भाष्य छान्दोग्य उपनिषद्
शा० भा० बृ० उ०	शंकर भाष्य बृहदारण्यक उपनिषद्
शा० भा० मा० उ०	शंकर भाष्य माण्डूक्य उपनिषद्
शा० भा० मा० का०	शंकर भाष्य माण्डूक्य कारिका

सि० ले० सं०	सिद्धान्त लेश संग्रह
D.S.V.	Deussen's System of Vedānta
E.R.E.	Encyclopaedia of Religion & Ethics
J.A.O.S.	Journal of the American Oriental Society
S.B.E.	Sacred Books of the East

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान

भारतीय एवं विदेशीय दर्शन के क्षेत्र में वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यों तो, संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद अद्वैतवाद, शक्त्यद्वैतवाद, शैवागम के अद्वैतवाद, बौद्ध अद्वैतवाद, योगवासिष्ठगत कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, भर्तृहरिप्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद, गौड़पादीय अद्वैतवाद, मायावादपुष्ट शाङ्कर अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद एवं निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तों में अद्वैत शब्द का योग अद्वैतवाद सिद्धान्त का न्यूनाधिक स्पर्श मिलता है, परन्तु इन समस्त सिद्धान्तों में शाङ्कर अद्वैतवाद के अन्तर्गत अद्वैतवाद का जो पूर्णतया सैद्धान्तिक, सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण प्रतिपादन मिलता है, उसका उपर्युक्त अन्य सिद्धान्तों में कहीं अल्प और कहीं अत्यल्प रूप ही उपलब्ध होता है। अतः यहां स्पष्ट रूप से यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि दर्शन के क्षेत्र में शाङ्कर अद्वैतवाद का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि जब वेदान्तदर्शन की चर्चा होती है तो उससे प्रायः शाङ्कर दर्शन का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है और यही कारण है कि साधारणतया वेदान्तदर्शन से अद्वैत दर्शन का ही आशय ग्रहण किया जाता है।[1]

यहां अद्वैतवाद के अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार करना उपयुक्त होगा। अमरकोश[2] में बुद्ध के लिए अद्वयवादी शब्द का प्रयोग किया गया है।

हलायुधकोश[3] के अन्तर्गत भी अद्वयवादी का उल्लेख मिलता है। यहां अद्वयता से एकमात्र आत्मा की ही सत्यता का आशय ग्रहण किया गया है।[4] वाचस्पत्यम् में अद्वैत शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है–

द्विधा इतम् द्वीतं तस्य भावः द्वैतम् भेदो–नास्ति द्वैतं भेदो यत्र (तदद्वैतम्)।

---

१. Dr. S.N. Das Gupta: Indian Philosophy, 1, p. 429

२. अमरकोश, १।१४·

३. हलायुधकोश, १।८५

४. अद्वयं सर्वमेव चित्स्वरूपं नात्मनोऽन्यत् किंचनेति वदति।
हलायुधकोश विवृति, पृ० ९९४, (सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश. शकाब्द १९७९)

बोथलिंक एवं रौथ द्वारा सम्पादित सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अन्तर्गत अद्वैतशब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो जर्मन पेबिट (Pebit) और एलीनहीट (Alleinheit) शब्द दिए हैं, वे भेदरहित अद्वैत तत्त्व के ही अर्थ के बोधक हैं।[१]

Encyclopaedia of Religion And Ethics में अद्वैत शब्द का आशय प्रकट करते हुए कहा है–

"Advaita.......in its philosophic applications means non-dualism and is used to designate the fundamental principle of the Vedanta which asserts that the only reality is brahman."[२]

उपयुक्त कथन के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतवाद के विरोधी एवं वेदान्त के ब्रह्मसत्यत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त का द्योतक है।

सर मोनियम मोनियर विलियम्स द्वारा सम्पादित शब्दकोष में अद्वैत शब्द से द्वैतरहित, अनुपम एवं पूर्ण सत्य का तात्पर्य प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक अर्थ में अद्वैत शब्द का अर्थ जीव एवं ब्रह्म या परमात्मा का ऐक्य है।[३]

मैक्डॉनल ने अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतरहित एवं ऐक्य किया है।[४] कार्ल कैपेलर ने भी अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतरहित एवं अद्वयत्व ही किया है।[५]

रूनस द्वारा सम्पादित डिक्शनरी आफ फिलासफी के अन्तर्गत अद्वैतवाद के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'मोनिज़्म' का अर्थ एक मूल सत्य किया गया है। उक्त कोश-ग्रन्थ में ही यह भी वतलाया गया है कि इस देश का सर्वप्रथम प्रयोग वूल्फ महोदय ने किया था।[६]

ऊपर उद्धृत किये गए कोशार्थों के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतविरोधी एवं भेदरहित तत्त्व है। अद्वैत शब्द का उपर्युक्त कोशकारों द्वारा दिया गया अर्थ अद्वैतवाद के सम्वन्ध में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है।

अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादनकर्ता शङ्कराचार्य ने भी अद्वैत शब्द का प्रयोग भेदरहित

---

१. *Both Link & Roth :* St. Peters burg Dictionary, Vol. 1, p. 136 (1885)

२. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 1, p. 137

३. अद्वैत–Destitute of duality, having no duplicate, Peerless, sole, unique, identity of Brahma or of the Paramatman or supreme soul with the Jivatman or soul.
Sir Monier Williams : Sanskrit English Dictionary, p. 19 (Oxford Clarenden, New edition)

4- *Macdonell* : A Practical Sanskrit Dictionary, p. 9 (Oxford University Press, 1924)

5- *Card Cappler* : Sanskrit-English Dictionary, p. 12 (London, 1891)

6- Dictionary of Philosophy, p. 201 (Ed. by Runes, Vision press, London)

(ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।४)

एवं परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा[1] एवं ब्रह्म के लिए किया है। अत्यन्त संक्षेप में, इस प्रकार कह सकते है कि अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य का सम्बन्ध घनिष्ठ हैं।[2] शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के प्रतिपादन के द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन किया था।[3] शङ्कराचार्य ने अद्वैतत्व को निर्गुण सत्य के रूप में स्वीकार किया था।[4]

जगत् की स्थिति का विवेचन शंकराचार्य के मायावाद के आधार पर किया था।

जहां तक दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद के स्थान, महत्त्व एवं देन की बात है, विभिन्न भारतीय एवं विदेशीय दर्शन-पद्धतियों के लिए अद्वैतवाद के कुछ-न-कुछ देन अवश्य दी है। इस देन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत ग्रन्थ में अद्वैतवाद का विविध भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय स्वतः हो जाएगा। इसके अतिरिक्त वैदिक सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या एवं समन्वय अद्वैतवाद के पोषक शांङ्कर वेदान्त में मिलता है वैसा न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योगदर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।[5]

वैदिक सिद्धान्तों के समन्वय की प्रतिष्ठा जैसी अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मिलती है, वैसी विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद आदि वैष्णव सिद्धान्तों के अन्तर्गत अप्राप्य है। यही नहीं, शाङ्कर वेदान्तसम्मत अद्वैत सिद्धान्त इतना विस्तृत है कि उसके परवर्ती विशिष्टाद्वैतवाद एवं द्वैतवाद सिद्धान्तों की भी स्थिति उसमें आसानी से देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहना समीचीन ही होगा कि विविध वैष्णव दर्शन-पद्धतियों के विकास में शाङ्कर अद्वैतवाद का अत्यन्त महान् योग है। वस्तुतः शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त, सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों–किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।[6]

---

१. आत्मैव केवलो–शिवोऽद्वैतः। (शा० भा० माण्डूक्योपनिषद्, १२)
नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतो निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति।

२. "अद्वैतवेदान्त बोलिले शङ्कराचार्य के बूझाय एवं शङ्कराचार्य बोलिले अद्वैत वेदान्त बूझाय।" (आशुतोषशास्त्री, वेदान्तदर्शन–अद्वैतवाद (प्रथम खंड), पृ० १४७, (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय)।

३. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।–विवेकचूड़ामणि २०

४. *Thibaut, S.B.E* : Vol. XXXIV, Introduction, p. XXX (Oxford clarendon Press, 1890)

५. Indian Historical quarterly Vol. VI (1930) p. 108, (S.K. Mukherjee's article–Sankara on the relation between the Vedas and Reason).

६. The Vaishnavites, the Savites & the Saktas, the Mimankas, the Vishishtadvaitas & the Dvaitas, the Vaidikas, the Tantrikas & the Mantrikas, all these, & others yet to come, irrespective of their faith or creed or practice have a place in the wonderful system of philosophy, evolved & perfected by the revered Sankara. (*Indian Historical*; Quarterly, p. 692, 1920)

उपर्युक्त भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त इस्लामी दर्शन को भी अद्वैत वेदान्त से दार्शनिक देन प्राप्त हुई है। जैसा कि, इसी अध्याय में आगे चल कर स्पष्ट होगा, अद्वैत वेदान्त एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है, इसीलिए इस्लामी दर्शन के डा० ताराचन्द और कामिलहुसैन आदि समालोचकों ने इस्लामी दर्शन पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव निःसङ्कोच स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार भारतीय दर्शन एवं इस्लामी दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में भी अद्वैत वेदान्त का स्थान एवं महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। इतना ही नहीं, ग्रीक दार्शनिकों तथा फ्रांस एवं जर्मनी आदि देशों के अनेक दार्शनिकों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी स्पष्ट है। इस प्रभाव का उल्लेख इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में किया जाएगा।

ग्रीक दर्शन पर अद्वैत वेदान्त के प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त ही है कि भारतीय औपनिषद वेदान्त के मुक्ति आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त है जिन्हें ग्रीक दार्शनिकों ने ऋण रूप में ग्रहण किया था।[2] यही कारण है कि क्सेनोफेन, डील्स, परमेनिद्, ज़ेनो, प्लेटो और अरस्तू के दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद सिद्धान्त के बहुत-कुछ समान हैं। इन सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख भी इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

जहां तक डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्निज, बर्क्ले, काण्ट, फिकते, शेलिंग, हेगल, शोपेनहार आदि पाश्चात्य दार्शनिकों और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रश्न है, इन दार्शनिकों को अद्वैतवाद दर्शन से अत्यन्त और प्रौढ़ एवं स्पष्ट देन प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध में शोपेनहार प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों की यह न्यायशीलता उल्लेखनीय है कि उन्होंने औपनिषद वेदान्त एवं अद्वैतवाद समर्थक शाङ्कर वेदान्त की देन एवं महत्ता को स्वीकार करने में प्रसन्नता का अनुभव किया है।[3]

जैसा कि इस अध्याय के अन्तर्गत आगामी विवेचन से स्पष्ट हो जायगा, बर्क्ले, काण्ट एवं हेगल आदि दार्शनिकों पर भारतीय अद्वैतवाद का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लेखक के उक्त मत का युक्तिपूर्ण निर्णय प्रथम, षष्ठ एवं सप्तम अध्याय के अन्तर्गत किये गए तुलनात्मक विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

अब हम इस अध्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा विविध पाश्चात्य

---

१. डा० ताराचन्द एवं कामिलहुसैन का लेख Growth of Islamic thought in India (HISTORY OF PHILOSOPHY, P. 491).

२. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 16 (Routledge and Reganpaul, 1955 (Works, Calcutta, Ed. I, pp. 20, 125, 127.)

३. *Schopenhaur* : Perfect to the first edition of The World as Will & Idea, Translated by Huldane & Kemp; *Frederick Schlegel* : Indian Language, Literature & Philosophy, p. 471 तथा देखिए–मनसुखराम सूर्यराम, विचार-सागर, पृ० ५

दार्शनिकों एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त

अद्वैतवाद और न्यायदर्शन के तौलनिक विवेचन के लिए न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

न्यायदर्शन के गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिए न्याय शब्द का अर्थ भी अत्यन्त विचारणीय है। न्यायदर्शन का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं औपनिषद शास्त्रार्थों और विद्वानों के वाद-विवादों में मिलता है जिनमें विद्वान् लोग एक-दूसरे को परास्त करना ही अपने वैदुष्य का चरम लक्ष्य समझने लगे थे। मेरा विचार है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों में विद्वानों की रुचि इतनी बढ़ गई होगी कि उन्होंने इस शास्त्रार्थ-प्रणाली को पथक् अध्ययन का विषय बना लिया होगा। यही शास्त्रार्थ जातुचित् "वाको वाक्य" के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। आपस्तम्ब ने, जो विद्वान् बूहलर (Buhler) के मतानुसार, ईसा-पूर्व तीसरी शती में वर्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है। इस तथ्य का उल्लेख बोडस (Bodas) महोदय ने अपने "हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ इण्डियन लौजिक" नामक लेख के अन्तर्गत किया है।

प्राचीन काल में न्याय के लिए 'आन्वीक्षिकी' विद्या का व्यवहार होता था। 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख उपनिषदों[1], रामायण[2], महाभारत[3], मनुस्मृति[4], गौतमधर्मसूत्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। न्याय शब्द का एक प्राचीन अर्थ किसी वस्तु का औचित्यनिर्णय भी है। इसी आधार पर भाष्यकार वात्स्यायन और वाचस्पतिमिश्र ने न्याय की परिभाषा—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' (विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुत्व की परीक्षा करना ही न्याय है) स्वीकार की है।[7] प्राचीन काल में न्यायशास्त्र 'हेतुशास्त्र', 'हेतुविद्या', 'तर्कविद्या', 'वाद-विद्या', 'न्यायविद्या', 'प्रमाणशास्त्र', 'तक्की', 'विमंसी' आदि अभिधानों से भी प्रसिद्ध रहा है। मेरा विचार है कि न्याय के इस प्राचीन रूप में केवल तर्कशास्त्री की ही योजना थी। आध्यात्मदर्शन इस प्राचीन न्याय का अंग नहीं था।

प्राचीन और नव्य न्याय

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो सहस्र वर्ष प्राचीन है। इस दर्शन की दो प्रसिद्ध धाराएं है। पहली धारा के उद्‌गम-स्थल, सूत्रकार गौतम के सूत्र हैं। और दूसरी धारा का उत्पत्ति-स्थान बारहवीं शती के उपाध्याय गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि है। प्रथम धारा प्राचीन न्याय की प्रवर्तक है और दूसरी नव्य न्याय की। प्रथम धारा (प्राचीन न्याय) षोडश पदार्थों के निरूपण के कारण पदार्थमीमांसात्मक अर्थात् 'कैटेगोरिस्टिक'

---

१. बृहदारण्यक, उ०, १२।४।५य छा० उ०, ७।१।२
२. अयोध्याकाण्ड, १००-३९
३. शान्तिपर्व, १८०।४७
४. शांतिपर्व, ७।४३
५. शांतिपर्व, ११।३
६. शांतिपर्व, १।२-७
७. वात्स्यायन-न्यायभाष्य, १।१।१; वाचस्पति मिश्र : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १।१।१

प्रणाली कहलायेगी। दूसरी (नव्य न्याय) प्रणाली के अन्तर्गत प्रमाणों का मीमांसा होने के कारण उसे 'प्रमाणमीमांसात्मक' अर्थात् 'ऐपिस्टोमोलोजिकल' कहा जाएगा।

प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर

प्राचीन और नव्य न्याय की मूल दृष्टियों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन न्याय अध्यात्म-प्रधान है और नव्य शुष्क तर्क प्रधान। यों, प्राचीन न्याय में भी तर्क की कम योजना नहीं है; 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक की प्रमेय-योजना बृहत्तर्क की ही साधिका है। परन्तु बौद्धों के साथ हुए प्रतिवाद के फलस्वरूप नव्य न्याय की तार्किक भूमि अधिक मुखर एवं आकर्षक है। इसका कारण यह है कि प्राचीन न्याय का ध्येय मुक्ति था और नव्य न्याय का केवल शुष्क तर्क।

न्यायदर्शन की प्रक्रिया

भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत वस्तुओं के यर्थाथ ज्ञान के लिए भिन्न-भिन्न प्रमाणों की योजना की गई है। उदाहरण के लिए, चार्वाक ने एकमात्र 'प्रत्यक्ष' को ही प्रमाण स्वीकार किया है; वैशेषिकों तथा बौद्धों ने प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमाण-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त शब्द-प्रमाण को भी स्वीकार किया गया है। मीमांसक प्रभाकरमिश्र ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान तथा अर्थापत्ति, ये दो प्रमाण और माने है। मीमांसक कुमारिल तथा वेदान्तियों ने उपर्युक्त प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के अतिरिक्त अभाव-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। पौराणिकों ने प्रत्यक्षादि छः के साथ 'संभव' और 'ऐतिह्य' को मिलाकर आठ प्रमाण माने है।[१] अब रही न्यायदर्शन की बात। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ने प्रमेय[२] ज्ञान के लिए चार प्रकार के प्रमाणों[३] को स्वीकार किया है।[४] ये चार प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द हैं। न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'आत्मा', 'शरीर', 'इन्द्रिय', 'अर्थ', 'बुद्धि', 'मनस्', 'प्रवृत्ति', 'दोष', 'प्रेत्य भाव', 'फल', 'दुःख' तथा 'अपवर्ग', ये बारह प्रमेय माने गए है।[५] इन १२ प्रमेयों तथा ४ प्रमाणों के ज्ञान के द्वारा पदार्थो का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् साधक को संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभाव, छल, जाति और निग्रहस्थान इन चौदह पदार्थो का ज्ञान भी परम तत्त्व के ज्ञान के लिए परमावश्यक है।

---

१. विस्तृत देखिए–उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० १८३ (सूचना विभाग, उ० प्र० लखनऊ, १९५७)

२. प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थो का यर्थाथ ज्ञान हो, वे 'प्रमेय' कहलाते हैं।

३. मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यर्थाथ ज्ञान हो, उसे 'प्रमाण' कहते है।

४. न्यायसूत्र, १।१।३

५. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोपप्रेत्यभावफलदुखापवर्गास्तु प्रमेयम्।

–न्यायसूत्र, १।१।९

न्यायदर्शन में आत्मा और मुक्ति का स्वरूप

न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण है।[1] यहां आत्मा से जीवात्मा का ही तात्पर्य है, परमात्मा का नहीं। यही जीवात्मा बुद्ध आत्मा है। सुख-दुःख के वैचित्र्य के कारण जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है। यह आत्मा विभु और नित्य है। प्रत्येक जीवात्मा प्रति शरीर में पृथक् रूप से सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। मुक्त होने पर भी जीवात्मा स्वतन्त्र रूप से एक-दूसरे से भिन्न ही रहता है। इस प्रकार नैयायिक अनेकजीववाद का ही समर्थक है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये चौदह जीवात्मा के गुण है।[2] सूत्रकार ने आत्मा के मोक्ष के सम्बन्ध में कहा है –तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः, अर्थात् दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते है।[3] यहां अत्यन्त से पुनर्जन्म के बन्धन के नाश का अभिप्राय है।[4] मुक्तावस्था में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, इन नव गुणों का मूलोच्छेद हो जाता है। न्यायमंजरीकार ने मुक्त आत्मा के स्वरूप का परिचय देते हुए लिखा है कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित तथा अखिल गुणों से विरहित रहता है। मुक्त आत्मा ऊर्मिषट्क को पार कर लेता है। ऊर्मिषट्क से भूख-प्यास, लोभ-मोह तथा शीत-आतप का तात्पर्य है। मुक्त आत्मा दुःख-क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है।[5]

नैयायिक की अन्यथाख्याति

ख्यातिवाद भारतीय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न ख्यातियों को स्वीकार किया गया है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज सत्ख्यातिवाद, प्रभाकर मीमांसक अख्यातिवाद, विज्ञानवादी बौद्ध आत्मख्यातिवाद, शून्यवादी बौद्ध असतख्यातिवाद और शाङ्कर-वेदान्तानुयायी अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को स्वीकार करते है।[6] नैयायिक अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रम विषयिमूलक है न कि विषयमूलक। भाष्यकार वात्स्यायन ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है–"तत्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यतेः[7]" अर्थात्, तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों-का-त्यों वर्तमान रहता है। इस प्रकार किसी वस्तु के धर्मो का वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है।

न्यायदर्शन और असत्कार्यवाद

न्यायदर्शन में कार्य-कारण का विचार करते समय असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया

---

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा। –तर्कसंग्रह, आत्मनिरूपण।
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०
३. न्यायसूत्र, १।१।२२
४. अत्यन्तमिति पुनरावृत्तिराहित्यम्। –न्यायभाष्य, १।१।२२
५. न्यायमंजरी, पृ० ७७
६. विस्तृत देखिए–डा० राममूर्ति शर्मा : शंकराचार्य, प्र० सं०, पृ० १४३-१६१
६. न्यायभाष्य, ४।२३।५
७. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात

गया है। नैयायिकों के अनुसार कारण का लक्षण–अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्,[1] अर्थात् किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना और जो अन्यथासिद्ध[2] न हो, किया गया है। कार्य का लक्षण नैयायिक ने 'कार्य प्रागभाव-प्रतियोगी' अर्थात् 'प्रागभाव के प्रतियोगी की संज्ञा कार्य है। असत्कार्यवादी होने के कारण नैयायिक कारण में कार्य की सत्ता को नहीं स्वीकार करता। कारण में कार्य की सत्ता न स्वीकार करने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम असत्वकार्यवाद पड़ा है।

अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

वैसे तो, अद्वैतवेदान्त दर्शन न्यायदर्शन का प्रतिपक्षी दर्शन है। अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत न्यायदर्शन के–कार्य-कारणवाद, परमाणुवाद, समवायसम्बन्ध एवं नैयायिक की जाति आदि का प्रवल खण्डन किया है। परन्तु अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन के सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध होते हुए भी दोनों की दार्शनिक विचारधाराओं की मूल पृष्ठभूमियों में पर्याप्त साम्य है। क्लेशमय संसार के प्रति असारता का दृष्टिकोण, मिथ्याज्ञानानुभूति की विचारधारा और ईश्वर एवं मुक्ति-सम्बन्धी विवेचन दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में मिलते हैं। यह वात दूसरी है कि वेदान्ती की दृष्टि से अविद्या-निवृत्ति आत्मवोध होने पर होती है और नैयायिक की दृष्टि से संशयादि चतुर्दश पदार्थों, प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों और आत्मा आदि द्वादश प्रमेयों का ज्ञान होने के पश्चात्।[3] जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के मतानुसार मिथ्या माया मोक्षमार्ग में वाधक है, उसी प्रकार न्यायदर्शन के अनुसार भी मिथ्या ज्ञान ही अपवर्ग का प्रथम वाधक कारण है।[4] न्यायदर्शन में मोक्ष की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोष, दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के नष्ट होने पर जन्म और जन्म का विनाश होने पर दुःख का नाश होता है।[5] जगत् की सत्ता का आधार भी दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक-सा प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि वेदान्त-दृष्टि से यदि जगत् की सत्ता माया पर आधारित है तो नैयायिक की दृष्टि से परमाणु पर। इसी तथ्य को प्रकाश में लाते हुए दार्शनिक विज्ञानभिक्षु ने अपने योगवार्तिक में बृहद्वाशिष्ठ के एक श्लोक को उद्घृत करते हुए लिखा है :

नामरूपविनिमुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणुम् ॥

---

१. दीपिका, पृ० २५ तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका, १६
२. जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, उसे अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे घट-निमार्ण में दण्ड, दण्डरूप, आकाश, कुलालपिता तथा मुत्तिकावाहक गर्दभ अन्यथासिद्ध है।
३. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति- निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानिन्निः श्रेयसाधिगमः। –न्यायसूत्र, १।१।१
४. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः।
–न्यायसूत्र, १।१।२
५. विशेष देखिए–महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुवाद एवं व्याख्या न्यायसूत्र, १।१।२ (Sacred Books of the Hindus, vol. viii, p.2 & 3; (Panini office, Allahabad. 1930)

न्याय और अद्वैतवेदान्त की मुक्ति

नैयायिक उद्योतकर ने जो निःश्रेयस् के अपर निःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्, ये दो भाग किए है,[1] वे भी अद्वैतवेदान्त की जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति-सम्बन्धी विचारधाराओं के अत्यन्त समीप हैं। उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त अपर निःश्रेयस् जीवन्मुक्ति और परनिःश्रेयस् विदेहमुक्ति की विचारधारा है। उद्योतकर ने अपने निःश्रेयस् के रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपर निःश्रेयस् तत्त्वज्ञान के पश्चात् ही उपलब्ध हो जाता है।[2] यही अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति का स्वरूप है। अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति के अनुसार अविद्यानिवृत्ति के फलस्वरूप आत्मबोध होने पर जीव बन्धन से मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले गतकर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना ही पड़ता है।[3] जहां तक परनिःश्रेयस् का प्रश्न है, वाचस्पति ने अपनी तात्पर्यटीका में परनिःश्रेयस् को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक परनिःश्रेयस् की उपलब्धि नहीं होती।[4] ठीक यही बात शङ्कराचार्य ने विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में कही है। आचार्य का कथन है कि जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है।[5] इन रहस्यों के विवेचन से न्याय और अद्वैत दर्शन का मुक्तिगत साम्य स्पष्ट झलकता है। यह तथ्य और भी विचारयोग्य है कि मुक्तिविषयक उपर्युक्त चर्चा न्यायदर्शन के परवर्ती सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद में ही नहीं मिलती, अपितु औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत भी मुक्ति का विशद विवेचन मिलता है।[6]

प्रो० डायसन के कथनानुसार, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेद का अध्ययन उपनिषद्-दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता,[7] परन्तु यह कथन तर्कप्रतिष्ठित नहीं है कि जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति (न्यायदर्शन के अनुसार अपरनिःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्) की प्रबल पृष्ठभूमि हमें औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत उपलब्ध होती है। नैयायिक के अपर-निःश्रेयस् जीवन्मुक्ति के स्वरूप का दर्शन छान्दोग्य उपनिषद् की उस उक्ति में होता है जिसमें कहा गया है कि जैसे कमल के पत्ते में पानी नहीं लगता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी पापकर्म नहीं लगता।[8] उपनिषद् दर्शन के

---

१. न्यायवार्तिक, १।१।१

२. यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत्तत्वज्ञानानन्तरमेव भवति।—न्यायवर्तिक, १।१।१

३. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।१।१५

४. परनिःश्रेयसं न तावद् भवति यावदुपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते।
—तात्पर्यटीका, पृ० ८१

५. ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।१५

६. ब्र० उ०, १।४।१०, ४।४।६,७,२२; छा० उ०, ८।४।१; मु० उ० ३।१३, ३।२।६; तै० उ०, २।६; कौ० उ०, १।४, ३।१; मै० उ०, २।७, ६, ३४

७. *Deussen* : Philosophy of Upanishads E.T., p. 356 (Edinburgh, T. & T. Clark, 38, George Stree)

८. छा० उ०, ४।१४।३

अनुसार इसी जगत् में ब्रह्मज्ञान अर्थात मुक्ति-लाभ कर लेता है।[1] औपनिषद विदेहमुक्ति और अद्वैत वेदान्त-सम्मत विदेहमुक्ति में अवश्य भेद है। औपनिषद विदेहमुक्ति के अनुसार जीव इस जगत् में मुक्त होने पर भी देह-त्याग होने पर स्वर्गलोक को जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त में, मुक्ति का यह स्वरूप उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि परवर्ती वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करनेवालों का प्रत्यगात्मा है।[3] इस प्रकार औपनिषद दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रतिपादित विदेहमुक्ति अथवा नैयायिक के परनिःश्रेयस् में अन्तर होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य ही होगा कि नैयायिकों का मुक्ति का सिद्धान्त औपनिषद दर्शन से ही गृहीत है।[4] अतः हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि न्यायदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त पर औपनिषद अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है।

अद्वैतवेदान्त और न्यायसम्मत मुक्ति में पर्याप्त साम्य होते हुए भी अन्तर की एक विशाल रेखा भी है और वह यह कि अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में जिस ब्रह्मानन्द की अनुभूति का वर्णन है, उसका न्यायदर्शन की मुक्ति में अभाव है। न्यायदर्शन में उक्त विचार का समर्थन भाष्यकार वात्स्यायन और वार्तिककार उद्योतकर ने बड़े बलपूर्वक किया है।[5] नैयायिकों के कथन का तात्पर्य है कि सुख के रागात्मक होने के कारण वह (सुख) बन्धन का साधन है। अतः अपवर्ग को सुखात्मक मानने से बन्धन की निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है। मुझे नैयायिकों का यह तर्क समीचीन नहीं लगता। भाष्यकार वात्स्यायन ने "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है–"तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः" अर्थात् समस्त सांसारिक दुःखों और जन्म ग्रहण करने के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना ही मोक्ष है। यहां यह विचारणीय है कि जब भाष्यकार वात्स्यायन मोक्ष में दुःख की अत्यन्त विमुक्ति मानते हैं तो उन्हें दुःख की निवृत्ति के फलस्वरूप आनन्दोपलब्धि भी स्वीकार करनी ही होगी।[6] नैयायिकों की आनन्द के रागात्मक होने की शङ्का के समाधान में यह कहा जाएगा कि ब्रह्मानन्द कोई सांसारिक रागादि से युक्त सुख नहीं है। उसका स्वरूप इन्द्रियातीत होने के कारण अनिर्वचनीय है। परन्तु अनिर्वचनीयता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मानन्द शून्यता का रूप है।

उपर्युक्त विचारदृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त की मान्यताओं में परस्पर विरोध होते हुए भी किंचित् साम्य है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन के मुक्ति जैसे सिद्धान्त पर औपनिषद अद्वैत का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस दिशा में न्याय और अद्वैतदर्शन

---

१. बृ० उ०, ४।४।६, ४।४।७
२. बृ० उ०, ४।४।८
३. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।३।७
४. *R.D. Ranade* : **Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, pp. 190 (Oriental Book Agency, Poona, 1926)**
५. न्यायसूत्र १।१।२२ पर भाष्यकार और वार्तिककार का मत।
६. अतः इस सम्बन्ध में डा० दासगुप्त (इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३६६) जैसे विद्वानों का यह कथन कि, मुक्तावस्था आनन्दावस्था कदापि नहीं हो सकती, उचित नहीं प्रतीत होता।

का सम्बन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है। अव वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा। पहले वैशेषिकदर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त

वैशेषिक दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा–काणाद तथा औलक्यू वैशेषिकदर्शन के ही अपर नामधेय है। इस दर्शन के आद्यप्रवर्तक उलूक ऋषि के पुत्र कणाद के होने के कारण ही इसका नाम काणाद एवं औलूक्यदर्शन पड़ा है। इस दर्शन के वैशेषिक नाम के सम्बन्ध में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। चीनर दार्शनिक विद्वान् चिरतान (५६६-६२३ ई०) तथा क्वहेइची (६२३-६८२ ई०) ने एक प्राचीन परम्परा के आधार पर वैशेषिक नामकरण का यह कारण बतलाया है कि अन्य दर्शनों से, विशेषतः सांख्यदर्शन से, विशिष्ट अर्थात अधिक युक्ति-सम्पन्न होने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक पड़ा है।[1] कुछ विद्वानों के मतानुसार इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना होने के कारण इसको वैशेषिक कहते हैं। पूर्वमत की अपेक्षा यही मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वैशेषिकों का एक नाम अर्धवैनाशिक भी है।[2] शटराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में वैशेषिकों के लिए उक्त नाम ही दिया है।[3] अर्धवैनाशिक से अर्ध शून्यवादी का तात्पर्य है।[4]

न्याय और वैशेषिकदर्शन की विचारधाराओं में अत्यधिक साम्य है। इसीलिए प्रो० मैक्समूलर ने दोनों को 'सिस्टर फिलासफीज' कहा है।[5] वैशेषिकदर्शन के अनुसार जगत् की समस्त वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द व्यपहृत हुआ है। जो प्रमिति अर्थात् ज्ञान का विषय है, वही पदार्थ है।[6] अभिधेयत्व अर्थात् नाम की योग्यता रखना पदार्थ का सामान्य लक्षण है।[7] पदार्थ दो प्रकार के हैं–(१) भाव पदार्थ, (२) अभाव पदार्थ। भाव-पदार्थों के छः भेद है। ये भेद हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समभाव। प्रागभव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव के भेद से अभाव चार प्रकार का है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, इन नौ द्रव्यों की योजना की गई है। वैशेषिकसूत्र में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि कार्य के समवायि कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। साधारणतया मूल वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्य, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न, इन सत्रह गुणों का उल्लेख किया है।[8] परन्तु भाष्यकार प्रशस्तपाद ने उक्त सत्रह गुणों के अतिरिक्त छः गुणों का विशेष निर्देश किया है। ये छः गुण गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट तथा

---

१. *Dr. Ui* : Vaisesika Philosophy, p. 3-7
२. Journal of Oriental Reasearch, Vol. III, pp. 1-6
३. ब्र० सू०, शा० भा०, २।२।१८
४. *Dr Radhakrishanan* : Indian Philosophy, Vol. II, Pp. 177 (F.N.)
५. Maxmuller, Indian Philosophy, Vol. iv, p. 77
६. प्रमितिविषयाः पदार्थाः। –सप्तपदार्थी, पृ० २
७. अभिधेययत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्। –तर्कदीपिका, पृ० २
८. वै० सू० १।१।६ तथा चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार-कृत भाष्य, (कलकत्ता, १८८७)

शब्द है।[1] प्रशस्तपाद-निर्दिष्ट 'अदृष्ट' गुण के धर्म तथा अधर्म भेद से दो भेद है। अतः कणाद-निर्दिष्ट सत्रह तथा प्रशस्तपाद-उल्लिखित सप्त गुणों को मिलाकर गुणों की संख्या चौबीस है। इस प्रकार वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत चौवीस गुणों का भी निरूपण मिलता है।

वैशेषिक का परमाणुकारणवाद

वैशेषिक दर्शन पद्धति के अनुसार प्रलय-काल में सभी कार्य-द्रव्यों का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् ये द्रव्य परमाणु-रूप में आकाश में वर्तमान रहते है। इस काल में प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् तथा पूर्व जन्म के संस्कारों सहित 'अदृष्ट' रूप में धर्म और अधर्म के साथ वर्तमान रहता है। यह प्रलयकालिक शान्ति की अवस्था होती है। इस काल में सृष्टि का कार्य नहीं होता। जीवों के कल्याणार्थ परमात्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है और इसका यह फल होता है कि जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख होते है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति,[2] वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना,[3] अग्नि की लपटों का ऊंपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की आद्यस्पन्दनात्मक क्रिया, ये सव अदृष्ट के द्वारा जन्य हैं। परन्तु अदृष्ट तो जड़ है। इसीलिए परवर्ती वैशेषिकदर्शन में अदृष्ट के सहकारित्व से ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि-क्रिया स्वीकार की गई है।[4] परमेश्वर की इच्छा से अदृष्ट की सहायता से जब परमाणुओं में स्पन्दन होता है तो अणुपरिणाम विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्वयणक' की उत्पत्ति होती है। जो अणुपरिणाम विशिष्ट होने के कारण स्वयं अतीन्द्रिय हैं, ऐसे तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु) की उत्पत्ति होती है। त्रसरेणु महत् परिमाण वाला है, अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। परमाणु और द्व्यणुक अतीन्द्रिय है। घर की छत के छेद से जव सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तो उनमें दृश्यमान जो छोटे-छोटे कण होते हैं वे ही त्रसरेणु कहलाते है। त्रसरेणु का छठा भाग ही परमाणु कहलाता है। चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और फिर जगत् की सृष्टि आरम्भ हो जाती है। वैशेषिकदर्शन में जगत् की उत्पत्ति का यही क्रम है।

ईश्वर

वैशेषिकदर्शन में ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में विद्वानों में वहुत मतभेद मिलता है। वैशेषिकदर्शन के दो सूत्रों (१।१।३ एवं २।१।१८) में अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर-सम्बन्धी संकेत मिलता है। पहले सूत्र (१।१।३,[5] में 'तत्' शब्द से ईश्वर का ही संकेत प्रतीत होता है। दूसरे सूत्र (२।१।१८)[6] के

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १० (मेडिकल हाल, सं० १६५१)
२. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम्। –वै० सू०, ५।१।१५
३. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। –वै० सू०, ५।२।७ (कलकत्ता, १८८७)
४. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २०
५. तदवचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। –वै० सू०, १।१।३
६. संज्ञाकर्मत्वस्मद् विशिष्टानां लिङ्गम्। –वै० सू०, २।१।१८

अन्तर्गत 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द से ईश्वर एवं महान् सन्तों का बोध होता है।[१] परन्तु सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। प्रशस्तपाद-प्रभृति परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने तो ईश्वर की सत्ता निःसंकोच स्वीकार की है। प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत स्वीकार किया है।[२] गुणरत्न का कथन है कि वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से 'पाशुपत' कहलाते थे।[३] नैयायिकों के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे शिव के भक्त होते थे।[४] अतः वैशेषिक की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में सन्देह नहीं करना चाहिए।

वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलनात्मक समीक्षा

वैशेषिक और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर-विरोध हुए भी कुछ-एक स्थलों पर साम्य भी मिलता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः ब्रह्मसूत्र और वैशेषिकसूत्र की रचना समकालिक ही है। इस कथन की प्रामाणिकता इससे सिद्ध है कि दोनों ही ग्रन्थों में एक-दूसरे के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। बादरायण ने, ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत परमाणुवाद की चर्चा की है।[५] वैशेषिकदर्शन के रचयिता कणाद ने तो अपने वैशेषिकसूत्र में अद्वैत सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जो अविद्यावाद या मायावाद अद्वैत वेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है, उसका स्पष्ट निर्देश वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत किया गया है।[६] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा करते समय अविद्या का विस्तृत विवेचन किया है। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के विद्या तथा अविद्या, ये दो भेद किये हैं। विद्या 'प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्ष' भेद से चार प्रकार की है।[७] अविद्या के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न रूप से चार भेद है।[८] इनमें विपर्यय के अन्तर्गत अद्वैती के अध्यारोपवाद की पूर्ण झलक मिलती है। भाष्यकार प्रशस्तपाद के अनुसार अवस्तु में वस्तु का प्रत्यय विपर्यय कहलाता है।[९] यदि देखा जाए तो यह वेदान्त का अध्यारोपवाद ही है। आरोप का लक्षण 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" (अवस्तु में वस्तु का ज्ञान) है।[१०] यही भ्रम का स्वरूप है।

---

१. वैशेषिकसूत्र, २।१।१८ (नन्दलाल सिन्हा द्वारा अनूदित)
(Second Edition, Published by S.N. Basu, The Panini office, Allahabad 1923, (Sacred Books of the Hindus, Vol. VI)
२. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ३०५
३. षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ० ५१
४. डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० २३८
५. ब्र० सू०, २।२।११
६. वै० सू०, ७।१।२१, ९।२।१०
७. विद्यापि चतुर्विधा। प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। –प्र० पा० भा०, प० ५५२ (चौख० संस्करण)
८. तस्या सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विं संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। –प्र० पा० भा० बुद्धिनिरूपण, पृ० ५२० (चौख० संस्करण)
९. अतस्मिंस्तदितिप्रत्ययो विपर्ययः। –प्र० पा० भा०, पृ० ५३८
(गोपीनाथकविराज एवं ढुण्ढिराजशास्त्री द्वारा संपादित)
१०. वेदान्तसार, पृ० १३ (चौखम्बा संस्करण) पर भावबोधिनी।

इस प्रकार वैशेषिकदर्शन और अद्वैतवेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुए भी यत्किंचित समानता भी मिलती है। वैशेषिक के अविद्या-विवेचन जैसे स्थलों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट सिद्ध होता है।

सांख्य और अद्वैतवेदान्त दर्शन

सांख्यदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा–सांख्यदर्शन अत्यन्त बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक दर्शन है। प्रो० गार्वे का तो यहां तक कहना है कि मानवीय मस्तिष्क का पूर्ण स्वातन्त्र्य और उसका अपनी शक्तियों के प्रति पूर्ण विश्वास, विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम सांख्यदर्शन के अन्तर्गत ही प्रदर्शित हुआ है।[1] इसी विद्वान् ने एक और स्थल पर सांख्यदर्शन को भारतवर्ष के दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दर्शन कहा है।[2] यद्यपि प्रो० गार्वे का कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु फिर भी यह तो स्वीकार्य ही है कि सांख्यदर्शन शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसीलिए प्राचीन विद्वानों की भी 'न हि सांख्यसमं ज्ञानम्' आदि उक्तियां प्रसिद्ध हैं।

सांख्य का अर्थ–सांख्य के अर्थ के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक विचारधाराएं मिलती हैं।

१. व्याकरणिक व्युत्पत्ति के अनुसार सम् उपसर्गपूर्वक ख्याञ् धातु से 'संख्या' शब्द बनता है जिसका अर्थ सम्यक् विचार है। इसी को 'प्रकृतिपुरुषविवेक' एवं 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते है। इस प्रकार संख्या अथवा विवेक-ज्ञान के सांख्य के मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा है।

२. शङ्कराचार्य ने शुद्ध आत्मतत्व के विज्ञान को सांख्य कहा है।[3]

३. कतिपय विद्वान् गणना-अर्थवाची संख्या के आधार पर 'सांख्य' की व्युत्पत्ति करते है। इस व्युत्पत्ति का आधार यह है कि सांख्य के अन्तर्गत तत्त्वों की गणना प्रधान रूप से की गई है। कदाचित् उक्त परिभाषा का मूल आधार महाभारत का निम्न श्लोक ही रहा होगा :

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ।।महाभारत

४. डा० राधाकृष्णन् का विचार है कि सांख्य शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दार्शनिक विचार के लिए ही प्रयुक्त होता था, न कि तत्त्वगणना के लिए,[4] जैसा कि उक्त मतानुयायियों का विचार है।

मेरे विचार से डा० राधाकृष्णन् का ही मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि तत्त्वादि की गणना तो प्रायः सभी भारतीय दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत मिलती है। अतः तत्त्वगणना (संख्या) के आधार पर 'सांख्य' की व्युत्पत्ति करना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता।

---

१. Philosophy of Ancient Indian, P. 30
२. It is the most significant system of Philosophy that India has produced. (Sankhya pravachanbhashya, XIV)
३. शुद्धात्मतत्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते। –विष्णुसहस्रनाम पर शाङ्करभाष्य
४. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 527

सांख्यदर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप–सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। प्रो० डायसन प्रभृति विद्वानों ने सांख्यदर्शन का मूल उद्‌गम उपनिषदों में स्वीकार किया है।[१] उपनिषदों के अन्तर्गत सांख्य सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन मिलता है।[२] सांख्यदर्शन का यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो उसके निम्नलिखित रूप निर्धारित किये जा सकते है :

१. उपनिषद्‌ तथा श्रीमद्‌भगद्‌गीतावर्ती सांख्य–(१०००-८०० ई० पूर्व) इस काल का सांख्य वेदान्त-मिश्रित सांख्य है। इस सांख्य के अन्तर्गत ईश्वरवाद का भी पूर्ण समर्थन मिलता है।

२. महाभारतवर्ती तथा पौराणिक सांख्य–(लगभग ३००-२०० ई०-पूर्व) महाभारत तथा पुराणवर्ती सांख्य में वेदान्त का मिश्रण नहीं पाया जाता। इस सांख्य का अपना स्वतंत्र रूप है।

३. चरक सांख्य–चरक का सांख्य भी महाभारत तथा पौराणिक सांख्य से वहुत-कुछ मिलता-जुलता है। पुरुष को अवयक्तावस्था में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव स्वीकार करना तथा मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा मानना आदि चरक सांख्य की अनेक विशेषताएं, महाभारत में भी उपलब्ध होती हैं।[३] चरक पंचशिख के अनुयायी थे।[४]

४. ब्रह्मसूत्र तथा संख्यकारिका का सांख्य–(३०० ई०-पूर्व से ३००) इस सांख्य की प्रधान विशेषता निरीश्वरवादिता है। इसमें प्रकृति तथा पुरुष को चरमतत्त्व मानकर जगत्‌ की व्याख्या की गई है।

५. विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य–(१६ वीं शती) विज्ञानभिक्षु एक सामंजस्यवादी दार्शनिक विद्वान्‌ थे। इन्होंने सांख्य में पुनः ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की थी तथा वेदान्त और सांख्य का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया था।

गुणरत्न ने तत्त्वरहस्यदीपिका में मौलिक्य तथा उत्तर नाम के दो सांख्य सम्प्रदायों की चर्चा की है।[५] मौलिक्य सांख्य के अनुसार प्रत्येक आत्मा के लिए एक पृथक्‌ प्रधान की कल्पना की गई है, जैसाकि मौलिक्य नाम से ही विदित होता है। यह प्राचीन सांख्य का स्वरूप है। महाभारत तथा चरककालीन सांख्य भी मौलिक्य सांख्य का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। उत्तरसांख्य, सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य का स्वरूप है। यहां उत्तरसांख्य का ही विवेचन हमारा प्रधान विषय है।

सांख्यवाद और कार्यकारणवाद

कार्य-कारण सिद्धान्त सांख्यदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। सांख्य के कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार कार्य और कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य अपने मूलरूप में उत्पत्ति से पूर्व भी अव्यक्त

---

१. *Deussen* : Philosophy of the Upanishads, p. 239
२. श्वे० उ०, ४।५-१०-१६; छा० उ०, ६।४।१; कठ० उ०, १।३।१०
३. महाभारत, १२।२१६
४. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ० ३१३
५. तत्वरहस्यदीपिका, पृ० ९९.

रूप से कारण में वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य की अव्यक्तावस्था कारण तथा व्यक्तावस्था कार्य है। अतः तत्त्वतः कार्य और कारण में भेद नहीं है। कार्य की सत्ता के अव्यक्त रूप से कारण में रहने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है। इसे परिणामवाद भी कहते हैं। क्योंकि सांख्य के अनुसार कार्य, कारण के परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सांख्याचार्य और कुछ नहीं है। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की निम्नलिखिका कारिका के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के उक्त सिद्धान्त की पूर्णरूपेण पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है :

असदकरणादुपादानग्रहखात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।

(सांख्यकारिका, ६)

ईश्वरकृष्ण की उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत सांख्यसत्कार्यवाद की समर्थक पांच युक्तियां मिलती हैं :

१. असदकरणात्–जो वस्तु कारण में पहले से विद्यमान नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र का यह कथन नितान्त संगत प्रतीत होता है कि नील वस्तु को सहस्रों शिल्पियों द्वारा भी पीत नहीं बनाया जा सकता।[1] यदि ऐसा हुआ होता तब तो आकाशकुसुम जैसे असम्भव पदार्थों की भी उत्पत्ति होने लगती।

२. उपादानग्रहणात्–कार्य की सत्ता कारण के तत्त्वों पर पूर्णरूप से आधारित होती है। जैसे, दूध से ही दही और तन्तुओं से ही वस्त्र की उत्पत्ति संभव है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न हुआ होता तो किसी कारण से भी किसी कार्य की उत्पत्ति हो जाया करती।

३. सर्वसंभवाभावात्–सर्व कारणों से सर्व कार्यों की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

४. शक्तस्य शक्यकरणात्–शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध है कि कार्य की सत्ता कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती है।

५. कारणभावात्–वस्तुतः कार्य और कारण में ऐक्य है। अव्यक्तावस्था जो कारण है वही व्यक्तावस्था में कार्य है। इस प्रकार सृष्टि उद्भाव का परिणाम है और प्रलय अनुद्भाव का। अनुद्भावावस्था में कार्य कारण में ही लीन हो जाता है।[2]

प्रकृति

दर्शन और साहित्य के विवेच्य विषयों में प्रकृति का प्रमुख स्थान है। अद्वैत वेदान्त में प्रकृति माया-रूप से वर्णित हुई है। सांख्य में, अव्यक्त और प्रधान प्रकृति की अपर संज्ञाएं हैं। व्यासभाष्य में प्रकृति की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है :

"निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अलिङ्गं प्रधानम् ।"

(व्यासभाष्य, २।१६)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार न प्रकृति की सत्ता ही। न वह सद्रूप है और न असद्रूप।

---

१. नहि नीलं शिल्पिसस्रेणपि पीतं कर्तुं शक्यते। –तत्वकौमुदी, पृ० ६
२. नाशः कारणलयः। –सांख्यसूत्र, १।१२१

परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह शशविषाण की तरह नितान्त असद्रूपा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति अव्यक्त एवं अलिंग है। सांख्यसूत्र के अन्तर्गत आचार्य कपिल ने 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६४) अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यवस्था का नाम ही प्रकृति है, कहकर प्रकृति की परिभाषा की है। सांख्यकारिका में प्रकृति को अहेतुक, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, लिंगरहित, निरवयव, स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, विवेकरहित, विषरूपा, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[1]

प्रकृति-तत्त्व के बिना सांख्यदर्शन का शरीर उसी प्रकार निर्जीव है, जिस प्रकार माया-तत्त्व के बिना अद्वैतदर्शन का। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की महती उपयोगिता स्वीकार करते हुए उसकी अस्तित्व-सिद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियां दी हैं :

१. जगत् की सत्ता सीमित है। सीमित वस्तु के लिए असीमित पदार्थ का ही आधार अपेक्षित होता है। सीमित आधार सीमित कदापि नहीं हो सकता।

२. सांख्यदर्शन के अन्तर्गत त्रिविध गुणों की साम्यावस्था स्वीकार की गई है। जागतिक पदार्थो में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र वर्तमान रहती है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह का जनक है। अतः जगत् के पदार्थो की उत्पत्ति का एक ऐसा मूल कारण होना चाहिए, जिसमें उक्त विशेषताएं उपलब्ध हों।

३. कारण शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था ही है। इसलिए समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना संगत ही है।

४. कारण और कार्य की सत्ता पृथक्-पृथक् है। स्वयं कारण कार्य नहीं हो सकता। अतः जगत्-रूप कार्य के लिए प्रकृति-रूप कारण का मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

५. विश्व की एकरूपता के कारण समस्त विश्व का कोई एक ही कारण सम्भव है। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का, प्रकृति का परिणाम होना युक्तियुक्त ही है।[2]

गुण

हमने ऊपर प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने ही चर्चा की है। परन्तु सांख्य की गुण-सम्बन्धी मान्यता वैशेषिक से भिन्न है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार सत्त्व, रज और तम को गुण कहने का यही तात्पर्य है कि वे प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप है और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने वाले है। विज्ञानभिक्षु ने गुण की परिभाषा देते हुए कहा है कि पुरुष को बन्धन में डालने वाले त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने के कारण ही इन्हें गुण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार गुण (रस्सी) के द्वारा पशु को बन्धन में बांधा जाता है उसी प्रकार सांख्य के गुण भी पुरुष को बन्धन में बांधतें हैं।[3] महत्तत्त्व या व्यष्टिरूप से बुद्धि, प्रकृतिका प्रथम विकार है। यही जगत् की उत्पत्ति में बीज रूप है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि, सुख-दुःख एवं मोहस्वरूपा है। अतः प्रकृति में भी इन गुणों का

---

१. सांख्यकारिका, १०-११

२. सांख्यकारिका, १५-१६

३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १।६१

होना स्वाभाविक है। यद्यपि इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि प्रकृति के विकारों के द्वारा इनकी सत्ता सिद्ध होती है।

प्रथम सत्त्वगुण प्रीतिरूप, लघु तथा प्रकाशक है।[१] द्वितीय रजोगुण दुःखोत्पादक, चल और उपष्टम्भक (कार्य का प्रवर्तक) होता है। यही संसार की अखिल सक्रियता का मूल है। रजोगुण के चलत्व के सम्वन्ध में आचार्य गौडपाद और माठर ने कई दृष्टान्त दिए है। गौडपाद और माठर का कथन है कि बैल का नशे में होना, लड़ना अथवा किसी पुरुष का ग्राम की ओर जाने की आकांक्षा करना या किसी स्त्री से प्रेम करना रजोगुण की चलत्व सम्वन्धी विशेषता के ही फल है।[२] तृतीय गुण तमोगुण है। तमोगुण मोहरूप, गुरुत्वमय तथा वरणक होता है। सत्त्व, रजस् ओर तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन हैं।[३] इन्हीं से सुख, दुःख तथा मान्द्य की उत्पत्ति होती है। सांख्य के उपर्युक्त तीनों गुणों का अस्तित्व पृथक् न होकर उनमें अविनाभाव सम्वन्ध है।[४] अतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणयुक्त है। यह बात दूसरी है कि किसी एक गुण के प्राधान्य के कारण कोई पदार्थ उसी प्रधान गुण के नाम से जाना जाता है। जिस वस्तु में जिस गुण की प्रधानता रहती है, उसी गुण का उस वस्तु में प्रकाशन होता है, अन्य गुण उस वस्तु में गुप्त रूप से वर्तमान रहते हैं। जिस प्रकार के विश्राम करते समय मनुष्य में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण गुप्त रीति से वर्तमान रहते है; चलते समय मनुष्य-शरीर में रजोगुण का प्राधान्य रहता है और तमोगुण की गुप्त स्थिति होती है।[५] ये तीनों गुण आपस में उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार दीपक में प्रकाश, तेल एवं वर्तिका परस्पर सम्बन्धित हैं।[६] पृथक् रूप से कोई भी गुण अपना कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रखता। डा० बी० एन० सील का विचार है कि सत्त्वगुण में भौतिक पिंडत्व एवं गुरुत्वाकर्षण का अभाव है। इसमें न अवरोधक शक्ति है और न क्रियाशक्ति। इसके विपरीत तमोगुण में भौतिक पिण्डत्व भी है और अवरोधक शक्ति भी। परन्तु सत्त्वगुण-प्रकाशित बुद्धित्व और तमोगुणवर्ती भौतिक तत्त्व में क्रियात्मकता का अभाव है। अतएव मात्र सत्त्व और तमस् में उत्पादन की क्रिया का अभाव है। इस क्रियात्मकता की पूर्ति रजोगुण करता है। रजोगुण ही शक्ति का मूल प्रवर्तक है। इसमें तमोगुण की अवरोधक शक्ति को जीतने की ही शक्ति नहीं है, अपितु बुद्धि को भी तदपेक्षित शक्ति देने की सामर्थ्य है।[७]

सांख्य के गुणों का यह वैशिष्ट्य है कि वे इन्द्रियातीत होने के कारण दृष्टि-पथ में नहीं आते। उनका जो रूप दृष्टिगोचर होता है वह मायिक एवं तुच्छ है।[८]

---

१. तत्वकौमुदी, १३
२. *Sovani* : A Critical Study of the Sankhya System, p. 206
३. योगसूत्र, २।१८
४. सांख्यकारिका, १२
५. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. 1, p. 246
६. सांख्यकारिका, १३
७. *Dr. B.N. Seal* : The Positive Sciences of the Hindus, p. 4 (Longmans, 1912)
८. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ।। षष्टितन्त्र

पुरुष

सांख्यदर्शन के अन्तर्गत प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व पुरुष है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही संसार की सृष्टि होती है परन्तु फिर भी सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष की विशेषताएं प्रकृति से एकदम विरुद्ध हैं। सांख्य की प्रकृति यदि त्रिगुणात्मिका है तो पुरुष त्रिगुणातीत, प्रकृति यदि विवेक-रहिता है तो पुरुष विवेकी, प्रकृति यदि विषय है तो पुरुष विषयी, प्रकृति यदि जड़ है तो पुरुष चेतन और यदि प्रकृति प्रसवधर्मवाली है तो पुरुष अप्रसवधर्मी है।[१] पुरुष के त्रिगुणातीत होने के कारण उसमें रजोगुण से उत्पन्न होने वाली सक्रियता का अभाव है। अतएव वह अकर्ता है। परन्तु अकर्ता होते हुए भी पुरुष नित्यमुक्त होने के कारण मध्यस्थ अथवा साक्षी अवश्य है।[२] सांख्याचार्यों ने पुरुष-सिद्धि के लिए निम्नलिखित युक्तियां दी हैं :

१. समस्त जागतिक पदार्थ संघातमय हैं। अतः जगत् के इस समस्त वस्तु-संघात का किसी अन्य के प्रयोजन के लिए होना स्वाभाविक हैं। अन्यथा इस वस्तु-संघात की उपयोगिता ही क्या होगी ? यह अन्य तत्व पुरुष है।

२. संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः एक ऐसे तत्व की भी आवश्यकता है जो त्रिगुण-विरहित हो।

३. प्रकृतिजन्य जड़जगत् का चेतन अधिष्ठाता परम अपेक्षित है। राजा की तरह सांख्य का पुरुष भी अधिष्ठाता के रूप में जगत् का नियन्ता है।

४. संसार के समस्त विषय भोग-योग्य हैं। अतः इनका भोक्ता होना भी आवश्यक है।

५. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होना किसी ऐसे पदार्थ का सूचक है, जिसकी विशेषताएं त्रिगुणात्मक प्रकृति से विपरित हों। यह पदार्थ पुरुष है।[३]

पुरुषबहुत्व

वेदान्त के विपरीत सांख्यदर्शन पुरुषबहुत्व का समर्थक है। सांख्य का तर्क है कि जन्म-मरण की भिन्नता तथा त्रैगुण्य का विपर्यय पुरुषबहुत्व का साधक प्रमाण है। यदि एक पुरुष हुआ होता तव तो समस्त पुरुषों का जन्म तथा मृत्यु एक काल में ही हुए होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसके साथ ही साथ त्रैगुण्य-विपर्यय होने के कारण पुरुषों में गुण-सम्बन्धी भिन्नता पाई जाती है। कोई पुरुष सत्त्वबहुल है, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल। इसीलिए कपिल, आसुरि, पंचशिख एवं पंतजलि आदि सांख्याचार्यों ने पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया है।[४]

प्रकृति, पुरुष एवं सृष्टि

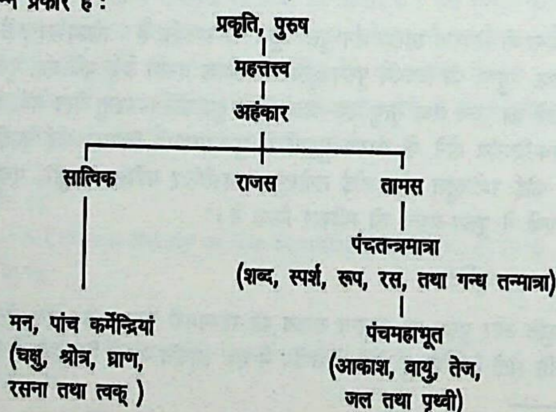
प्रकृति और पुरुष का सम्वन्ध सांख्य की रहस्यमरी समस्या है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परन्तु दोनों के संयोग में एक आपत्ति यह है कि दोनों ही विपरीत लक्षण वाले

---

१. सांख्यकारिका, ११
२. सांख्यकारिका, १६
३. सांख्यकारिका, १७
४. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 42

हैं। इस आपत्ति का समाधान सांख्य ने बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्धे और लंगड़े का रोचक दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति तो है, परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान नहीं है, लंगड़े व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति नहीं है परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान है, की सहायता से अपने स्थान पर पहुंच जाता है और उस लंगड़े व्यक्ति को भी यथास्थान पहुंचा देता है; उसी प्रकार जडात्मिका प्रकृति भी सक्रिय होने के कारण निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष के संयोग से कार्य में प्रवृत्त होती है।[1] इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में एक शंका होती है और वह यह कि जड़ प्रकृति में सक्रियता कैसे सिद्ध हो सकती है ? इस शंका का समाधान करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में लिखा है कि जिस प्रकार वत्स (बछड़ा) की वृद्धि के लिए जड़ रूप पदार्थ दूध में भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति में भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृति दिखाई पड़ती है।[2] जब जड़ वृक्षों में ही फल उत्पन्न करने की शक्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है तो प्रकृति की ही सक्रियता में क्या आश्चर्य है।

उपर्युक्त अन्धे और लंगड़े पुरुष के दृष्टान्त के अनुसार चेतन पुरुष की अध्यक्षता में जड़ प्रकृति सृष्टि का कार्य करती है। प्राचीन सांख्य में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त काल नामक एक तृतीय तत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।[3] प्राचीन सांख्य के अनुसार काल ही प्रकृति के क्षोभ का कारण है। परन्तु परवर्ती सांख्य को अनुसार प्रकृति की प्रवृत्ति का कारण स्वभाव है। पुरुष के सामीप्य से प्रकृति में जो प्रथम विकार उत्पन्न होता है उसका नाम महत्तत्त्व है। इसी का व्यष्टि में बुद्धि कहते है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य तामसी बुद्धि के। महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के वैकृत (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) रूप से तीन भेद हैं। तैजस की सहायता से सात्त्विक अहंकार से ११ प्रकार की इन्द्रियों–पांच कर्मेन्द्रियों, पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति होती है। सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास का निम्न प्रकार है :



१. सांख्यकारिका, २१
२. सांख्यकारिका, ५७
३. श्रीमद्भागवत ३।६।२ तथा विष्णुपुराण, प्रथमांश, २।२६

तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां
(वाक्, पाणि, पाद,
पायु तथा उपस्थ)

इस प्रकार सांख्य में प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय, ये २५ तत्त्व स्वीकार किये गए हैं।

मुक्ति

जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त में जीव के बन्धन औरं मोक्ष का कारण अविद्या है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी पुरुष के बन्धन और मोक्ष का कारण अविवेक है। जैसे कि अद्वैतमत में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के अनुसार जीव ब्रह्मरूप है वैसे ही सांख्य का पुरुष भी स्वभावतः मुक्त है। परमार्थतः पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अविवेक के कारण ही पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध होता है। पुरुष और प्रकृति के इस अविवेकजन्य सम्बन्ध का यह फल होता है कि प्रकृतिजन्य दुःख का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है और इस दशा में पुरुष सांसारिक दुःखों का भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार यदि अविवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन है तो विवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का वियोग मोक्ष है।[1] विवेक-सिद्धि का उपाय व्यक्त, अव्यक्त तथा 'ज्ञ' (पुरुष) का ज्ञान है। उसका ज्ञान होने पर प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति हो जाती है। यह स्मरणीय है कि प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष की युक्ति के लिए ही है।[2] प्रकृति के व्यापार को स्पष्ट करते हुए ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की उपमा एक नर्तकी से दी है जो रंगस्थल में अपना नृत्य दिखाकर स्वतः निवृत्त हो जाती है।[3] प्रकृति की सुकुमारता के विषय में कहा गया है कि वह ऐसी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के सामने अनुभूत होने पर फिर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती। प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष की मुक्ति स्वतः सिद्ध है।

जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति

अद्वैतवेदान्त की ही तरह सांख्य में ही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, मुक्ति के दो भेद मिलते है। सांख्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था में पुरुष को यह दृढ़ ज्ञान हो जाता है कि मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूं, अकर्ता हूं तथा संग-रहित हूं।४ यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कुम्भकार के चक्र का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कुलाल-व्यापार की निवृत्ति के पश्चात् भी चक्र पूर्वाभ्यास के अनुसार कुछ काल तक चलता रहता है, उसी तरह प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता ही रहता है।[5] यही दृष्टान्त शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के

---

१. यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्या दुःखस्य वियोग एव।
—सांख्यप्रवचनभाष्य, १७२

२. सांख्यकारिका, ५६

३. सांख्यकारिका, ५९

४. सांख्यकारिका, ६४

५. सांख्यकारिका, ६७

अन्तर्गत दिया है।[१] विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का कथन है कि शरीर के नाश हो जाने पर पुरुष दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। यही विदेहमुक्ति की अवस्था है। विज्ञानभिक्षु तो विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते है।[२]

ईश्वर

साधारणतया सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। साधारण ही नहीं, डा० दासगुप्त प्रभृति कतिपय सम्मानित विद्वानों का तो यहां तक कथन है कि सांख्यदर्शन में ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।[४] डा० दासगुप्त ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर का यह कथन प्रामाणिक प्रतीत होता है कि कपिल एकेश्वरवाद के विरोध में कोई तर्क नहीं देते। प्रो० मैक्समूलर की दृष्टि में कपिल का यही विचार है कि वे (कपिल) ईश्वर-सिद्धि के लिए तार्किक प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक काण्ट के अन्यन्त समीप है। प्रो० मैक्समूलर का कथन है कि कपिल ने ईश्वर का खण्डन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।[५]

अतः यह विचार तर्क-प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता कि सांख्य में ईश्वर का खण्डन किया गया है। डा० राधाकृष्णन् "ईदृशेश्वरसिद्धिःसिद्धा" (सांख्यसूत्र ३।५७) के आधार पर सांख्य में एक व्यवस्थापक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं जो सृष्टि-काल में प्रकृति के क्रमबद्ध विकास की व्यवस्था करता है।[६] सांख्यदर्शन में यद्यपि कर्तृत्त्वशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती, परन्तु जगत् के साक्षीरूप में ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती, परन्तु जगत् के साक्षीरूप में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है। साक्षी ईश्वर के सान्निध्य मात्र से ही प्रकृति जगत् के व्यापार में उसी प्रकार लग जाती है, जिस प्रकार की चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से ही लोहे में गति उत्पन्न कर देता है।[७] विज्ञानभिक्षु ने तो सांख्य को निरीश्वर न मानकर सेश्वर ही माना है।[८] इस प्रकार परवर्ती सांख्य में ईश्वरवाद का समर्थन ही मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि मूल सांख्यदर्शन में न ईश्वरवाद का खण्डन ही किया गया है और न अनीश्वरवाद का मण्डन। सांख्यसूत्र में तो ईश्वरवाद की यत्किंचित् झलक भी मिलती है जो विज्ञानभिक्षु के भाष्य में और भी विकसित हो गई है।

---

१. सांख्यकारिका, ६७
२. ब्र० सू० शा० भा०, ४।१।१५
३. सांख्यप्रवचनभाष्य, ५।११६
४. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 218.
५. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 88.
६. *Dr. S. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 317-318
७. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। –सांख्यसूत्र, १।९६
८. प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धिः। –सांख्यप्रवचनभाष्य, ३।५७

अद्वैतवेदान्त और सांख्यदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन का सम्बन्ध घनिष्ठ है। प्रो० डायसन का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि सांख्यदर्शन का पूर्ण विकास औपनिषद वेदान्त से हुआ है।[1] सांख्यदर्शन की उपनिषद्वर्ती पृष्ठभूमि की ओर अभी पीछे संकेत किया जा चुका है। उपनिषद्गत सिद्धान्तों से जिस अद्वैत वेदान्त का विकास हुआ है उससे सांख्यदर्शन के सिद्धान्त बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि सांख्य और वेदान्त दोनों एक ही दृष्टिकोण को लेकर आरम्भ होते हैं और दोनों का उद्देश्य भी एक ही है। यहां हमारा उद्देश्य सांख्य और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य देखना है।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जो स्थान माया का है वह स्थान सांख्यदर्शन में प्रकृति का है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया का पर्यायवाची कहा गया है।[2] परन्तु सांख्य की प्रकृति और वेदान्तिक माया में पर्याप्त अन्तर है। वेदान्तिक माया की तरह प्रकृति अनिर्वचनीय नहीं है। वेदान्त में माया मिथ्या है परन्तु सांख्य की प्रकृति सत्यरूपिणी है। यद्यपि परवर्ती वेदान्त में माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है, परन्तु वहां भी माया की त्रिगुणात्मकता से सत्त्व, रज और तम की प्रवृत्तियों का ही अभिप्राय है, न कि सांख्य की भौतिक प्रकृति का।[3] माया की ऐन्द्रजालिकता का भी सांख्य की प्रकृति में अभाव है। वेदान्त में जो स्थान ब्रह्म का है, सांख्य में वह स्थान पुरुष का है; परन्तु यह विचारणीय है कि वेदान्त के 'ब्रह्म' की तरह सांख्य का 'पुरुष' जगत् का उपादान कारण नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्म की उपादान कारणता में उसकी शक्ति माया कारण है। जहां वेदान्तदर्शन में एकात्मवाद का समर्थन किया गया है, वहां सांख्यदर्शन पुरुषबहुत्व का समर्थक है। वैसे तो उपाधिभेद से अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी अनेकजीववाद का ही समर्थन किया गया है।[4] वेदान्त और सांख्य दोनों ही दर्शन अध्यासवाद के समर्थक हैं; परन्तु फिर भी दोनों का अध्यास-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। सांख्य के अध्यास का कारण प्रकृति और पुरुष का पृथक्-पृथक् न समझना रूप अविवेक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में अध्यास का कारण ब्रह्म और माया के स्वरूप-ज्ञान का अभाव तो है ही, साथ ही अनिर्वाच्य एवं मिथ्या जगत् की सृष्टि भी प्रधान कारण है।[5] कार्य-कारण-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्याचार्य जहां जगत्रूप कार्य को सत् कहकर सत्कार्यवाद का सत्कार्यवाद का समर्थन करता है, वहां वेदान्ती सदानन्द 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः' की उक्ति के द्वारा जगत् को विवर्त सिद्ध करता है।[6] वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्टि

---

१. It will be shown that the Sankhya in all its componant parts has grown out of the Vedanta of the Upanishads. (*Deussen* : The Philosophy of the Upanishads, p. 239)

२. माया तु प्रकृति विद्यात्। श्वे० उ०, ४।१०

३. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493

४. अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्वात्। रामाद्वयाचार्यकृत वेदान्तकौमुदी, पृ० २७८ मद्रपुरी तथा देखिए प्र० सू०, शा० भा०, १।४।३।

५. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493

६. वेदान्तसार, पृ० ५६

अविद्या का परिणाम है, परन्तु सांख्य दर्शन में सृष्टि के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग रूप अविवेक है। जैसे कि, वेदान्त में अविद्या-निवृत होने के पश्चात् जीव बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य में प्रकृति और पुरुष के पार्थक्य का विवेक होने पर पुरुष प्रकृति के वन्धन से मुक्त हो जाता है।[1] इस प्रकार वेदान्त और सांख्य दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का मूल कारण अविद्या ही है। क्योंकि अविवेक भी अविद्या का ही रूप है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वेदान्त और सांख्य का मूल आधार वैदिक विचारधारा होने के कारण, आरम्भ में इन दोनों का रूप समान ही था। परन्तु कालान्तर में इन दोनों की विचारदृष्टियों में भेद हो गया। वेदान्ती तो पूर्णतया वैदिक मतावल्वी होने के कारण अद्वैत मत का मण्डन करता गया, परन्तु सांख्यवादी ने वैदिक पथ को छोड़कर साधारणजनहिताय वैदिक सिद्धान्तों में परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। वेदान्त के एकात्मवाद के स्थान पर पुरुषवहुत्ववाद और जगत् की मायिक सत्यता की जगह अनित्य सत्यता स्वीकार करना सांख्य के प्रमुख परिवर्तन थे।

अध्ययन की उक्त दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि सांख्य और वेदान्त के सिद्धान्तों में अत्यन्त गहरा सम्वन्ध है। औपनिषद अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी सांख्य-सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परन्तु यह भी निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए कि अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन के सूक्ष्म अध्येता के लिए इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक भिन्नता भी अत्यन्त मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन

योगदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा : सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में इतना अधिक साम्य है कि वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानों ने योग को सेश्वर सांख्य और सांख्य को निरीश्वर सांख्य कहा है।[2] सर्वदर्शनसार गीता में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि बालबुद्धि वाले ही सांख्य और योग, इन दोनों को अलग-अलग विरुद्ध फलदायक बतलाते है, विद्वान् लोग नहीं।[3] वैसे तो सांख्य और योग इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के आधार कपिल और पंतजलि के सूत्र होने के कारण दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है, परन्तु दोनों दर्शन-पद्धतियों में कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में भेद-निरूपण करते समय विद्वानों की दृष्टि, जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, ईश्वरवाद की ओर गई है। सांख्यदर्शन के सम्वन्ध में ईश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा करते समय यह कहा जा चुका है कि सांख्य में भी व्यवस्थापक ईश्वर की ओर संकेत मिलता है।[4] पश्चाद्वर्ती विज्ञानभिक्षु आदि ने तो सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की ही है। इस सम्वन्ध में मैक्समूलर का कथन है कि सांख्य में ईश्वर की दिदृक्षु जन सांख्य के 'पुरुष' को देख सकते है।[5] इसके अतिरिक्त गीता में भगवान् श्रीकृष्ण

---

१. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, P. 70
२. तत्ववैशारदी ४।३; योगवार्तिक १।२४ (मेडिकल हाल, काशी १८८४ ई०); सांख्यप्रवचनभाष्य, ५।१।१२
३. सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। —गीता, ५।४
४. सांख्यसूत्र, ३।५७
५. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 93

ने सांख्य और योग की एकता 'एकं सांख्यं च योगं च'[1] कहकर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है। यह तो निःसंकोच स्वीकार्य है कि योगदर्शन की स्थिति भारतवर्ष में योगाभ्यास एवं ध्यान के रूप में पुरातनकाल से चली आ रही है। गीता में भी योग को पुरातन कहा गया है।[2] इसकी पुरातनता को सिद्ध करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है कि इस योग को मैंने सर्वप्रथम सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा, मनु अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार क्षत्रियों की परम्परा से प्राप्त इस योग को उत्तरकाल में राजर्षियों ने जाना।[3] इसके पश्चात् यह योग वहुत काल तक लुप्त हो गया।[4] गीता के उक्त उद्धहरण से योग की प्राचीनता स्पष्ट झलकती है।

योग शब्द का अर्थ

सूत्रकार पंतजलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[5] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, कहकर दी है। इस शब्द की निष्पत्ति 'युज्' धातु (जिसका प्रयोग समाधि अर्थ में होता है।) से होती है। वास्तव में योग का चरम उद्देश्य समाधि ही है। योग के अर्थ के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर ने वड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस शंका का समाधान किया है कि योग शब्द का अर्थ दो वस्तुओं का योग (Union) है अथवा वियोग (Disunion)। प्रो० मैक्समूलर ने योग शब्द का अर्थ वियोग ही स्वीकार किया है।[6] प्रो० मैक्समूलर यदि योग शब्द की निष्पत्ति 'युज्' (समाधी) से मान लेते तो उनके सामने योग शब्द के अर्थ के विषय में उक्त समस्या उपस्थित न हुई होती। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेवर ने भी जो योग का अर्थ संयोग दिया है, वह अयुक्त है।[7] क्योंकि योग का प्रतिपाद्य जीव का किसी अन्य से संयोग न होकर आत्म-स्वरूपावबोध ही है। मैक्समूलर का 'वियोग' अर्थ संयोग की अपेक्षा कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पातंजल योग-मार्ग में भी प्रकृति और पुरुष का वियोग तो मिलता ही है। वृत्तिकार भोज ने भी योगदर्शन के आरम्भ में मंगलाचरण करते समय पंतजलि के उक्त मत की ओर संकेत किया है।[8] मेरे विचार से तो बाह्य वृत्तियों के विरोध और निरोध के फलस्वरूप समस्त वृत्तियों और संस्कारों का प्रविलय होने पर ही योग की उत्पत्ति होती है। अतः यदि देखा जाए तो योग वियोग का फल है न कि स्वतः वियोग ही। योग तो समाधि का ही स्वरूप है।[9]

वैसे तो हठयोग, मंत्रयोग और लययोग आदि योग के कई भेद मिलते है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि

---

१. गीता ५।५
२. योगः प्रोक्तः पुरातनः। –गीता, ४।३
३. गीता–४।१, २
४. योगो नष्टः परन्तपः। –गीता, ४।२
५. योगसूत्र, १।२
६. *Max Muller :* Indian Philosophy, Vol. III, p. 94
७. History of Indian Literature, p. 238-39
८. पतंजलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितोयया।। (योगदर्शन, मंगलाचरण का तृतीय श्लोक)
९. योगः समाधिः। –योगभाष्य, १।१

से केवल पंतजलि के राजयोग का ही अधिक महत्त्व है। अतः यहां पातंजल दर्शन के अनुसार ही योग की आलोचनात्मक रूपरेखा दी जाएगी।

योगदर्शन में चित्त का स्वरूप

योगदर्शन में चित्त से मन, बुद्धि और अहंकार का तात्पर्य है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणामी है। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के उद्रेक के अनुसार चित्त की निम्नलिखित तीन अवस्थाएं होती हैं :

१. प्रख्याशील
२. प्रकृतिशील
३. स्थितिशील

प्रथम अवस्था का चित्त सत्त्वप्रधान होता हुआ रज और तम से संयुक्त होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। द्वितीय अवस्था में तमोगुण से युक्त चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से संयुक्त हो जाता है। तृतीय अवस्था में तम के क्षीण होने पर केवल रजस् के अंश से युक्त होने पर चित्त सर्वत्र प्रकाशमान होता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से व्याप्त होता है। प्रथम (प्रख्याशील) अवस्था में चित्त में केवल ऐश्वर्य-प्राप्ति की तीव्र इच्छा ही रहती है, परन्तु तीसरी स्थितिशील अवस्था में चित्त को ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पांच भूमियां अथवा अवस्थाएं स्वीकार की गई हैं। ये भूमियां—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध हैं।[1] इन पंचभूमियों का स्वरूप-निर्धारण निम्न प्राकर से किया जाएगा :

(१) क्षिप्त—क्षिप्त का साधारण अर्थ, चंचल है। क्षिप्तावस्था में चित्त चंचल होकर संसार के सुख-दुःखादि के लिए व्यथित रहता है। इस अवस्था में रजोगुण का प्राधान्य रहता है।

(२) मूढ—चित्त की मूढावस्था में तमोगुण का उद्रेक होता है। इस दशा में चित्त में विवेक-शून्यता रहती है। अतः मूढावस्था में विवेक न होने के कारण पुरुष क्रोध इत्यादि के द्वारा विरुद्धकृत्यों में प्रवृत हो जाता है।

(३) विक्षिप्त—तत्त्ववैशारदी के अन्तर्गत वाचस्पति मिश्र ने विक्षिप्त की परिभाषा 'क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्'[2] कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार विक्षिप्त की स्थिति क्षिप्त से विशिष्ट है। क्षिप्त की अपेक्षा विक्षिप्त की यह विशेषता है कि क्षिप्त में जो रजोगुण का प्राधान्य रहता है, परन्तु विक्षिप्तावस्था में रजोगुण की अपेक्षा सतोगुण का उद्रेक रहता है। सतोगुण के आधिक्य के कारण विक्षिप्तावस्था का चित्त कभी-कभी स्थिरता धारण कर लेता है। इस अवस्था में दुःखसाधनों की ओर प्रवृत्ति न होकर सुख के साधनों की ओर ही प्रवृत्ति रहती है। उक्त तीनों अवस्थाएं समाधि के लिए अनुपयोगी

---

१. ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् , एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्थाविशेषाः।
—भोजवृत्ति, योगसूत्र १।१

२. तत्त्ववैशारदी, १।१

होने के कारण हेय हैं।

(४) एकाग्र–एकाग्रावस्था वह अवस्था है, जिसमें चित्त की वाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[1]

(५) निरुद्ध–पांचवीं निरुद्धावस्था है। निरुद्धावस्था में चित्त के समस्त संस्कारों तथा समस्त वृत्तियों का प्रविलय हो जाता है।[2]

उक्त अन्तिम दो ही चित्त की ऐसी भूमियां है जिनकी समाधि के लिए अपेक्षा है।

योगसूत्र के लेखक पतंजलि ने चित्त की पांच वृत्तियां भी मानी हैं। ये पांच वृत्तियां–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति हैं।[3]

वृत्तियों का स्वरूप-विवेचन : वृत्तियां संस्कारों की और संस्कार वृत्तियों के निर्माता हैं। योगदर्शन में निम्नलिखित पांच प्रकार की वृत्तियां वतलाई गई हैं।

१. प्रमाण : जहां तक प्रमाण वृत्ति का प्रश्न है, सांख्यदर्शन की तरह ही योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण माने गए हैं। परन्तु योग के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ वैशिष्ट्य है। योगदर्शन के अनुसार चित्त इन्द्रिय-द्वार से बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग प्राप्त करता है और विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरण के लिए, वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घट को जानता हूं, इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। अनुमान तथा शब्द प्रमाणं के सम्बन्ध में सांख्य और योग दोनों में ऐकमत्य है।

२. विपर्यय : सूत्रकार पतंजलि ने 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' (योगसूत्र १।८) की उक्ति के द्वारा विपर्यय को मिथ्या ज्ञान का रूप दिया है। इस विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आता है।

३. विकल्प : विकल्प की उत्पत्ति शब्द-ज्ञान से होती है, परन्तु विकल्प में सत्य ज्ञान की शून्यता रहती है। उदाहरणार्थ, शशश्रृंग को सुनकर शब्दार्थ का ज्ञान तो होता है, परन्तु उसमें वस्तु के सत्य ज्ञान की शून्यता ही रहती है, क्योंकि शश (खरगोश) के सींग नहीं देखे जाते। भाष्यकार व्यास ने विकल्पवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए चैतन्ययुक्तं पुरुष का दृष्टान्त दिया है। उनका कथन है कि 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' अर्थात् पुरान का स्वरूप चैतन्य है, इस वाक्य में पुरुष और चैतन्य इन दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो चैतन्य से चैतन्यात्मक पुरुष कदापि भिन्न नहीं है।[4] अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्प रूप है।

४. निद्रा : तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रावृत्ति में जाग्रत एवं स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा को ज्ञान का अभाव कदापि न समझना चाहिए, क्योंकि निद्रा भंग होने के पश्चात् सोने वाला व्यक्ति भी इस प्रकार का अनुभव करता कि मैं सुखपूर्वक सोया। अतः निद्रा के वृत्तित्व के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए।

५. स्मृति : अनुभूत विषयों का ठीक उसी रूप में असम्प्रमोष (संस्कार के द्वारा बुद्धिगत होना)

---

१. एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। –भोजवृत्ति, १।१

२. निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलयः। –भोजवृत्ति, १।१

३. योगसूत्र, १।६

४. योगसूत्रभाष्य, १।६ (Sacred Books of the Hindu, Vol. IV के अन्तर्गत प्रकाशित।)

स्मृति है।

उपर्युक्त पांच चित्तवृत्तियों के निरोध से ही तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यंतिकी निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय अभ्यास तथा वैराग्य हैं। वैराग्य के द्वारा चित्तरूप नदी का पापस्रोत रोका जाता है और विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक-स्रोत का उद्घाटन होता है। अतएव वैराग्य और अभ्यास चित्तवृत्ति के निरोध के मूल कारण है।

संस्कार : जैसा कि कह चुके है वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का निर्माण होता है। जब चित्त में वृत्तियां उत्पन्न होकर क्षीण हो जाती हैं तो वे अपने सूक्ष्म रूप में, संस्कार रूप में शेष रह जाती हैं।· इस प्रकार वृत्तियां संस्कार की निर्मात्रीं हैं। इन संस्कारों से ही उद्बोधन-हेतु की उपस्थिति में वृत्तियों का निर्माण होता है। इस प्रकार संस्कार और वृत्तियों का यह चक्र सतत चलता रहता है।

योगदर्शन का क्लेश-सम्बन्धी दृष्टिकोण

योगदर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान के कारण ही चित्त में क्लेश की उत्पत्ति होती है। योगदर्शन के भाष्य में कहा गया है कि क्लेश ही गुणों के अधिकार को दृढ़ बनाते हैं तथा महत् तत्त्व एवं अहंकारादि की परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं। क्लेख ही आपस में अनुग्राहक बनकर कर्मों के फलों–जाति, आयु तथा भोग–को निष्पन्न करते है।[1] क्लेश और कर्म आपस में एक-दूसरे के सहयोग हैं। कर्म क्लेशों के उत्पादक हैं तथा क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। ये क्लेश निम्नलिखित पांच हैं :

१. अविद्या
२. अस्मिता
३. राग
४. द्वेष और
५. अभिनिवेश

१. अविद्या : अविद्या अज्ञान का स्वरूप है। अविद्या के सम्बन्ध में योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने कहा है कि अनित्य, अशुचि, दुःखरूप तथा अनात्म वस्तुओं में नित्यता, शुचिता, सुखता तथा आत्मता की बुद्धि रखना अविद्या है।[2] यही अविद्या क्लेश-सन्तान का बीज है तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। अविद्या का विस्तृत विवेचन आगे अद्वैत वेदान्त की अविद्या से तुलना करते समय किया जाएगा।

२. अस्मिता : अस्मिता का साधारण अर्थ अहंबुद्धि है। दृक् और दर्शनशक्ति की एकात्मकता अस्मिता है। दृक्शक्ति पुरुष है तथा दर्शनशक्ति बुद्धि है। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन दोनों की एकात्मकता स्वीकार करना ही अस्मिता है। इनमें पुरुष भोक्ता है तथा बुद्धि भोग्य। भोक्ता और भोग्य की एकत्व कल्पना से ही भोग की कल्पना होती है। उन दोनों के स्वरूप का ज्ञान (भिन्नता का ज्ञान) हो जाने पर तो कैवल्य हो जाता है।[3]

---

१. योगभाष्य, २।३
२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। –योगभाष्य, २।५
३. योगभाष्य, २।६

३. राग : सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे राग कहते हैं।

४. द्वेष : दुःखाभिज्ञ पुरुष को दुःख की स्मृति के आधार पर दुःख के साधनों के सम्बन्ध में जो क्रोध की भावना उत्पन्न होती है, उसे द्वेष कहते हैं।

५. अभिनिवेश : अभिनिवेश का तात्पर्य मृत्यु-भय से है। यह मृत्यु-भय प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रूप से होता है। अभिनिवेश (मृत्युभय) के सम्बन्ध में भाष्यकार का यह मत कुछ संदिग्ध प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अत्यंत मूढ़ प्राणियों को मृत्युभय लगा रहता है, उसी प्रकार पूर्व और पर के अन्त को जानने वाले विद्वानों को भी मृत्युभय बना रहता है। अपने मत के समर्थन में भाष्यकार का कथन है कि कुशल और अकुशल दोनों में ही मृत्युदुःख के अनुभव के कारण उत्पन्न होने वाली यह (मृत्युभय की) वासना समान ही है।[१] भाष्यकार के उक्त मत में यह अंश समुचित नहीं प्रतीत होता कि विद्वान् को भी मृत्यु-भय वना रहता है। भाष्यकार के मत के सम्बन्ध में उक्त शंका वाचस्पति मिश्र को भी हुई थी। उन्होंने कहा था कि यह तो ठीक है कि अज्ञानी को मृत्यु का भय रहता है, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता कि ज्ञानी में भी मृत्युभय बना रहता है। ज्ञानी में तो ज्ञान के द्वारा मृत्यु-भय की वासना का विध्वंस हो जाना चाहिए।[२] मेरे विचार से, विद्वान् से भाष्यकार का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से प्रतीत होता है जिसे आनुमानिक या वाचिक ज्ञान तो है, परन्तु अनुभव नहीं।अतः कैवल्योपनिषद् में परमत्त्व के वेत्ता जिस विद्वान् की चर्चा की गई है।[३] उससे भाष्यकार का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता। बिना समाधि आदि अनुभव के मृत्यु-भय का निवारण नहीं हो सकता। उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा गया है–

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुधा श्रुतेन।' (कठोपनिषद्, १।२।२३)

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि 'विद्वान्' शब्द का भाष्यकार-सम्मत अर्थ परमतत्त्ववेत्ता से नहीं है, अपितु शास्त्रों के ज्ञाता मात्र से है।

योग के साधन

पातंजल योग में योग के आठ साधनों की चर्चा की गई है।[४] ये साधन–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि हैं। ये आठ साधन योग के अंग भी कहलाते हैं। इस स्थल पर इन योगांगों का संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

१. यम : यम का अर्थ संयम है। यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अप्रतिग्रह, ये पांच भेद है;

२. नियम : नियम के भी शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्राणिधान रूप से पांच भेद हैं।

३. आसन : योगदर्शन में स्थिर तथा सुख प्रदान करने वाले बैठने के प्रकार को आसन कहते है।[५] उपासना में आसन-सिद्धि की अत्यन्त उपादेयता है। आसनसिद्धि चित्त की एकाग्रता में अत्यन्त सहायक होती है। हठयोग प्रदीपिका के अन्तर्गत पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि

---

१. समाना हिं कुशलाकुशलयो मरणदुःखानुभवादियं वासना। –योगसूत्रभाष्य, २।६

२. तत्ववैशारदी, २।६

३. कैवल्योपनिषद्, १।१

४. योगसूत्र, २।२६

५. स्थिरसुखमासनम्। –योगसूत्र, २।४६

आसनों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

४. **प्राणायाम** : श्वास और प्रश्वास के गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है। वाह्य वायु का आयमन और श्वास तथा भीतरी वायु की निःसारण प्रश्वास कहलाता है। पतंजलि ने योगसूत्र के अन्तर्गत वाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक, प्राणायाम के चार भेद वतलाते हे।

५. **प्रत्याहार** : चित्त-निरोध के समान ही जव वाह्य विषयों से इन्द्रियों का निरोध हो जाता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। इस स्थिति में इन्द्रियों की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है।

६. **धारणा** : किसी देश में चित्त का लगा देना धारणा कहलाता है।[1] देश से तात्पर्य नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धावर्तिनी ज्योति, नासिकाप्रभाग तथा जिह्वाग्रभाग आदि से है।

७. **ध्यान** : उपर्युक्त देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जव एकाकार होकर प्रवाहित होता है तो उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यानावस्था में एकाकार रूप ज्ञान से बलवान् और कोई ज्ञान नहीं होता।

८. **समाधि** : जब ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है और अपने स्वरूप से शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसे समाधि कहते है। समाधि में ध्यान और ध्याता का भेद मिट जाता है। इसके विपरीत ध्यान में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद वना रहता है।

पतंजलि ने धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों को मिलाकर संयम कहा है।[2] भाष्यकार ने संयम को उक्त तीनों की तांत्रिकी परिभाषा कहा है।[3] संयम में सफल होने से आलोक का उदय होता है।

समाधि के भेद : योगदर्शन में समाधि के, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात, ये दो भेद मिलते हैं। संप्रज्ञात समाधि को सवीज और असम्प्रज्ञात समाधि को निर्वीज समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को सवीज समाधि इसलिए कहते हैं कि उसमें चित्त के समाहित होने के लिए कुछ-न-कुछ वीज बना रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद वतलाये गए हैं। ये भेद–वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत हैं। अस्प्रज्ञात समाधि भी भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय रूप से दो प्रकार की है। उपायप्रत्यय समाधि योगियों की समाधि है। इसमें अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। भवप्रत्यय समाधि में कुछ काल तक को चित्तनिरोध पाया जाता है, परन्तु फिर भी 'व्युत्थान' अर्थात् चित्त-विक्षेप की सम्भावना बनी रहती है। पतंजलि के अनुसार 'भवप्रत्यय' समाधि वह समाधि है जिसमें विदेह देवताओं की तरह प्रकृतिलीन व्यक्ति भी लीन रहते हैं।[4] विदेह षाट्कौशिक (रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा तथा शुक्र) शरीर से रहित होते है।[5] इस अवस्था में वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु फिर भी केवल संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसीलिए यह विदेहावस्था कैवल्यावस्था के किंचित समान ही है।

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। –योगसूत्र, ३।१
२. त्रयमेकत्र संयमः। –योगसूत्र, ३।४
३. योगसूत्रभाष्य, ३।४
४. योगसूत्र, १।१९
५. And they are stripped off the outer six sheathed body.
(Tattva Vaisharadi 1/19; Yoga System of Patanjali, Harvard Oriental Series, No. 17)

विदेहावस्था वाले अवधि की समाप्ति होने पर पुनः संसार-दशा में आ जाते हैं। अव्यक्त, महत् अहंकार तथा पंच तन्मात्राओं में से किसी एक की आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरण वाले जीव-शरीर का पतन हो जाने पर उपर्युक्त अव्यक्तादि में से किसी एक में लीन हो जाते हैं। यह जीवों की प्रकृतिलयावस्था है। प्रकृतिलयावस्था में विवेक-ख्याति को न प्राप्त करके भी वे जीव अपने-आपको कैवल्य का प्राप्त करने वाला समझते है। अवधि की पूर्ति होने पर ये जीव भी फिर संसार-दशा में आ जाते हैं।[1]तत्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने पर मिट्टी में मिला हुआ मेंढक वर्षा के होने पर फिर अपने शरीर को धारण कर लेता है उसी प्रकार अवधि की समाप्ति होने पर प्रकृतिलीन जीव भी पुनः शरीर धारण कर लेता है।[1]

असम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा भेद 'उपायप्रत्यय' है। 'उपायप्रत्यय' ही समाधि का वास्तविक स्वरूप है। उपाय का अर्थ प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान है। ज्ञान का पूर्ण उदय तथा वृत्तिनिरोध के होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसी का नाम 'उपायप्रत्यय' है। समाधि की इस अवस्था में ज्ञान का उदय होने के कारण समस्त संस्कारों का दाह हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप संस्कारजन्य विद्या एवं तज्जन्य क्लेशों का विनाश हो जाता है। भव-प्रत्यय में भी अविद्या की निवृत्ति होती है, परन्तु क्षणिक। इसके विपरीत उपायप्रत्यय में अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। बौद्ध दर्शन में प्रतिसांख्यानिराध और अप्रतिसंख्यानिरोध की विचारदृष्टि योगदर्शन-सम्मत समाधि की उक्त अवस्थाओं के समान ही है। महर्षि पतंजलि ने उपायप्रत्यय समाधि के–श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा–ये पांच साधन बतलाये है।[1] भाष्यकार ने श्रद्धा को तो माता के समान योगी की कल्याकारिणी कहा है।[2]

उक्त दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने पर यह पता चलता है कि असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत आनेवाली 'उपायप्रत्यय' समाधि ही योगदर्शन के साधक का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसी में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू०, १।२) के साथ-साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू०, १।३) की चरितार्थता होती है।

ईश्वरसम्बन्धी मान्यता

योगदर्शन की ईश्वरसम्बन्धी मान्यता सांख्य से विशिष्ट है। योगदर्शन के अन्तर्गत पांच सूत्रों में ईश्वरसम्बन्धी वर्णन मिलता है।[1] इन सूत्रों में एक सूत्र–क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' (यो० सू०, १।१४) के अन्तर्गत ईश्वर की परिभाषा भी निबद्ध है। इस सूत्र के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश–इन पंचक्लेशों, पुण्य एवं पापकर्मों, कर्मों से उत्पन्न–जाति, आयु तथा

---

१. तत्ववैशारदी, १।१८

२. योगसूत्र, १।२०

३. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। –योगसूत्रभाष्य, १।२०

४. ईश्वरप्रणिधानाद्व। –यो० सू०, १।२३;
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। –यो० सू०, १।२४
तप्रःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः, (यो० सू०, २।१); समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू०, २।४५), शोचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
–यो० सू०, २।३२

भोगरूप फलों तथा तदुत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को ईश्वर कहते है। पतंजलि का ईश्वर को भी 'पुरुष विशेष' की संज्ञा देना यह सिद्ध करता है कि वे सांख्य के साथ योग का सामंजस्य बनाये रखना चाहते थे। ईश्वर-सम्बन्धी विचार की दृष्टि से 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (यो० सू० १।२३) सूत्र अधिक महत्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि समाधिलाभ ईश्वरप्रणिधान से होता है। प्राणिधान का तात्पर्य भक्ति-विशेष, विशिष्ट उपासना तथा विषय-सुखादि फल की इच्छा न करते हुए समस्त क्रियाओं के ईश्वर में समर्पण है।[१] इससे ईश्वर का सगुण एवं उपास्य रूप स्पष्ट प्रतिपादित होता है। योगदर्शन में सर्वोच्च सत्ता ईश्वर की ही मानी गई है। इस ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष, सर्वज्ञत्व तथा सर्वाधिष्ठातृत्व है। ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यशाली और दूसरा कोई नहीं है। वह सदा ऐश्वर्यसम्पन्न तथा सर्वदा मुक्त है।[२]

योगदर्शन-सम्मत ईश्वर में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वैशिष्ट्य होने के कारण ही उसे पुरुष-विशेष कहा गया है। ईश्वर के इस वैशिष्ट्य का निम्नलिखित स्वरूप मिलता है–

पुरुष की अपेक्षा 'पुरुषविशेष' ईश्वर की विशेषताएं

(क) जीव प्राकृतिक[३], वैकारिक[४] तथा दाक्षिणिक[५] बन्धनों से मुक्त होकर 'केवलीपुरुष' बनना है, किन्तु ईश्वर सर्वथा बन्धनरहित है। अतः ईश्वर 'केवली' पुरुष से भिन्न है।[६]

(ख) 'पुरुष विशेष'–ईश्वर मुक्त पुरुष से भी भिन्न है। इसका कारण यह है कि मुक्त पुरुष पहले बंधन में रहते हैं और तत्पश्चात् मुक्त होते है, परन्तु ईश्वर सर्वदा मुक्त है। अतः ईश्वर मुक्त पुरुष से भिन्न है।

(ग) ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है क्योंकि प्रकृतिलीन पुरुष या तो शरीर के नाश होने पर प्रकृति में लीन हो जाता है अथवा मुक्तवत् होकर पुनः हिरण्यगर्भ के स्वरूप को ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रकृतिलीन पुरुष का उत्तरकाल में बन्धन सम्भव है, परन्तु ईश्वर सर्वदा ही बन्धन से मुक्त है। इसीलिए ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है। योगदर्शन में ईश्वर का 'प्रणव' नाम दिया है।

ईश्वर की उपर्युक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि ईश्वर 'पुरुषविशेष' होते हुए भी पुरुष के लक्षणों से सर्वथा भिन्न लक्षणों वाला है।

जैसा कि डा० राधाकृष्णन् का विचार है, पातंजलयोग-सम्मत ईश्वर का विवेचन सरल नहीं है।[७] प्रो० गार्वे ने भी पतंजलि के सगुण ईश्वर की आलोचना की है।[८] इस सम्बन्ध में प्रो० गार्वे का

---

१. भोजवृत्ति, यो० सू०, १।२३
२. योगसूत्रभाष्य, १।२४
३. जड़ प्रकृति को ही आत्मा जानकर उसमें लीन हो जाना प्राकृतिक बन्धन है।
४. महत्तत्त्व आदि विकारों को ही आत्मा समझना और उनमें तन्मय हो जाना वैकारिक बन्धन है।
५. आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर यज्ञादि कर्म करने में सदा निरत रहना दाक्षिणिक बन्धन है।
६. योगभाष्य, १।२४
७. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 370
८. The Philosophy of Ancient India, p. 15

कथन है-कि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में (योगसूत्र १।२३, २७ तथा २।१,४५) जो शारीरिक ईश्वर की स्थापना की है उसका सामंजस्य योग के अन्य सिद्धान्तों के साथ घटित नहीं होता। वास्तव में पातंजल योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। पातंजल योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च एवं सर्वज्ञ तो है परन्तु वह मुमुक्षु को साक्षात् मोक्ष प्रदान नहीं करता। वह तो भक्त के मोक्ष-पथ में सौविध्य मात्र प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त योग का ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। इसी दृष्टिकोण से मैक्समूलर ने राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा किए गए-'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योगसूत्र, १।२३) सूत्र के अनुवाद (Devotion to God) को असंगत कहा है।[२] इस स्थल पर इससे मैक्समूलर का यह कथन प्रतीत होता है कि ब्रह्म-वाचक 'गॉड' शब्द का प्रयोग योग के ईश्वर के लिए अनुपयुक्त है। विद्वान् रूनिस के मतानुसार भी मैक्समूलर का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि रूनिस ने गॉड शब्द का अर्थ सर्वोच्च शक्ति ही ग्रहण किया है।[३]

कदाचित् उपर्युक्त आपत्ति से बचने के लिए ही हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रो० वुड्स ने उक्त सूत्र का अनुवाद करते हुए मूल सूत्र में प्रयुक्त ईश्वर शब्द के स्थान पर रोमन में ईश्वर शब्द का ही प्रयोग किया है। प्रो० वुड्स का अनुवाद इस प्रकार है :

Or (concentration) is attained by devotion to the Isvara (Woods, Yoga System of Patanjali, p. 48).

योग का मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

पतंजलि ने अपने योगसूत्र में 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (३।५६) सूत्र के अन्तर्गत कैवल्य अर्थात् मुक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है वही कैवल्य है। समस्त कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के द्वारा अपने कारण में लय हो जाना बुद्धिसत्त्व की शुद्धि है।[४] शुद्ध होन पर बुद्धिसत्व रज एवं तम से अनावृत हो जाता है तथा पुरुष की अन्यताप्रतीती के फलस्वरूप क्लेश बीजदग्ध हो जाते हैं। पुरुष की शुद्धि उपचरित भोगों का अभाव है।[५] पुरुष इस अवस्था में केवल 'चिति' शक्ति के रूप में वर्तमान रहता है तथा अधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। यही पुरुष की कैवल्य की स्थिति है। ईश्वर अथवा अनीश्वर, ज्ञानी अथा अज्ञानी सभी की कैवल्य-स्थिति सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों के आलोचना से ज्ञात होता है कि इन दोनों सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक आचार्य शंकर एक

---

१. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 109.
२. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 127.
३. *Runes* : THE DICTIONARY OF PHILOSOPHY, p. 118.
४. राजमार्तण्डवृत्ति योगसूत्र, ३।५६
५. योगसूत्रभाष्य, ३।५४ पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १६२४

महान् योगी थे। अपने योगबल से ही आचार्य ने मंडन मिश्र की अर्धांगिनी (भारती) को पराजित करने के अर्थ उनके कोकशास्त्र के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त अपने शरीर को तो नर्मदा-तटवर्ती वन में अपने पद्मपादादि शिष्यों को समर्पित कर दिया था और अपना जीव उसी समय मृत्यु को प्राप्त राजा अमरुक के शरीर में डाल दिया था। इतना ही नहीं, यह प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने अपने जीवनके अन्तिम काल में केदारनाथ में जाकर समाधि ली थी। आज भी उस स्थान पर शंकराचार्य की समाधि बनी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक होने के साथ-साथ योग के भी पूर्णतया समर्थक थे। इस स्थल पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के सामंजस्यमूलक अध्ययन के द्वारा साम्य में एवं विरोध के आधार पर दोनों का पारस्परिक सम्वन्ध एवं प्रभाव देखना है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध का साम्य

पातंजल योग की विवेचन करते समय, अभी यह कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति-निरोध का नाम ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः–यो० सू० १।२)। यह चित्तवृत्ति-निरोध अद्वैती के लिए भी अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध किये विना माक्षोपलब्धि असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीगणेश होता है। अतएव शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट ही कहा है कि "जिसका चित्त प्रशान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध हो, जो पूर्वोक्त बातों–(काम्य-निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्यादि कर्मो) का अनुष्ठान करता हो; जिसमें विवेक-वैराग्यादि गुण वर्तमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो और जो गुरु-वाक्यों में श्रद्धा रखता हो, ऐसे मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान का उपदेश देना चाहिए।"[१] सदानन्द ने भी वेदान्तसार में वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिए विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व की आवश्यकता वतलाई है। इनमें शमादि चार समाधानों, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व को साधन-चतुष्टय भी कहते हैं। साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत गृहीत–शम के अनुसार श्रवण एवं मननादि से भिन्न विषयों से मन का निग्रह किया जाता है–शमस्तावच्छ्वणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।[२] इसके अतिरिक्त साधनचतुष्टय के अन्तर्गत परिगणित अन्य स्थितियां भी मनोनिग्रह या चित्तवृत्ति-निरोध के ही फलस्वरूप हैं। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैती मोक्षोपासक के लिए भी चित्तवृत्ति-निरोध का उतना ही महत्व है जितना एक योगी के लिए है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूप : अविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है। अविद्या एवं मायावाद के सिद्धान्त के आधार पर ही शांकर अद्वैतवाद का ढांचा खड़ा किया गया है। अविद्या अज्ञान का पर्यायवाची शब्द है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या अथवा अज्ञान

---

१. प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्विताग्रानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ।।

(उपदेशसाहस्री, पार्थिवप्रकरण, ७२)

२. वेदान्तसार–४।

की आवरण और विक्षेप रूप दो शक्तियां स्वीकार की गई है।[1] आवरण-शक्ति के द्वारा वस्तु अन्यथारूप से भासती है। इस प्रकार आवृत्तिरूपा अविद्या अध्यारोपवाद की जननी है। अध्यास का लक्षण अद्वैत वेदान्त में 'अव्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कहकर किया गया है।[2] योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण 'अतस्मिंस्तत् प्रतिभासो अविद्या'[3] कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी आरोपवाद की ही समर्थक है। रज्जु में सर्प के भासित होने का कारण अविद्याजन्य आरोप ही है। शंकराचार्य ने विक्षेपरूप अविद्या रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है।[4] पातंजल योग में भी अविद्या को अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश की प्रसवभूमि कहा गया है।[5] जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार मिथ्या ज्ञानरूपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योग दर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।[6] पंचदशीकार ने माया की मोहक शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है जैसे माया में जगत् के सृजन की सामर्थ्य है, वैसे ही जीव को मोहने की शक्ति भी है।[7] इसी प्रकार योगदर्शन में भी 'अविद्या मोहः' (भोजवृत्ति, यो० सू० २।४) आदि उक्तियों के द्वारा अविद्या की मोहशक्ति की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार विचार करने पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के अविद्या-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य मिलता है। परन्तु यह भी विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या एवं माया के शक्ति रूप का जिस प्रकार विवेचन किया गया है उसका योगदर्शन में अभाव है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त : जैसा कि ऊपर विवेचन कर चुके हैं, योगदर्शन-सम्मत ईश्वर एक विलक्षण 'पुरुषविशेष' है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्ति-सम्पन्न है। मायाशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। बिना मायाशक्ति के शांकर वेदान्त में ईश्वर का स्रष्टापन नहीं सिद्ध होता।[8] योगदर्शन के पुरुषविशेष ईश्वर के लिए इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। योगदर्शन में जिस सगुण ईश्वर की अपेक्षा है उसकी परमार्थ सत्ता की वेदान्तियों ने अपेक्षा नहीं समझी है।[9] योगदर्शन के अनुसार ईश्वर इच्छा मात्र से ही सारे जगत् का

---

१. विवेकचूडामणि–११३, ११४, ११५। दृग्दृश्यविवेक १३।१५,। वेदान्तसार १०।
२. ब्र० सू० शा० भा०, उपाद् घात।
३. भोजवृत्ति यो० सू०, २।५
४. रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः। (विवेकचूडामणि, पृ० ११३)
५. अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम्। –यो० भा०, २।४
६. भोजवृत्ति, २।४
७. पंचदशी, ४।१२
८. नही तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टत्वं सिध्यति। –ब्र० सू० शा० भा०, १।४।३
९. **In the Vedanta Philosophy the question of the real existence of a personal Iswara never arise (Max Muller, Indian Philosophy, Vol. III, p. 110.)**

उद्धरण करने में समर्थ है।[१] यहां, यह और विचार्य है कि ईश्वर की यह इच्छा किसी निजी प्रयोजन के वश नहीं उत्पन्न होती, वरन् यों कहिये कि भूतानुग्रह ही ईश्वर का प्रयोजन होता है।[२] अद्वैत वेदान्त में भी सृष्टिरचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीलारूप प्रवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है।[३] इस सम्बन्ध में ब्रैडले का कथन है कि समस्त लीला ईश्वर की क्रियात्मकता का ही फल है, परन्तु यह, परमेश्वर की क्रियाशीलता स्वभावज होने के कारण किसी प्रकार की कामना अथवा विवशता से वर्जित है।[४] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में ईश्वर की लोकोद्धरण की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस स्थल पर भी साम्य है कि ईश्वर अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और अविद्या, इन पंचक्लेशों; शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण और अशुक्लकृष्ण इन चार प्रकार के कर्मों; जाति, वायु तथा भोग–इन कर्म-विपाकों और इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारों से अस्पष्ट है।[५] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधारा में पर्याप्त साम्य होते हुए भी यह मौलिक भेद स्मरण रखना चाहिए कि योगदर्शन के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तरह ब्रह्म के दो भेद, सगुण और निर्गुण, नहीं मिलते। वेदान्त में तो सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर कहते है। अद्वैत वेदान्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधाराओं में साम्य होते हुए भी मौलिक भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति : अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन, दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत मुक्ति को अंगीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति की जो विवेचना मिलती है, उसका योगदर्शन-पद्धति में अभाव है। जैसा कि योगदर्शन-सम्मत मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, योगदर्शन के अन्तर्गत भी एक प्रकार की विदेहावस्था का वर्णन मिलता है। असम्प्रज्ञात समाधि की ही भेदरूप–भवप्रत्यय समाधि–की अवस्था में जीव के षाट्कौशिक शरीर का पतन होने पर इन्द्रियों या भूतों में लीन होकर संस्कारमात्र से युक्त मन को रखने वाले जीव विदेह कहलाते है।[६] इस अवस्था में यद्यपि वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं परन्तु फिर भी संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त-सम्मत विदेह मुक्त्यवस्था में समस्त वृत्तियों, संस्कारों एवं शरीर का नाश हो जाने पर भोगादि का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार दोनों दर्शनों की विदेहावस्था में अन्तर है। जहां तक जीवनमुक्ति का सम्बन्ध है, जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में जीवनमुक्ति प्राणी का शरीर-त्याग नहीं होता, उसी प्रकार योगदर्शन में भी मिथ्या संसार-बन्धन से मुक्त प्राणी का लोप नहीं हो जाता, वरन् वह वेदान्ती जीवन्मुक्त की ही तरह संसार-प्रकृति से पृथक् रहते हुए अपना जीवन धारण करता है। ऐसा जीवनमुक्त प्राणी अविद्या-बन्धन से बंधे हुए प्राणियों के बीच भी मुक्ति का अनुभव करता है। उसे न दूसरे जीवन का भय होता है और

---

१. इच्छामात्रेण जगदुद्धरणक्षमः। –भोजवृत्ति १।२४
२. भोजवृत्ति, १।२४
३. ब्र० सू० शा० भा० २।१।३३
४. *Bradley* : ESSAY ON TRUTH & REALITY, p. 50-51.
५. ब्र० सू० शा० भा० २।१।६ तथा योगसूत्र, १।२४
६. तत्त्ववैशारदी १।१६ (हार्वर्ड ओरिण्टल सिरिज, १७)

न कोई आशा ही होती है। इस परिवर्तनशील संसार में भी वह जीवन्मुक्त प्राणी अपरिवर्तित ही रहता है।[१] वैसे तो, अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन, इन दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अनुसार अविद्यानिवृत्ति होने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु दोनों ही अविद्यासम्बन्धी दृष्टि में भेद है। अद्वैत-दृष्टि से विचार करने पर जगत् से ब्रह्म की संज्ञा को पृथक् मानना अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना से होती है। इसके विपरीत योगदर्शन के अनुसार बुद्धिसत्व के लेश-बीजों के दग्ध होने के लिए 'पुरुष' की अन्यताप्रतीती आवश्यक है। यह अन्यताप्रतीती ही मोक्ष का प्रमुख कारण है।[२] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी विवेचन में प्रक्रियागत भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह पता चलता है कि दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य एवं यत्किंचित् विरोध होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।[३] इस सम्बन्ध में यह कथन किसी पूर्वाग्रह पर आधारित न होगा कि प्राचीन औपनिषद अद्वैत वेदान्त के अविद्या, चित्तवृत्तिनिरोध, ईश्वर, मुक्ति एवं कर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव योगदर्शन के उक्त सिद्धान्तों पर भी पड़ा है। ऊपर अद्वैत वेदान्त एवं योगदर्शन के चित्तवृत्ति-निरोध और अविद्या आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करते समय इन सिद्धान्तों का साम्य देखा जा चुका है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन में वेदान्त के सम्बन्ध में जिन स्थलों को उद् धृत किया गया है, वे योग-परवर्ती वेदोन्त के हैं, अतः योगदर्शन पर वेदान्त का प्रभाव कैसे संगत हो सकता है। इस प्रसंग में लेखक का विचार है कि परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों का विकास हुआ है उनके बीज औपनिषद दर्शन में पूर्णतया निहित है। अतः योगदर्शन पर प्राचीन अद्वैतवाद का प्रभाव मानने में कोई आपत्ति न होगी। इन दोनों दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक रूप ही से किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्यावहारिक रूप से मिलता है।[४] चित्तवृत्ति निरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक

---

१. Secondly, the Purusha, though freed from illusion, is not thereby annihilated. He is himself, apart from nature, and it is possible, though it is not distinctly stated that the Purusha in his aloneness may continue his life, like the Jivanmukta of the Vedanta, maintaining his freedom among a crowd of slaves, without any fear or hope of another life unchanged himself in this everchanging Samsara. (Max Muller, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. III, p. 143.)

२. The principal cause is the knowledge of distinction. (Tattvavaishardi, Allahabad, 1924) तथा देखिए यो० भा० ३।५४।

३. *S.N. Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 492.

४. उमेश मिश्र–भारतीय दर्शन, पृ० ३१७-१८।

विवेचन ही है। अतः वेदान्ती को योग की महती उपादेयता माननी चाहिए। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

अद्वैत वेदान्त (उत्तरमीमांसा) और पूर्वमीमांसा दर्शन

पूर्वमीमांसा का संक्षिप्त स्वरूप : पूर्वमीमांसा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने से पूर्व 'पूर्वमीमांसा' के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यहां पहले पूर्वमीमांसा शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

पूर्वमीमांसा का अर्थ

पूर्वमीमांसा के अर्थ के स्वस्थ विचार के अभाव में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाएं वन गयी हैं। इसका फल यहां तक हुआ है कि किसी-किसी ने तो इसे 'दर्शन' स्वीकार करने में ही आपत्ति प्रदर्शित की है। कुछ-एक विचारक तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पूर्व और उत्तर शब्दों के आधार पर, इन दोनों दर्शन-पद्धतियों को पूर्वकालिक एवं उत्तरकालिक भी कहते हैं–जैसे पाश्चात्य विद्वान् कोलब्रुक।[1] इस स्थल पर पूर्वमीमांसा के अर्थ के निश्चय का प्रयत्न है। जिसके परिणामस्वरूप इस सम्वन्ध में उक्त-अनुक्त सभी भ्रान्यिों का निराकरण सम्भव है।

मीमांसा शब्द ही उत्पत्ति विचारार्थक 'मान' धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होने पर होती है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मीमांसा शब्द का अर्थ गंभीर चिन्तन है और इस प्रकार पूर्वमीमांसा का अर्थ होगा : किसी विषय पर किया गया प्रथम गम्भीर चिन्तन। वेद के दो स्वरूप प्रचलित हैं–एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पूर्वमीमांसा का विषय कर्मकाण्ड है और उत्तरमीमांसा का विषय ज्ञानकाण्ड। जैमिनि और बादरारण दोनों उत्तरमीमांसकों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों की स्थान, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमिनिसूत्र, १।१।१) और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, १।१।१) सूत्रों द्वारा आरम्भ में ही कर दी है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि 'पूर्वमीमांसा' का धर्म और उत्तरमीमांसा का 'ब्रह्म' दो पृथक्-पृथक् उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर चलते हैं। वेद का सिद्धान्त वेदान्त ही है, इसीलिए उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं, क्योंकि उसमें उत्तर पक्ष अर्थात सिद्धान्त पक्ष की स्थापना है। धर्म और कर्म का सम्बन्ध सापेक्ष है। पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत दोनों का ही प्रतिपादन मिलता है। यहां पूर्वमीमांसा से यह समझना चाहिए कि धर्म और कर्म के प्रतिपादन की मीमांसा, वेदान्त-प्रतिपाद्य मोक्ष के इच्छुक के लिए पहला प्रयास है। इसीलिए तो शंकराचार्य ने भी ज्ञान-पक्ष का मण्डन करते हुए भी आचार-पोषक कर्म की महत्ता को निःसंकोच स्वीकार किया है।[2] अन्यथा इस लोक के लिए शांकर दर्शन का महत्त्व ही क्या रह जाता? परन्तु यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य कर्म को परंपरया ही मोक्ष का साधक मानते हैं, साक्षात् नहीं। इसीलिए आचार्य शंकर

---

१. *Colebrooke* : MISC. ESSAYs, Vol. I, p. 239

२. कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मनः शक्नुवन्त्यात्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धे वेदितुम्। (वृ० उ० भा०, ४।४।२२)

को मीमांसकों के अनुसार सीधे कर्म से अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय से मुक्ति-लाभ स्वीकार करने में आपत्ति है।[1]

ऊपर किये गये विवेचन से हमारा अभिप्राय यह है कि पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत वेद के पूर्वपक्ष (कर्मकाण्ड) का ही विवेचन किया गया है, इसीलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा है। अतः जैसाकि पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा जा चुका है, प्रो० कोलब्रुक का यह मत युक्त नहीं प्रतीत होता कि काल की दृष्टि से पूर्व और उत्तरमीमांसा में पूर्व और उत्तर का भेद है। इस तथ्य के आधार पर ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने अपने सूत्रों में मीमांसासूत्रकार जैमिनि का उल्लेख किया है, यह कहना उचित न होगा कि पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा से प्राचीन है। जैसे कि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत किया गया है, वैसे ही मीमांसासूत्र के अन्तर्गत भी बादरायण का उल्लेख मिलता है।[2] अतः पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा की अपेक्षा पूर्वकालिक होना उचित नहीं कहा जा सकता।

ऊपर हमने मीमांसा के जिस अर्थ की विवेचना की है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं क्रियापद के रूप में कहीं संज्ञा के रूप में जैमिनि ने पूर्व ब्राह्मण एवं उपनिषद्-आदि ग्रन्थों में बहुत प्राचीन काल से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इस सम्बन्ध में यहां कुछ स्थल उद्धृत कर रहे हैं :

(१) उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः तद्धाहुः। उत्सृज्यामेवेति (तै० सं०, ७-५।७।१)

(२) ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसेत। (तांड्यब्राह्मण[3], ६।५।६)

(३) उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते (कौषितकी ब्राह्मण, २।६)४

(४) प्राचीनशाला औपमन्यवः........यदा श्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः कोनु आत्मा किं ब्रह्मेति। (छा० उ०, ५।११।१)

(५) सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। (तै० उ०, २।८।१)

मीमांसा शब्द के उपर्युक्त प्रयोगों से मीमांसा की प्राचीनता स्पष्ट प्रतीत होती है।

मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया

प्रमाण-निरूपण : तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रमा-कारण को प्रमाण कहते हैं। जहां तक प्रमा की बात है, अज्ञात एवं सत्य रूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते है।[5] उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार स्मृति, भ्रम तथा संशयरूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि भ्रमजन्य एवं संशयोत्पन्न ज्ञान में वास्तविकता नहीं होती। इस प्रकार जहां जिस वस्तु की जैसी स्थिति है उसका वैसा ही ज्ञान प्रमा है। इस प्रमा का कारण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार शास्त्रदीपिका के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञान

---

१. ऐतरेयोपनिषद् भाष्य का उपोद्घात।
२. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY. Vol. II. p. 94.
३. चौखम्बा संस्करण १९६१।
४. Edited by B. Linelner.
५. प्रमा चाज्ञाततत्वार्थज्ञानम्। –मानमेयोदय, १।३ (अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावली, १९१२)

पूर्व वस्तु का अनुभव हो तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न होकर दोषरहित हो, वही प्रमाण है।[१] इन प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में, जैसाकि कहा जा चुका है, भिन्न-भिन्न दर्शनपद्धतियों में तो मतभेद है ही, स्वयं मीमांसा के ही अन्तर्गत भाट्ट एवं प्रभाकर मत में भी अन्तर है। भाट्ट मत के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपब्धि, ये छह प्रमाण माने गये हैं। प्रभाकर मत में उक्त छह प्रमाणों में से अनुपब्धि को छोड़कर शेष पांच को ही स्वीकार किया गया है। यहां दोनों परम्पराओं के अनुसार प्रमाणों के सम्वन्ध में विवेचन किया जाएगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण

रामानुजाचार्य ने प्रत्यक्ष की परिभाषा 'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'[२] कह कर दी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्षात् सम्बन्ध इन्द्रियों से है वैसे तो अनुमानज्ञान मन-इन्द्रिय द्वारा जन्य है परन्तु उसमें इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात्कार नहीं होता। यही अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद है।

प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद

निर्विकल्पक ज्ञान : इन्द्रियसन्निकर्ष के पश्चात्, विशेषण-विशेष्य भाग से रहित, विषयस्वरूप मात्र का ग्राहक, शब्दानुसार से शून्य ज्ञान कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में किसी सत्ता मात्र की ही उपलब्धि होती है, उसकी प्रकारता या विशेषता आदि ही नहीं। परन्तु सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशेषताओं का ज्ञान होता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी वर्तमान रहती हैं। अतः निर्विकल्पक अवस्था ज्ञान की प्रथम अवस्था है। जिस प्रकार शिशुपालवध काव्य में प्रारम्भ में अवतरित हुए नारद पहले एक तेजःपुज के रूप में दिखाई देते हैं–उस समय उनकी कोई विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती, यही निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था है।

सविकल्पक ज्ञान–जव ज्ञान का उपर्युक्त प्राथमिक अवस्था अन्य उपकरणों से पुष्ट होती जाती है तथा उसका विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से सम्बन्ध होता चला जाता है, तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, नाम–इन पांच प्रकार के विकल्पों से प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त माघकाव्य के नारद के उदाहरण में नारद का पुरुषत्व–जाति, वीणापाणित्व—द्रव्य, तेजस्विता—गुण, तपस्विता—क्रिया तथा नारद—नाम विकल्प है। इसी विकल्प-योजना पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।[३]

आलोचना

ऊपर किये गये स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान का आधार है। परन्तु इस विषय में वौद्धों तथा वैयाकरणों में ऐकमत्य नहीं है। वौद्ध संप्रदाय केवल निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता स्वीकार करता है, सविकल्पक की नहीं। इसके विपरीत वैयाकरण

---

१. कारणदोषबाधकज्ञानरहितगृहीतग्रहि प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका, १।१।५)
२. रामानुजाचार्य, तन्त्ररहस्य, पृ० २-८।
३. मण्डन मिश्र शास्त्री, मीमांसा-दर्शन, पृ० ३७६।

निर्विकल्पक को नहीं मानता।

जैसाकि कहा गया है, प्रत्यक्ष के सम्वन्ध में प्रभाकर एवं भाट्ट मतों में भी भेद है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण-विशेष्य-भाव,–से षट् सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु भाट्ट मत में, संयोग और संयुक्त तादात्म्य ये दो ही सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु प्रभाकर संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय–ये तीन सन्निकर्श मानते हैं।

अनुमान प्रमाण

स्वाभाविक रूप से निश्चित सम्वन्ध वाले दो पदार्थों में व्याप्य के देखने पर इन्द्रियों से असंवद्ध विषय में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। व्याप्य से अधिक देश-काल में न रहने तथा व्यापक से अधिक देश-काल में रहने का अभिप्राय है। उदाहरणार्थ, धर्म और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित है। उन दोनों में पर्वत पर धूम-दर्शन न होते हैं। धूम-दर्शन होने पर इन्द्रियों से न देखे गए (असन्निकृष्ट) व्यापक अग्नि में जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। इस उदाहरण में धूम व्याप्त तथा अग्नि व्यापक है। धूम के व्याप्य होने का यह कारण है कि वह अग्नि से रहित जल-आदि पदार्थों में नहीं रहता। अग्नि की व्यापकता इससे सिद्ध है कि वह धूम के अभाव में भी जलते हुए लोहे में देखा जाता है।

अनुमान के भी दो भेद हैं–स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। जहां स्वयं ही हेतु को देखकर व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान कर लिया जाता है, वहां स्वार्थानुमान होता है। जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है, उसे परार्थनुमान कहते हैं।

आलोचना

भाट्ट गत की अनुमान-प्रक्रिया और न्यायदर्शन की अनुमान-प्रक्रिया में किंचित् भेद है। न्याय के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन–इन पंचावयव वाक्यों के स्थान पर भाट्ट मीमांसा एवं वेदान्त में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, या दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन ही वाक्य माने गये हैं।[1]

शब्द प्रमाण

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ का स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना शब्द प्रमाण कहलाता है। यह शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का है : एक पौरुषेय और दूसरा अपौरुषेय। आप्त वचन पौरुषेय शाब्द प्रमाण के अन्तर्गत आयेगा। इसके अतिरिक्त वेद-वाक्य अपौरुषेय शब्द-प्रमाण का उदाहरण है। सिद्धार्थ और विधायक–ये दो भेद शब्द के और भी हैं। किसी पदार्थ के निश्चित अर्थ को कहने वाला वाक्य सिद्धार्थ वाक्य है। विधायक वाक्य वह वाक्य है जो किसी प्रकार के कार्य के लिए प्रेरक होता है। विधायक वाक्य उपदेशक तथा अतिदेशक के भेद से दो प्रकार का होता है। उपदेश वाक्य से विधिवाक्य का तात्पर्य है जैसे–उसको ऐसा करना चाहिए। अतिदेश वाक्य का उदाहरण है–दर्शपूर्णप्रास

---

१. मानमेयोदय, पृ० ६४ तथा वेदान्तपरिभाषा पृ० ६२।

याग के द्वारा स्वर्ग का साधन करे।[1]

उपमान प्रमाण

पूर्वदृष्ट अर्थ के स्मरण करने पर दृश्यमान पदार्थ में जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसी को उपमिति कहते हैं।[२] उपमिति का कारण ही उपमान कहलाता है। जैसे कि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने पूर्व से गाय देख रक्खी है, जंगल में गवय (नीलगाय) भी गाय के समान दिखाई पड़ती है। इसके अनन्तर वह द्रष्टा गाय में रहने वाली गवय (नीलगाय) की समानता का स्मरण करता है और कहता है कि मेरी गाय इस गवय के समान है, यही प्रक्रिया उपमिति कहलाती है। इस प्रकार उपमान सादृश्यजन्य ज्ञान है।

अर्थापत्ति

दूसरे अर्थ के विना निश्चित अर्थ की अनुपपत्ति को देखकर, उसकी (निश्चित अर्थ की) संगति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[1] जैसे, किसी अन्य प्रमाण के आधार पर देवदत्त का जीवन निश्चय सिद्ध होने पर, जब देवदत्त को घर में पाया जाता, तो उसके वाहर रहने की अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा ही देवदत्त के जीवन की निश्चित सिद्ध होती है। इस प्रकार देवदत्त के घर से वाहर रहने की कल्पना अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति के दो भेद हैं–एक श्रुतार्थापत्ति और दूसरी दृष्टार्थापत्ति। केवल 'द्वार' ऐसा कहने पर 'खोलो' या 'बन्द करो' ऐसे अर्थ की कल्पना श्रुतार्थापत्तिगत कल्पना है। ऊपर दिया गया देवदत्त का उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है। नैयायिक तो अर्थापत्ति का अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव करते हैं।

अनुपलब्धि

अनुपलब्धि अभाव का ही पर्यायवाची है। जहां उपर्युक्त पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती, वहीं अनुपब्धि है। उपर्युक्त पांचों प्रमाण भावपदार्थों की उपलब्धि के साधन हैं, परन्तु कभी-कभी अभाव की उपलब्धि भी देखी जाती है। अनुपलब्धि प्रमाण अभाव की उपलब्धि का ही बोधक है। अनुपलब्धि की सत्ता स्वतन्त्र है। इसका कारण यह है कि हमारी इन्द्रियां भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को ही वतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अभाव अनुपलब्धि के द्वारा ही सिद्ध होता है। जैसे, यदि पुस्तक होती तो अवश्य मिलती, परन्तु इस समय यह अनुपलब्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि ही पुस्तक के अभाव को बतला रही है। भाट्ट एवं अद्वैत मत में अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है; परन्तु इसके विपरीत प्रभाकर मत में, अनुपलब्धि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। प्रभाकर ने तो अभाव को अधिकरण रूप माना है। (देखिए तन्त्ररहस्य, पृष्ठ १६-१६)।

प्रामाण्यवाद

ज्ञान होते समय जो पदार्थ जिस रूप में अवभासित होता है वह पदार्थ वस्तुतः उसी रूप में

---

१. शास्त्रदीपिका, पृ० ७२ (निर्णयसागर संस्करण)।

२. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो-वार्थो अन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना। (शा० भा०, १।१।५) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली १६४६।

अवस्थित हो तो उसे प्रामाण्य कहते हैं।[1] इसके विपरीत जब कोई वस्तु जिस रूप में वर्णित हुई है उस रूप में न हो, तो वह अप्रामाण्य की स्थिति कहलाती है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका नैयायिकों से विरोध है। नैयायिक प्रामाण्य को 'स्वतः' न मानकर 'परतः' मानते हैं। इसीलिए मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवादी और नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी कहलाते है। इस स्थल पर मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद की स्थापना के पश्चात् नैयायिक के परतःप्रामाण्यवाद का खण्डन किया जाएगा। प्रभाकर मत, भाट्ट मत तथा मुरारि मत के अनुसार मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के भी भिन्न-भिन्न रूप है। यहां तीनों मतों का उल्लेख परमावश्यक है।

प्रभाकर मत

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वतः प्रकाश रूप है। अतः इस मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाश रूप होने से ही ज्ञान का स्वतःप्रमाण्य स्पष्ट सिद्ध है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार प्रकाश पहले दृश्यमान पुस्तकादि पदार्थों को तदनन्तर अपने आपको और फिर दीप-वर्तिका को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पहले इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को, फिर अपने आपको और फिर ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रगट करता है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार प्रत्येक पक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसी को त्रिपुटी प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस मत में ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी स्थित रहता है। अथवा यों कहिये कि ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।[2]

भट्ट मत

इस मत के प्रवर्तक कुमारिलभट्ट हैं। वे भी ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका स्वमत प्रतिपादन-प्रकार प्रभाकर से भिन्न है। कुमारिल प्रभाकर की तरह ज्ञान को स्वतः प्रकाशरूप नहीं मानते। इनके मतानुसार चक्षु और पुस्तक के सन्निकर्ष से 'इदं पुस्तकम्' यह ज्ञान होता है; परन्तु इनके मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाश न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं। इसलिए ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को ज्ञान होता है कि—मया इदं पुस्तकम् ज्ञातम् (मेरे द्वारा यह पुस्तक जानी गई)। जब वह पुस्तक ज्ञात होती है तो उसम ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञातता का ही प्रत्यक्ष ज्ञान भाट्ट मत में होता है। यह ज्ञातता ही ज्ञान का प्रामाण्य ही उदयकर्त्री है।[3]

---

१. अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते। —न्यायरत्नमाला, पृ० ४।
२. तथा देखिए—न्यायकन्दली, पृ० ६१; शास्त्रदीपिका, २१३-१४; तन्त्ररहस्य, पृ० ५-८; प्रकरणपंचिका, पृ० ३८-५३।
तथा
न्याय रत्नमाला, पृ० ३१-३५; शास्त्रदीपिका, पृ० ६७-१०६; मानमेयोदय, पृ० ४-६।

मुरारि का मत

मुरारि के मत के बारे में प्रसिद्ध है–मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।[1] मुरारि मिश्र के अनुसार, इन्द्रिय एवं अथ के संयोग से ज्ञान होने पर 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस 'अयं घटः' ज्ञान की सत्यता का निश्चय करने के लिए फिर 'अहं घटः' (यह घट है) इस ज्ञान का भान तथा उसका प्रामाण्य, दोनों ही निश्चित होते हैं, यही मुरारि मत की विशेषता है।[2] इस प्रकार प्रभाकर मत में ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य होने का निश्चय ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से, भाट्ट मत में 'ज्ञातता' से तथा मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से होता है। उक्त तीनों मतों में विद्वानों ने प्रभाकर मत की ही विशेष महत्ता स्वीकार की है। इस सम्वन्ध में मथुरानाथ तर्कवागीश का कथन है कि प्रभाकर का ही मत निश्चित 'स्वतःप्रामाण्यवाद' है, अन्य मत तो न्याय के समान परतःप्रामाण्यवादी ही हैं।[3]

परतःप्रामाण्यवाद का निराकरण

नैयायिक का प्रामाण्यवाद को परतः मानना उचित नहीं है। नैयायिक के मतानुसार, यदि प्रामाण्य का परतस्त्व स्वीकार किया जाएगा तो अनवस्था दोष आ जाएगा। इसका कारण यह है कि परतःप्रामाण्यवाद के अनुरूप ज्ञान का प्रामाण्य जब दूसरे ज्ञान पर निर्भर होगा तो वह दूसरा–प्रामाण्यप्रतिपादक ज्ञान भी, अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा। इसी प्रकार वह इतर ज्ञान, प्रामाण्य सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा—और फिर इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार के अनवस्था दोष से मूल का उच्छेद हो जायेगा। अतः इस मूलोच्छेदक ज्ञान के स्वीकार करने में कोई लाभ नहीं है।[4] प्रामाण्य के परतस्त्व के स्वीकार करने से प्रामाण्य का मूलोच्छेद इस प्रकार होता है कि यदि सभी ज्ञान अपने विषय के तथात्व के निश्चय के लिए, स्वयं असामर्थ्य का अनुभव करते हुए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायें, तो कारण-गुण-ज्ञान, संवादज्ञान व अर्थ-क्रिया-ज्ञान भी अपने विषयनिष्ठ गुण आदि के निश्चय के लिए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जाएंगे। इस प्रकार अनेक जन्मों में भी किसी अर्थ का निश्चय न होगा पर प्रामाण्य का मूलोच्छेद स्वतः हो जायेगा। यदि पूर्वपक्षी कहे कि अनवस्था की परावृत्ति के लिए अर्थ-क्रिया-ज्ञान की स्वतःप्रमाणता मान ली जायेगी तो इससे कोई वैशिष्ट् य नहीं आ पायेगा। क्योंकि, यद्यपि अर्थ-क्रिया की फलरूपता के कारण उसमें अप्रामाण्य की शंका नहीं की जा सकती, परन्तु स्वप्नावस्था में जल लाना आदि क्रियाएं उसमें भी व्यभिचार कर देती है। यदि पूर्वपक्षी कहे

---

१. उमेश मिश्र - 'मुरोरेस्तृतीयः पन्थाः' (Fifth Oriental Conference Proceedings, Lahore.)

२. 'मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः' इति मुरारिमिश्राः।
वर्धमान कुसुमांजलि प्रकाश, पृ० २१६ (महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार-संपादित, कलकत्ता, १६६१)

३. चिन्तामणिरहस्य, पृ० ११७।

४. परापेक्षत्वं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति।। शास्त्रदीपिका, पृ० ७७।

कि केवल सुख-ज्ञान को अव्यभिचरित समझ कर उस तक ही अर्थ-क्रिया को सीमित कर दिया जायेगा तो उससे भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्यअध्यवसित नहीं किया जा सकेगा। जैसे कि स्वप्न में प्रिया-संग के विश्राम से सुख होता है, तथा उसका ज्ञान भी होता है, परन्तु उस सुख-ज्ञान के मिथ्यात्व ने उस ज्ञान में अप्रामाण्य निहित कर रखा है अतः यह स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा कि प्रामाण्य स्वतः ही प्राप्त होता है।

मीमांसक का अख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रम का विवेचन ख्यातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। अख्यातिवाद मीमांसक शुक्ति-आदि में रजत-आदि के ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इसीलिए अख्यातिवादी के मत में भ्रम को स्थान नहीं है। अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञान के दो पक्ष मानता है-एक यर्थाथ और दूसरा स्मृति। अख्यातिवाद का कहना है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान में ज्ञान के दो रूप हैं। उक्त वाक्य में इदम् का यर्थाथ ज्ञान होता है और रजत की स्मृति। संस्कारजन्य सादृश्य के आधार पर 'ज्ञातं रजतं' स्मृति मात्र है। पुरोवर्ती इदं रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति ज्ञान-इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजतरूप में ज्ञान होता है। इसी को 'भेदाग्रह' भी कहते हैं, क्योंकि यर्थाथ ज्ञान और स्मृति के भेद के आग्रह के कारण ही शक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार अख्यातिवादी उक्त उदाहरण में रजतज्ञान का कारण 'प्रमोष' को मानता है। स्मरणाभिमान के प्रभूषित होने पर ही शुक्ति का ज्ञान, और 'रजतम्' यह रजत-ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। अख्यातिवादी का विचार है कि शुक्ति में रजतज्ञान का आधार जो रजत है वह तो सत्य ही है। इस प्रकार अख्यातिवादी मीमांसक प्रभाकर के ख्याति-सम्बन्धी सिद्धान्ता के अनुसार भ्रम को नहीं स्वीकार किया गया है।[1]

परन्तु प्रभाकर के विपरीत भट्ट मीमांसक नैयायिक भी अन्यथाख्याति को स्वीकार करता है। अन्यथाख्यातिवादी अख्यातिवादी की तरह स्मृति को स्वीकार नहीं करता। किसी वस्तु के धर्मो का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मो को शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजतरूप से अन्यथा ज्ञान होता है। भट्ट मीमांसक इस अन्यथाख्याति को ही विपरीतख्याति भी कहते है।

पदार्थ-निरूपण

पदार्थों के सम्बन्ध में मीमांसकों में ऐकमत्य नहीं है। भट्ट मीमांसक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति और अभाव, ये छः पदार्थ और प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय शक्ति, संख्या और सादृश्य, ये आठ पदार्थ स्वीकार किये गए है। इन पदार्थों में द्रव्य, गुण तथा कर्म का विवेचन प्रायः वैशेषिक के समान ही है, परन्तु यत्र-तत्र भेद भी मिलता है। यहां इन पदार्थो का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है।

द्रव्य—द्रव्य परिणाम का आश्रय होता है और यह परिणाम दो प्रकार का होता है-एक-अणुत्व तथा दूसरा महत्त्व। द्रव्य पदार्थ-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द तथा

---

१. डॉ० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।

अंधकार भेद से ग्यारह प्रकार का है। यहां पृथ्वी आदि के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

पृथ्वी—प्रथम द्रव्य पृथ्वी गन्धयुक्त द्रव्य है। इस पृथ्वी द्रव्य के दर्शन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष शरीर और घ्राणेन्द्रिय के रूप में होते हैं। शरीर के जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज भेद से चार रूप हैं। इनमें उद्भिज्ज को प्रभाकर मीमांसक नहीं स्वीकार करते।[1]

जल—जल स्वाभाविक द्रवत्व का अधिकरण है।

तेज—तेज उष्ण स्पर्शवाला होता है। तेज के दर्शन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और चक्षु इन्द्रिय के रूप में होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं तैजस पदार्थ में उष्णस्पर्श की उपलब्धि नहीं भी होती, जैसे सुवर्ण भी तैजस पदार्थ है परन्तु उसमें पृथ्वी अंश की अधिकता के कारण उष्ण स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती।[2]

वायु—यद्यपि वायु का रूप नहीं है, परन्तु फिर भी वह स्पर्शवाला है। प्राचीन नैयायिक की तरह[3] मीमांसक वायु को आनुमानिक नहीं मानता। नव्यनैयायिक तो वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट ही स्वीकार करता है।[4]

आकाश—आकाश अन्तिम भूत द्रव्य है। शब्द के अधिकरण होने से आकाश की सिद्धि स्पष्ट है। आकाश नित्य है। भाट्ट मीमांसकों के मत में आकाश का भी प्रत्यक्ष होता है।[5]

काल—काल सभी का आधार है। काल विभु है और एक है।

दिशा—दिशा भी एक तथा नित्य है।

आत्मा—आत्मा चैतन्य का आश्रय है। मीमांसक आत्मा की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी सव शरीरों के साथ उसकी एकता नहीं मानते।[5]

मन—मन भी सूक्ष्म इन्द्रिय है। परन्तु यह भी भौतिक इन्द्रिय ही है। परन्तु शास्त्रदीपिकाकार ने इसे भौतिक से विलक्षण भी माना है।[2]

शब्द—शब्द श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। शब्द के वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक, ये दो भेद है, वर्णात्मक शब्द द्रव्य तथा विभु है और आत्मा की ही तरह नित्य भी है, परन्तु वह गुण नहीं है। इसके विपरीत ध्वन्यात्मक शब्द गुण और अनित्य है। यह ध्वन्यात्मक शब्द ही वर्णात्मक शब्द को प्रकट करने वाला है और यह वायु का गुण है, क्योंकि वायु के अभिधान के द्वारा ही शब्द की उत्पत्ति होती है।[6]

---

१. शरीरं जरायुजाण्डजास्वेदजभिन्नं त्रिविधम्, उद्भिज्जं शरीरं न भवति। –प्रकरण-पंचिका पृ० १५० मुकुन्द शास्त्रीखिस्ते द्वारा संपादित, (सं० बु० डिपो, १९०३)

२. अभिभूतरूपस्पर्शतेज : सुवर्णम्। अभिभवस्तु वलवद्भिः पार्थिवरूप दिभिरिति द्रष्टव्यम्। (मानमेयोदय, पृ० १५५)

३. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्कराभावात् वायोरनुपलब्धिः। –वै० सू० ४।१।७ तथा प्र० पा० भा०, पृ० १९।

४. तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं संभवत्येव। –मुक्तावली, का० ४६।

५. मानमेयोदय, पृ० १८८।

६. मण्डनमिश्र : मीमांसादर्शन (जयपुर), पृ० ३४९।

अंधकार—नैयायिक की तरह मीमांसक अंधकार को अभाव रूप नहीं मानता। मीमांसक के मत में अंधकार चक्षु से ग्रहण करने योग्य है। यह अंधकार प्रकाश के अभाव में काले रूप में दिखाई पड़ता है। तेज की तरह अंधकार भी ब्रह्मा का शरीर है और इसकी सृष्टि भी पृथक् रूप से की गई है। इसलिए इसको पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार द्रव्य पदार्थ के उक्त ग्यारह भेद हैं।

गुण—मीमांसकों ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि और संस्कार भेद से इक्कीस प्रकार के गुण माने हैं।

नैयायिक एक पृथकत्व गुण की और कल्पना करता है जो मीमांसक को अभिमत नहीं है।

कर्म—'चलति' अर्थात् 'चलता है' आदि प्रत्यय का विषयकर्म है। यह कर्म चलनात्मक, प्रत्यक्ष तथा एक प्रकार का ही है। उक्त कथन भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार है। इसके विपरीत प्रभाकर के अनुयायी कम को प्रत्यक्ष मानकर अनुमेय मानते हैं। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों ने प्रभाकर-मतानुयायियों की उक्त अनुमेयता का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कर्म का अनुमान किया जाने लगेगा तब तो पर्वत और बादल के संयोग से पर्वत में भी कर्म का अनुमान होने लगेगा। ·इस प्रकार मीमांसक कर्म की अनुमेयता को नहीं स्वीकार करते।

सामान्य—'यह मनुष्य है', 'यह अश्व है' इस प्रकार सभी मनुष्यों और अश्वों आदि व्यक्तियों में रहने वाले और विजातीय व्यक्तियों से व्यावृत्त कराने वाले व्यावृत्त और अनुवृत्त आकार में देशान्तर और कालान्तर में जो अबाधित ज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं सामान्य है। यह सामान्य प्रत्यक्ष है। इस सामान्य के भी सामान्य और विशेष दो प्रकार हैं, जैसे मनुष्यत्व, अवश्त्व आदि। जाति का सामान्य आकार है और एक मनुष्य और एक अश्व आदि उसका विशेष आकार है।

शक्ति—शक्ति नामक पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की स्वतन्त्र कल्पना है। मीमांसकों ने लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की शक्तियां मानी हैं। अग्नि की दाहक शक्ति लौकिक शक्ति है और यज्ञादि में स्वर्गादि प्रदान की शक्ति वैदिक शक्ति है।

अभाव—जिसके द्वारा किसी वस्तु की सत्ता का निषेध होता है, उसे अभाव कहते हैं। अभाव के–प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अत्यन्तभाव तथा अन्योन्याभाव–ये चार भेद हैं। प्रभाकर के मत में अभाव नामक पदार्थ को नहीं स्वीकार किया गया है।

उक्त छः पदार्थ ही भाट्ट सम्प्रदाय में स्वीकार किये गए हैं।

जगत्—अद्वैतियों ने अद्वैत-सिद्धि के लिए जगत् को प्रपंच कहकर जो जगन्मिथ्यात्व सिद्ध किया है, वह मीमांसक का अभीष्ट नहीं है। मीमांसक जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानता है। अतः मीमांसा के अनुसार जगत् के जिस रूप में दर्शन होते हैं, उसी रूप में जगत् की सत्यता स्वीकार की गई

---

१. शास्त्रदीपिका, पृ० ३६।

२. अभिघातेन प्रेरिताः वायवः स्तिमितानि, वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतो दिक्काल संयोगविभागानुत्पादयन्ति। शाबरभाष्यम्।

३. तस्माद् यद् गूह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत्तथैवोभ्युपेतव्यं समान्यमथवेतरत्।। (श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)

है।[1] इस प्रकार मीमांसक जगत् का आत्यन्तिक नाश नहीं स्वीकार करता। कुछ मीमांसक अणु को स्वीकार करते हुए परमाणु से जगत् की सृष्टि स्वीकार करते हैं।[1] परमाणुवादी मीमांसकों के अनुसार, कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर विच्छेद के कारण अवान्तर परिवर्तन हो जाया करते हैं। यद्यपि न्याय-वैशेषिक में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुवाद के आधार पर सिद्ध की गई है, परन्तु परमाणुवादों में अन्तर है। न्यायदर्शन के अनुसार परमाणुओं की स्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमानगम्य है। त्रसरेणु के षष्ठ भाग को परमाणु कहने की बात को मीमांसक नहीं स्वीकार करता। मीमांसक तो प्रत्यक्ष वर्तमान कणों को ही परमाणु मानता है। न्यायदर्शन में परमाणु योगज प्रत्यक्ष का विषय है परन्तु मीमांसा में परमाणु का इन्द्रियप्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है।[2] अतः मीमांसकों द्वारा स्वीकार की गई जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण सत्य है।

ईश्वर—जैसा कि कहा जा चुका है ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों में भिन्न-भिन्न मतवाद मिलते हैं। नैयायिक यदि ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मात्र मानता है तो वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत ईश्वर के अन्तर्गत ईश्वर के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त ही नहीं मिलता। सांख्य यदि एक प्रकार से निरीश्वरवादी है तो योग में एक विशेष पुरुषरूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। वेदान्त का ईश्वर मायावी है। इस विषय में मीमांसा की स्थिति विचित्र है–वह न ईश्वर का खण्डन ही करता है और न ही मण्डन ही। मीमांसा में भी ईश्वर के सम्बन्ध किया गया है। इसके विपरीत परवर्ती मीमांसकों ने किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार किया गया है। लौगाक्षि भास्कर एवं आपदेव ने ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कार्य को मोक्ष का हेतु माना है।[3] प्रभाकरविजय के अन्तर्गत ईश्वर-सम्बन्धी आनुमानिकता का खण्डन करते हुए ईश्वर की स्पष्ट सत्ता स्वीकार की है।[4]

धर्म—धर्म मीमांसादर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसीलिए जैमिनि ने मीमांसासूत्र के दूसरे सूत्र–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' में ही धर्म का लक्षण किया है। इस सूत्र के अनुसार चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना–भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के बोध कराने में जैसी समर्थ है वैसी शक्ति न तो इन्द्रियों में है और न अन्य किसी पदार्थ में।

मीमांसा के धर्म का उपर्युक्त स्वरूप सप्रमाण है। परन्तु मीमांसा के प्रमाण, प्रत्यक्षादि से भिन्न

---

१. प्रभाकरविजय, पृ० ४३-४६।
२. मानमेयोदय, पृ० १६४।
३. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति' भगवद् गीतास्मृतेरेवप्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। अर्थसंग्रह, पृ० १६६ तथा मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १६०।
४. एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्। नेरश्वरोऽपि निराकृतः। अतएव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्॥

प्रभाकर-विजय, पृ० ८२।

हैं। मीमांसा के अन्तर्गत धर्म में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष तथा सामर्थ्य–ये आठ प्रमाण स्वीकार किये गए हैं। यहां इनका संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

(१) विधि—वेद-वाक्यों का प्रमुख उद्देश्य विधि का प्रतिपादन है। विधि धर्म में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञादि कर विधान किया जाता है।

(२) अर्थवाद—वेद का दूसरा भाग अर्थभाग है। ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध के प्रतिपादक होने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। इन्हीं वाक्यों को 'अर्थवाक्य' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'वायव्य श्वेत मालमेत भूतिकामः' अर्थात् जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे, यह तो विधिवाक्य है; परन्तु इसके अनन्तर उक्त वाक्य के समीप में–'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवेनं भूतिं गमयति' अर्थात् वायु तीव्र गति से चलने वाला है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराता है, यह अर्थवाद वाक्य है। विधि के साथ अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता हो जाने पर विधि को प्रशंसास मिल जाती है और अर्थवाद वाक्यों विधेय अर्थ की स्तुति के द्वारा क्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'वायव्यश्वेतमालमेतभूतिकामः' इस विधिवाक्य ने वायव्य याग में प्रवृत्त करने की प्रेरणा तो दी, परन्तु उक्त विधिवाक्य के पालन में जो प्रमाद और आलस्य सम्भव है उससे वाधित मानव को पुनः प्रेरणा देने के लिए ही वायुर्वेपिष्ठा देवता.....' इस उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा वायु की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य कहीं विधेय क्रिया की साक्षात्, कहीं उससे सम्बन्धित द्रव्य और देवता आदि की प्रशंसा करते हुए, प्रमाण बनते है।

(३) मन्त्र—तत्-तत् कर्मो का अनुष्ठान करते समय उनसे सम्बन्धित क्रियाओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करना मन्त्रों का कार्य हैं। मन्त्रों का उक्त कार्य ही कर्मकाण्ड का विशेष प्रयोजन है। मन्त्र-स्मरण के विना न कर्म के अंगों की स्मृति हो पाती है न उनके क्रम की व्यवस्था की समुचित हो पाती है। विधि के अनुसार भी मन्त्रों द्वारा स्मरण प्रशस्त वतलाया गया है।

वैज्ञानिक आलोचना की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों के तीन भाग किये जा सकते हैं–करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादि मन्त्र और अनुमन्त्रण मन्त्र। करणमन्त्र वे मन्त्र हैं जो कर्म करने के पूर्व उच्चरित किये जाते हैं, जैसे 'इषेत्वा' एवं 'याज्या पुरोनु वाक्या' आदि। क्रियमाणानुवादि मन्त्र वे मन्त्र हैं जहां मन्त्र बोलने के साथ-साथ कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, जैसे 'युवा सुवासा' आदि। 'युवा सुवासा' के उच्चारण के साथ-साथ ही यूप के ऊपर कपड़ा आदि लपेटते जाते है। तीसरे प्रकार के मन्त्र अनुमन्त्रण मन्त्र हैं। ये मन्त्र कर्म करने के पश्चात् उच्चरित किये जाते हैं जैसे 'अग्नेरहं' देव यज्ययाऽन्नादो भूयासम् ।'

इस प्रकार मीमांसक पदार्थ द्वारा मन्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं क्योंकि मन्त्र पदार्थ हैं।

(४) स्मृति—स्मृतियां भी धर्म के प्रति प्रमाण है, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य और पाराशर आदि की स्मृतियां धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण-रूप मानी गई है। सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों के रहस्य-ज्ञाता मन्वादि ने यत्र-तत्र विकर्ण एवं शाखान्तर में गये वाक्यों को स्मृति के आधार पर उद्धृत कर एक जगह ग्रथित कर दिया है। यही स्मृतिग्रन्थ हैं। इस प्रकार वेद-मूलकता के ही कारण उनका प्रामाण्य है, परन्तु स्मृतियों

का स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है।

(५) आचार—धर्म के प्रति आचार की प्रामाणिकता भी विशेष रूप से स्वीकार्य है परन्तु लोकधर्म की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार ग्राह्य हैं।[1] आचार की महत्ता के सम्बन्ध में 'आचारहीनान्न पुनन्ति वेदा' उक्ति तो प्रसिद्ध ही है।

(६) नामधेय—नामधेय द्वारा विधेय अर्थ का अन्य अर्थों से व्यावर्तन हो जाता है, अतएव यह भी धर्म में प्रमाण है। उदाहरण के लिए ज्यातिष्टोम आदि जो यज्ञों के नामधेय हैं। वे उन्हें अन्यों से व्यावृत्त कराते हैं।

(७) वाक्यशेष—वाक्यशेष भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय कराते हुए धर्म में प्रमाण बनता है।

(८) सामर्थ्य—सामर्थ्य के द्वारा भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय होता है।[1] वह भी वाक्य शेष की ही तरह धर्म में प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार उपर्युक्त आठ प्रमाणों के द्वारा धर्म की प्रमाणिकता स्वीकार की गई है।

भावना—'भावना' मीमांसकों का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है। आपदेव ने भावना का लक्षण–'भवितुर्भवनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः'[2] किया है, जिसका अर्थ उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा है। वैदिक वाक्यों के श्रवण के पश्चात् तत्-तत् क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो प्रेरणा होती है उसे ही भावना कहते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट का 'कैटेगारिकल इम्पैरेटिव' मीमांसक की भावना के अधिक समीप है। मीमांसक की भावना के भी दो भेद है : एक शाब्दी भावना और दूसरी आर्थी भावना। उदाहरणार्थ, 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में 'यजेत' इस क्रियारूप में दो अंश हैं : एक यज्धातु तथा दूसरा लिङ्लकार। लिंङ्लकारजन्य भावना शाब्दी भावना है तथा आख्यातजन्य भावना आर्थी भावना है।

मोक्ष—मोक्ष का लक्षण शास्त्रदीपिका में–'प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः'[3] कहकर किया गया है। इस लक्षण के अनुसार आत्मा के प्रपंच-सम्बन्ध के विलय का नाम ही मोक्ष है। उक्त मत भाट्ट मीमांसक का है। प्रभाकर के मत में, 'नियोग सिद्धि ही मोक्ष' है। प्रभाकर के मतानुसार किसी बाह्य फल की कामना किये बिना कर्तव्य-बुद्धि से नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इस प्रकार प्रभाकर भाट्ट मत वालों की तरह प्रपंच-सम्बन्ध-विलय को मुक्ति नहीं मानते। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में स्वयं भाट्टों में ही दो मत हैं। एक मत के अनुसार, मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[4] यह मत कुमारिलभट्ट का है। उक्त मत के विपरीत, पार्थसारथि के मतानुसार, मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है।[5] गुरु-मत में मुक्ति का

---

१. मण्डनमिश्र–मीमांसादर्शन, पृ० ४२३ (जयपुर, १९५५)।

२. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २।

३. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७।

४. दुःखात्यन्तसमुच्छेदेसति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।। नामेयोदेय, पृ० २१२।

५. दोनों मतों के लिए देखिए, वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४।

स्वरूप भाट्टों के उक्त दोनों मतों से भिन्न है। गुरु-मत के अनुसार तो आत्मज्ञानपूर्वकदृष्टि से किये गए वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर देह तथा इन्द्रियादि सम्बन्ध का जो आत्यन्तिक विच्छेद होता है, वही मोक्ष है।[1]

अद्वैत वेदान्त और मीमांसादर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

यदि भारतीय षड् दर्शन-पद्धतियों के सम्बन्ध में युगल कल्पना की जाए तो दार्शनिक समानताओं एवं पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर तीन युगल बनते हैं : एक न्याय और वैशेषिक का, दूसरा सांख्य और योग का और तीसरा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का। वास्तव में, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में वड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि आरम्भ में ही मीमांसादर्शन की चर्चा करते समय कहा जा चुका है, पूर्वमीमांसा वैदिक दर्शन का पूर्व पक्ष है और उत्तरमीमांसा, अर्थात् वेदान्त उत्तर पक्ष या सिद्धान्त पक्ष[2]। पूर्वमीमांसा का उद्देश्य यदि धर्म और कर्म के महत्व की स्थापना है तो उत्तरमीमांसा का उद्देश्य कर्म और ज्ञान का सामंजस्य है। मीमांसक के धर्म में कर्म और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना है; परन्तु वेदान्त में ज्ञान और कर्म के भेद को ही मिटाने का प्रयत्न है। इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः कर्म का ही रूप है।[3] पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध में दोनों दर्शन-पद्धतियों के अनुसार विचार करना उपयुक्त होगा।

आत्मा—स्वयं मीमांसा में ही आत्मा के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल की दो भिन्न दृष्टियां हैं। भाट्ट मीमांसक के मतानुसार, आत्मा की सक्रियता को स्वीकार किया गया है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार कर्म के दो भेद है : स्पन्द तथा परिणाम। आत्मा में स्पन्द न होकर परिणाम होता है।[4] कुमारिल के मत में परिणामी के नित्य होने के कारण आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य है। भाट्ट मीमांसक का आत्मा चिदचिद्विशिष्ट है। सुख, दुःख, इच्छा तथा प्रयत्नादि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं।[5] भाट्ट मीमांसक के अनुसार, आत्मा में जडत्त्व तथा चैतन्य दोनों हैं। शरीर तथा विषय संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य-उदय देखा जाता है तथा स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। यही आत्मा की जडावस्था है। यहां मीमांसक कुमारिल और वेदान्त मत का अन्तर

---

१. वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४।

२. For the line of thought commenced by the Mimansa is complete by Vedanta, which constitutes the last word on the problem of the soul with reference to both knowledge and action. (N.V. Thadani, MIMANSA, Introduction, p. CXI,)

३. N.V. Thadani, MIMANSA, XLIX

४. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ।। श्लो० वा०, पृ० ७०७।

५. चिदंशेन द्रष्ट्रत्वं सोऽमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वत्। स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्यः। (कश्मीरक सदानन्दः 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि')

द्रष्टव्य है। वेदान्त का आत्मा चैतन्यस्वरूप है, परन्तु मीमांसक कुमारिल के अनुसार, आत्मा चैतन्य विशिष्ट है।

प्रभाकर का आत्मा-सम्बन्धी मत कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल की तरह प्रभाकर आत्मों में क्रियावत्ता को नहीं स्वीकार करते। कुमारिल के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, तथा उनके मत में आत्मा ज्ञान का कर्त्ता एवं विषय दोनों है; परन्तु प्रभाकर के मतानुसार, आत्मा को 'अहंप्रत्यय-वेद्य' कहा गया है। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसक के अनुसार आत्मा की सत्ता प्रत्येक ज्ञान के कर्ता रूप में मानी गई है।[1] इस प्रकार मीमांसक के अनुसार, आत्मा के कर्तृत्व के आधार पर उसमें अहंकार की कल्पना भी की गई है। इसके विपरीत वेदान्तिक दृष्टि से आत्मा में कर्तृव्य ज्ञातृत्व दोनों का समन्वय है।[2] इस विवेचन से सुस्पष्ट है कि मीमांसा और वेदान्तिक सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

ईश्वर—जैसा कि कहा जा चुका है, आपदेव तथा लौगाक्षिभास्करादि मीमांसकों ने ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है। लौगाक्षिभास्कर का कथन है कि ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया गया कर्म निःश्रेयस का हेतु होता है।[3] कर्मों के सम्बन्ध में ईश्वरार्पण-बुद्धि की यह बात वेदान्त के समान ही है।[4] जहां तक प्राचीन मीमांसा का प्रश्न है, जैमिनि के अनुसार धर्म से ही विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है, ईश्वर के द्वारा नहीं।[5] इसके विपरीत ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के अनुसार ईश्वर कर्म-फल का दाता है।[6] यद्यपि उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त भेद है, परन्तु यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि मीमांसा में जिस बहुदेववाद की स्थापना की गई है, उसी से वेदान्तियों के ब्रह्म अथवा ईश्वर का विकास हुआ है।[7] यों तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

मोक्ष—भाट्ट एवं प्रभाकर मीमांसक के मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार प्रपंच-संबंध के विलय का नाम मोक्ष है।[8] वेदान्तिक दृष्टि से भी जब जीव का मोक्ष होता है तो उसका प्रपंच के साथ सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रपंच तो मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त विचारधारा के अनुसार समस्त प्रपंच की जननी अविद्या है। ब्रह्म-ज्ञानं होने पर

---

१. मानमेयोदय, पृ० १६२-१६४।

२. It is only when we come to Vedanta that the Mimansa idea of the gods, and the Sankhya idea of Prakriti as a good and intellegent power, are expanded into that of Brahma or God. (N.V. Thadani, MIMANSA, Introduction, p. LIX)

३. ईश्वरार्पणबुद्ध्यां क्रियमाणस्तु निःश्रेयस्हेतुः। –अर्थसंग्रह, पृ० १६६।

४. शांकरभाष्य, गीता, ६।२८।

५. धर्मं जैमिनिरतएव। –ब्रह्मसूत्र, ३।२।४०।

६. ब्रह्मसूत्र, ३।२।३८।

७.

८. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७।

अविद्या-निवृत्ति हो जाती है तो प्रपंच-बुद्धि भी नहीं रहती। अद्वैत वेदान्त की उक्त विचारधारा हमें पूर्वमीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में भी मिलती है। शास्त्रदीपिका में कहा गया है कि अविद्या-निर्मित प्रपंच स्वप्न-प्रपंच के समान है और जिस प्रकार जागने पर स्वप्न-प्रपंच नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या निवृत्ति होने पर प्रपंच का भी स्वयं विलय हो जाता है।[1] इस प्रकार भाट्ट मत और अद्वैत वेदान्त मत के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। निश्चय ही, प्रभाकर मीमांसक के अुनसार, 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः' के आधार पर जिस मोक्ष की कल्पना की गई है, वह अद्वैत वेदान्ती की मुक्ति से पर्याप्त भिन्न है। प्रभाकर के उक्त कथन के अनुसार कर्त्तव्य-बुद्धि से किये गए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इसके विपरीत 'नहि ज्ञानादृते मुक्तिः' के अनुसार अद्वैत वेदान्त में विना ज्ञान के मुक्ति की कल्पना नहीं की गई है। अद्वैत वेदान्त में तो नित्य-कर्म आदि कर्मपरम्परया कारण है, न कि साक्षत्। अतः प्रभाकर मीमांसक और अद्वैत वेदान्तसम्मत मोक्ष सम्बन्धी धारणाएं भिन्न-भिन्न हैं।

मुक्ति के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त में मुक्ति की अवस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[2] वैसे तो मन द्वारा भोग्य सुख तथा ब्रह्मानन्द में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु दुःखभाव दोनों में ही है।

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों में पहला यदि पूर्वपक्ष है तो दूसरा उत्तरपक्ष।

समालोचना

ऊपर हमने अद्वैत वेदान्त के मूल्यांकन के दृष्टिकोण से उसका अन्य न्याय आदि दर्शन पद्धतियों के साथ सम्बन्ध एवं प्रभाव देखने का प्रयत्न किया है। यों तो षड्दर्शन के अन्तर्गत प्रत्येक दर्शन-पद्धति का एक-दूसरी से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनमें भी कुछ-एक का विशेष सम्बन्ध है–जैसे न्याय और वैशेषिक का, सांख्य और योग का और पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का। उत्तरमीमांसा का वेदान्त का तो उपर्युक्त पांचों दर्शनों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहां यह कथन अनुचित न होगा कि न्याय आदि समस्त दर्शनों का पर्यवसान वेदान्त में जाकर होता है। जैसा कि अद्वैत वेदान्त तथा अन्य पंच दर्शन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय देखा जा चुका है, अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में अन्य दर्शन-पद्धतियों पर प्रभाव की रेखाएं भी मिलती है। इसका कारण यही है कि भारतीय दर्शन-पद्धतियों के विकास का मूल उपनिषद् ग्रन्थ हैं।[3] और इन उपनिषद्-ग्रन्थों का समन्वयभूत सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त है।[4] अतः औपनिषद् अद्वैत वेदान्त से, पर परवर्ती न्याय-आदि

---

१. अविद्यानिमित्तो हि प्रपंचः स्वप्नप्रपंचवत् प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्या अविद्याविलीनायां स्वयमेव विलीयते। –शास्त्रदीपिका, पृ० ३५६।

२. मानमेयोदय, पृष्ठ २१२।

३. *Ranade*: CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 178-179. (Oriental Book Agency, Poona)

४. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्। –वेदान्तसार, पृ० (चौखम्बा संस्करण)

दर्शन-पद्धतियों का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। परवर्ती शांकर वेदान्त तो औपनिषद दर्शन के ही व्यवस्थित एवं सैद्धान्ति अध्ययन का एक विस्तृत रूप है।

अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन

यह कहना सन्देहास्पद न होगा कि भारतीय दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव यूनानी दर्शन पर भी पड़ा है। भारत आये यूनानी, जितने भारतीय दर्शन-पद्धति से प्रभावित हुए, उतने और किसी शास्त्र या अन्य व्यापार से नहीं। उक्त विचार की ओर संकेत करते हुए विद्वान् मैक्समूलर ने लिखा है–

Nothing struck the Greeks so much as the philosophical spirit which seemed to pervade that mysterious country.[1]

अर्थात् , यूनानियों को जितना अधिक भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति ने प्रभावित किया, उतना किसी अन्य से नहीं। यह प्रवृत्ति रहस्यमय देश को व्याप्त किये हुए प्रतीत होती थी।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी, जो० इ० पू० तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष आया था, इस देश की आध्यात्मिकता का वड़े विस्तार से वर्णन किया है। उसने भारतवर्ष के उन आध्यात्मिक मनुष्यों का भी वर्णन किया है जो पर्वतों, मैदानों और कुंजों में निवास करते थे।[2]

भारतवर्ष की प्राचीन दार्शनिक प्रवृत्ति की प्राण प्रतिष्ठा उपनिषदों में मिलती है और उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वैत वेदान्त है। यहां यह कथन अनुपयुक्त न होगा कि औपनिषद वेदान्त का यूनानी दर्शन पर भी पर्याप्त ऋण है। इस ऋण का उल्लेख एडवर्ड ज़ेलर ने निम्नलिखित पंक्तियों के अन्तर्गत किया है–

The idea of salvation, of the liberation of the God-like soul from the shackles of the earthly body doubtless originated in India, where it makes its appearance in the so called Upanishads,......it was Thrace which formed the bridge over which this oriental doctrine of deliverence crossed into Greece.

(*Edvard Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 16.)

ज़ेलर महोदय की उपर्युक्त पंक्तियों का यही अभिप्राय है कि भौतिक शरीर के बन्धनों से ईश्वर-सदृश आत्मा की मुक्ति का विचार निःसंदेह भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ था। इस सम्बन्ध में थ्रेस[3] ने सेतु का कार्य किया था, क्योंकि इस नगर के माध्यम से ही मुक्ति का यह प्राचीन सिद्धान्त ग्रीक पहंचा था।

ऊपर दिए गए उदाहरणों के आधार पर यह विदित होता है कि विद्वानों ने यूनानी दर्शन पर

---

१. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 25.

२. *J.W. Mccrindle* : ANCIENT INDIA (1877), p. 97.

३. थ्रेस (Thrace) औरफियस (Orpheus) के जन्म-देश का नाम है। औरफियस के द्वारा ही ग्रीक में मुक्ति के सिद्धान्त का प्रचार हुआ था।

भारतीय दर्शन के प्रभाव को निःसंकोच स्वीकार किया है। अव इस स्थल पर यह देखने का प्रयास है कि किन किन यूनानी दार्शनिको की दर्शन-पद्धतियों पर किस प्रकार भारततीय अद्वैत वेदान्त का प्रभाव पड़ा है।

एलिया के दार्शनिक और अद्वैत वेदान्त

प्राचीन यूनानी दर्शन का उदय-क्षेत्र एलिया है। एलिया दक्षिण इटली में स्थित है। यह एक छोटा-सा नगर है। दार्शनिक परमेनिद् और ज़ेनो इसी नगर के नागरिक थे। इस युग का एक तीसरा दार्शनिक और था और वह था क्सेनोफेन। क्सेनोफेन तो कदाचित् ही एलिया गया हो, परन्तु वह एलियातिक सम्प्रदाय का जन्मदाता अवश्य था। क्सेनोफेन, परमेनिद तथा ज़ेनो ने दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखे थे। क्सेनोफेन की विचारधारा के स्रोत तो वे शोक-गीत तथा व्यंग्य-लेख हैं जो उसने होमर तथा हिसियड के विरोध में लिखे थे। इसके अतिरिक्त उसने कुछ षट्पदी भी लिखी हैं। परन्तु उसके द्वारा लिखी गयी कोई दार्शनिक कविता नहीं उपलब्ध होती है। जहां परमेनिद् का प्रश्न है, उसका भी दर्शन के सम्वन्ध में कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। परमेनिद् की कुछ विखरी हुई दार्शनिक कविताएं मिलती हैं, जिनकी सम्यक् व्यवस्था डील्स ने की है। ज़ेनो ने एक गद्यलेख के अन्तर्गत अपनी दार्शनिक विचारधारा को प्रकट किया था। यहां इन तीनों दार्शनिकों की विचारधारा का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा।

क्सेनोफेन (५७६-४८० ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत नानात्व रूप-प्रपंच का खण्डन करके एक अद्वैत सत्य की प्रतिष्ठा की गई है। कठोपनिषद् (२।१।११) में प्रपंच-नानात्व का मिथ्यात्व सिद्ध करते हुए लिखा है–

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।

अर्थात, जगत् का नानात्व कल्पित है, यर्थाथ नहीं। जो जगत् का नानात्व रूप से दर्शन करते है वे कभी मृत्यु के बन्धन से छुटकारा नहीं पाते। इस प्रकार कठोपनिषद् की उक्त विचारधारा के आधार पर वेदान्त के 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। लगभग यही विचारधारा क्सेनोफेन की भी प्रतीत होती है। वह भी एकेश्वरवाद का समर्थ है, परन्तु एकेश्वरवाद का समर्थ होते हुए भी वह ईश्वर की सत्ता जगत् से पृथक् नहीं मानता। उसके विचार का विश्लेषण करते हुए विद्वान् स्टेस (Stace) लिखते हैं :

"Therefore God is to be conceived as one...The world is God, a sentient being, though without organs of sense."[1]

उपर्युक्त पक्तियों के अनुसार, क्सेनोफेन द्वारा कल्पित ईश्वर सूक्ष्म, चेतन तथा सत्रूप है। अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म भी सत्, चित् एवं आनन्दरूप है। इस प्रकार सत् और चित् की कल्पना

---

१. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.

अद्वैतवेदान्त के ही समान है। रही आनन्द-रूप की बात, तो दार्शनिक धारा के इस उद्गमकाल में क्सेनोफ़ेन जैसे शिशु दार्शनिक की दृष्टि में साधनसाध्य आनन्द का रूप आ ही कैसे सकता था। अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के सर्वज्ञत्व की विशेषता प्रसिद्ध है। दार्शनिक क्सेनोफेन भी ईश्वर की सर्वज्ञता के पक्ष में था। क्सेनोफेन की अधोलिखित पंक्ति में भी यही सर्वज्ञत्व का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है–

"He sees all over, thinks all over and hears all over.'[1]

वह वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर की तरह ईश्वर को नियन्ता के रूप में भी स्वीकार करता था। समालोचक स्टेस महोदय की निम्नलिखित पंक्ति का भी यही आशय है :

"He is all eye, all ear, all thought. It is he `who' without trouble, by his thought governs all hings.[2]

विचारक क्सेनोफेन ने जिस नियन्ता ईश्वर की कल्पना की थी, वह 'जागतिक नियंताओं की तरह वाह्य रूप से सत् नहीं था।[3] क्सेनोफेन की उक्त विचारदृष्टि दूसरे शब्दों में अद्वैत वेदान्त के सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के समान ही प्रतीत होती है। ईश्वर के इस अन्तर्यामित्व का उल्लेख करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है–

"ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"[4]

इसके अतिरिक्त क्सेनोफ़ेन की ईश्वर के सम्बन्ध में अनादित्व एवं अपरिवर्तनत्व की कल्पना[5] भी अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के समान ही थी।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण

यद्यपि ऊपर की गई आलोचनात्मक विवेचना से यह सर्वतः सिद्ध है कि क्सेनोफेन एकेश्वरवादी था, परन्तु विद्वानों में उसकी इस विचारधारा के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं।

फ्रूडेन्थल का मत—फ्रूडेन्थल का कथन है कि क्सेनोफेन एक प्रकार से बहुदेववादी ही था।[6]

(२) विलमोवित्ज (Wilamovitz) का मत–विलमोवित्ज का विचार तो यह है कि सर्वप्रथम क्नोफ़ेन ने ही वास्तविक अद्वैतवाद के दर्शन किये थे[7]।

प्रो० बर्नेट ने फ्रूडेन्थल के पूर्वोक्त मत का खण्डन और विलमोवित्ज के उक्त मत का समर्थन

---

१. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 119.

२. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.

३. But it would be a mistake to suppose that Xenophenes thought of this God as being external to the world, governing it from the out side, as a general governs his solders. (*Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.)

४. गीता, १८।६१।

५. This all one was at the same time the Deity, without beginning and without end, always similar to itself and hence unchangeable. (OUTLINE OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42)

६. *Freudenthal* : DIE THEOLOGIEDES XENOPHENES (Braslau, 1886)

७. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 129.

करते हुए निम्नलिखित पंक्तियां लिखीं हैं–

I cannot help thinking that Freudenthal was more nearly right than Wilamovitz, who says that Xenophenes upheld the only real monotheism that has ever existed upon earth."[१]

(३) डील्स का मत—विद्वान डील्स क्सेनोफेन की विचारधारा को कुछ-कुछ सीमित एकेश्वरवाद का रूप देते हैं।[१]

मेरे विचार से फ्रूडेन्थल का क्सेनोफेन को वहुदेववादी कहना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसने होमर और हिसियड के बहुदेववाद का खण्डन करके ही एकेश्वरवाद की स्थापना की थी। क्सेनोफेन ने अपने शोक-गीतों में देवताओं की चर्चा की है वह विरोधी मत वाले होमर तथा हिसियड के वहुदेववाद के सम्वन्ध में ही है। अतः फ्रूडेन्थल का क्सेनोफेन को वहुदेववादी कहना उचित नहीं है। साथ ही डील्स का क्सेनोफेन को सीमित एकेश्वरवाद का समर्थ कहना भी समुचित नहीं है। यदि विचार कर देखा जाए तो वह एकेश्वरवादी तथा ब्रह्मदैतवादी दोनों ही था। जब वह यह कहता है कि 'सब एक में है' तो वह एकेश्वरवादी है; और जब यह कहता है कि ईश्वर एक है, तब वह ब्रह्मादैतवादी है।२ उसके मत के सम्वन्ध में राहुल जी का निम्नलिखित मत उचित प्रतीत होता है :

"अर्थात, वह रामानुज से भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों में
ईश्वर और जगत् की अभिन्नता को मानता था, साथ
ही शंकर की भांति प्रकृति से इन्कार नहीं करता था।"[३]

परमेनिद् (५१४ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

एलिया के प्रसिद्ध दार्शनिकों में दूसरा स्थान परमेनिद् का था। दार्शनिक दृष्टि से परमेनिद् का महत्व अत्यधिक है। प्रोफेसर ए० एच० आर्मस्ट्रांग का विचार है कि परमेनिद् यूनान का ऐसा पहला दार्शनिक है जिसने तर्क का आश्रय लिया है।[४] विद्वान् स्टेस तो परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा को प्लेटो के दार्शनिक विचार-प्रासाद की आधारभूमि मानते हैं।[५]

परमेनिद् के सम्बन्ध में यह कथन सत्य ही होगा कि यह यूनानी दर्शन का ऐसा ज्वलन्त नक्षत्र है जिसने दर्शन के क्षेत्र में एक नई ज्योति एवं अनेव भावी महान् दार्शनिकों को जन्म दिया है। अब यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि अद्वैत वेदान्त की विचारधारा और परमेनिद् की विचारधारा में कैसी सम्बद्धता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सदसद् वाद की विचारधारा बड़ी प्राचीन है। वैदिक साहित्य में

---

१. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 129.
२. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७।
३. वही, पृ० ७।
४. AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p. 12. (Methuen & Co., Roudon, 1957)
५. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 52.
६. ऋग्वेद संहिता, १०।१२६।१, १०।१२६।४; छा० उ०, ६।२।१; शतपथब्राह्मण, १०।५।३।१; तै० उ०, २।७।१; बृ० उ०, २।१।२०।

सदसद्वाद में सम्बन्ध में बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।[१] अद्वैत वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लिए सत् और जगत् के लिए असत् शब्द का प्रयोग होता है। यहां यह और कह देना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के असत् से शशश्रृंगवत् अथवा आकाशकुसुमवत् असत्य से तात्पर्य कदापि नहीं है। यह पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् है, न कि व्यावहारिक दृष्टि से। उक्त दृष्टिकोण के मूल स्वरूप ही छान्दोग्योपनिषद् में सत् को सृष्टि का मूल कारण एवं अद्वैतरूप कहा गया है।[१] अद्वैतवेदान्त के उक्त परमतत्त्व सत् के अनुसार ही परमेनिद् भी परम तत्त्व को सत् तथा इस परिवर्तनशील एवं इन्द्रियज्ञेय जगत् को असत् मानता है। परमेनिद् की दृष्टि में अद्वैतवेदान्त के समान ही यह दृश्य जगत् मिथ्या है। जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से सत्य न मानकर मिथ्या एवं उसकी दृश्य सत्ता-मात्र को स्वीकार करता है। स्टेस महोदय के निम्न कथन में यही आशय स्पष्ट है–

"The world of sense is unreal, illusonary, a more appearance".[२]

उपर्युक्त सिद्धान्त के समान ही अद्वैती शंकर ने भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता को ही स्वीकार किया है।[३]

परमेनिद् की मान्यता है कि परम सत् अनादि तथा अनन्त है; न इसका उत्थान है और गमन। परम सत् के अनादित्व एवं अनन्तत्व पर प्रकाश डालते हुए परमेनिद् का कथन है कि सत् की उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती, और न ही अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है।[४] इस प्रकार सत् का कारण न असत् हो सकता है और न अभाव। अतः परम सत् अद्वैतवादी के ब्रह्म की तरह अनादि एवं अनन्त है। इस अद्वैत सत् तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए परमेनिद् ने लिखा है :

"....for it is complete, immovable, and without end. Nor was it ever, nor will it be, for now it is all atonce, a continuous one."[५]

परमेनिद् की उपर्युक्त पंक्तियों का आशय है कि सत् पूर्ण, अचल तथा अन्त रहित है। न ऐसा है कि वह कभी था और न ऐसा है कि वह कभी होगा। क्योंकि यह तो पूर्ण रूप से सत् है। यही सातत्यमय अद्वैत तत्त्व है।

परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा शून्यवादी से दूर है। वह शून्यवादी की तरह परम तत्त्व को शून्यरूप न मानकर ब्रह्म की तरह उसकी सत्ता को स्वीकार करता है। स्टेस महोदय ने निम्नलिखित पंक्ति में यही भाव व्यक्त किया है–

"It simply is , Its only quality is, So to speak, `isness'."[६]

---

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, छां० उ० ६।२।
२. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 44.
३. ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।१४।
४. Being cannot come out of not being, nor something out of nothing. (A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY)
५. *Parmenids* : THE WAY OF TRUTH (8)] (quoted p. 44), from Burnet's EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 174)
६. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 45.

आलोचना

दार्शनिक परमेनिद् की विचारधारा के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस पर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है; परन्तु फिर भी कुछ दार्शनिक आलोचक विद्वानों की दृष्टि में वह ठेठ वस्तुवादी है। इन आलोचकों में प्रोफेसर बर्नेट अग्रगण्य है। प्रोफेसर बर्नेट परमेनिद् की विचारधारा में कल्पनावाद का दर्शन करने वाले विचारकों का खण्डन करते हुए लिखते है–

"Parmanides is not, as some have said, the father of idealism. On the contrary, all materialism depends upon his view of reality."[1]

अर्थात्, "जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है परमेनिद् कल्पनावाद या अद्वैतवाद का जनक नहीं है, इसके विपरीत सारा वस्तुवाद उसके सत्ता-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है।"

जब हम प्रो० बर्नेट के उक्त मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि परमेनिद् ने तो स्वयं ही कल्पनावाद तथा वस्तुवाद का भेद स्थापित कर दिया था। यद्यपि यहां यह कहना भी उपयुक्त होगा कि परमेनिद स्वयं मैटर (वस्तु) और आइडिया (कल्पना) के भेद से अवगत नहीं था; इसका यही कारण था कि यह भेद-व्यवस्था उसके उत्तरकाल में आकर निश्चित हुई थी। वस्तुवाद के सिद्धान्त के अनुसार, जिस वस्तु का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है वही सत्य है। इसके विपरीत, परमेनिद् सत्य को चिन्तन का विषय मानता है।[2] अतः परमेनिद् वस्तुवादी कैसे हो सकता है? उपर्युक्त कथन के अनुसार वस्तुवादी की दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है, वही वस्तु सत्य मानी जा सकती है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो; परन्तु परमेनिद् तो सत्य को तर्क-सिद्ध मानता था, न कि इन्द्रिय-ज्ञान सिद्ध।

परमेनिद् इन्द्रिय प्रत्यक्ष-योग बाह्य जगत् को मिथ्या मानता है तथा उसकी दृष्यमात्र सत्ता को स्वीकार करता है।[3]

इस प्रकार परमेनिद् ने स्थूल और सूक्ष्म का भेद स्वतः स्वीकार किया है। अतः प्रो० बर्नेट का परमेनिद् को वस्तुवाद (Materalism) का प्रतिपादक कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

परमेनिद् की विचारधारा के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से तो ऐसा पता चलता है कि वह अद्वैतवाद (Idealism) तथा वस्तुवाद (Materialism) दोनों का ही जन्मदाता था। इसी के फलस्वरूप उसके परवर्ती अनक्सागोर, एम्पेदोकल तथा देमोक्रितु ने द्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया था। परमेनिद् की विचारधारा के कल्पनावाद (Idealism) तथा वस्तुवाद (Materialism) के प्रतिपाद होने का प्रमुख कारण उसके सिद्धान्त का लचीलापन था। जैसा कि कहा जा चुका है, सत्य के बारे में परमेनिद् का विचार था कि सत् की उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती, तथा उस सत् (being) का न उत्थान होता है और न गमन। एतदनुसार ही वह सत् का न आदि मानता था और न अन्त। यदि

---

१. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, Ch IV, p. 82.

२. The thing that can be thought and that for the sake of which the thought exists is the same. (*Paramenides* : THE WAY OF TRUTH (8). (quoted from Burnet's EARLY GREEK PHILOSOPHY, P. 176)

३. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 49.

विचार कर देखा जाए तो परमेनिद् का उक्त सिद्धान्त आधुनिक वस्तुवाद या भौतिकवाद का भी समर्थक प्रतीत होता है। आधुनिक भौतिकवादी भी भौतिक पदार्थों की अविनाशिता में विश्वास करता है। उसकी दृष्टि में भी भौतिक पदार्थों का न आदि है और न अन्त। जहां तक वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विनाश का प्रश्न है, आधुनिक भौतिकवादी इन्हें पदार्थों के लेशों के एकत्रीकरण एवं पार्थक्य का फल मानता है। उक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर परमेनिद् वस्तुवादी प्रतीत होता है। परन्तु इस लेखक का विचार तो यह है कि परमेनिद् वस्तुवादी न होकर अद्वैतवादी ही था। परमेनिद् का सत् और असत् का साथ-साथ विवेचन करना अद्वैतवाद का ही समर्थक है। वह परम तत्त्व को सत् मानता है और जगत् को असत्।[१] यह 'उसी प्रकार है जिस प्रकार की शंकराचार्य का 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'।[२]

ज़ेनो (४८६ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यूनानी दार्शनिकों मे तीसरा अद्वैतवादी दार्शनिक ज़ेनो था। ज़ेनो परमेनिद् का प्रिय शिष्य था। अरस्तु ने ज़ेनो को द्वन्द्ववाद का जन्मदाता कहा है।[३] यदि देखा जाये तो परमेनिद ने जिस एक सत्य का प्रतिपादन किया था, उसी का आगे चलकर ज़ेनो ने मण्डन किया था। परमेनिद् ने यदि सत्य के एकत्व का समर्थन किया था तो ज़ेनो ने अनेकत्व का खण्डन। परमेनिद् ने यदि सत्य को अचल एवं अपरिवर्तनीय कहा था तो ज़ेनो ने गति को असत्य। इस प्रकार ज़ेनो अप्रत्यक्ष रूप से परमेनिद् का ही समर्थक था। दार्शनिक ज़ेनो ने अद्वैत सत्य की रक्षा के लिए विशेष रूप से दो तर्कों का आश्रय लिया था। ये दो तर्क थे : अनेकतावाद और गतिवाद का खण्डन।[४] परन्तु ज़ेनो का न अनेकत्व के खण्डन से तात्पर्य था कि संसार में दृश्यमान वस्तुओं के अनेक रूपों की सत्ता नहीं है और न वस्तुओं की गति के खण्डन से यह अभिप्रायं था कि उनमें दिखाई पड़ने वाली गति का अभाव है। ज़ेनो का तो अनेकत्व और गति के खण्डन से यही आशय था कि यह अनेकता एवं गति-सम्पन्न जगत् वास्तविक सत्य नहीं है। इस विचार की पुष्टि में ज़ेनो का कथन था कि अनेकता और गति सत्य नहीं है। यही बात स्टेस महोदय ने ज़ेनो के सम्बन्ध में कही है–

ज़ेनो की उक्त विचारधारा का यदि अद्वैत सिद्धान्तों के साथ साम्य देखने की चेष्टा की जाये तो ज्ञात होगा कि सत्य में जिस अनेकत्व और गतित्व का खण्डन ज़ेनो ने किया था उसका निरसन उपनिषद्-दर्शन में पहले से ही किया जा चुका था। जहां तक ज़ेनो के द्वारा किये गए अनेकत्व के खण्डन का प्रश्न है, कठोपनिषद में प्रपंचमूलक नानात्व का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है–

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।

---

१. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 404.
२. विवेकचूडामणि, २०।
३. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 52.
४. वही।
५. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 60.
६. कठोपनिषद्,-२।१।११।

मृत्योः समृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।"[६]

अर्थात्, जो इस जगत् में नानात्व देखता है वह मरण-बन्धन से छुटकारा नहीं पाता। परन्तु केवल ज्ञानी के लिए ही यह नानात्व का भेद नहीं रहता। उपनिषद् परवर्ती वेदान्त में तो अनेकत्वमय प्रपंच का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त ज़ेनो ने सत्य में गति का खण्डन किया था, वह भी उनिषद्दर्शन में पहले से वर्तमान था। कठोपनिषद् में अद्वैत सत्य को अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्,अनादि, अनन्त, महान् से भी पर तथा ध्रुव कहा है।[१] सत्य के 'ध्रुव' विशेषण से गति का खण्डन स्वतः सिद्ध है। उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त ज़ेनो अद्वैत वेदान्त के विवर्तवाद का भी समर्थक प्रतीत होता है। विवर्तवाद के अनुसार सत्य के ही अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं परन्तु वास्तव में सत्य एक ही है, उसमें अनेकरूपता तो देखने-मात्र की ही है। अनेकता सत्यता का तात्त्विक परिवर्तन न होकर विवर्त मात्र है।[२] इसी प्रकार ज़ेनो का भी यही सिद्धान्त है कि जगत् के जो विषय हैं वे केवल सत्य के ही प्रदर्शन मात्र हैं। स्टेस महोदय के निम्नलिखित कथन में उक्त विचार द्रष्टव्य हैं–

"They are, therefore, more appearances of that other, which is the reality."[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि क्सेनोफेन और परमेनिद् की तरह ज़ेनो पर भी अद्वैत दर्शन का प्रभाव मिलता है। यहां यह कहना और अपेक्षित होगा कि दार्शनिकता की दृष्टि से ज़ेनो का महत्व क्सेनोफेन और परमेनिद् से भी अधिक है।

अब यहां यूनान के दो प्रसिद्ध दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तु, के दार्शनिक विचारों का अध्ययन अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया जायेगा।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यदि देखा जाये तो प्लेटो एक समन्वयवादी दार्शनिक था। वह जहां यथार्थवादी सुकरात के इस कथन से सहमत था कि प्रयत्न द्वारा तत्त्व-ज्ञान सम्भव है, वहां हेराक्लितु के इस मत का भी विरोधी नहीं था कि साधरणतया जिन भौतिक पदार्थो का साक्षात्कार होता है वे परिवर्तन के पुतले परमार्थ सत्य का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। यह एलयातियों की तरह जगत् को परिवर्तनशील मानता था और परमाणुवादियों की तरह अनेक विज्ञानों की मान्यता के द्वारा बहुत्ववाद का भी समर्थन करता था। उसका विज्ञान (idea) पिथागोर की 'आकृति' से भी मिलता-जुलता था। प्लेटो की विचारधारा के अनुसार विज्ञान की सत्यता स्वीकार की गयी है। उसके मतानुसार विज्ञान (आइडियाज़) अनेक है; संसार में जितने विषय दृष्टिगोचर होते हैं, उतने विचारों को प्लेटो मस्तिष्क में सत्य मानता है। इसके अतिरिक्त, यदि मस्तिष्क में कोई ऐसा विचार है जो बाह्य जगत् में अप्राप्य है तो वह विचार प्लेटो की दृष्टि में मिथ्या है। उदाहरण के लिए, गाय, अश्व और मनुष्य आदि का मस्तिष्क-स्थित विचार सत्य है क्योंकि ये जगत् में दिखाई पड़ते हैं। यहां यह भी विचारयोग्य है कि अश्व आदि का विज्ञान (आइडिया) ही सत्य

---

१. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं.....। –कठ० उ०, १।३।१५।

२. अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः –वेदान्तसार, पृ० ६६ (चौ० सं०)

३. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 61.

है, न कि उनकी भौतिक सत्ता। प्लेटो विज्ञान को नैयायिक के सामान्य के रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि अश्व के विज्ञान से उसका तात्पर्य अश्वत्व जाति से है। प्लेटो के 'विज्ञान' की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

१. विज्ञान (ideas) सारभूत तत्त्व हैं।
२. विज्ञान (ideas) व्यापक है।
३. विज्ञान (ideas) वस्तुएं नहीं, विचार हैं।
४. विज्ञान (ideas) में एकत्व है।
५. विज्ञान (ideas) अचल तथा अविनाशी है।
६. विज्ञान (ideas) समस्त भौतिक वस्तुओं के सार हैं।
७. विज्ञान (ideas) अपने स्वरूप में पूर्ण सत्य हैं।
८. विज्ञान (ideas) देश तथा काल से परे हैं।
९. विज्ञान (ideas) तर्कपतिपाद्य हैं।

ऊपर विज्ञान के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि प्लेटो अनेक विज्ञान स्वीकार करता था परन्तु उसने एक सर्वोच्च विज्ञान को भी स्वीकार किया था। इस सर्वोच्च विज्ञान को प्लेटो ने शिव-रूप[1] माना है। यदि प्लेटो के उक्त सर्वोच्च विज्ञान की तुलना औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत विवेचित ब्रह्म या आत्मा से की जाये तो दोनों में पर्याप्त साम्य मिलेगा। जिस प्रकार कि प्लेटो का सर्वोच्च विज्ञान विशेष ज्ञान का स्वरूप है उसी प्रकार उपनिषद-प्रतिपाद्य अद्वैत तत्व आत्मा को भी माण्डक्योपनिषद् में 'विज्ञेयः' अर्थात् विशेष रूप से ज्ञेय कहा गया है।[2] प्लेटो ने अपने 'सर्वोच्च विज्ञान' के साथ जो 'शिव' विशेषण जोड़ा है, उसकी चर्चा भी माण्डूक्योपनिषद में पहले से मिलती है। माण्डूक्योपनिषद् ने अद्वैत सत्य को 'शिवमद्वैत' कहकर शिवरूप माना है।[3] इतना ही नहीं, प्लेटो ने जिस प्रकार 'सर्वोच्च विज्ञान' की उपमा सूर्य से दी है[4] उसी प्रकार कठोपनिषद् में भी आत्मा का वर्णन सूर्य रूप में किया गया है।[5] प्लेटो उक्त सर्वोच्च विज्ञान को ही अभेद्य सत्य मानता है और उसी को वह समस्त जागतिक सत्ता का आधार मानता है।[6] अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त

---

१. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 133-134.
२. माण्डूक्योपनिषद् ७।
३. वही, ७।
४. In the Republic (VI, 504, Eff; VII 517 Bff), it was compared to the sun as the ultimate source of all being and knowledge and at the same time the final goal of the world. (*Zeller* : OUTLINES OF HISTORY OF THE GREEK PHILOSOPHY, p. 134.)
५. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै वह्यिदोषैः। –कठ० उ०, २।२।११।
६. This idea will be the one final and absolutely real Being which is the ultimate ground of itself, of the other Ideas, and of the entire universe. (*Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 198.)
७. अधिष्ठानत्वमात्रेण ब्रह्मकारणं गीयते। –वे० सि० मु०, ४६।

है। अधिष्ठानवाद के अनुसार इस समस्त जगत् का कुछ-न-कुछ सत् आधार अवश्य होना चाहिए। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान-रूप आधार है और जगत् उसमें अध्यस्त है। इस प्रकार अधिष्ठानरूप से ही ब्रह्म जगत् का कारण कहा जाता है।[७] उपनिषदों में भी ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म या आत्मा एवं प्लेटो के 'सर्वोच्च विज्ञान' में बहुत-कुछ साम्य होते हुए भी एक विचारणीय भेद यह है कि प्लेटो का 'विज्ञान' तर्क-लभ्य है[१] और इसके विपरीत ब्रह्मवादी का आत्मा या ब्रह्म तर्क द्वारा अलभ्य–'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ०, १।२।६)। माया का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है, इसका उद् गम उपनिषदों से है।[२] शंकराचार्य के दर्शन में आकर तो मायावाद के सिद्धान्त का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो भारतीय दर्शन की माया की छाया प्लेटो के 'हाइल' (Hyle) में भी मिलती है। प्लेटो ने इस शब्द का प्रयोग भौतिक वस्तु के लिए किया है। अद्वैतवादी की माया की तरह प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hyle) भी सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसकी अनिर्वचनीयता को सिद्ध करते हुए प्रो० रे चौधरी का कथन है कि 'भौतिक वस्तु' (Hyle) प्लेटो के विज्ञान से विपरीत होने का कारण तो असत्-रूप है परन्तु यह पूर्णतया असत्-रूप है परन्तु यह पूर्णतया असत्-रूप भी नहीं है। क्योंकि सारे ऐन्द्रिय जगत् का यही आधार है।[३] इस प्रकार यह सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण है। प्लेटो की 'भौतिक वस्तु' की तरह ही शंकराचार्य की माया भी सत् तथा असत् से विलक्षण है एवं अनिश्चित तथा अनिर्वाच्य है। इसी मत को स्पष्ट करते हुए रे चौधरी महोदय ने लिखा है :

"Samkar's maya also is distinguished from sat and asat like Hyle, it is indeterminate and undefinable."[४]

यद्यपि उक्त दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवादी की माया और प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hyle) में पर्याप्त समानता है, परन्तु दोनों में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि अद्वैतवाद के अनुसार माया परमेश्वर की शक्ति है और प्लेटो द्वारा स्वीकृत भौतिक वस्तु की सत्ता 'सर्वोच्च विज्ञान' से भिन्न है। इसीलिए प्लेटो द्वैतवादी है।

यद्यपि प्लेटो द्वैतवादी है परन्तु उसके विज्ञान और उपनिषद् के आत्मा एवं ब्रह्म में बहुत-कुछ साम्य होने के कारण प्लेटो के 'विज्ञान' सम्वन्धी विचार पर उपनिषदों का प्रभाव द्रष्टव्य है।

अरस्तू (३७८-३२२ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

---

१. The imperishable one, the absolute reality is apprehended not by intuitoin, or in any kind of mystic ecstacy, but only the rational cognition and laborious thought. (*Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 191.)

२. *Thibaught* : SACRED BOOK OF THE EAST, Vol. XXXXIV, Introduction (Oxford Clarendeon Press, 1890.)

३. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 175. (Das Gupta & Co., Calcutta, 1950.)

४ Ibid, p. 175.

अपने गुरु प्लेटो से बीस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि अरस्तू की दार्शनिक विचारधारा पर अपने गुरु की दार्शनिक विचार-प्रक्रिया का पूर्ण प्रभाव हो; परन्तु यह प्रभाव अन्धश्रद्धा के रूप में नहीं था। जैसे अरस्तू, सुकरात और प्लेटो की तरह, ज्ञान के लिए विज्ञान की सत्ता को भी स्वीकार करता था, परन्तु प्लेटो की तरह यह बात उसे मान्य नहीं थी कि 'विज्ञान-जगत्' (World of ideas) की सत्ता भौतिक जगत् से पृथक् है।

प्लेटो की तरह अरस्तू विज्ञान पर बल नहीं देता था; उसका कहना था कि मूल स्वरूप (विज्ञान) भौतिक तत्त्वों में वर्तमान है और भौतिक तत्त्व मूल स्वरूपों में। साथ ही जाति (सामान्य) और व्यक्ति को भी अरस्तू प्लेटो की तरह अलग-अलग नहीं मानता था। उसका कहना था कि इन दोनों (जाति और व्यक्ति) को अलग-अलग समझा जा सकता है, किन्तु अलग-अलग नहीं जा सकता।[1]

अरस्तू के दर्शन का सर्वप्रमुख सिद्धान्त जगत् की नित्यता से सम्बन्धित था। 'जगत् नित्य है'–इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम चिन्तन अरस्तू ने ही किया था और इस सिद्धान्त के समर्थन में उसका कहना था कि भौतिक तत्त्व (मैटर) और आकृति (फार्म) भी नित्य हैं। इसी सम्बन्ध में वह 'गति' को अनादि तथा अनन्त मानता था।[2]

अद्वैत वेदान्ती की तरह अरस्तू भी अधिष्ठानवादी था, परन्तु उसके दर्शन का अधिष्ठान वेदान्ती की तरह ब्रह्म अथवा कोई अन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं था। वह आकृति रहित वस्तु को ही अधिष्ठान (Substratum) मानता था।[3] द्रव्य के सम्बन्ध में अरस्तु का सिद्धान्त द्रव्यसम्बन्धी साधारण मान्यता से भिन्न था। लौह अथवा काष्ठ द्रव्य (मैटर) हैं और उनसे निर्मित पात्रादि आकृति (फार्म) हैं, यह बात अरस्तू को स्वीकार नही थी। वह तो द्रव्य और आकृति में अभिन्नता मानता था। जैसे काष्ठ और शैया के उदाहरण में काष्ठ द्रव्य है और शैया आकृति परन्तु यदि विकसित होते हुए वृक्ष के सम्बन्ध में देखा जाये तो काष्ठ द्रव्य न होकर आकृति है और वृक्ष द्रव्य। कारण और कार्य की यही एकता अरस्तू के अधिष्ठानवाद का मूलाधार है। प्रो० रानाडे ने अरस्तू की द्रव्य (मैटर) और आकृति-सम्बन्धी विचारधारा के प्रश्नोपनिषद् (१।४, १३) की 'रयि' और 'प्राण' कल्पना-जैसी ही माना है।[4] रयि और प्राण के सिद्धान्त का उल्लेख अध्यात्म-तत्त्व के वेत्ता पिप्पलाद ने प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासु कवन्धी कात्यायन के सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए किया है। पिप्पलाद कहते हैं कि प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा से पहले तप किया और फिर तप के पश्चात् 'रयि' और 'प्राण' के मिथुन की सृष्टि की और कहा कि ये 'रयि' और 'प्राण' ही समस्त सृष्टि की रचना करेंगे।[5] इस स्थल पर 'रयि' से भौतिक तत्त्व का तात्पर्य

---

१. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ २५।
२. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 180.
३. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 278.
४. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 49.
५. रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। –प्रश्नोपनिषद् १।४।
६. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 274.

है। जिस प्रकार कि उपनिषद् में उक्त सिद्धान्त के अनुसार रयि और प्राण को समस्त सृष्टि का आधार कहा गया है, उसी प्रकार अरस्तू के दर्शन में भी द्रव्य और आकृति को समस्त सृष्टि का आधार माना गया है।[१]

अरस्तू के 'प्रथम दर्शन' (First Philosophy) या आध्यात्म-दर्शन की चिन्तनधारा का अन्तिम विषय ईश्वर था। ईश्वर को अरस्तू योगदर्शन की तरह किसी 'पुरुष-विशेष' के रूप में नहीं स्वीकार करता,[१] वरन् अद्वैतवेदान्त की तरह सूक्ष्म ही मानता है।[२] बृहदारण्यक उपनिषद् में ईश्वर को अन्तर्यामी तथा समस्त संसार का शासक कहा गया है।[३] आगे चलकर शांकर वेदान्त में भी ईश्वर के अन्तर्यामित्व और शासकत्व की चर्चा पूर्ण रूप से मिलती है। उपनिषदों तथा परवर्ती अद्वैतवेदान्त की तरह अरस्तू के ईश्वर को भी रौस (Ross) महोदय ने अन्तर्यामी कहा है। परन्तु अरस्तू के अनुसार ईश्वर के अन्तर्यामित्व का अभिप्राय कुछ भिन्न है। प्रो० रौस अरस्तू के ईश्वर के अन्तर्यामित्व-सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अरस्तू ईश्वर को जगत् के आन्तरिक शासन का कारण मानते हुए जगत् में उसके (ईश्वर के) कर्तृत्व का रूप देखता है। इसी अर्थ में अरस्तू ईश्वर को अन्तर्यामी मानता है।[४] ऊपर हमने उपनिषदों तथा अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर के शासकत्व की बात कही है। अरस्तू-सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के सम्बन्ध में उसके शासकत्व का संकेत भी अभी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के दर्शन की तुलना सेना के 'कप्तान' से भी की गई है, जिसकी आज्ञा का पालन करना सेना का कर्त्तव्य है।[५] इसी प्रकार शंकराचार्य ने परमेश्वर की तुलना उस राजा से की है जिसकी अज्ञा में मनुष्य नियमपूर्वक चलता है। शंकराचार्य का कथन है कि अग्नि-वायु-सूर्य आदि जगत् इसी ब्रह्म से भय पाकर विनयपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होते है।[६] इस प्रकार ईश्वर के नियन्तृत्व का विचार उपनिषदों, परवर्ती वेदान्त और अरस्तू के दृष्टिकोण के अनुसार प्रायः समान ही है। ईश्वरेच्छा का सिद्धान्त भी उपनिषद्-दर्शन, परवर्ती अद्वैतवेदान्त दर्शन और अरस्तू के दर्शन में प्रायः समान ही है। ऐतरेय उपनिषद् में लोक-सृष्टि को ईश्वरेच्छा का फल कहा है।[७] प्राचीन अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य गौडपाद ने उपनिषद् के उक्त मत का यत्किचित् परिमार्जन करते हुए कहा है कि सृष्टि की उत्पत्ति करना ईश्वर का स्वभाव है, क्योंकि जो ईश्वर पूर्णकाम है उसकी इच्छा किसी प्रकार सिद्ध हो सकती है।[८] इस सम्बन्ध में परवर्ती आचार्य शंकर का कथन है कि सृष्टि-रचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीला-रूप प्रवृत्ति-मात्र ही प्रयोजन है।[९] अब अरस्तू के दर्शन को

१. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 288.
२. गीता, शां० भा०, १५।१७।
३. .....तमन्तर्यामिनं च इमं च लोकं परं च सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति। ब्र० उ०, ३।७।१ तथा देखिये तै० उ०, २।६ (ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।२० और १।३।३६)
४. *Ross* : ARISTOTLE, p. 185. (Metheun, London, 1953)
५. वही।
६. ब्र० सू०, शां० भा०, १।३।३६।
७. सईक्षत लोकान्नुसृजा। –ऐतरेय उपनिषद्, १।१।३।
८. दैवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा। –गौडपादकारिका, ६।
९. ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।३३।

लीजिये। जैसा कि प्रो० रौस का कथन है, अरस्तू ईश्वर को विश्व के स्रष्टा के रूप में नहीं देखता।[१] परन्तु प्रो० आर्मस्ट्रांग का विचार है कि जहां तक प्रथम गति पर आधारित विश्व की समस्त गतियों और परिवर्तनों का सम्बन्ध है, उन सबका प्रमुख कारण वह आकांक्षा है जो शुद्ध और पूर्ण ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती है। इस प्रकार ईश्वर प्रेरणाशक्ति का संचार करता है।[२] मेरे विचार से ईश्वर की प्रेरणाशक्ति का मूल उसकी जगत् के शासन की इच्छा को ही मानना चाहिए। मेरे इस मत का अनुमोदन प्रो० रौस के इस कथन से भी हो जाता है कि यह कल्पना न करना कठिन है कि अरस्तु ने ऐसे ईश्वर की योजना की है, जो विश्व के इतिहास के विकास की प्रमुख योजनाओं का अपनी इच्छा से शासन करता है।[३] उक्त दृष्टि से अरस्तू के दर्शन में भी ईश्वरेच्छा का एक रूप मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि अरस्तू का जगत् की अमरता और द्रव्य (मैटर) की मूलकारणता का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त से पूर्णतया भिन्न है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दोनों दर्शन-पद्धतियों की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में बहुत-कुछ समानता है। अतः ईश्वर की अन्तर्यामिता, शासकता और इच्छा के सम्बन्ध में अरस्तू के दर्शन पर उपनिषद्-दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है।

यद्यपि अरस्तू के बाद भी यूनान में एपीकुरु, ज़ेनो (यह ज़ेनो पूर्ववर्णित ज़ेनो से भिन्न है) और पिरहो आदि दार्शनिकों ने दर्शन-ज्योति को कुछ जाग्रत करने की चेष्टा की, परन्तु इन दार्शनिकों की दृष्टियां पूर्ण तथा परिपक्व न थीं। इसीलिए राहुलजी ने अरस्तु-परवर्ती दर्शन को 'रामनाम सत्' का दर्शन का दर्शन कहा है।[४]

अद्वैत वेदान्त और कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

शोपेनहर, सर विलियम जोन्स, विक्टर कज़िन और फ्रेड्रिक श्लेगिल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदान्तदर्शन का महत्त्व निःसंकोच भाव से स्वीकार किया है।[५] इसके अतिरिक्त टामलिन-प्रभृति प्राश्चात्य आलोचकों के काण्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों पर शांकर दर्शन (अद्वैत वेदान्त) का प्रभाव भी स्वीकार किया है। टामलिन महोदय काण्टीय दर्शन शांकरदर्शन का प्रभाव स्वीकार किया है। टामलिन महोदय काण्टीय दर्शन पर शांकरदर्शन का प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखते हैं :

"शांकर दर्शन की लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल में जाकर जर्मन दार्शनिक काण्ट में अपनाया था।"[६]

---

१. If the question be asked, whether Aristotle thinks of God as creater of the world the answer would certainly be that he does not. ARISTOTLE, p. 184.

२. *Armstrong* : AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p. 89.

३. *Ross* : ARISTOTLE, p. 185.

४. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३०।

५. *Maxmuller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 8-11.

६. THE GREAT PHILOSOPHERS, (The Eastern World), p. 218. (Skeffington-London 1952, first edition).

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक विद्वानों ने भी पाश्चात्य दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्वीकार किया है। वैसे तो, अनेकों पश्चिमी दार्शनिकों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु इस स्थल पर हमारे अध्ययन की दिशा पाश्चात्य दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव एवं सम्बन्ध देखना है। इस दृष्टि से हम यहां देकार्त, स्पिनोज़ा, लाइब्निज़, बर्कले, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल तथा शोपेनहर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उपर्युक्त पश्चिमी दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट हो जाएगा।

देकार्त (Descartes) (१५९६-१६५०) और अद्वैत वेदान्त

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त एक महान् गणितज्ञ भी था। गणित की नियमित प्रक्रियाओं के समान ही उसने दर्शन के क्षेत्र में भी एक नियमबद्ध प्रक्रिया को ही स्वीकार किया था।[१] उसका कहना था कि हम ईश्वर और जगत् के अनेक विषयों के बारे में संदेह करते हैं, अतः सन्देह एक निश्चित वस्तु है। इस तर्क के आधार पर देकार्त इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जिस आत्मा के विषय में हम सन्देह करते हैं उसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है। देकार्त के Cogito, ergo sum (मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं) वाक्य में उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या हुई है। प्रतीति को सत्य मानने के कारण देकार्त ईश्वर तथा जगत् को ही सत्य मानता था।[२] देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था। सृष्टि के सम्बन्ध में देकार्त का कथन है कि ईश्वर ने प्रारम्भ में गति और विश्राम के साथ भौतिक तत्त्वों, अर्थात् प्रकृति को उत्पन्न किया। ईश्वर ने प्रकृति में जिस गति का संचार किया उसे उसी मात्रा में रखने के लिए ईश्वर की आज भी आवश्यकता है यह सिद्धान्त देकार्त को मान्य था।[३] इस प्रकार देकार्त के अनुसार ईश्वर की सक्रियता सदा अपेक्षित थी।

वैसे तो, जैसा कि अभी कहा गया है, देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था, परन्तु उसका उपर्युक्त विचार कि मैं सोचता हूं इसलिए मैं 'हूं' अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। दूसरे शब्दों में, अद्वैत वेदान्त में आत्मा के अभाव एवं शून्यत्व का निराकरण किया गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं! कोई नहीं मानता कि मैं नहीं हूं। शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के निम्नोद्धृत कथन में उपर्युक्त आशय पूर्ण रूप से निहित है :

"नहि कश्चित् सन्दिग्धो नाहमस्मीति।"[४]

अर्थात् , मैं नहीं हूं, इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और देकार्त की दार्शनिक दृष्टि में प्रमुख भेद होते हुए भी कुछ विचारों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है।

---

१. *Radhakrishnan* : EAST AND WEST, p. 99.
(London : Allen & Unwin, 1954)

२. राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०६।

३. वही, ३०६।

४. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ६२८।

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०) और अद्वैत वेदान्त

बारुच दे स्पिनोज़ा हालैण्ड के एक समृद्धयहुदी-परिवार में उत्पन्न हुआ था। स्पिनोज़ा ने पहिले इब्रानी और फिर फ्रेंच दार्शनिक देकार्त के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और इसके पश्चात् वह दर्शन के स्वतन्त्र चिन्तन में लग गया था। स्पिनोज़ा पहिला दार्शनिक था जिसने लोकोत्तरवाद तथा धर्मरूढिवाद का खण्डन करके बुद्धिवाद तथा प्रकृतिवाद का समर्थन किया था। इसीलिए स्पिनोज़ा प्रकृति को ईश्वर-रूप मानता था। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति को ईश्वर-रूप मानते हुए भी स्पिनोज़ा प्रकृति को मानव-सत्ता से भिन्न मानता था।[१] उसका कहना था कि जगत् की अच्छी और बुरी, नीच और ऊंच, प्रत्येक वस्तु पूर्णतया ईश्वर का ही अंश है। वस्तुओं की सुन्दरता और कुरूपता, सुस्पष्टता तथा अस्पष्टता का आधार स्पिनोज़ा की दृष्टि में हमारी कल्पना ही है।[२]

स्पिनोज़ा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक था। सर्वेश्वरवाद के अनुसार उसका कहना था कि सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है। इस सम्बन्ध की पुष्टि में स्पिनोज़ा का कथन है कि जगत् के समस्त पदार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं और इन समस्त पदार्थों का एक आधार भी है। यह आधार उसकी दृष्टि में प्रकृति या ईश्वर है। स्पिनाज़ा के अनुसार, ईश्वर जगत् का वाह्य अथवा क्षणिक कारण नहीं है, वरन् वह उपादान कारण है तथा उसकी वास्तविक सत्ता है। ईश्वर के अनन्त धर्म हैं। इन धर्मों में विस्तार तथा ज्ञान प्रमुख है। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा के ईश्वर का देहधारी व्यक्तित्व नहीं है, उसका व्यक्तित्व को समस्त व्यक्तित्वों से ऊपर है। यदि हम अद्वैत वेदान्त पर स्पिनोज़ा की दार्शनिक विचारधारा को तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विचार करें तो हमें दोनों विचारधाराओं में वहुत-कुछ साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। साम्य के लिए अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और स्पिनोज़ा के 'स्वतन्त्र तत्त्व' (Substantia) को ले सकते है। यही स्वतन्त्र सत्त्व स्पिनोज़ा का ईश्वर है। स्पिनोज़ा द्वारा स्वीकृत यह स्वतन्त्र तत्त्व अपने में पूर्ण तथा किसी दूसरे पर आधारित न होने के कारण स्वतन्त्र है।[३] स्पिनोज़ा ने उक्त स्वतन्त्र सत्त्व को स्वतन्त्र तथा स्वतः सिद्ध (In se est and per se concipitur) माना है। स्पिनोज़ा के अनुसार उक्त तत्व असीम, अविभाज्य, अद्वैत, स्वतन्त्र तथा आनन्द-रूप है। इसी प्रकार शांकर वेदान्त और उपनिषद् -दर्शन का ब्रह्म भी अजात, अविनाशी, अनन्त, पूर्ण, अचल, शान्त तथा दोषरहित है।[४] इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है :

"Thus the Brahman, as conceived in the upanishads and

---

१. THE ETHICS OF SPINOZA & DE EMENDA TIENE, p. VII (New York : Dutton & Co. 1930)

२. Only in relation to our imagination can things be called beautiful and ugly, well or diocreet or confused. Letter XV (VAN VLOTE & LAND, XXXII) addressed to Oldenburg, Nov. 20, 1665.

३. SPINOZA'S ETHICS, part I, p. 1 (Dutton & Co., New York).

४. It is according to him infinite, indivisible, one, free and eternal, just as Sankar's Brahman is called in the Upanishads unborn, undecaying, undying, without parts, without action, tranquil, without fault of taint. *Max Muller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 123 (Longmans Green, London, 1894).

defined by Sankar is clearly the same as Spinoza's 'Substantia'."[1]

अर्थात् उपनिषदों और शङ्कराचार्य ने जिस ब्रह्म का प्रतिपाद किया है, वह स्पष्ट रूपसे वैसा ही है जैसा कि स्पिनोज़ा का 'सवस्टेण्शिआ' अर्थात् 'स्वतन्त्र सत्त्व'।

शंकराचार्य की तरह स्पिनोज़ा भी व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच अन्तर स्वीकार करता था। प्राचीन भारतीय (वेदान्तिक) और ग्रीक दार्शनिकों की तरह स्पिनोज़ा का विचार था कि वास्तविक आनन्द मनुष्य की साधारण आकांक्षाओं जैसे–सम्पत्ति, सम्मान या तृष्णा तथा इन्द्रियों के आनन्द में नहीं है। उक्त भौतिक प्रसन्नताओं को स्पिनोज़ा अस्थिर, विनाशशील तथा प्रपंचनामय मानता था। इस प्रकार स्पिनोज़ा उपर्युक्त वस्तुओं की केवल क्षणिक सत्यता स्वीकार करता था।[2] इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी व्यावहारिक जगत् की केवल क्षणिक सत्यता है। इसलिए अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। स्पिनोज़ा ने भी व्यावहारिक जगत् के आकर्षणों में परम आनन्द न देखकर अपने ईश्वर में परम सत्य की स्थापना की थी। यही कारण था कि स्पिनोज़ा ईश्वर का परिपूर्ण, अद्वैत, आनन्द, सर्वव्यापक तथा सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा के रूप में देखता था। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा ईश्वर को अन्तर्यामी तो मानता था, परन्तु जैसा कहा जा चुका है, वह ईश्वर को वस्तुओं को अनित्य कारण नही मानता था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि स्पिनोज़ा की ईश्वरसम्बन्धी विचारधारा बहुत-कुछ अद्वैत वेदान्त के समान ही थी। दोनों विचार-दृष्टियों में समानता होते हुए भी एक विषमता यह थी कि अद्वैत वेदान्त-स्वीकृत ईश्वर और ब्रह्म का भेद स्पिनोज़ा को मान्य नहीं था। स्पिनोज़ा तो प्रकृतिगत एक ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता मानता था और उसे ही वह सर्वव्यापी स्वीकार करता था। हमारे अद्वैत वेदान्त में यह विचार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के विचार के रूप में प्रकट हुआ था। एक और दृष्टि से अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा के विचार में साम्य था। अद्वैती शंकराचार्य और स्पिनोज़ा, दोनों यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियानुभूत नानारूपात्मक जगत् एक दिखावट है और एक सीमित ज्ञान का फल है। जैसे ही वास्तविक ज्ञान होता है, पूर्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।[3]

लाइब्निज़ (१६४६-१७१६ ई०) और अद्वैत वेदान्त

गोटफ्रीड विल्हेल्म लाइब्निज़ (Gott fried Wilhelm Leibniz) लिब्ज़िक जर्मनी का रहने वाला था। लाइब्निज़ का प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त आत्मकणवाद या शक्त्यणुवाद (Monadism) था। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् के भौतिक पदार्थ वास्तु-सत्य नहीं है। उसके अनुसार यह मन के अनुभव के दिखावे मात्र हैं। अतः लाइब्निज़ के मत में आत्मकण (Monads) ही एकमात्र वास्तु सत्य हैं। यहां यह उल्लेख्य है कि जहां स्पिनोज़ा एक स्वतन्त्र और स्वतःसिद्ध तत्त्व (Substance) को

१. *Max Muller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 123.
२. *Vasudeva J. Kirtikar*. STUDIES IN VEDANTA, p. 20. (Taraporevala, Bombay, 1924).
३. *N. Shastri* : A STUDY OF SANKARA, p. 96 (Calcutta, 1942).

स्वीकार करता था, वहां लाइब्निज़ उक्त तत्त्व को एक न मानकर अनन्त मानता था और इन्हें वह आत्मकण (Monads) कहता था।[१] लाइब्निज़ अनेकजीववादी था। उसके द्वारा स्वीकृत आत्मकण, जीवों के रूप भी थे।[२] जिस प्रकार जीवों में भेद मिलता है, उसी प्रकार आत्मकणों के विकास में भी भेद है। इनमें कुछ सुप्त से हैं, कुछ स्वप्नावस्था की चेतना-जैसे हैं और कुछ पूर्णतया जाग्रत चेतना-जैसे हैं।[३] ईश्वर को लाइब्निज़ सर्वोच्च आत्मकण मानता है। उसे वह सर्वोच्च तथा परिपूर्ण मानता है। इस प्रकार ईश्वर की सम्भावना और सत्ता में लाइब्निज़ को तनिक भी सन्देह नहीं है।[४]

वैसे तो आत्मकणों की संख्या अनेक मानने के कारण लाइब्निज़ द्वैतवादी है परन्तु अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा[५] की इस विचारधारा में सादृश्य है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसीलिए परमेश्वर कृष्ण ने भी अर्जुन को अपने परमेश्वर रूप के दर्शन करोने के लिए स्थूल नेत्रों की अयोग्यता देख दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।[६]

अद्वैत वेदान्त की 'माया' और लाइब्निज़ का 'मैटेरिया प्राइमा' (Materia Prima) का सिद्धान्त

'माया' सम्वन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। माया सम्वन्धी सिद्धान्त का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया था। इस विषय में, अद्वैती की माया और लाइब्निज़ के मैटेरिया प्राइमा (Materia Prima) में समानता है कि माया और 'मैटेरिया प्राइमा' दोनों ही अनन्त परमेश्वर के आत्मसाक्षात्कार के वाधक है।[७] शांकर दर्शन के अनुसार जीव के आत्मस्वरूप के वोध होने में माया वाधक है। माया के ही कारण जीव की जीवता है, अन्यथा तो अपने वास्तविक स्वरूप में जीव व्रह्म ही है—'जीवो व्रह्मैवनापरः'। परन्तु लाइब्निज़ की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। वह तो यही कहता है कि आत्मकण, 'मैटेरिया प्राइमा' के कारण ईश्वर नहीं हो पाता।[८] आत्मकण से मैटेरिया प्राइमा का सम्वन्ध

---

१. Thus in place of the one substance of Spinoza, Leibniz came to admit infinite number of substances which he called 'Monads'. (Dr. *Nikunja Behari Banerjee's* article on 'RATIONALISM', p. 216. Published in 'HISTORY OF PHILOSOPHY', Vol. II, editied by Dr. *Radhakrishnan*).

२. HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 216.

३. राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०७।

४. *Leibniz* : THE MONODOLOGY (Translated by Dr. Robert Latter, Oxford Clarendon, p. 275-276).

५. *Leibniz* : PRINCIPLES OF NATURE & GRACE, p. 422 (Translated by Dr. *Robert Latter*, Oxford Clarendon, 1892).

६. शां० भा०, गीता ११।८।

७. Maya & Materia Prima agree in this respect that both of them hinder the self realisation of the finite. (*A.K. Ray Chaudhury*. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.)

८. He simply say that the Monad due to the Materia Prima fails to become God. (*A.K. Ray Chaudhury* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 178).

अमिट है तथा अनन्त है। इसीलिए एर्डमैन ने कहा है–

"From it, God hismself has not the Power to free the monads."[1] अर्थात् स्वयं ईश्वर में भी आत्मकणों को 'मैटेरिया प्राइमा' से मुक्त कराने की सामर्थ्य नहीं है। यहां लाइब्निज़ और अद्वैतवेदान्त का यह वैषम्य द्रष्टव्य है कि जहां लाइब्निज़ के दर्शन में मैटेरिया प्राइमा का आत्मकण से अनन्त सम्बन्ध माना गया है, वहां अद्वैत वेदान्त में ज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या अनादि होने पर भी सान्त है।[2]

लाइब्निज़ का यह कथन कि ईश्वर महान् आनन्द प्रदान करता[3] है, अद्वैत वेदान्त के समीप है, क्योंकि अद्वैतियों का ब्रह्म भी आनन्द-स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। लाइब्निज़ और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में एक बड़ा वैषम्य यह है कि लाइब्निज़ के मतानुसार परमानन्द कभी पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अनन्त होने के कारण पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[4] इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में जीवं अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मता को प्राप्त हो जाता है और ब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्य चित्सुख अविच्छिन्नानन्द-प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।[5]

अतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे है कि अद्वैत वेदान्त और लाइब्निज़ के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कतिपय स्थलों पर वैषम्य भी मिलता है।

बर्कले (१६८५-१७५३ ई०) और अद्वैत वेदान्त

आयरलैण्ड के दार्शनिक जार्ज वर्कले का अध्यात्मवादी सिद्धान्त जड़देहवाद के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। दार्शनिक बर्कले ने यह सिद्ध किया था कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत विचारों की सत्ता केवल मस्तिष्क में विचार रूप में स्थित है।[६] इसीलिए इस दार्शनिक का विचार है कि जिस वस्तु की अनुभूति होती है उसी की सत्ता है।

वर्कले का विचार है कि ईश्वर ने ही वस्तुओं और उनके अवान्तर प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित किया है। अतः बर्कले की दृष्टि में ईश्वर, उसके द्वारा सृष्ट जीव एवं अनेक प्रत्यय ही सत्य हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की सत्यता वर्कले को स्वीकार नहीं है।

अद्वैत वेदान्त और बर्कले की विचारधारा की यदि तुलना की जाए तो दोनों में कई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्कले के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त

---

१. *A.K. Ray Chaudhuri* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 178 से उद्धृत।

२. अनन्तकृष्णशास्त्री : अद्वैत तत्ससुध, भूमिका (द्वितीयभागः प्रथम संपुटः) पृ० ४३, तारा मुद्रणालय, वाराणसी, १६६२।

३. *Leibniz* : PRINCIPLES OF NATURE AND GRACE, p. 422.

४. वही, पृ० ४२४।

५. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५२८।

६. Prof. *G.C. Chatterji's* article 'Empericism' (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 231).

जगत् की बाह्य वस्तुओं की सत्यता नहीं है। यही बात अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी कही है। शंकराचार्य कहते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उस वस्तु की बाह्य सत्ता भी नहीं होती। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य ने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं—

"यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्या-व्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति। किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।

(प्रश्नोपनिषद् , शांकरभाष्य ६।२)

अर्थात् जैसा-जैसा जो पदार्थ जाना जाता है वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस पदार्थ का स्वरूप होता है। इसीलिए यह कथन कि अमुक वस्तु जानी नहीं गई, उचित नहीं है इस प्रकार शंकराचार्य और बर्कले दोनों ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु यहां यह विचारणीय है कि शंकराचार्य ज्ञान की सत्यता स्वीकार करते हुए भी बाह्य जगत् को अभाव रूप या वन्ध्या-पुत्र के समान मिथ्या नहीं मानते।[1]

बर्कले और दृष्टि-सृष्टिवाद

बर्कले का उक्त मत वेदान्त के दृष्टि-सृष्टिवाद से भी बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के अनुसार दृष्टि ही विश्वसृष्टि है। इस प्रकार स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपंच की सृष्टि है। अतः दृष्टि-समकालिक अन्य प्रपंच भी सृष्टि नहीं हैं। इस दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने भी किया है।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि प्रकाशानन्द ने कहा है—सकल जगत् की सत्ता आत्मा में ही है।[3] बर्कले भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बाह्य जगत् की सत्यता को अस्वीकार करके, केवल ज्ञान जगत् की सत्यता को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार बर्कले और दृष्टिसृष्टिवादी, दोनों के ही अनुसार जगत् का आधार ज्ञान है।

काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने मानसिक शक्तियों की समीक्षा के लिये तीन ग्रन्थ लिखे थे:

(१) Critique of pure reason; (२) Critique of practical reason; (३) Critique of Judgement.

इन ग्रन्थों में काण्ट ने दो प्रकार की शक्तियां मानी हैं—एक इन्द्रियशक्ति और दूसरी बुद्धिशक्ति। इन्द्रियशक्ति भिन्न-भिन्न एवं असम्बद्ध संवेदनों की प्रस्तुतकर्त्री है और बुद्धिशक्ति प्रस्तुत की गयी संवेदनशक्ति में विभिन्न सम्बन्धों की स्थापिका है। बुद्धिशक्ति का यही सम्बन्ध-स्थापन अनुभव का मूल है। काण्ट की दृष्टि से अनुभवों के दो भेद हो सकते हैं— अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा के बाहर रहने वाला बाह्य जगत् है और दूसरा तत्त्व बुद्धि है। इस प्रकार काण्ट ने प्रत्येक अनुभव में उक्त दोनों तत्त्वों का समन्वय करके अनुभववाद तथा बुद्धिवाद का सामंजस्य स्पष्ट किया है।

---

१. न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते कस्मात् ? उपलब्धे.....नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासेत। —ब्र० सू०, शा० भा०, २।२।२८।

२. अप्पयदीक्षितः सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ३६२।

३. आत्मन्येव जगत् सर्वम्। —वे० सि० मु० २३ (कलकत्ता, १९३७)।

काण्ट ने अनुभव-निरपेक्ष और अनुभव-सापेक्ष दो प्रकार की वस्तु-सत्ताएं मानी हैं। देश ओर काल, द्रव्य गुण, कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना पहली श्रेणी में की जाती है। इन्द्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को प्रस्तुत किया जाता है उनकी सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। यही अनुभव-सापेक्ष स्थिति है। काण्ट के अनुसार, प्रज्ञा में शुद्ध वस्तु (Ding-an-sich-thing in itself) के प्रकट होने की शक्ति नहीं है; यही कारण है कि काण्ट की दृष्टि में शुद्ध वस्तु (Thing in itself) का वोध होना असम्भव है।[१] इसीलिए यह वस्तुसार (Nomena) को अज्ञेय मानता है। ईश्वर को काण्ट बुद्धि तथा अनुभव दोनों की पहुंच से बाहर स्वीकार करता है। वह ईश्वर की सत्ता श्रद्धा पर आधारित मानता है। इसलिए काण्ट की दृष्टि में सर्वोच्च तत्त्व (ईश्वर) एक विचारमात्र है। अतः काण्ट का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) की वास्तविक सत्यता की स्थापना केवल इस तत्व के आधार पर करना बहुत कठिन है कि वह (ईश्वर) एक तर्कसम्बन्धी आवश्यकता है।[२]

काण्ट और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। अद्वैती शंकराचार्य और काण्ट के दार्शनिक सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्वन्ध विचारयोग्य है। काण्ट और शांकर वेदान्त दोनों ही के अनुसार ईश्वर जगत् का आधार है।[३] आत्मा के शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में भी काण्ट और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में सादृश्य है।[४] इस विषय में तो काण्ट और शंकराचार्य ही नहीं, वौद्धों का भी ऐकमत्य है कि ज्ञान की निर्विकल्प अवस्था (Indeterminate state) शुद्ध अनेकरूपता (Pure manifold) की अवस्था।[५] सविकल्प ज्ञान के विषय जगत् के समस्त विकल्पों की सत्ता वाह्य है। शुद्ध अनेकरूपता ही आकार ग्रहण करके जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण वनती है।[६] जैसा कि डॉक्टर दास का कथन है, यहां तक तो काण्ट शंकर और वौद्धों में भी ऐकमत्य है,[७] परन्तु आगे चलकर इन दार्शनिकों की विचारधारा में मतभेद हो जाता है। काण्ट का विचार है कि इन्द्रियसंवेदन की अनेकरूपता शुद्ध वस्तुओं (Things in themselves) की क्रिया से उत्पन्न होती है। काण्ट कहता है कि यह शुद्ध वस्तुएं यद्यपि चैतन्य तत्त्व से

---

१. *H.J. Paten* : KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p. 64 (London, Allen & Unwin, 1951).

२. *Kant* : CRITIQUE OF PURE REASON, p. 364. Translated by J.M.D. Mciklejohn, London, G. Ball & Sons, 1930).

३. *E. Caird* : PHILOSOPHY OF KANT, p. 164 (Glasgow, James Maclepose, 1877).

४. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 269.

५. In the first instance we can class together the Buddhist Sankara and Kant so far as they agree in holding the indeterminate state to be a pure manifold. –*Dr. S.K. Das* A STUDY OF VEDANTA, p. 146 (Univeristy of Calcutta, 1937).

६. *Dr. S.K. Das* : A STUDY OF VEDANTA, p. 146.

७. वही, पृ० १४६।

भिन्न हैं, परन्तु सीमापारी होने के कारण इनकी सत्यता में चैतन्य तत्त्व की अपेक्षा कोई न्यूनता नहीं है। इसके विपरीत शांकर विचारधारा के अनुसार जगत् की अनेकरूपता चैतन्य में उत्पन्न हुआ ही विकल्प है।[१] शांकर वेदान्त में इस विकल्प का कारण अध्यास अथवा माया है। परन्तु आचार्य शंकर की माया काण्ट की शुद्ध वस्तुओं की तरह सत्य नहीं है। शांकर वेदान्त की माया तो अचेतन तथा मिथ्या है। जैसा कि प्रो० पैटन का विचार है : व्यावहारिक जगत् जो कि ज्ञात है, और शुद्ध वस्तु जगत् (World of things in themselves) जो कि अज्ञात है, के बीच भेद स्थापित करना काण्ट के दर्शन का मूल सिद्धान्त है।[२] प्रो० पैटन के उक्त कथन के अनुसार काण्ट ने दो प्रकार की सत्ताएं मानी हैं–एक व्यावहारिक सत्ता और दूसरी वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality)।[३]

प्रो० रानाडे ने काण्ट द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों सत्ताओं को शंकराचार्य की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं के समान ही कहा है।[४] यहां यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाये तो काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में भेद दिखाई पड़ता है। आचार्य शंकर ने जिसकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तथा अविद्या-निवृत्ति के द्वारा उसका बोध सम्भव है। यहां यह अवश्य उल्लेखनीय है कि ब्रह्मज्ञान स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है। परन्तु इससे यह अर्थ कदापि न लगाना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान होता ही नहीं है। यदि ऐसा हुआ होता तो वेदान्तसूत्रकार महर्षि बादरायण अपने प्रथम सूत्र-- "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" में ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रश्न ही क्यों उठाते। इसके विपरीत, दार्शनिक काण्ट का वस्तुसार (Noumena) अज्ञात होने के कारण कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।[५] काण्ट के अनुसार वह केवल विश्वास का विषय है। अतः काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में उपर्युक्त भेद द्रष्टव्य है। मेरे विचार से काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता को अज्ञात एवं अप्राप्तव्य कहना काण्ट के दर्शन की दुर्बलता है। यही कारण है कि जर्मनी के विचारवादी दर्शन ने काण्ट की अज्ञात शुद्ध वस्तु (unknown thing in itself) की अवहेलना की थी। काण्ट के दर्शन की उपर्युक्त दुर्बलता के कारण ही इंग्लैण्ड के नवीन काण्टवादियों ने काण्ट के दर्शन के उक्त दृष्टिकोण की उपेक्षा की थी।[६]

जैसा कि डाक्टर राधाकृष्णन् का विचार है : अद्वैती शंकराचार्य और काण्ट की परमार्थ सत्य

---

१. *Dr. S.K. Das* : A STUDY OF VEDANTA, p. 146.

२. *H.J. Patan* : KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p.64.

३. *E.Caird* : THE PHILOSOPHY OF KANT, p. 403.

४. Sankara makes the great distinction the Parmarthika and Vyavaharika views of reality as Kant makes the distinction between the Noumenal and the phenomenon (CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p.215).

५. Consistently with his method he arrived at the absurd finding that the Noumenon, the supreme reality, the thing in itself is unknown and unknowable. –*N.Shastri*, A STUDY OF SANKARA. p. 50.

६. KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p.65.

सम्बन्धी विचारधारा में यह महान् अन्तर है कि जहां काण्ट शुद्ध वस्तुओं की अनेकता (Plurality of things in themselves) में विश्वार करता है वहां आचार्य शंकर केवल एक मूल सत्य (ब्रह्म) की घोषणा करते है।[१]

इस प्रकार विचार करने पर अद्वैत वेदान्त और काण्ट के दार्शनिक दृष्टिकोण में साम्य और भेद दोनों ही मिलते हैं। परन्तु दोनों में यह भेद होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य होगा कि काण्ट अद्वैत वेदान्त, विशेषतः शांकर वेदान्त से पूर्णतया प्रभावित है। इस प्रभाव का संकेत प्रो० टैमलिन ने भी किया है।[२]

फिक्ते (Fichte) (१७६५-१८१४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक फिक्ते ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों–काण्ट और स्पिनोज़ा के दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय किया था। फिक्ते जहां काण्ट की तरह नैतिक आदर्श को स्वीकार करता है, वहां स्पिनोज़ा के समान व्यवहार और परमार्थ की एकता को भी स्वीकार करता है। फिक्ते जगत् को मूल तत्व की प्रतिलिपि या अनुकरण मात्र मानता है। फिक्ते की दृष्टि में मूल तत्त्व आत्मा है और इस आत्मा में ही अनात्म ही स्थिति है।[३] इस प्रकार आत्मा में फिक्ते विषयविषयीभाव मानता है, क्योंकि फिक्ते के अनुसार आत्मा विषयी तथा अनात्म विषयरूप है।

ईश्वर, फिक्ते के विचार से अद्वितीय सत्ता है।[४] फिक्ते की दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की विचारदृष्टि से अत्यधिक प्रभावि प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फिक्ते के विचार से ईश्वर एक अद्वितीय सत्ता है। अतः फिक्ते के ईश्वर और अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म का प्रायः एक-सा ही रूप है। अद्वैती के विवर्तवाद के अनुसार अनात्म-ज्ञान ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार फिक्ते के दर्शन में भी विषय रूप अनात्म जगत् की स्थिति विषयी परमात्मा से पृथक् नहीं है। अतः दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

अद्वैत वेदान्तिक सिद्धान्त के अनुसार जीव की स्थिति सोपाधिक है; अपने मूल रूप में तो जीव ब्रह्म ही है। अद्वैत की इस प्रक्रिया के अनुरूप जब जीव को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसकी स्थिति ब्रह्म की ही स्थिति हो जाती है। फिक्ते की विचार-प्रक्रिया में भी, जैसे ही मनुष्य अपने मूल रूप को प्राप्त करता है तो वह केवल सर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में ही शेष रह जाता है। इस प्रकार वह जीव-कोटि से परमात्म कोटि में प्रवेश करता है।[५] अतः फिक्ते और अद्वैतवेदान्त की उक्त दार्शनिक दृष्टि

---

१. While Kant believes in a plurality of things in themselves, Sankara declares that there is only one fundamental reality. (*Dr. S. Radhakrishnan*, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 522.

२. The Great Philosphers (The Eastern World) p. 218 Skeffington, London, 1952.

३. Dr. *Rasbehari Das's* article on 'Fichte, Shelling & Hegal' (Published in HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 264.)

४. *Pfliedere* : PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 291. (Williams and Norgat, 1887).

५. *Pfleiderer* : PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 293.

बहुत कुछ समान ही है।

फिक्ते और शांकर वेदान्त की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं का स्वरूप भी एक-सा ही है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् की सत्यता केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही है, परमार्थ-दृष्टि से तो जगत् मिथ्या है। जैसा कि कीर्तिकर महोदय ने लिखा है : फिक्ते के दर्शन में भी व्यावहारिक जगत् की अनेकरूपता व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से ही है, वास्तविक दृष्टि से तो यह जगत् कल्पना के दर्पण में पड़ा हुआ परमात्मा का अतात्विक प्रतिविम्वमात्र है।[१] अतः फिक्ते के चिार से ही परमार्थ-दृष्टि से जगत् के मिथ्यात्व का ही आशय है।

फिक्ते का 'अंसटास'-सम्वन्धी सिद्धान्त और अद्वैत वेदान्त की 'माया'

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार माया उपाधि के कारण ही ब्रह्म का जीवत्व दिखाई पड़ता है ; परन्तु यहां यह तो समझना होगा की जीवत्व ब्रह्म की परिवर्तित स्थिति नहीं है। अविद्या के कारण ही जीवत्व की अनुभूति होती है। परमार्थः तो ब्रह्म अचल, तथा शाश्वत है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। फिक्ते का 'प्रतिनिवृत्ति' (Antoss : The principle of Repulsion) का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अद्वैत वेदान्त की माया-जैसा ही है, यद्यपि इन दोनों में कुछ भेद अवश्य है। फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में एक विरोधी प्रतिनिवृत्ति की क्रिया होती है जिसके द्वारा आत्मा में सीमितता आती है। प्रो० रे चौधरी ने फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त (Principle of Anstoss) का प्रभाव स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"We thus See that though the Anstoss the absolute of Fichte finitises itself, limits itself and becomes other than what it is."[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिनिवृत्ति क्रिया (Anstoss) के द्वारा, फिक्ते द्वारा स्वीकृत परमात्मा मर्यादित एवं सीमित तथा परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार जैसे कि अद्वैत मत में ब्रह्म माया अथवा अविद्या के कारण सीमित दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जैसा कि अभी कहा जा चुका है फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमित एवं मर्यादित हो जाता है। इन दोनों सिद्धान्तों में उक्त दृष्टि से साम्य होते हुए कुछ मौलिक वैषम्य भी मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, माया के द्वारा ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। न वह सीमित होता है और न बढ़ता है। इसके विपरीत फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमितता को प्राप्त होता है। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक महान् भेद यह है कि फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार अचेतन परमात्मा चेतन हो जाता है; परन्तु माया के कारण ब्रह्म में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म तो स्वयं चित्-स्वरूप है।[३]

---

१. *Vasudeva J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p. 72.

२. *A.K. Ray Chaudhury* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 176.

३. Again, due to this principle of Anstoss, the unconcious absolute of Fichte becomes concious. But Maya has got nothing to do with Brahman in this respect. – *A.K. Ray Chaudhury* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 176.

ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और फिक्ते के दार्शनिक सिद्धान्तों में वैषम्य होते हुए भी पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है।

शेलिंग (Schelling) (१७७५-१८५४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

यद्यपि शेलिंग फिक्ते का शिष्य था, परन्तु फिक्ते से उसके विचार पूर्णतया नहीं मिलते थे। शेलिंग को फिक्ते का यह मत मान्य नहीं था कि कूटस्थ तत्त्व आत्मा ही अपनी अनिच्छा तथा अज्ञात दशा में अनात्म-जगत् को उत्पन्न करता है। फिक्ते के विपरीत, शेलिंग का परम तत्त्व (Absolute) आत्मा तथा अनात्म से परे तथा स्वतन्त्र है। इसी प्रकार शेलिंग द्वारा स्वीकृत परम तत्त्व अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान ही है। डा० रासबिहारीदास की निम्नलिखित पंक्तियों में उक्त विचार की ही ध्वनि मिलती है :

"The distinctionless identical absolute of Shelling easily reminds one of the non-dual Brahman of the Advaita Vedanta."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार शेलिंग द्वारा स्वीकृत भेदरहित तता स्वतः सिद्ध परमतत्त्व सरलता से अद्वैत वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म का स्मरण दिला देता है।

प्रकृति को शेलिंग परमात्म-तत्व की अभिव्यक्ति मानता है। शेलिंग एक समन्वयवादी दार्शनिक था। उसके दर्शनके परम तत्त्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत काण्ट के ज्ञाता और ज्ञेय, फिक्ते के आत्म और अनात्म और स्पिनोज़ा के विचार और विस्तार की समन्वयात्मक भूमि मिलती है।

जैसा कि रासबिहारीदास के उपर्युक्त कथन से ध्वनित हुआ है, शेलिंग की दार्शनिक विचारधारा अद्वैत वेदान्त के बहुत-कुछ समान है। अद्वैत वेदान्त और शेलिंग का परम तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त तो समान ही है। अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। जैसा कि 'ज्ञाते द्वैत नं विद्यते' में स्पष्ट है ब्रह्मज्ञान होने पर द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है। ठीक यही मत शेलिंग का भी है। शेलिंग के मत का उल्लेख करते हुए कीर्तिकार महोदय ने लिखा है :

"To know the Absolute is, as Shelling says, to be the Absolute and all differentiations would necessarily vanish with that knowledge."[2]

अर्थात शेलिंग के मतानुसार, परमात्मा को जानना ही परमात्म-रूप हो जाना है। इस परमात्म ज्ञान के होने पर समस्त भेद निश्चित रूप से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद और शेलिंग की उक्त विचारधाराएं बहुत मिलती-जुलती हैं। ब्रह्म जगत् के मिथ्यात्व और ब्रह्म की सत्यता सम्बन्धी धारणायें भी अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के दर्शन में समान ही मिलती है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट किया गया है। परम सत्य ब्रह्म की सत्ता जीव से अतिरिक्त नहीं है, अपितु जीव

---

१. *Dr. R.V. Das's* Article on, Fichto, Shelling & Hegal, HISTORY OF PHILOSOPHY : Eastern & Western, Vol. II, Edited by *Dr. S. Radhakrishnan.*

२. *Vasudeva, J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p. 35.

जीव न होकर मूलतः ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञाता और ज्ञेय भाव भी काल्पनिक ही है 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य शेलिंग की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मिलता है :

"In all of us there dwells a sure marvellous power of freeing ourselves from the changes of time, of withdrawing to our secret selves away from external things, and so discovering to ourselves the eternal in us in the form of unchangeablity."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार हम सब में एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति है जो हमें कालकृत परिवर्तनों से मुक्त करा सकती है, बाह्य जगत् की वस्तुओं से निवृत्ति की ओर ले जो सकती है और जो हमारे भीतर वर्तमान शाश्वत तत्त्व की खोज करा सकती है।

शेलिंग के उपर्युक्त कथन में स्पष्ट रूप से परम तत्त्व की शाश्वतता और जगत् के मिथ्यात्व की ओर संकेत किया गया है।

अद्वैत दर्शन की माया तथा शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' (Dark Ground) का सिद्धान्त

प्रो रे चौधरी ने अद्वैतदर्शन की माया तथा शेलिंग के 'डार्क ग्राउण्ड' की तुलना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म न होकर ब्रह्म में रहने वाली कोई वस्तु है उसी प्रकार शेलिंग के अनुसार भी 'डार्क ग्राउण्ड' परमतत्व में रहने वाली कोई वस्तु है, न कि स्वयं परमतत्त्व।[2] जिस प्रकार शांकर वेदान्त का ब्रह्म मायाशक्ति से सम्बद्ध होने पर ईश्वर-रूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार शेलिंग का परमतत्व भी 'डार्क ग्राउण्ड' के सम्बन्ध से स्रष्टा या ईश्वर रूप को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त बद्ध जीव तथा ब्रह्म का विचार भी शांकर वेदान्त तथा शेलिंग के दर्शन के समान ही है।[3]

शांकर वेदान्त और शेलिंग की माया और 'डार्क ग्राउण्ड' सम्बन्धी विचारधाराओं में उपर्युक्त साम्य होने पर भी यह भेद द्रष्टव्य है कि शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' का सिद्धान्त परमात्मा के सम्बन्ध में आत्म-प्रकाशन (Self Reservation) का सिद्धान्त है ओर इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म शाश्वत रूप से स्वतः प्रकाशमान है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक प्रकार की समानताएं होते हुए भी कई-एक वैषम्य के स्थल भी मिलते है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् अविद्याजन्य अध्यास है और ब्रह्म अधिष्ठान है; परन्तु शेलिंग के दर्शन में जगत् अध्यास न होकर परमात्मा के ही अनुग्रह का परिणाम है। अद्वैती शंकर के दर्शन में जगत् अध्यास न होकर परमात्मा के ही अनुग्रह का परिणाम है। अद्वैती शंकर और शेलिंग के दर्शन का

---

१. Shelling's Philosophycal Letters upon Dogmatism and Criticism– *Radhakrishnan* : INDIAN PHILOSPHY, Vol. II, p. 360.

(F.N.) से उद्धृत।

२. The Dark Ground in the Absolute of Shelling is conceived by him as something in the Absolute (Not the Absolute itself) just as Maya is considered by Sankara as something in Brahman. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.

३. *A.K. Ray Chaudhury* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.

वैषम्य भी विचारणीय है कि जहां अद्वैती आचार्य शंकर केवलाद्वैतवादी होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते है, वहां शेलिंग परमात्मा तथा जगत् को भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है। इस प्रकार आचार्य शंकर की तरह जगत् की पारमार्थिक सत्यता का निषेध, दार्शनिक शेलिंग को स्वीकार नहीं है।[1] इस प्रकार जहां शंकराचार्य केवलाद्वैतवादी हैं वहां शेलिंग का प्रमुख सिद्धान्त अद्वैत-द्वैतवादी है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के सिद्धान्तों में साम्य के साथ वैषम्य होने पर यह कहना अनुचित न होगा कि शेलिंग का दर्शन भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्त से अत्यधिक सम्बन्धित एवं प्रभावित है।

हेगल (Hegal) (१७७०-१८३१) और अद्वैत वेदान्त

जर्मनी के दार्शनिकों में जैसे कि काण्ट प्रसिद्ध है, वैसे ही हेगल भी। हेगल का मत अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों, फिक्ते तथा शेलिंग, के विपरीत है, फिक्ते के मत में वस्तु आत्मा ही है। यही आत्मा अज्ञान शक्ति से प्रपंच की उत्पत्ति करता है और फिर स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक उद्योग से प्रपंच को स्ववशीभूत कर लेता है। इसके विपरीत शेलिंग की दृष्टि में वह वस्तुतत्त्व न आत्मा है और न अनात्मा, वरन् यह मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यवसान होता है। शेलिंग का यह निर्गुण तत्त्व सर्वोपरि है। हेगल का निरपेक्ष परम तत्त्व निष्क्रिय न होकर सक्रिय है। हेगल का यह परम तत्त्व मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व न होकर स्वतः क्रम से प्रकृति तथा आत्मा के रूप में परिणत होता है। अतः विद्वान् वेलेस के अनुसार हेगल के मत में जगत् की सत्ता परमात्मा के सत्यरूप को ही व्यक्तीकरण है।[2]

हेगल का दर्शन तर्कप्रधान है। उसका विचार है कि वास्तविक तत्त्व तर्कयुक्त है और तर्कयुक्त ही वास्तविक तत्व है (The real rational and the rational is real)। इस प्रकार हेगल अनुभव-जगत् के बीच भी बुद्धि का राज्य स्वीकार करता है।

हेगल विश्व को ईश्वर-रूप ही देखता है। जगत् और ईश्वर के बीच भेद-व्यवस्था को हेगल काल्पनिक कहता है।[3] अतः हेगल के दर्शन में प्रपंच का मिथ्यात्व पाया जाता है।[4]

भारतीय अद्वैतवाद और जर्मन दार्शनिक हेगल के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना करते समय दोनों दर्शन-पद्धतियों में अनेक समानताएं मिलती है। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने आत्मा को सत् तथा असत्रूप मानते हुए कहा है : 'सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थ रूपश्च....तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतम् ।' (शां० भा०, माण्डूक्योपनिषद् १.७) अर्थात् यह आत्मा परमार्थ तथा अपरमार्थ (सत् तथा असत्) दोनों रूपों वाला है; उसका अपरमार्थ अर्थात् असत्-रूप अविद्याकृत है। शंकराचार्य के परमार्थ तथा अपरमार्थ

---

१. Sankara denies ultimate reality to the pluralistic aspect of the universe but Shelling does not.–*N.Shastri* : A STUDY OF SANKARA, p. 98.

२. HEGEL'S LOGIC, pp. 161-167.

३. Natur hat weder kern nochschale.

४. HEGEL'S LOGIC, p. 391.

के योग का उक्त भाव हेगल की निम्नलिखित पंक्ति में स्पष्ट रूप से मिलता है। दार्शनिक हेगल लिखते है :

"True infinitude is the unity of the finite and infinite."[१]

अर्थात् असीम (परमात्व तत्त्व) ससीम तथा असीम की ही एकरूपता है। हेगल की तरह परमात्मा के सत् तथा असत् रूप होने की बात कृष्ण ने गीता में भी स्पष्ट रूप से कही है–'सदसच्चहमर्जुन'।[२]

अद्वैतवादी दार्शनिकों तथा हेगल की जीव की जगत् से निवृत्ति-सम्बन्धी विचारधारा भी प्रायः समान ही है। अद्वैती शंकर का कथन है कि द्वैत जगत् केवल मानसिक कल्पना-मात्र ही सिद्ध होता है।[३] इस स्थिति में जीव की द्वैत जगत् से निवृत्ति हो जाती है तथा ब्रह्म ब्रह्मरूप हो जाता है। हेगलीय दर्शन में भी आत्मा का बाह्य जगत् से निवृत्त होना तथा परमात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त करना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[४]

जैसा प्रो० हाल्डेन कहते है, हेगल के मतानुसार जैसे-जैसे परमात्म तत्त्व की उपलब्धि होती है, भेददृष्टि समाप्त होती जाती है।[५] यही बात गौडपादाचार्य ने 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (मा० का० १।१८) की उक्ति के द्वारा स्पष्ट की है। शंकराचार्य ने भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। शंकराचार्य का कथन है कि परमार्थतत्त्व का ज्ञान होने पर द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है।

एक और दृष्टि से भी हेगल और अद्वैतवादी दृष्टिकोण में सामीप्य है। हेगल मानता है कि जगत् की समस्त वस्तुओं का पर्यवसान विचार या विज्ञान में होता है।[६] इस प्रकार ईश्वर को भी वह पूर्ण विचार-रूप ही मानता है। हेगल के अनुसार इस पूर्ण विचार की स्थिति में सब प्रकार की वास्तविकताएं नष्ट हो जाती है।[७] इस प्रकार हेगलीय दर्शन में विचार ही परमार्थ है।[८] अद्वैतवादी आचार्य गौडवाद और शंकर के मत के अनुसार भी परमार्थ सत्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी में सर्वत्र सर्वज्ञता का भाव जाग्रत हो जाता है।[९] इस प्रकार अद्वैत मत में भी परमार्थ-बोध की स्थिति विचार या विज्ञान की स्थिति है इसी प्रकार गीता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब ज्ञानी भूतों के पृथक्-पृथक भावों को एक आत्मा में ही स्थिर देखता है तथा उस आत्मा में ही सारा विस्तार, उत्पत्ति तथा विकास देखता है, तब वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है।[१०] इस प्रकार गीता द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानी की उक्त स्थिति भी विचार

---

१. HEGEL'S LECTURES ON THE PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 328.
२. गीता, ६।१६
३. शां० भा० मा० उ०ए २।३२
४. STUDIES IN VEDANTA, p.15. Haldane, PATHWAY TO REALITY, Vol: II, p. 109, (Gifford Lectures for 1902 3) Murray, 1903.
५. *Haldane* :PATHWAY TO REALITY, Vol. II, p. 221.
६. *A. Schweglar* : HISTORY OF PHILOSOPHY, p. 432. (Oliver and Boyd Edinburgh, 14th edition).
७. *Haldane* : PATHWAY TO REALITY, Vol. II, p. 170.
८. सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतिहि महाधिपः मा० का० ४।८६ तथा शा० भा० (४।८६)
६. गीताभाष्य, १३।३०

की ही स्थिति है।

भ्रम की सत्ता के सम्बन्ध में भी हेगल और अद्वैतवाद की विचारधारा में समानता मिलती है। दार्शनिक हेगल भ्रम को, परम सत्य के प्रकट करने के लिए आवश्यक मानता है इसलिए उसने कहा है–

Otherness or error as cancelled is itself a necessary moment of truth.[1]

अर्थात् द्वैत या भ्रम की निवृत्ति का क्षण भी सत्य का एक आवश्यक क्षण होता है। हेगल की तरह ही अद्वैत दर्शन में भी भ्रम अथवा अविद्या के महत्त्व को स्वीकार करते हुए 'अध्यारोपापवाद' की कल्पना की गई है। अद्वैत सत्य की स्थापना द्वैत एवं अनात्म बुद्धि की निवृत्ति के विना असम्भव है। इसलिए अद्वैतमत में पहले ब्रह्म में अविद्याजन्य अनात्म जगत् का आरोप किया गया है और फिर अविद्या निवृत्ति होने पर उस अविद्याजन्य आरोप का अपवाद किया गया है।[2] इस प्रकार अद्वैत मत में अनात्म का अपवाद होने पर परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। अतः यदि अविद्या अथवा भ्रम को न स्वीकार किया जाता तो अविद्याजन्य अनात्म जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध न होने के कारण अद्वैतसिद्धि न पाती। अतः हेगल और अद्वैत वेदान्त दोनों ही विचारधारा के अनुसार सत्य की स्थापना में भ्रम का योगदान स्वीकार किया गया है।

ऊपर किये गये विवेचन में भारतीय अद्वैतवाद तथा हेगलीय दर्शन में अनेक समानताएं मिलीं है, परन्तु इन समानताओं के साथ-साथ दोनों दर्शनसिद्धान्तों में कुछ विषमताएं भी मिलती है। उदाहरण के लिए, अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जीव आत्मबोध होने पर ब्रह्म रूप हो जाता है परनतु हेगल को यह मत स्वीकार नहीं है। इसके अतिरिक्त जहां हेगल एकता में अनेकता मानते हैं वहां अद्वैत दर्शन में अनेकता अविद्याजन्य होने के कारण मिथ्यारोप मात्र है। इसी प्रसंग में इन दोनों दर्शन पद्धतियों का यह वैषम्य भी उल्लेखनीय है कि हेगलीय दर्शन में जो परम तत्त्व सदसत् रूप है–वह अद्वैत दर्शन में शुद्ध सत् रूप है।[3]

इस प्रकार अद्वै-दर्शन और हेगल-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कुछ विषमताएं भी मिलती हैं।

शोपेनहार (Schopenhaur) (१७८८-१८६० ई०) और अद्वैत वेदान्त

शोपेनहार का प्रमुख सिद्धान्त संकल्पवाद (Voluntarism) है। पूर्ववर्ती दार्शनिक हेगल की दृष्टि में चैतन्यसार था–बुद्धि और शोपेनहार की दृष्टि में चैतन्यसार या संकल्प। शोपेनहार के मतानुसार संकल्प शक्ति सर्वव्यापिनी है और अखिल सृष्टि का मूल है। शोपेनहार संकल्पों के अनेक रूप मानता है।

शोपेनहार एक निराशावादी दार्शनिक था। एक निराशावादिता के कारण ही उसके दर्शन में पलायनवादिता का समावेश हो गया था। कुछ आलोचकों ने उसके निराशावाद को भारतीय दर्शन का

---

१. HEGEL'S ENCYLOPAEDIA, WORKS, Vol. VI, p. 15, quoted by Prof. Upron in Hibbert Lectures for 1893.

२. वेदान्तसार ५, ६।

३. *Vasudeva, J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p. 69.

प्रभाव कहा है। इस सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जायेगा।

जहां तक शोपेनहार के दर्शन और अद्वैत वेदान्त के साम्य मूलक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, शोपेनहार ने अद्वैत वेदान्ह ही नहीं भारतीय दर्शन के मूलाधार उपनिषदों की प्रशंसा बड़ी भावपूर्ण एवं यर्थाथ अभिव्यक्ति के साथ की है। उपनिषद् दर्शन की सराहना के सम्बन्ध में शोपेनहार की निम्नलिखित उक्ति जो उन्होंने अपने ग्रन्थ Welt als wille und Vorstellung के प्राक्कथन में कही है इतनी प्रसिद्ध है कि प्रायः जहां किसी लेखक के द्वारा शोपेनहार की चर्चा हुई है वहां इस निम्नलिखित उक्ति को या इसके कुछ अंश को अवश्य उद् घृत किया गया है। इस लेखक ने भी इस उक्ति का संकेत अद्वैत वेदान्त के महत्त्व के सम्बन्ध में आरम्भ में ही कर दिया है। यहां भी उसका उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। शोपेनहार ने लिखा है–

In the whole world there is no study, except that of the originals, so benefitial and so elevating as that of the Aupnikhat. It has been the solace of my life and it will be the solace of my death.[2]

अर्थात् शोपेनहार का तात्पर्य है कि वेदों को छोड़कर संसार भर में उपनिषदों के समान लाभप्रद तथा उत्तम दर्शन और दूसरा नहीं है। जिस पर पड़े प्रभाव की ओर निर्देश करते हुए शोपेनहार कहते हैं कि उपनिषद् मेरे जीवन में सांत्वना देते रहते है और मेरे मृत्यु के समय पर भी यह मुझे सांत्वना प्रदान करेंगे।

शोपेनहार के उक्त कथन के आधार पर यह निःसन्देह स्वीकार करना होगा कि उन पर भारतीय उपनिषद् साहित्य या तत्प्रतिपादित वेदान्त दर्शन या स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस स्थल पर इस प्रभाव की दिशा देखने का प्रयास किया जायेगा।

शोपेनहार और उपनिषद् वर्ती संकल्पवाद (Voluntarism)

शोपेनहार ने जिस संकल्प-शक्ति या इच्छा-शक्ति के आधार पर संकल्पवाद की स्थापना की है उसका स्पष्ट रूप हमें छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित उद्धहरण में मिलता है–

तानिह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पेप्रतिष्ठितानि......संकल्पमुपास्स्वेति।[3] अर्थात् यह (मन आदि) संकल्प रूप लय स्थान वाले, संकल्पमय तथा संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार द्युलोक और पृथ्वी, वायु और आकाश जल और तेज भी संकल्प कृत है। इनके संकल्प के लिए वृष्टि समर्थ होती है अथवा यों कहिये कि उन द्युलोकों आदि के संकल्प से वृष्टि होती है। वृष्टि के संकल्प के लिए अन्न समर्थ होता है, अन्न के संकल्प के लिए प्राण समर्थ होते है, प्राणों के संकल्प के

---

१. *Max Muller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 8.
Dr. Radhakshnan : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. : II; p. 633 (F.N.)
Dr. S.N. Das Gupta , INDIAN PHILOSOPHY, Vol: I, p. 40.
Dr. S.K. Maitra's article - Schopenhaur & Neitzsche (HISTORY OF PHILOSOPHY, p. 286).

2- THE WORLD AS WILL AND & IDEA, Vol. I, pp. Xii-Xiii. (Translated by *Haldane & Kemp*)

३. छान्दोग्यापनिषद् ७।४।२।

लिए मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रों के संकल्प के लिए कर्म समर्थ होते है, कर्मो के संकल्प के लिए सब समर्थ होते है, इसी संकल्प की उपासना करो। संकल्प को ब्रह्म का रूप देते हुए छान्दोग्यापनिषद् में कहा है कि जो इस संकल्प ब्रह्म की उपासना करता है वह भगवान के रूप को प्राप्त करता है।[१]

छान्दोग्यापनिषद् के उक्त उद्धरण में संकल्पवाद की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा मिलती है। मेरे विचार से उपनिषदों के उपर्युक्त संकल्पवाद का प्रभाव शोपेनहार के संकल्पवाद[२] पर भी पड़ा है। परन्तु यहां यह और उल्लेखनीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त उद्धरण के आधार पर जहां संकल्पवाद (Voluntarism) की प्रतिष्ठा की गई है वहां ज्ञानवाद (Intellectualism) का प्रतिपादन भी किया गया है।[३]

भारतीय दर्शन के शोपेनहार के दर्शन पर उपर्युक्त प्रभाव के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने शोपेनहार के निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इन विद्वानों में डेविट[४] तथा रानाडे[५] प्रमुख हैं। रानाडे महोदय ने शोपेनहार के निराशावाद पर औपनिषद निराशावाद का प्रभाव खोजते हुए कठोपनिषद् का नीचे लिखा उद्धरण दिया है-

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदानति दीर्घे जीविते को रमेत। (क० उ० १।१।२८)

कठोपनिषद् की उपर्युक्त पंक्तियों में नचिकेता यमराज से कह रहा है कि हे यमराज आप ही बताइये भला आप जैसे अजर-अमर महात्माओं का सम्पर्क प्राप्त करके भी मृत्युलोक का जरा-मरण शील ऐसा कौन मनुष्य होगा जो स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा। कठोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण से शोपेनहार के विचार की तुलना करते हुए रानाडे महोदय लिखते हैं-

This is almost in the spirit of Schopenhaur who said that the last thing for man here below is not to have been born at all and the second last to have died young.[६]

रानाडे महोदय के कथनानुसार उपनिषत् की उपर्युक्त विचार दृष्टि शोपेनहार के इस कथन के लगभग समान ही है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छा तो यह होता कि वह इस पृथ्वी पर जन्म ही न लेता और फिर दूसरी कोटि की अच्छाई यह होती कि वह युवावस्था में ही मर गया होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि अभी उद्घृत किया जा चुका है प्रो० डेविट ने शोपेनहार पर हिन्दू विचारधारा का

---

१. छा० उ० ७।४।३

२. THE WORLD AS WILL AND IDEA, (Book I). Ranade's CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, pp. 116, 117. से उद्धृत।

३. छा० उ० ७।५।१,२,३।

४. Another instance of the effect of Hindu thought upon the philosphe-(Schopenhaur) was his pessmism. *Dewett,-H. Parker* : SELECTION FROM SCHOPENHAUR. Introduction.

५. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 294.

६. वही।

प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु हिन्दू विचारधारा से मेरे विचार से उपनिषद्वर्ती विचारधारा का ही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि शोपेनहार पर, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है, उपनिषदों का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रो० डेविड तथा रानाडे के उक्त मतों की अयुक्तता के सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को कदापि निराशावाद का जनक नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में इस लोक में जीव के आत्मतत्त्ववेत्ता होने का वर्णन इस वात का प्रमाण है कि उपनिषद् दर्शन निराशावादी दर्शन नहीं है। इस कथन के प्रमाण में हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के इस उद्धरण की ओर दृष्टिपात करना चाहिये जिसमें कहा गया है कि आत्मज्ञानी शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा को आत्मा में ही देखता है तथा सब कुछ आत्म स्वरूप ही देखता है।[1] यही नहीं, उपनिषदों में जहां-जहां इस लोक में ही आत्म ज्ञान होने की वात कहीं है,[2] उससे सिद्ध होता है कि औपनिषद-दर्शन इस लोक में ही मनुष्य के साफल्य का द्योतक है। अतः शोपेनहार पर औपनिषद-दर्शन के निराशावाद का प्रभाव बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रो० रानाडे ने शोपेनहार के निराशावाद से तुलना करते हुए कठोपनिषद् के जिस अंश को उद्धृत किया है उसमें नचिकेता के द्वारा इस सांसारिक सौन्दर्य तथा प्रेमजन्य सुख के जीवन को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले अमर जनों के जीवन की अपेक्षा हेय वतलाया गया है। ब्रह्मानन्द और सांसारिक सुख का भेद तथा अपेक्षाकृत उच्चावचभाव स्वाभाविक ही है। अतः कठोपनिषद् की ऊपर निर्दिष्ट की गयी पंक्तियों के आधार पर रानाडे महोदय का शोपेनहार के निराशावादी दर्शन से उपनिषद् दर्शन की साम्यमूलक तुलना करना उचित नहीं है। परिणामतः, यह लेखक डाक्टर एस० के० मैत्रा के इस कथन से पूर्णतया सहमत है कि शोपेनहार का निराशावाद उसके भारतीय दर्शन की विचारधारा के अध्ययन का प्रभाव नहीं था।[3] अव जहां तक शोपेनहार द्वारा स्वयं उपनिषद् दर्शन का प्रभाव स्वीकार करने की बात है, निश्चय ही शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर उपनिषद् दर्शन का प्रभाव पड़ा है परन्तु यह प्रभाव शोपेनहार पर शान्त तथा चिन्तापूर्ण जीवन के रूप में पड़ा था। अतः जैसा कि डॉक्टर मैत्रा का विचार है शोपेनहार का चिन्तन पूर्ण जीवन के प्रतितीव्र प्रेम भारतीय दर्शन के सम्पर्क का ही प्रभाव था।[4] इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि शोपेनहार के दर्शन पर उपनिषद् दर्शन के प्रभाव की दिशा निराशावाद की कदापि सूचन नहीं थी। सत्य तो यह है कि दार्शनिक शोपेनहार का यह दुर्भाग्य ही रहा कि वह भारतीय दर्शन के प्रभाव से प्रेरित अपनी हार्दिक अनुभूति को दार्शनिक रूप देने में असफल रहा। परन्तु किसी आलोचक विद्वान् को इस विषय में वैमत्य नहीं होना चाहिए कि शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर औपनिषद् वेदान्त का पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

---

१. वृहदारण्यकोपनिषद्–४।४।२३ सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २, पृष्ठ १८०।

२. छान्दोग्योपनिषद्–४।१४।३, ७।२६।२।

३. Schopenhaur's Pessimism, therefore was not derived from his study of Indian thought. *Dr. S.K. Maitra*'s Article Schopenhaur and Niethzshe (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 290).

४. HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, edited by *Dr. Radhakrishnan*, p. 290.

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन

इस्लामी दर्शन के कुछ प्रवर्तक : इस्लामी दर्शनाकाश का सर्वप्रथम द्युतिमान् नक्षत्र इस्लामी दर्शन का प्रमुख एवं सर्वप्रथम दार्शनिक मुहम्मद है। मुहम्मद का जन्म ५७० ई० में मक्का में एक पुजारी वंश–कुरैश–में हुआ था। पैग़म्बर मुहम्मद के आजन्म अनपढ़ रहने की बात विवादग्रस्त है। इतना अवश्य स्वीकार्य होना चाहिए कि इस्लाम के इस पहले दार्शनिक ने यहूदी और ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। यह बात दूसरी है कि उसका यह अध्ययन पुस्तकों पर आधारित था अथवा सत्-संगति पर। अपने अद्भुत ज्ञान के आधार पर चालीस वर्ष की अवस्था में मुहम्मद ने अपने आपको अल्लाह का भेजा हुआ (रसूल) घोषित कर दिया था। मुहम्मद ने अपने समय में प्रचलित पुरोहितवाद का घोर विरोध किया था। यह इसी का फल था कि मक्का के पुजारी उनके कट्टर शत्रु हो गए थे, और अन्त में रसूल मोहम्मद को मक्का छोड़कर यस्रिव को सन् ६१४ ई० में प्रवास करना पड़ा था। उनके इस 'हिज्रव' (प्रवास) के आधार पर ही इस्लाम के मानने वालों ने हिज्री सन् का आरम्भ किया था। जहां मुहम्मद साहब मक्का से भागकर पहुंचे थे–उस 'यस्रिव' का नाम ही मदीना पड़ गया था। मुहम्मद साहब की जीवनी बड़ी अद्भुत एवं रोचक है, परन्तु यहां उसका विस्तार विषयान्तर हो जायेगा, इसलिए हम यहां यही कहकर 'अलम्' करेंगे कि मुहम्मद साहब ने अरब के लोगों में केवल इस्लाम के वास्तविक सिद्धान्तों का ही प्रचार नहीं किया, वरन् उन्होंने अपने अनुयायियों का आर्थिक, सामाजिक एवं सैनिक दृष्टि से भी नेतृत्व स्वीकार किया था।

हज़रत मुहम्मद की मृत्यु (६२२ ई०) के पश्चात् इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रचारकों की कमी न रही। अबूबकर, उमर, उस्मान, आदि ने मुहम्मद के सिद्धान्तों की मान्यता को स्थायी रखने का पूर्ण प्रयास किया था, परन्तु सब विफल होकर रह गया। इस विफलता का यह फल हुआ कि इस्लामी दर्शन में भी भारतीय दर्शन के शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य आदि के सम्प्रदायों की तरह अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए।

इन सम्प्रदायों में निम्नलिखित सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे–

१. मोतज़ला सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के आचार्यो में अल्लाफ अबुल-हुजैल अल-अल्लाफ़ (नवीं शताब्दी), नज्जाम (८४५ ई०), जहीज़ (८६९ ई०), मुअम्मर (६०० ई० के आस-पास), अबूहाशिम बस्ती (६३३ ई०) आदि प्रसिद्ध थे।

२. करामी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रर्वतक मुहम्मद बिन् -कराम थे। इन्हीं के नाम से इस सिद्धान्त को प्रचार हुआ था।

३. अश्अरी सम्प्रदाय

इसके प्रवर्तक अबुल-हसन अश्अरी (८७३-६३५ ई०) थे।

उपर्युक्त इस्लामी दार्शनिकों के अतिरिक्त अनेक इस्लामी दार्शनिक जैसे अजीजुद्दीन राजी

(६२३ या ६३२ ई०), अबू याकूल किन्दी (५७० ई०), फारावी (५७०-६५० ई०), बू-अली मस्कविया (१०३० ई०), बू-अली सीना (६५०-१०३७ ई०) और गज़ाली (१०५६-११११ ई०) आदि तत्व चिन्तन में लगे रहे। इस स्थल पर लेखक का उद्देश्य यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में कैसा पारस्परिक सम्बन्ध वर्तमान है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय यद्यपि लेखक के हृदय में यह धारणा बद्धमूल नहीं है कि इस्लामी दर्शन अद्वैत दर्शन से प्रभावित है, परन्तु यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इतिहास के अधिकारी विद्वानों ने इस्लामी दर्शन पर जहां प्लेटो और अरस्तू, प्लोटिनस और फिलो, जोरोस्टर और मनी के विचारों का प्रभाव स्वीकार किया है वहां उन्होंने महायान बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के विचारों का प्रभाव स्वीकार करने में भी संकोच नहीं किया है।[1] समालोचकों का उपर्युक्त कथन कहां तक सत्य है इस बात का निर्णय दोनों सिद्धान्तों के साम्यमूलक अध्ययन से स्वतः हो जायेगा।

अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद और इस्लामी दर्शन

ब्रह्मवाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त का मौलिक प्रतिपादन हमें उपनिषदों में मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि यह सब प्राणी जिसमें उत्पन्न होते हैं और जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसमें प्रवेश करते हैं, उसी को जानने की इच्छा करो और वहीं ब्रह्म है।[2] परमात्मा के सम्बन्ध में यही भाव हमें कुरान की निम्नलिखित आयत में भी मिलता है–

'इन्न लिल्लाह व इन्ना इलैहे राजयून'

अर्थात् हम लोग परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और परमात्मा में ही जायेंगे।

देखा जाए तो कुरान की उक्त आयत की इस्लाम के 'वहदतुलवुजुद' के सिद्धान्त की आधार मालूम होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का उद्गम एक ही तत्व है और उसी में सारी सृष्टि का लय हो जाता है। इसके अतिरिक्त इब्नुल का अरबी 'हमावस्तु' अर्थात् सब कुछ वही है, सिद्धान्त भी कुरान की उपर्युक्त आयत पर ही आधारित प्रतीत होता है। उपनिषद् परवर्ती दर्शन में भी इस ब्रह्मवाद का विवेचन गौडपाद, शंकराचार्य वाचस्पति मिश्र और मधुसूदन सरस्वती आदि के ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से मिलता है।

आत्मा के बारे में सूफियों का विचार है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है जो विभिन्न पदार्थों और जीवों के रूप में अभिव्यक्त होता है।[3] सूफियों का यह विचार श्वेताश्वतर उपनिषद् के नीचे उद्धृत मन्त्र से पूर्ण रूप से मिलता है–

'एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।'[4]

कुरान के परमात्मा के सर्वज्ञत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परमात्मा की दृष्टि से अपने को कोई नहीं बचा सकता।[१] कुरान में अभिव्यक्त परमात्मा के सर्वज्ञत्व का विचार बृहदारण्यकोपनिषद्[२] में वर्णित परमात्मा को लोकवित्' सर्ववित् विशेषणों के अन्तर्गत पूर्ण रूप से मिलता है। उपनिषद् परवर्ती अद्वैत वेदान्त में तो परमात्मा के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन विशेष रूप से मिलता है। अद्वैत ब्रह्म की एक मात्र पारमार्थिक सत्यता को स्वीकार करते हुए अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को माया कहा गया है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त के बीज उपनिषदों में ही मिलने आरम्भ हो जाते है। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के हेतु जगत् की उपमा इन्द्रजाल से दी है।[३] इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक का सारा इन्द्रजाल मिथ्या है उसी प्रकार यह जगत् भी मिथ्या है। इसी प्रकार कुरान में भी एक स्थल पर कहा गया है कि जान जो कि यह सांसारिक जीवन एक खेल-तमाशा है, यह बाह्य आडम्बर है और तुम्हारे भीतर मिथ्या अहंकार को जन्म देने वाला है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अद्वैतत्व और माया सम्बन्धी सिद्धान्तों से इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की समानता देखने को मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त

ऊपर यह देखा जा चुका है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। पूर्ण परमात्मा को सृष्टि के उत्पन्न करने की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूफी निम्नलिखित हदीस का प्रमाण देते हैं–

'कुन्तों कनज़न मखफीयन् फ़ाहववतो अन ओरिफो फखल कतुल 'खल्क' अर्थात् इस परमेश्वर ने कहा कि मैं एक छिपा हुआ राजा था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की। अव वेदान्त को लीजिये। तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'उस परमेश्वर ने इच्छा की कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊं'–सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति' (तै० उ० २।६) इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा का विचार वेदान्त और इस्लामी दर्शन में प्रायः समान ही है।४

जीवन का अविनाशित्व–

इस्लामी दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक गज़ाली (१०५६-१११११ ई०) जीव का लक्षण बतलाते हुए कहता है।

'व लैसल–वद्नो मिन् कवाये ज़ातेका
फ इन्हदाम ले–वद्ने ला य अद्मो-का'[५]

अर्थात् शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है, इसलिए शरीर का नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक गज़ाली ने जीव को अविनाशी तथा शरीर को नश्वर बतलाया है। यह विचार

---

१. कुरान सुरा (८६:१६) (सूरा ५७:६, १०)।
२. वृ० उ० ३।७।१।
३. ब्र० सू० शा० भा० २।१।६।
४. कुरान सूरा ५७:२०।
५. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१ से उद्धृत।

हमें ठीक इसी रूप में उपनिषदों और गीता में मिलता है। उपर्युक्त भाव की व्यंजक निम्नलिखित पंक्ति कठोपनिषद् और गीता दोनों में ही प्राप्त है।

अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे
(कठ० उ० १।२।१८, गीता २।२०)

अर्थात यह आत्मा नित्य, शाश्वत एवं सनातन है। शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

परम तत्त्वज्ञान के स्वरूप का विचार

गज़ाली का परवर्ती दार्शनिक इब्नरोश्द (११२६-११९८ ई०) परम विज्ञान की अवस्था का वर्णन करते हुए कहता है कि ईश्वर का ज्ञान, ज्ञान के ज्ञान का नाम है, क्योंकि उस अवस्था में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता है वही ज्ञेय है और इसके अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है।[1] अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परम ज्ञान की उक्त रूप 'ब्रिह्मविद्' अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी' स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, इस वाक्य के द्वारा व्याख्यात हुआ है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत मुक्ति में भी जहां ब्रह्म की ही मुक्ति की अवस्था है,[2] ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेद व्यवस्था के लिए स्थान नहीं है। अतः ज्ञान की यह अद्वैत स्थिति वेदान्त और इस्लामी दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है।

जैसा कि पीछे यूनानी दर्शन की अद्वैत वेदान्त के साथ तुलना करते समय देखा जा चुका है, वेदान्तिक दृष्टि से अद्वैत तत्त्व तर्क द्वारा अप्राप्य है।[3] इस सम्बन्ध में इस्लामी दार्शनिकों ने भी उक्त विचार का ही आश्रय लिया है। अबुल हुसैन अल्नूरी का कथन है कि ईश्वर को तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे ईश्वर के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[4]

इसी प्रकार इस्लामी दार्शनिक खल्दून (१३३२-१४०६ ई०) का विचार है कि तर्क ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, वह केवल उस पथ को अंकित करता है, जिसे हमें मनन करते समय पकड़ना चाहिए था, वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुंचते है।[5] दोनों पद्धतियों में इस प्रकार के कथन स्थान-स्थान पर मिलते है।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया अवस्थायें

कठोपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, इन चार अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।[6] इस्लामी दर्शन में यह अवस्थायें चार मंज़िलों के नाम से प्रसिद्ध है। पहली जाग्रह अवस्था को

---

१. मावाद-तबइयात् , पृष्ठ २५५।
२. ब्रह्मैवहि मुक्त्यवस्था ब्र० सू० शा० भा० ३।४।५२।
३. कठ० १।२।६।
४. "For it is not for reason to know God, but through God." HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. p. 512.
५. राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ २५६।
६. कठ० उ० ६, १०, ११, १२।

इस्लामी दर्शन में 'नासूत', स्वप्नावस्था को 'मलकूत', सुषुप्ति को 'जबरुत', और तुरीया को 'लाहूत' कहा गया है। तुरीयावस्था को 'सोऽहमस्मि' का अनुभव इस्लामी दार्शनिक की चतुर्थ मंज़िल लाहूत का 'अनलहक' का अनुभव है।[१]

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनेकों सिद्धान्तों में केवल नाम का ही भेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, वेदान्त का अद्वैत इस्लाम में 'तौहीद', वेदान्त का परम सतय इस्लाम का 'मुतलक़', वेदान्त का 'सत्यस्यसत्यम्' इस्लाम में हक़्क़ीकत-उल्-हक़्क़ाहक़ और वेदान्त की 'ज्योतिषां-ज्योतिः' इस्लाम में 'नूर-अल् नूरिन्' के नाम से प्राप्त है। वेदान्त ने जिस जगत् को मिथ्या, एवं माया कहा है इस्लामी दर्शन में उसे 'मअलूम-इ-म-अदूम' और मौजूद-इमौहूम कहते हैं। जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को व्यक्ताव्यक्तसर्वव्यापी, एवं अन्तर्यामी कहा गया है उसी प्रकार इस्लामी दर्शन में ईश्वर को 'बातिनं' और 'ज़ाहिर' तथा 'मुदीत' और 'सादी' बतलाया है।

ऊपर किये विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में बहुत कुछ साम्य होने के कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीन काल से चला आ रहा है। दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों की उपर्युक्त साम्यताओं के आधार पर यह मानना न्यायसंगत ही होगा कि इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। इसीलिए जैसा कि ब्राउन, मैक्सहार्टिल और गोल्डज़ीहर आदि पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि इस्लाम की विचारधारा के प्रमुख तत्त्व भारतवर्ष से लिये गये है।[२] अतः जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव देखना उचित ही है परन्तु यहां लेखक यह कहना कदापि न भुलेगा कि दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों में उपर्युक्त साम्य होते हुए भी, इस्लामी दर्शन के सिद्धान्त पूर्णतया वेदान्त के ही सिद्धान्त नहीं है।

अद्वैतवाद की सैद्धान्तिक विचारधारा का संक्षिप्त स्वरूप

यद्यपि, जेसा कि प्रो० मैक्समूलर भी मानते हैं प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत वेदान्त शब्द का प्रयोग न मिलने पर भी वेदान्तिक विचार दृष्टियों के सम्वन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता,[३] परन्तु मेरे विचार से औपनिषद विचारों से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन करना कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है। अतः उपनिषदों में अनेकानेक अद्वैत परक अभिव्यक्तियां होते हुए भी केवल अद्वैतवाद का मण्डन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में प्राप्त अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय में विवेचन किया जायेगा। इस स्थल पर तो अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रस्थापक आचार्य शंकर सम्मत अद्वैतवाद का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करना ही उपयुक्त होगा। वैसे तो शांकर अद्वैतवाद का सागोपांग विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार केवल एक अद्वैत तत्त्व की ही पारमार्थिक सत्यता स्वीकार की गई

---

१. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 513.

२. But the fact remains and as Brown, Max Harten, Gold Zither and others have testified, there are important elements in Western speculation which have been derived from India. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 502.

३. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY : Vol. II, p.3.

है। इसीलिए अद्वैतवाद को केवलाद्वैतवाद भी कहते हैं। अद्वैती शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[1] (ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है) और 'ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते'[2] (परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता) आदि अनेक उक्तियों के द्वारा अद्वैतवाद सिद्धान्त की मूल विचारधारा की ओर संकेत किया है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही 'सत्' तत्त्व है। परन्तु इस सत् का एक पारिभाषिक अर्थ है। अद्वैती शंकर ने 'सत्' की परिभाषा बतलाते हुए कहा है–

'सत् किम्, कालत्रेयऽपितिष्ठति इति सत्'[3]

अर्थात् सत क्या है ? जो तीनों कालों में स्थिर रहता है, यह सत् है। ब्रह्म अद्वैत वेदान्त का यही सत् तत्त्व है। एक मात्र सत् तत्त्व ब्रह्म, ज्ञानस्वरूप, अनादि, अनन्त, सर्वोच्च तथा निगुर्ण तत्त्व है। प्रो० फैरियर ने ब्रह्म को एक आवश्यक तत्त्व माना है।[4] जगत् का मूल कारण ब्रह्म ही है। यह ब्रह्मवाद अद्वैतवाद का एक पक्ष है।

अद्वैतवाद का दूसरा पक्ष मायावाद है। मायावाद सिद्धान्त के अभाव में अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक रूप निष्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि उपनिषदों में अनेक अद्वैतपरक उक्तियां मिलने पर भी वहां अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यों, 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[5] अर्थात् माया को, मायी परमात्मा की प्रकृति जानना चाहिए, के रूप में माया की चर्चा तो श्वेताश्वर उपनिषद् में मिलती है, परन्तु इस लेखक की दृष्टि में केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर मायावाद सिद्धान्त की निष्पत्ति उपनिषदों में नहीं देखी जा सकती।[6] प्रकृतिविषयानुसार तो यही कहना है कि मायावाद के द्वारा ही अद्वैतवाद की पुष्टि सम्भव है। अद्वैत सिद्धि के सम्वन्ध में जव यह प्रश्न उठता है यदि ब्रह्म सत्य है तो जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तो इस प्रश्न का समाधान माया के सिद्धान्त के द्वारा ही होता है। माया परमात्मा की अनादि शक्ति है और इस माया के ही कारण परमात्मा में जगत् का उपदानकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व है।[7] इस प्रकार जगत् की सत्ता मायिक है और माया मिथ्या है। परन्तु यहां यह स्मरणीय है कि माया शशश्रृंगवत् मिथ्या नहीं है। माया का मिथ्यात्व, सदसद् विलक्षणत्व वाला मिथ्यात्व है। इसीलिए अद्वैती शंकराचार्य ने भी जगत् के व्यवहार को स्वीकार किया है।[8] परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत् होते हुए भी जगत् पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णतया मिथ्या है। अतः परमार्थ में केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है। अद्वैतवाद की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। इस विषय का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

---

१. विवेक चूडामणि-२०।
२. शां० भा० मा० उ० १।१८।
३. तत्त्वबोध–२७। भार्गव पुस्तकालय, संवत् १९९८।
४. *Farrier* : INSTITUTIONS OF METAPHYSISCS, p. 522.
५. श्वे० उ० ४।१०।
६. विशेष देखिये, डा० राममूर्ति शर्मा, शंकराचार्य, पृष्ठ १०३-१०४।
७. तत्र ब्रह्म जगदुपादानकारणं निमित्तकारणञ्चेत्यद्वैतसिद्धान्तः, महामहो० अनन्तकृष्ण शास्त्री, अद्वैततत्वसुधा, द्वितीय भाग, प्रथम संपुट भूमिका। पृ० ८।
८. सत्यानृते मिथुनीकृत्यायंलोकव्यवहारः, ब्र० सू० शां० भा० उपोद्घात।

अद्वैतवाद और आचार दर्शन

आचार दर्शन पूर्णतया जीवन दर्शन है। साथ ही साथ वेदान्तिक आचार दर्शन को तो मैं मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् तथा पारलौकिक मूल्य की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु मानता हूं। 'आ' उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होने पर आचार शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ व्यवहार होता है। इस प्रकार आचार दर्शन को व्यवहार दर्शन भी कहा जा सकता है। इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स के अन्तर्गत भी आचार के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द इथिक्स का विषय मानवीय व्यवहार एवं चरित्र को ही माना है।[१]

उपनिषद्वर्ती आचार तत्त्व

उपनिषदों के अन्तर्गत भी हमें आचार सम्बन्धी तत्त्वों का पूर्ण विकास मिलता है। उपनिषद्वर्ती आचारवाद के सम्बन्ध में प्रो० डायसन का मत है कि उपनिषदों में व्यक्तिगत आचार सम्बन्धी मूल्यों का ही बाहुल्य है। डायसन महोदय का विचार है कि लोकोपयोगी नैतिक मूल्यों का उल्लेख उपनिषदों में पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट रूप में मिलता है।[२] मेरे विचार में डायसन महोदय का विचर औचित्य पूर्ण नहीं है। यहां हम उपनिषदों के कतिपय लोकोपयोगी आचारिक तत्त्वों का उल्लेख करेंगे।

छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत जीवन को सोमोत्सव के रूप में पांच प्रकार की दक्षिणा बतलाई गयी है। इस दक्षिणा के यह पांचरूप—तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य वचन हैं।[३] बृहदारण्यक उपनिषद् में जहां प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को केवल 'द' अक्षर के द्वारा क्रमशः दमन, दान एवं दया के उपदेश की बात बतलाई गयी है, वहां भारतीय आचार तत्त्व का निरूपण किया गया है।[४] महानारायणोपनिषद् में सत् कर्म का महत्व प्रदर्शित करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि जिस प्रकार संपुष्पित वृक्ष की गन्ध दूर तक बहती है, उसी प्रकार सत् कर्म की गन्ध भी दूर तक जाती है।[५] इस उक्ति के अन्तर्गत लोकोपयोगी कर्म का स्पष्ट संकेतमिलता है।

इसके अतिरिक्त आचार दर्शन की पोषक आश्रम व्यवस्था का वर्णन भी उपनिषदों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य,[६] गृहस्थ,[७] वानप्रस्थ,[८] एवं संन्यास[९] आश्रमों का जो विवेचन उपनिषदों में

---

१. Its subject matter is human conduct and character. E.R.E. Vol : V. p. 414.
२. *Deussen* : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 364, 365.
३. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।
४. तदेतदेवेषा दैवीवागनुवदति-स्तनयित्नुर्ददद इति दाम्यत, दत्त दयध्वमिति तदत् त्रयं शिक्षेद् दमं, दानं, दयामिति। बृ० उ० ५।२
५. महानारायणोपनिषद् ८।२।
६. कौषीतकि ब्रह्मणोपनिषद् ४।१६ छा० उ० २।२३।१, ८।५।१, ८।५।२, ४।४।५, मुण्डक० १।२।१२।
७. तैत्तिरीयोनिषद् १।११।१, छा० उ० २।२३।१।
८. बृ० उ० २।४।१, ४।५।१, २।
९. संन्यासोपनिषद् ।

मिलता है उसमें मानव जीवन के क्रमिक आचारिक विकास की ही भावना निहित है। इस प्रकार उपनिषदों में लोकोपयोगी आचार सम्बन्धी तत्वों की कमी नहीं कही जा सकती।

शांकर अद्वैत और आचार दर्शन

अद्वैती शंकर के जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में अस्पष्ट धारणा रखने के कारण कतिपय आलोचक उनके दर्शन को जगत् में पलायित मानते हैं तथा यह आक्षेप करते हैं कि उसमें आचार को कोई महत्त्व नहीं है। यह निःसन्देह सत्य है कि शंकराचार्य एवं अन्य अद्वैती विद्वानों के दर्शन का चरम प्रतिपाद्य आत्मवोध अथवा ब्रह्मज्ञान या मोक्ष है।[1] साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि अद्वैती का ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञान रूप ही नहीं वरन् वह आनन्दरूप भी है। पश्चिमी दार्शनिक स्पिनोज़ा भी अनन्त एवं असीम तत्व के प्रति किए गए प्रेम से उत्पन्न आनन्द को शुद्ध एवं दुःखलेश से रहित मानता है।[2] इस प्रकार यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि परम आनन्द की प्राप्ति ब्रह्म साक्षात्कार होने पर ही होती है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार आचार, आत्मवोध एवं ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होता है। अद्वैतवादी शंकराचार्य का कथन है कि यों तो आत्मा सदा सर्वत्र वर्तमान है परन्तु फिर भी सर्वत्र अवभासित नहीं होता। जिस प्रकार कि प्रतिविम्ब स्वच्छ पदार्थो में ही पड़ सकता है, उसी प्रकार आत्मवोध भी निर्मल अन्तःकरण वाले जीवों को ही हो सकता है।[3] अन्तःकरण के इस नैर्मल्य का कारण ही आचार तत्त्व है। अतः परम्परया आचार को ही मोक्ष का साधन समझना उपयुक्त ही है। शंकराचार्य को मोक्ष के पारम्परिक साधनों के स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपश्चर्या और व्रत ज्ञान के ही साधन हैं।[4]

अद्वैत दर्शन में आचार पक्ष के ही अन्तर्गत योग को भी आत्मज्ञान का कारण माना गया है। अद्वैत मत में योग प्रतिपादित यम और नियम को वहिरंग साधना तथा धर्म और ध्यान को अन्तरंग साधना का कारण बतलाया गया है।[5] इसके अतिरिक्त योग के शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधि को सद्वैत मत में ज्ञान का साधप स्वीकार किया गया है।[6]

अद्वैत दर्शन का कर्म सिद्धान्त तथा आचार पक्ष

ज्ञान तथा कर्म का विलक्षण प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त के आचार पक्ष का पूर्णतया समर्थक

---

१. शांकर भाष्य–ब्र० सू० १।१।४।

२. But love towards an object eternal and infinite feeds the mind with a joy that is pure with nothing of sadness. DEINTELLECTUS EMENDETION. pp. 9 & 10.

३. यदासर्वगतोप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
वुद्धावेवावभासेत स्वच्छेपु प्रतिबिम्बवत् ।। आत्मवोध १७।
(ओरियन्टल वुक एजेन्सी पूना–१०५२)

४. वृ० उ० शा० भा० ४।४।२२।

५. डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ६१६।

६. ब्र० सू०, शा० भा० ३।५।२७।

है। वैसे तो शांकर वेदान्त के अनुसार सीधे कर्म अथवा ज्ञानकर्म समुच्चय से मुक्ति लाभ करने के सिद्धान्त को न स्वीकार करके केवल ज्ञान के द्वारा मुक्ति स्वीकार की गई है।[1] परन्तु अद्वैतवादी शंराचार्य ने कर्म को महत्त्व स्वीकार करते हुए अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत आचार पक्ष की रक्षा की है। आचार्य ने अपने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि कर्मों के द्वारा संस्कृत हुए विशुद्धात्मजन उपनिषत् प्रकाशित आत्मा को विना किसी प्रतिबन्ध के जानने में समर्थ होते है। इस प्रकार आचार्य शंकर का विचार है कि काम्य वर्जित नित्य कर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साधक हैं।[2] अतः नित्य कर्म परम्परया मोक्ष के साधक हैं। शंकराचार्यपरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने आचार एवं कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जब मनुष्य स्वाभाविक राग और द्वेष को जीतकर शुभवासना की प्रवलता से धर्मपरायण होता है तो वह देवकोटि को प्राप्त होता है और जब वह स्वभावसिद्ध राग द्वेष की प्रवलता से अधर्म परायण होता है तो वह असुरत्व को प्राप्त करता है।[3] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने भी धर्म परायणता एवं अधर्मपरायणता की व्यवस्था द्वारा कर्म के क्षेत्र में आचार का ही समर्थन किया है। इस प्रकार जो नित्य कर्म करता है उसका अन्तःकरण फलरागादि से कलुषित नहीं होता। नित्य कर्मो के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं विशुद्ध तथा आनन्दरूप आत्मा के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। अतः यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिये कि अद्वैत दर्शन में आचार पक्ष के अन्तर्गत कर्म की महत्ता भी स्वीकार की गई है।

आश्रम व्यवस्था और आचार पक्ष

अद्वैत दर्शन जाति-पांति एवं वर्ण-वर्णगत संकीर्णताओं से दूर हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार किसी भी जाति का कोई भी पुरुष परम ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त कर सकता है। अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्मज्ञान के लिए आश्रम व्यवस्था भी अनिवार्य नहीं है। आश्रम रहित जीव भी ब्रह्म विद्या का अधिकारी है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का निम्नलिखित मत उद् घृत किया जा सकता है–

अनाश्रमित्वेनवर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६) उक्त सिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए शंकराचार्य ने श्रुति समर्थित रैक्व और वाचकनवी के दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं।[4] अनाश्रमी होते हुए भी यह दोनों ही ब्रह्मवेत्ता थे।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त के अनुसार पुरुष मात्र जप, उपवास और देवता आराधन का अधिकारी होने के कारण ब्रह्म विद्या का अधिकारी कहा गया है।[5] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन के

---

१. ऐतरेयोपनिषद् , शा० भा० उपोद्घात।

२. बृ० उ०, शा० भा० ४।४।२२।

३. स्वाभाविकौ रागद्वैषौ अभिभूययदा शुभवासनाप्रवल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्रावल्येन अधर्मपरायणोभवति तदा असुरः। गीता व्याख्यायां मधुसूदनः (बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन पृ० ४४७ से उद्धृत)

४. ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६।

५. पुरुषमात्र सम्वन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३८।

दृष्टिकोण से ब्रह्मविवित्सु के लिए आश्रमादि की व्यवस्था अनिवार्य नहीं है। यही अद्वैत दर्शन का समत्वमूलक एवं व्यापक दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त विवेचन के साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि जहां अद्वैत दर्शन में आश्रमादि व्यवस्था को ब्रह्मज्ञानी के लिये अनिवार्य नहीं बतलाया गया है, वहां आचार पक्ष की रक्षा के लिए आश्रादि व्यवस्था को स्वीकार भी किया गया है।[1] इस लेखक का विचार है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम की व्यवस्था का पालन करने से मोक्ष मार्ग में सरलता हो जाती है। अतः आचार की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था के द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादकों ने अद्वैत दर्शन के आचार पक्ष को ही सबल बनाया है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।२६।

द्वितीय अध्याय

अद्वैतवाद का अव्यवस्थित इतिहास

वैदिक अद्वैतवाद

अद्वैतवाद दर्शन के एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के सत्, सर्वव्यापी, अनादि एवं अनन्त होने के कारण इस अनादि सृष्टि में, उसके रहस्यमय रूप की जिज्ञासा एवं तद् विषयक चिन्तन-मनन की प्रवृत्तियों का अनादिकाल से ही पाया जाना स्वभाविक है। यही कारण है कि अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक विकास अत्युत्तरकाल (शंकराचार्य काल) में होने पर भी, वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हमें अद्वैतवाद दर्शन की पृष्ठभूमि को बलवती बनाने वाली अभिव्यक्तियां मिलती हैं[1]। इस स्थल पर हम वैदिक साहित्य के अंग-संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों में अद्वैत दर्शन की पोषक अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

संहिताएँ और अद्वैत वेदान्त

संहिताओं में दार्शनिक विचारों की उपलब्धि के सम्बन्ध में विचार करते हुए इम्पीरियल गज़ेटियर में कहा गया है कि इस काल में ही चिन्तकों द्वारा आत्मवाद का चिन्तन आरम्भ हो गया था[2]। इस सम्बन्ध में प्रो० कीथ ने कहा है–

अर्थात् भारत की प्राचीनतम कविता में भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप के चिन्ह पहले से वर्तमान हैं।

प्रो० मैक्समूलर[4] तथा डायसन[5] ने भी वैदिक संहिताओं में भारतीय दर्शन के बीज निःसंकोच रूप से स्वीकार किए हैं। अब यहां यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि संहिताओं में भारतीय दर्शन की प्रमुख विचारधारा अद्वैतवाद के बीज किस सीमा तक उपलब्ध होते हैं।

---

१. तिलेषुतैलवद्‌ वेदेवेदान्तः सुप्रतिष्ठतः। मु० उ० १। ६।
वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः। श्रीमद्भागवत ११। २१. ३५।

२. Imperial Gazetteer of India, Vol. : I, p. 404.

३. *Keith* : RELIGION AND PHILOSOPHY OF THE VEDA, p. 433. Harvard Oriental Series, Longman Vol : 32.

४. *Max Muller* : THE SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol : II, p. 32.

५. *Deussen* : ALLGEMLIUE - GESEHICHTE DER PHILOSOPHIE, p. 83.

ऋग्वेद संहिता और अद्वैतवाद

देवतावाद और अद्वैतवाद–ऋग्वेद के अन्तर्गत प्राप्त देवताओं के वर्णन में अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्पष्ट पृष्ठभूमि दिखाई पड़ती है। मैक्समूलर द्वारा हेनोथीज़्म (Henotheism) की विचारधारा में भी अद्वैतवाद के अन्तर्गत प्रतिपादित परमात्मा सम्बन्धित सर्वशक्तिवाद की छाया मिलती है। हेनोथीज्म की विचारधारा के सम्बन्ध में पाश्चात्य समालोचक विद्वानों में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया था। जर्मन विद्वान प्रो० वेबर भी हेनोथीज़्म के सम्वन्ध में भ्रांत हो गये थे।[1] कदाचित् हेनोथीज़्म के सम्बन्ध में होने वाली भ्रान्तियों की आशंका से ही मैक्समूलर ने हेनोथीज़्म की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

> ...to address either Indra or Agni or Varuna, as for the time being the only God in existing with an entire forgetfulness of all other gods, is quite another; and it was this phase, so fully developed in the hymns of the Veda, which I whished to mark definitely by a name of its own calling it Henotheism.[2]

मैक्समूलर की उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार अन्य देवताओं की सत्ता को पूर्णतया भूलकर इन्द्र अभवा अग्नि वरुण को अद्वितीय देवसत्ता के रूप में सम्बोधित करना 'हेनोथीज़्म' का विचर है। उक्त विचार के अनुसार जिस समय जिस देवता का वर्णन किया जाता है उस समय उसका स्वरूप सर्वोच्च होता है। परन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक देवता की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करते समय अन्य देवताओं का मूल्य न्यून हो जाता है[3]। वस्तुस्थिति तो यह है कि उस समय देवताओं के वर्णनकर्ता की दृष्टि में अन्य देवताओं की सत्ता का लोप-सा रहता है। अन्य देवताओं की सत्ता के लोप का कारण मेरी दृष्टि में यही प्रतीत होता है कि वर्णनकर्ता का मस्तिष्क स्वरुचि के अनुसार जिस देवता से प्रभावित होता था, वह उसी को सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान् मानकर वर्णन करता था। यही कारण है कि एक स्थान पर यदि इन्द्र को सर्वप्रधान एवं उत्कृष्टतम कहा गया है तो एक दूसरे स्थान पर वरुण देवता को अखिल भुवन का अधिपति कहा गया है[4]। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर वरुण देव की प्रधानता को द्योतित करते हुए उनकी प्रज्ञा को अहिंस्य कहा गया है[5]। इसी प्रकार अग्नि देवता को भी त्रिलोकी[7] का शिरोभूत कहा गया है। इस प्रकार के वर्णन, चाहे प्रो० मैक्डोनल के मत में अत्युक्ति पूर्ण ही क्यों न हों,[8] परन्तु इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनमें अद्वैतवादी विचार की

---

१. *Max Muller* : SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 39.
२. वही, पृ० ३६।
३. THE RIGVEDA by *Dr. Adolf Kaegi* p. 27.
४. ऋग्वेदसंहिता ५। ३०। ५।
५. वही० ५।८५। ३।
६. ऋग्वेद ५। ८५। ६।
७. ऋग्वेद १०। ८८। ५।
८. *Macdonell* : Vedic Mythology, p. 17.

आरम्भिक पृष्ठभूमि निश्चित मिलती है। परन्तु यहां यह संकेत करना भी उपयुक्त होगा कि जहां देवताओं के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में अद्वैतिक विचार के बीज मिलते हैं, वहं देवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्वतन्त्र सत्ता के आधार पर बहुदेववाद का भी समर्थन होता है।[१]

प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा के वर्णन में अद्वैतवाद के बीज

ऋग्वेद में प्रजापति, विश्वकर्मा और त्वष्टा सर्वोच्च देवताओं के रूप में वर्णित हुए है। ऋग्वेद में प्रजापति को अद्वितीय अधीश्वर एवं अखिल जगत् का स्रष्टा कहा गया है।[२] इसी प्रकार विश्वकर्मा को भी जगत् का स्रष्टा तथा पालक एवं इन्द्रादि देवताओं का निर्माण करने वाला तथा उन्हें तत् तत् पदों पर स्थापित करने वाला कहा है।[३] ऋग्वेद में प्रजापति एवं विश्वकर्मा की ही तरह त्वष्टा को भी सर्वोच्च देवता का रूप दिया गया है। त्वष्टा के सम्बन्ध में कहा है कि वे द्यावा पृथिवी एवं संसार के समस्त प्राणियों के स्रष्टा हैं।[४]

उपर्युक्त देवताओं के सर्वोच्च एवं देवाधिदेतत्व के रूप में हमें अद्वैत वेदान के परात्पर एवं जगत् के स्रष्टा परमात्मा के स्वरूप के बीज रूप में दर्शन होते है।

परमतत्त्व के एकत्व एवं अजत्व की अभिव्यक्ति

ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के षष्ठ मन्त्र में षड् लोकों के धारण कर्ता को अजन्मा एवं एक कहा गया है।[५] आचार्य सायण ने उक्त मन्त्र में वेदान्त दर्शन के ब्रह्म सम्बन्धी विचार के बीज रूप में दर्शन किये गए हैं।[६] ऋग्वेद के–'एकंसद विप्रा बहुधा वदन्ति'[७] वाक्य के अन्तर्गत भी एक तथा सत् तत्त्व की ओर ही संकेत है। उक्त वाक्य में एकत्व में अनेकत्व की कल्पना अद्वैतवाद के विवर्तवाद का ही मूलरूप है। नासदीय सूक्त में तो, जिसका देवता परमात्मा है, स्पष्ट उल्लेख है कि प्रलयकाल में केवल एक तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं था।[८] नासदीय सूक्त के इस एक तत्त्व में भी परमात्मा की ही अभिव्यक्ति मिलती है। नासदीय सूक्त की अद्वैतिक विचारधारा का निरूपण आगे किया जायेगा।

पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष में ब्रह्म के स्वरूप की पृष्ठभूमि

ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अन्तर्गत विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कहा है कि विराट् पुरुष सहस्र शिरों, अनन्त चक्षुओं तथा अनन्त चरणों वाला है। वह (विराट्पुरुष) भूमि को चारों ओर से व्याप्त

---

१. *Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 19.
२. ऋग्वेद संहिता १०।१२१।१-१०।
३. वही, १०।८२।३।
४. वही, १।११०।६।
५. वही, १।१६४।६।
६. सायण भाष्य, ऋग्वेद १।१६४।६।
७. ऋग्वेद १।१६४।४६।
८. तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास–ऋग्वेद १०।१२६।२

करके तथा दशांगुल परिमाण अधिक होकर–ब्रह्माण्ड से बाहर भी अवस्थित है।[1] यह सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुष का चतुर्थांश मात्र है। इस विराट् पुरुष के अविनाशी तीन पाद तो दिव्यलोक में स्थित हैं। पुरुष के स्रष्टा रूप का वर्णन करते हुए पुरुष सूक्त में कहा है कि उस आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव मनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि बनाई और पुनः जीवों के शरीरों की रचना की।[2] इस प्रकार पुरुष सूक्त के पुरुष को अद्वैत वेदान्त के उस ब्रह्म कस पूर्वरूप कहना अनुचित न होगा जो सर्वत्र व्यापक तथा जगत् का कारण है।

नासदीय सूक्त और अद्वैतवेदान्त

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। लोकमान्य तिलक ने तो इस सूक्त को मनुष्य जाति का सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन चिन्तन कहा है।[3] वस्तुतः नासदीय सूक्त ऋग्वेद काल के ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिन्तन का पूर्णतया परिचायक है। इस सूक्त का देवता भी परमात्मा है। इस सूक्त का ऋषि परमेष्ठी प्रजापति जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में न असत् था और न सत् न दिन था और न रात थी। पृथिवी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाश में विद्यमान सप्तभुवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था?[4] इस प्रकार जगत् की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय सभी अज्ञात और सभी जलमय था। तुच्छ वस्तु अज्ञान के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्पन्न हुआ।[5] इसके पश्चात् परमात्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई।[6] उपनिषद् में भी परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत हुए कहा है–'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इति'[7] सृष्टि का आरम्भ बताते हुए नासदीय सूक्त में कहा है कि सर्वप्रथम परमात्मा से बीज की उत्पत्ति हुई और बुद्धिमानों ने बुद्धि द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति स्थान निरूपित किया।[8] इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में परमात्मा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि यह नाना सृष्टियां उत्पन्न कीं, किसने नहीं कीं–यह सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। वह सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सृष्टि को जानना है अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन की दृष्टि से नासदीय सूक्त में परमात्मा को अज्ञान से आच्छन्न

---

१. ऋग्वेद १०।६०।१।
२. वही १०।६०।३,५।
३. ऋग्वेद संहिता १६।१२६ पर देखिये पाद टिप्पणी (गौरीनाथ झा द्वारा प्रकाशित, सुल्तान गंज, १६६२)।
४. ऋग्वेद १०।१२६।१।
५. ऋग्वेद संहिता १०।१२६।३।
६. कामस्तदग्रे समवर्तत।–ऋग्वेद संहिता १०।१२६।३।
७. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली, षष्ठ अनुवाक्।
८. ऋग्वेद १०।१२६।४।

कहना, परमात्मा की सिसृक्षा का वर्णन करना, परमात्मा से बीजोत्पत्ति का निरूपण करना तथा परमात्मा की सर्वज्ञता की ओर निर्देश करना अद्वैत वेदान्त के परमेश्वर के रूप का ही अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत नासदीय सूक्त की प्राचीनतम टिप्पणी मिलती है।[1] इस टिप्पणी के अनुसार "आरम्भ में यह जगत् न सत् रूप था और न असत् रूप था। आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था। उस समय केवल मन मात्र की ही सत्ता थी। यही कारण था कि ऋषि ने यह कहा कि 'न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीम्' अर्थात् आरम्भ में न असत् था और न सत् था क्योंकि मन न सत् है और न असत् है। उस मन के ही अनेक रूपों में प्रगट होकर अनेक रूप ग्रहण करके सृष्टि की इच्छा की। उसने अपने आपको खोजा, फिर तप किया और इस प्रकार फिर सृष्टि की उत्पत्ति हुई।"[2]

इस प्रकार शतपथब्राह्मण की उपर्युक्त टिप्पणी से यह पता चलता है कि सत् असत् तत्त्व की जो विवेचना उत्तर काल में आकर अद्वैत वेदान्त की मूलाधार बनी, उसका आरम्भिक रूप हमें नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायिक जगत् को सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। यह सिद्धान्त नासदीय सूक्त के अन्तर्गत 'नासदासीन्नो सदासत्तदानीं' मन्त्र में अन्तर्भूत है। नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रयुक्त असत् शब्द का अर्थ शशविषाणवत् असत् तथा तत् शब्द का अर्थ निर्वाच्य पदार्थ से है।[3] इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जो मूल तत्व था वह न शशविषाण वत् असत् था और न निर्वाच्य (व्यावहारिक) सत्। इसीलिए वह सत् तथा असत् से विलक्षण है।

प्रो० गफ़ ने नासदीय सूक्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के मायावाद सिद्धान्त के मूल रूप के दर्शन किये हैं।[4] प्रो० गफ़ के कथन का औचित्य इस तथ्य से प्रकाशित होता है कि जिस प्रकार नासदीय सूक्त में जगत् के मूल कारण को सत् तथा असत् से विलक्षण कहा गया है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्पादिका बीज शक्ति अविद्या को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। परन्तु यहां यह और विचारणीय है कि नासदीय सूक्त में मूल तत्त्व के जिस सत् रूप का निषेध किया गया है उससे निर्वाच्य एवं व्यावहारिक सत् का तात्पर्य है, परन्तु इसके विपरीत माया की सद्रूपता के निषेध से उसकी (माया की) पारमार्थिक सत्ता के निषेध का तात्पर्य है।

हंसवती ऋचा और अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त विचारधारा की दृष्टि से ऋग्वेद की हंसवती ऋचा (४।४०।५) अत्यंत महत्त्वपूर्ण

---

१. शतपथब्राह्मण १०।५।३।१।

२. *Dr. Muir* : SANSKRIT TEXTS, p. 358, Eggling's Translation of S.B.S.B.E. Vol. XLIII, p. 374, 375.

३. यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरुपाख्यं न आसीत्।..तथा नो सत् नैवसदात्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम् आसीत्।। सायणभाष्य ऋग्वेद १०।१२६।१।

४. गफ़ के मत के लिए देखिए–जे० कीर्तिकार–स्टडीज़ इन वेदान्त, पृ० ३८।

है। इस ऋचा के अन्तर्गत सर्व प्राणियों के चित्त में स्थित एवं समस्त उपाधियों से रहित परमात्मा का वर्णन हंस रूप में किया गया है। यहां हंस शब्द का अर्थ आदित्य है। इस ऋचा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वाधिष्ठान ब्रह्म के रूप में करते हुए कहा गया है कि आदित्य दीप्त द्युलोक में स्थित रहते हैं। वे ही वायु रूप में अन्तरिक्ष में अवस्थित रहते हैं तथा होता (वैदिकाग्नि) के रूप में वे ही स्थूल पर गार्हपत्यादि रूप में स्थित रहते हैं एवं अतिथिवत् पूज्य होकर गृह (पाकादि साधन रूप से) अवस्थिति करते हैं। वे मनुष्यों के मध्य में चैतन्य रूप से स्थित रहते हैं। इस लेखक की दृष्टि से उक्त विचार आदित्य की परमात्म रूपता का द्योतक है। इस ऋचा में आदित्य की परमात्मरूपता का वर्णन करते हुए कहा है कि वे वरणीय मण्डल, ऋतु (सत्य, ब्रह्म या यज्ञ) तथा अन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वे (आदित्य) जल में उत्पन्न हुए हैं, रश्मियों में उत्पन्न हुए हैं, सत्य में उत्पन्न हुए हैं तथा पर्वतों में उत्पन्न हुए है। आदित्य के सर्वदृश्य एवं सत्य जात स्वरूप को सिद्ध करते हुए सायण का कथन है कि आदित्य इन्द्रादि की तरह परोक्ष नहीं होते।[1]

हंसवती ऋचा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में किया गया है। आदित्य के उक्त रूप का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत भी मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के मन्त्र में भी आदित्य का सूचक हंस शब्द ही है।[2]

इस प्रकार ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि अपने परिपक्व रूप में मिलती है।

सामवेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

जैसा कि प्रो० ग्रिफिथ ने कहा है कि सामदेव का महत्त्व पवित्रता एवं धार्मिकता की दृष्टि से ऋग्वेद से दूसरा है।[3] परमात्मा कृष्ण ने तो गीता में अपने आप को सामवेद ही कहा है—वेदनां सामवेदोऽस्मि (गीता १०।२२)। अतः परमात्मा रूप सामवेद में परम तत्त्व सम्बन्धी विचार सूत्र मिलना आश्चर्यास्पद नहीं है। सामवेद के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के परम तत्त्व ब्रह्म को सत्यरूप वाला कहा है।[4] ब्रह्म की एक मात्र सत्यता अद्वैत वेदान्त का तो प्राण ही है। इसके अतिरिक्त सामवेद के एक मन्त्र[5] में सृष्टि के आदिकारण के रूप में भी अद्वैत तत्त्व रूप परब्रह्म की चर्चा हुई है। यद्यपि उक्त मन्त्र के

---

१. देखिये, सायण भाष्य, ऋग्वेद ४।४०।५।

२. हंस : शुचिषदित्येष वै हंसःशुचिषत् ।। (ऐ० ब्रा० ४।२०)

३. The Samveda or Veda of holy songs, third in the usual order of enumeration of the three vedas, ranks next in sanctity and litergical importance to the R, gveda or veda of Recited praise.
R.T.H. Griffith : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, preface, (Lazaras & Co: Banaras) 1926.

४. सामवेद ६।३।४।१० (श्रीराम शर्मा आचार्य संपादित, गायत्री तपोभूमि, मथुरा १६६०)।

५. In all the world that was the best and highest whence sprang the mightyone, of splendid valour. *R.T.H. Griffith* : HYMNS OF THE SAMVEDA, 6/3/17.

अन्तर्गत व्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु जैसा कि आचार्य सायण मानते हैं तत्[1] शब्द से यहां व्रह्म का ही तात्पर्य है।[2] 'स्टीवेन्सन ने तत्' (that) शब्द से आदिम मूल तत्त्व का अर्थ ग्रहण किया है।[3] मेरे विचार से यहां तत् शब्द का अर्थ सृष्टि का आदि कारणरूप मूल तत्त्व ही प्रतीत होता है। इसी मूल तत्त्व की परवर्ती वेदान्त दर्शन में ब्रह्म रूप से विस्तृत व्याख्या हुई है। सामवेद संहिता में एक स्थल[4] पर ब्रह्मज्ञान का संकेत भी मिलता है। इस स्थल पर स्कालिअस्ट (Scholiast) के अनुसार 'Great delight' का अर्थ ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है।[5] मेरी विचार दृष्टि से 'Great delight' का अर्थ ब्रह्मानन्द ही है।

उपर्युक्त संकेतों के आधार पर यह सन्देहास्पद नहीं रह जाता कि सामवेद के अन्तर्गत भी अद्वैत वेदानत के पुष्ट एवं प्रामाणिक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित विचार रेखाएं मिलती हैं। यहां कतिपय स्थलों की ओर ही संकेत किया जायेगा।

यजुर्वेद के ३२वें काण्ड के प्रथम से पंचम मन्त्र तक के स्थल में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान्, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वहीं परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र ब्रह्म आप और प्रजापति आदि नामों से अभिहित होता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर, नीचे, तिरछे और मध्य से नहीं ग्रहण किया जा सकता। उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, क्योंकि वह महान् यश वाला है। इसीलिए अनेक वेद मन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। परमात्मा के सर्वव्यापकत्व एवं अधिष्ठातृत्व को सिद्ध करते हुए इसी स्थल पर कहा है कि वही देव सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है और वही सब के अन्दर पहिले से स्थित है।[6] इसके अतिरिक्त बीसवें काण्ड के ३२वें मन्त्र में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान स्वीकार किया गया है।[7] अद्वैत वेदान्त के मत के अनुसार भी ब्रह्म समस्त जगत् का अधिष्ठान ही है। एक और मन्त्र में परमात्मा को समस्त

---

१. तदिहास भुवनेषु ज्येष्ठं यतोयज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः—सामवेद ६।३।१७ श्रीराम आचार्य संपादित, पृ० ३६२।

२. That : meaning, according to Sayana, Brahman, the original cause of the universe, that (Primoval essence alone) Stevenson, *R.T.H. Griffith* : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 266 (F.N.).

३. *R.T.H. Griffith* : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 266 (F.N.)

४. सामवेद ६।२।१० (ग्रिफिथ सम्पादित)

५. Great delight meaning according to Scholiast perfect knowledge of Brahman. *R.T.H. Griffith* : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 331 (F.N.).

६. यजुर्वेद ३२।१-४।

७. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः—यजुर्वेद २०।३२।

लोक लोकान्तरों का वेत्ता कहा गया है।[१] ४०वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के अन्तर्गत 'ईशावास्यमिदं सर्वे' द्वारा भी अद्वैत सत्ता का ही बोध होता है। यजुर्वेद के अनतर्गत उपलब्ध प्रसिद्ध विराट् पुरुष का वर्णन[२] भी अद्वैत मत का ही समर्थक है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्म रूप होने की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि जो द्यावा पृथ्वी को ब्रह्म जानकर और लोकों को भी ब्रह्म मानते हुए तथा दिशाओं और सर्वादि की परिक्रमा कर, यज्ञ कर्म को अनुष्ठान आदि से सम्पन्न कर ब्रह्म को देखता है, वह अज्ञान से छूटते ही ब्रह्म रूप हो जाता है।[३]

यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है।[४] परन्तु यह विचारणीय है कि इस शब्द का प्रयोग वहां सर्वत्र परमात्मा या अद्वैत तत्त्व के लिए ही नहीं मिलता। ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में कही परमात्मा,[५] कहीं ब्रह्मा,[६] कहीं ब्राह्मण[७] और कहीं प्रजापति[८] के लिए किया गया है।

अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिपादक माया का उल्लेख भी यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है। यजुर्वेद के ११वें अध्याय के ६९वें मन्त्र में आसुरी माया का वर्णन किया गया है। यहां माया की अचिन्त्यरूपता तथा विचित्रता भी प्रतीत होती है। यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्रायः प्रज्ञा के लिए ही किया गया है।[९]

इस प्रकार यजुर्वेद संहिता में हमें अद्वैतवाद से सम्बन्धित पर्याप्त विकीर्ण साम्रगी मिलती है।

अथर्ववेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद संहिताओं की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का कहीं अधिक स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद संहिता में उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में यहां कतिपय स्थलों का विवेचन किया जायेगा।

वेदान्त सूत्र के अन्तर्गत वादरायण ने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'[१०] सूत्र के द्वारा कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की अनन्यता स्वीकार करते हुए अद्वैतवाद के समर्थक विवर्तवाद सिद्धान्त की पुष्टि की है। अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत भी हमें परमात्मा के इस अनन्यत्व एवं अधिष्ठान रूप के दर्शन

---

१. यजुर्वेद ३२।१०।
२. वही, ३१।५।
३. वही, ३२।१२
४. यजुर्वेद संहिता २३।४८, २३।६२ ११।८१, २२।२२ ३२।११, ३२।१६, ३२।१२, ३१।१।
५. यजुर्वेद २३।४८, २२।२२, ३२।११, ३२।१२।
६. वही, २३।६२,।
७. वही, ११।८१, ३२।१६।
८. वही, ३२।१।
९. वही, १३।४४, ३०।७।
१०. ब्र० सू० २।१।१४।

होते हैं। अथर्ववेद संहिता में कहा गया है कि गुहारूप सब प्राणियों के हृदय में सत्य, ज्ञानादि लक्षण वाला परब्रह्म विद्यमान है, जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार हो जाता है, क्योंकि आरोपित वसतु अधिष्ठान से अलग नहीं होती।[१] ऐसे ब्रह्म को वेन-सूर्य ने देखा। इस प्रकार नाम रूपवाले प्रपंचमय भौतिक जगत् को ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सर्वशक्ति सम्पन्न होने से पृश्नि (सूर्य या आकाश)[२] ने प्रकट नाम और रूप वाला कहा है।[३] अथर्ववेद में एक स्थल पर ब्रह्म को उपदेश योग्य सिद्ध करते हुए कहा है कि निरूपाधिक ब्रह्म के तीन पद गुहा में निहित हैं। इससे यहां पर तात्पर्य है कि गुहा में स्थित पदार्थ के समान अज्ञात एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म केवल उपदेश द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।४ आगे चलकर अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक सदानन्द ने भी अध्यारोप एवं अपवाद न्याय के द्वारा ब्रह्म विद्या के उपदेश की बात बतलाई है।[५]

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में एक स्थान पर माया शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का वर्णन है। इस स्थान पर कहा गया है कि परब्रह्म अपनी माया शक्ति से आदित्य (वेन) का रूप ग्रहण करके अपने तेज से भूतभौति कात्मक प्रपंच रूप जगत् को व्याप्त किये रहता है।[६] एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्म की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए कहा है क वह (ब्रह्म) ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर एवं परम तत्त्व का स्वरूप है।[७] परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परब्रह्म के उक्त स्वरूप का चित्रण विस्तार से किया है।

अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार परब्रह्म का बोध अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को अपने में ही होता है। उक्त विचार की मूल पृष्ठभूमि हमें अथर्ववेद संहिता में उस स्थल पर मिलती है जहां विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कश्यप ऋषि यह कहते है कि अप्राणा विराट् प्राणन करने वाली प्रजाओं के प्राणरूप में आता है, और विराट् स्वराट् रूप को प्राप्त हो जाता है। सर्वस्पर्शी विराट के दर्शन पुरुष माया से अमोहित होने पर ही कर सकते हैं, मोहित होने पर कदापि नहीं।[८] अद्वैत वेदान्त सम्मत जगत् की उपादान कारणता के स्पष्ट बीज भी हमें अथर्ववेद में उस स्थल पर उपलब्ध होते हैं जहां ब्रह्म की स्तुति की गई है। इस स्थल पर कहा गया है कि ब्रह्म होता है और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म के द्वारा ही सप्त स्वरों एवं उदात्तादि की यज्ञानुप्रवेष्टता अर्थात उद्गातृत्व आदि हैं। इस स्थल पर ब्रह्म के होता आदि कहने से ब्रह्म का जागतिक पदार्थो से अपार्थक्य एवं उपादान कारणत्व सिद्ध होता है।[९]

---

१. यत्र यस्मिन् अधिष्ठानरूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितम् कृत्स्नं जगत् एकरूपं एकाकारं भवति, आरोपितस्य अधिष्ठानव्यतिरेकेण सत्वाभावात् ।। सायणभाष्य–अ० वे० सं० २।१।१।१।
२. दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत (सायणभाष्य–अ० वे० सं० २।१।१।१)।
३. अथर्ववेद संहिता–२।१।१।१।
४. देखिये अथर्ववेद संहिता २।१।१।१ पर सायण भाष्य।
५. वेदान्त सार ५।६।
६. सायणभाष्य अथर्ववेद संहिता ४।१।१।
७. सायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ७।१।१।१।
८. सायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ८।५।६।६।
९. अथर्ववेद संहिता १६।५।४२।१।

इस प्रकार अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत हमें अद्वैत वेदान्त का पर्याप्त विकसित प्रष्ठाधार मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्व है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ज्ञान एवं कर्मकाण्ड सम्बन्धी अनेक विवेचन मिलते हैं। ब्राह्मणों में अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित अनेक विचार संकेत मिलते हैं।

ऋग्वेद में ब्रह्म का दार्शनिक अर्थ में स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत ब्रह्म का स्पष्ट विवेचन करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में यह जगत् ब्रह्म रूप ही था।[१] इसी ने पहिले देवताओं की सृष्टि की और फिर उन्हें भिन्न-भिन्न लोकों का स्वामित्व प्रदान किया, जैसे अग्नि को इस मर्त्य लोक का, वायु को वायुलोक का और सूर्य को आकाश लोक का। तत्पश्चात् ब्रह्म परार्थ अथवा सत्यलोक को चला गया।[२] फिर उसने इस पर विचार किया कि वह किस प्रकार इस जगत् में अवतरित हो सकता है। उक्त विचार के वाद वह नाम और रूप के द्वारा इस जगत् में अवतरित हुआ। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि नाम और रूप ब्रह्म की महती शक्तियां हैं। जो इन नाम और रूप शक्तियों को जान लेता है वह स्वयं महती शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।[३] एक दूसरे स्थान पर ब्रह्म का पूर्ण सत्ता के रूप में उल्लेख किया गया है तथा उसका सम्बन्ध प्रजापति, पुरुष एवं प्राण (वायु) से दिखया गया है।[४] इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण को स्वयम्भू भी कहा गया है।[५] शतपथ में ही सृष्टि के आरम्भिक रूप के सम्वन्ध में भी एक सूक्ष्म दृष्टि देते हुए कहा है कि आरम्भ में न सत् था और न असत्। उस समय केवल मन (mind) मात्र ही था। मन ही ने अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा की।[६] इसी सिद्धान्त बिन्दु का सविस्तार विकास हमें अद्वैत वेदान्त 'सो कामयत वहुस्यां प्रजायेय'[७] सिद्धान्त के अन्तर्गत मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ईश्वर शब्द का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु वहां इस शब्द का अर्थ परमेश्वर न होकर सामर्थ्यवान् है।[८]

शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त स्थलों में अद्वैत वेदान्त की विचारधारा का स्पष्ट आधार कहा जा सकता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत ईश्वर शब्द का प्रयोग तो हुआ है परन्तु वह परमात्मा के अर्थ में

---

१. श० ब्रा० ११।२।३।१

२. श० ब्रा० ११।२।३।१ पर देखिए हरिस्वामी की टीका।

३. देखिए *Eggelings's* traslation of SATPATH BRAHMAN, S.B.E. Vol. XLIV, pp. 27-28.

४. S.B.E. Vol. XLIII, pp. 59, 60, 400 & Vol. XLIV, p. 409.

५. S.B.E. Vol. XLIV. pp. 417-18.

६. शतपथ ब्राह्मण १०।५।३।१।

७. तै० उ० ब्रह्मवल्ली ६।

८. श० ब्रा० १३।२।६।६, १३।१।२।४, १३।३।४।

नहीं।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में ही वृहस्पति का ब्रह्म रूप से भी वर्णन मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट् रूप से भी वर्णन किया गया है।[3]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋग्वेद के[4] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि किस काष्ठ और किस वृक्ष से स्वर्ग एवं भूलोक की सृष्टि हुई कहा गया है कि ब्रह्म रूप काष्ठ एवं ब्रह्म रूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण किया गया है।[5] उक्त कथन से ब्रह्म की जगत् कारणता का तथ्य प्रकट होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही ज्ञानी के अर्थ में ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है।[6] उक्त अर्थ में ही एक स्थान पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्रह्मविद् शब्द का प्रयोग भी किया है।[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही ब्रह्म को शुद्धि का साधन भी कहा है।[8] पंचविंश ब्राह्मण के अन्तर्गत भी ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है[9] षड्विंश ब्राह्मण ब्राह्मण में प्रजापति का वर्णन किया गया है जो अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना करते हैं।[10] सामवेद के दैवत ब्राह्मण में सकल साम मन्त्रों की सृष्टि ब्रह्म से ही स्वीकार की गई है तथा भिन्न-भिन्न देवताओं के व्याज से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।[11]

ब्राह्मण ग्रन्थों के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपर्युक्त संकेतों से अद्वैत वेदान्त के मूल इतिहास का परिचय मिलता है। संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणों का वेदान्त कुछ अधिक स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक है।

आरण्यक ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आरण्यक ग्रन्थों में भी ब्रह्म विद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में परम पुरुष को ही महान् प्रजापति का रूप दिया गया है–'अयमेव महान् प्रजापतिः' (ऐ० आ० २।१।२)। आत्मा के विभुत्व को सिद्ध करते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि आकाश और पृथ्वी आत्मा का ही रूप है।[12] ऐतरेय आरण्यक में ही कहा है कि सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही जगत् का

---

१. ईश्वरः पर्जन्योवर्ष्टो : (ऐ० ब्रा० ३।१८) ईश्वरोहानृणाकर्तोः (ऐ० ब्रा० १।१४) (डॉ० मंगलदेव शास्त्री के 'हिस्ट्री आफ दि वर्ड ईश्वर' नामक लेख से उद्धृत। यह लेख सातवीं आल इन्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स बड़ौदा की रिपोर्ट के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।)
२. ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१३।
३. वही, (प्रथम भाग पृ० २८) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ माला बनारस।
४. ऋग्वेद १०।३१।४।
५. ब्रह्म वनं ब्रह्म सवृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० २।८।६।६।
६. ब्रह्मवादिनोवदन्ति, तै० ब्रा० १।३।१०।६।
७. तै० ब्रा० १।४।८।६।
८. वही, १।४।८।२।
९. पंचविंश ब्राह्मण ४।३।३, ६।४।१५।
१०. षड्विंश ब्राह्मण २।१।१।
११. दैवत ब्राह्मण २।२१ तथा देखिए इसी पर सायण भाष्य।
१२. यावती वै द्यावा पृथिवी तावानात्मा ऐ० आ० १।३।८।

कारण है और वह मृत् पाषाणादि, औषध्यादि एवं प्राणधारियों में क्रम से अपने को प्रकट करता है।[1] सृष्टि की आरम्भ स्थिति का वर्णन करते हुए ऐतरेयाण्यक में कहा है कि आरम्भ में केवल आत्मा की सत्ता थी। उसने ही लोकों की सृष्टि की इच्छा की और फिर लोकों की सृष्टि की।[2] ऐतरेयाण्यक में ब्रह्म को प्रज्ञान स्वरूप कहा है।[3] ऐतरेयाण्यक में ही एक स्थान पर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि शार्कराक्ष्य (शर्कराक्ष नामक महर्षि के पुत्र) 'उदर ब्रह्म हैं', यह मानकर उपासना करते हैं और अरुण नामक महर्षि के पुत्र 'हृदय ब्रह्म हैं' ऐसा मानकर उपासना करते हैं।[4] इसके अतिरिक्त पुरुषार्थोपलब्धि के सम्बन्ध में कर्म और ज्ञान का समन्वय सिद्ध करते हुए हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है–एषपन्थाः–एतत्कर्मैतद् ब्रह्म (ऐ० आ० २।१।१) अर्थात् यह कर्म और ब्रह्म दोनों ही पुरुषार्थ के साधन हैं। यहां सायण ने कर्म शब्द से विषय के ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का तात्पर्य ग्रहण किया है और ब्रह्मशब्द से विषय के ज्ञान मात्र का।[5]

इस प्रकार ऐतरेयारण्यक में अद्वैत वेदान्त की विचार दृष्टि के सम्बन्ध में अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक में प्रजापति के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने पहले अपने आपसे जगत् को उत्पन्न किया और फिर वे उस जगत् में प्रवेश कर गये।[6] इस प्रकार समग्र जगत् प्रजापति का ही रूप है। यहां प्रजापति का वर्णन परमात्मा के रूप में किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में परब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि वह परब्रह्म ही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, जल और प्रजापति हैं।[7] इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में एक और स्थल पर भी कहा है कि वह ब्रह्म ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर और परम तत्त्व है। वह स्वतः दीप्त रहता है।[8]

परवर्ती अद्वैत वेदान्त दृष्टि के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म रूप ही हो जाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति'। उक्त विचार के सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक में भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करते है हुए कहा गया है–'ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति'[9] अर्थात् ब्रह्म रूप होता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। एक दूसरे स्थल पर भी कहा है कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म में लीन हो जाता है–ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति[10]–तैत्तिरीय आरण्यक में ही यह भी कहा है कि परमात्मा ने इस जगत् प्रपंच की सृष्टि की और फिर वह उसी में प्रवेश कर गया।[11]

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्, पृ० ३५।
२. ऐ० आ० २।१।१।
३. प्रज्ञानं ब्रह्म–ऐ० आ० २।६।१।
४. उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते। हृदयंब्रह्मेत्या रुणयः–ऐ० आ० २।१।४।
५. ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम्, पृ० १७।
६. तै० आ० १।२३।
७. तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेवशुक्रं तद् ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापतिः–तै० आ० १०।१।२।
८. तै० आ० १०।११।२।
९. वही, २।१।
१०. वही, ८।१।
११. वही, ८।६।

शाङ्खायनारण्यक में जिसे कावेल ने कौषीतक्यारण्यक भी कहा है, आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर, अनन्त एवं अबाह्य है।[1]

उपर्युक्त संकेतस्थलों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी हमें अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, जगत् और मोक्ष आदि विचारों के स्पष्ट संकेतदर्शन मिलते हैं। उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में आत्मा का व्यवहार तीन अर्थों में मिलता है–प्राण श्वास के अर्थ में, विश्वात्मा के रूप में और जीवात्मा के रूप में।[2]

उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त

उपनिषदों में प्राप्त वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहां उनमें से कतिपय का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

सदानन्द का मत

वेदान्त को उपनिषद् प्रमाण कहकर सदानन्द ने वेदान्त दर्शन की प्रभाणिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया है। (वेदान्त सार ३)

ब्लमफील्ड का मत

पाश्चात्य विद्वान् ब्लूमफील्ड का तो यहां तक कहना है कि नास्तिक बुद्धवाद को मिलाकर हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण रूप नहीं है जिसका मूल रूप उपनिषदों में निहित न हो।[3]

मैक्समूलर का मत

प्राचीन उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि खोजते हुए मैक्समूलर का विचार है कि शंकर वेदान्तिकविचारों या उनके अंकुरों को प्रत्येक स्थिति में प्राचीन उपनिषदों में खोजने में सफल हुए हैं।[4]

डायसन का मत

पाश्चात्य विद्वान् डायसन मैक्समूलर के मत के ही समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने परवर्ती वेदान्त की आधार भूमि वेदान्त सूत्र को औपनिषद् सिद्धान्त का ही सूक्ष्म संग्रह कहा है।[5]

---

१. शाङ्खायनारण्यकम्, त्रयोदश अध्याय; आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, १६२२।

२. *S.N. Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol : I, p. 26.

३. There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upanishads. (THE RELIGION ON THE VEDA, p. 51).

४. *Max Muller* : VEDANTA PHILOSOPHY, p. 135.

५. *Deussen* : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 27.

प्रो० जे० एस० मेकेन्ज़ी का मत

प्रो० मेकेन्ज़ी का कथन है कि सृष्टि विज्ञान के क्रमिक सिद्धान्त का प्राचीनतम एवं महत्त्वपूर्ण प्रयत्न वह है, जो उपनिषदों में प्रकट किया गया है। इस प्रकार मेकेन्ज़ी ने भी उपनिषदों को वेदान्त सिद्धान्तों की प्राचीनतम पृष्ठभूमि के रूप में ही स्वीकार किया है।[१]

प्रो० गफ़ का मत

गफ़ महोदय का विचार है कि उपनिषद् दर्शन के सर्वातिमहान् व्याख्याता शंकर या शंकराचार्य है।[२] गफ़ कहते हैं कि स्वयं शंकर की शिक्षा उपनिषद् दर्शन की ही स्वाभाविक एवं उचित व्याख्या है।

उपनिर्दिष्ट उद्धरणों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी आलोचक विद्वान् उपनिषदों को वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं। यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में केवल शांकर वेदान्त के ही मूल बीज नहीं उपलब्ध होते वरन् रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क के दार्शनिक विचारों के बीज भी उनमें देखे जा सकते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि उपनिषद् किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है परन्तु जैसा कि प्रो० दास गुप्त भी मानते हैं,[३] शंकराचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों के प्रतिनिधित्व में अत्यधिक सफल हुआ है। वैसे, तो, जहां उपनिषदों में विभिन्न दर्शन पद्धतियों के मूल बीज खोजने की वात है वहां यह कहना असंगत न होगा कि उनमें केवल रामानुज एवं वल्लभादि आचार्यो के वेदान्तिक सिद्धान्तों के बीज ही नहीं उपलब्ध होते, अपितु जैसा कि रानाडे आदि विद्वानों ने अपने खोज पूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत स्पष्ट किया है,[४] बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं शैवदर्शन के वीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। यहां हमारा अभिप्राय उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के बीजदर्शन मात्र से है। इस दिशा में यह देखने का प्रयत्न किया जायेगा कि उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों की आधार भूमि किस रूप में उपलब्ध होती है।

उपनिषद् और ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन

परवर्ती अद्वैत-प्रासाद का आधार ब्रह्म और जगत् के बीच भेद दृष्टि का अभाव एवं एकमात्र ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करना है। कठोपनिषद् के उक्त विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो इस जगत् में भेद देखता है वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होता परन्तु अद्वैत विद्या से बुद्धि के सस्कृत होने पर ही द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव है।[५] इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतू

---

१. E.R.E. Vol. VIII, p. 597.

२. *Gough* : PHILOSOPHY OF THE UPANISHADS, Perface p. VIII.

३. *Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 42.

४. *Ranade* : INDIAN PHILOSOPHY SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 182-184.

५. क० उ० २।१।११।

और उनके पिता आरुणि के सम्वाद में भी ब्रह्म एवं नामरूपात्मक जगत् की एकरूपता का स्पष्ट विचार मिलता है। जब द्वादश वर्ष के पश्चात् श्वेतकेतू विद्या अध्ययन करके अपने पिता आरुणि के पास पहुंचे तो वह वड़े गर्वित एवं सन्तुष्ट थे और अपने आपको विद्वान् समझ रहे थे। पिता आरुणि ने श्वेतकेतू से पूछा कि क्या तुमने अपने गुरु से वह शिक्षा प्राप्त कर ली है जिसके प्राप्त कर लेने पर अश्रुतश्रुत, चिन्तित एवं अज्ञात ज्ञात हो जाता है। पिता के उक्त वचनों को सुनकर श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता स्वीकार की और पिता से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। तब पिता की आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा कि एक मृत्पिण्ड का ज्ञान होने पर सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सुवर्ण पिण्ड का ज्ञान होने पर सुवर्ण जन्य कुण्डलादि विकारों का ज्ञान हो जाता है एवं जिस प्रकार निहिन्ने का ज्ञान होने पर सारे लौह निर्मित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि मृत्तिका सुवर्ण एवं लौह के विभिन्न विकार नाम मात्र के तथा वाचारम्भण मात्र है।[1] इसी प्रकार जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है सारा जगत् ब्रह्म का ही रूप है। यही विचार वृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, समस्त लोक, सहस्र देवता, समस्त भूत और यह सब आत्मा का ही स्वरूप है।[3] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिपद् में ब्रह्म की जो परिभाषा मिलती हैं वह भी पूर्णतया अद्वैत मत की ही समर्थक है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत वरुण अपने पुत्र भृगु से ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और मृत्यु होने पर जिसमें प्रवेश करते हैं उसी को जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है।[4] तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त उद्धरण में अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म की अधिष्ठानता के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् अध्यास। जगत् रूप अध्यास ब्रह्म रूप अधिष्ठान में अविद्या से उत्पन्न होता है और अविद्या निवृत्ति होने पर अध्यास भी नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष उर्ध्वमूल एवं आवाक्शाख है। वही शुद्ध, शुभ्र ब्र एवं अमृतरूप है। समस्त लोक उसी में आश्रित हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहां अश्वत्थ वृक्ष से संसार रूप वृक्ष का संकेत किया गया है और ब्रह्म से उसके मूल का।[5] यहां भी ब्रह्म के अद्वैत एवं अधिष्ठान रूप का चित्रण स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश अनेक रूपों में मिलता है। यहरं उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख किया जायेगा।

१–सत् एवं असत् रूप में ब्रह्म का चित्रण

वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन सत् एवं असत् दोनों रूपों में किया गया

---

१. छा० उ० ६।१।२-७।
२. वृ० उ० २।४।६-६।
३. वही ४।२।६।
४. कठोपनिषद् २।३।१।
५. यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेवशुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्म ज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्वाप् ।। शा० भा० क० उ० २।३।१।

है।[1]

२–ब्रह्म का चित् रूप में वर्णन

ब्रह्म का चित् विशेषण उसकी ज्ञान एवं प्रकाशमयता का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान एवं प्रकाश रूप है। इसीलिये बृहदारण्यक में ब्रह्म को 'ज्योतिषांज्योति'[2] कहा गया है। बृहदारण्यक में ही एक स्थल पर परम तत्त्व को सत्, चित् एवं आनन्द से पूर्ण कहा है।

(बृ० उ० २।४।१२)

३–आनन्द रूप में किया गया ब्रह्म वर्णन

आनन्दवादी अद्वैत दर्शन में ब्रह्म को आनन्द स्वरूप कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म बोध की स्थिति को आनन्द का ही रूप कहा है। (छा० उ० ७।२३)

४–देशातीत ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदों में ब्रह्म को देशादि की सीमा से अतीत कहा गया है। याज्ञवल्का गार्गी को ब्रह्म का स्वरूप वतलाते हुए कहते है कि–हे गार्गी, जिसमें सब ओत-प्रोत हैं, वह अविनाशी है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है न बड़ा है, न वह लोहित है, न वह संसार जीव की तरह स्नेह वाला है। वह आवरण रहित, तम रहित, वायु रहित, स्वाद रहित, गन्ध रहित, नेत्र रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, प्राण रहित, मुख रहित, परिणाम रहित, अन्तर रहित,[3] तथा वाह्य रहित है। न वह कुछ खाता है और न कोई उसको खाता है।[4] इस प्रकार उक्त विवेचन में ब्रह्म का देशातीत रूप स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।

५–कालातीत ब्रह्म का वर्णन

जिस प्रकार कि ब्रह्म देशातीत है उसी प्रकार कालातीत भी है। बृहदारण्यक में ब्रह्म को भूत एवं भविष्यत् काल का स्वामी[4] तथा श्वेताश्वर उपनिषद् में त्रिकालातीत कहा है।[5]

६–कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को अक्षर[6] कहना उसकी कार्य-कारणावस्था का निषेध करना है। क्योंकि जो अक्षर है उसमें परिवर्तन सम्भव नहीं होता। उक्त विचार को ही स्पष्ट करते हुए

---

१. द्वेवाव ब्राह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त्त च मर्त्य चामृर्त च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।
(बृ० उ० २।३।१)।

२. बृ० उ० ४।४।१६।

३. बृ० उ० ३।८।८।

४. ईशानम् भूतभव्यस्य बृ० उ० ४।४।१५।

५. 'परस्त्रिकालात्' श्वे० उ० ६।५।

६. बृ० उ० ३।८।८, ९, १०।

वृहदारण्यक (४।४।२०) में याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं कि यह ब्रह्म अप्रमेय, एवं ध्रुव है। इस प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

७–पूर्ण सत्य के रूप में ब्रह्म वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन पूर्ण सत्य के रूप में भी मिलता है। बृहदराण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है।[1] वृहदराण्यक में ही एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि आत्मा के दर्शन, श्रवण एवं ज्ञान से समग्र जगत् का ही ज्ञान हो जाता है।[2] इस प्रकार औपनिषद दर्शन के अनुसार ब्रह्म अद्वैत एवं पूर्ण सत्ता है।

८–ईश्वर रूप में ब्रह्म वर्णन

परवर्ती वेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। श्वेताश्वर उपनिषद् में भी परमेश्वर को मायी कहा है।[3] कौषीतकी उपनिषद् में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह न साधु कर्मो से महान् बनता है और न असाधु कर्मो से हीन बनता है। वही जिसकी उन्नति चाहता है उसे साधु कर्म करने की प्रेरणा देता है और जिसकी अवनति चाहता है उसे असाधु कर्म करने की प्रेरणा देता है। वही लोकपाल लोकाधिपति एवं सर्वेश है। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म का ईश्वर रूप में वर्णन मिलता है।[4]

९–स्रष्टा रूप में ब्रह्म वर्णन

सूत्रकार वादरायण ने 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।१) सूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा है। परवर्ती वेदान्ती वादरायण का उक्त विचार अपने मूल रूप में हमें सर्व प्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत मिलता है।[5] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के स्रष्टा रूप का वर्णन करते हुए वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा है कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का स्रष्टा रूप भी प्राप्त होता है।

१०–रक्षक रूप में ब्रह्म वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ईश्वर का रूप दिया है और उन्होंने कहा है कि वह आत्मा ही सबका ईश्वर है। वही सब भूतों का अधिपति एवं पालक है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने आत्मा की तुलना सेतु से की है क्योंकि जगत् का रक्षक आत्मा ही सेतु की तरह

---

१. न तु तद् द्वितीयमस्तितोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्, वृ० उ० ४।३।२३।
२. वृ. उ० २।४।५ तथा देखिए मु० उ० १।१।३।
३. श्वे० उ० ४।१०।
४. कौषीतकी उपनिषद् ३।८ तथा देखिए ईशावास्योपनिषद् १ छा० उ० ४।१५।२,४ वृ० उ० ४।४।२२
५. तै० उ० ३।२।

सब को पार लगाने वाला है। वही लोकों की रक्षा के लिये उनको धारण करता है।[1] इस प्रकार उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म एवं आत्मा के रक्षक का वर्णन भी स्पष्ट रूप से मिलता है।

११–उपनिषदों में ब्रह्म के नियन्ता रूप का वर्णन

उपनिषदों में परमात्मा का नियन्ता रूप भी मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो पृथिवी के अभ्यन्तर और बाहर, ऊपर और नीचे स्थित है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जो पृथिवी को जानता है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के बाहर व भीतर रह कर पृथिवी का शासन करता है, जो अविनाशी एवं निर्विकार है और जो तुम्हारा और सब का आत्मा है, वही हे गौतम, अन्तर्यामी है।[2] इसी प्रकार माण्डक्योपनिषद्[3] नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्,[4] व नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्,[5] रामोत्तरतापिन्युपनिषद्,[6] ब्रह्मोपनिषद्,[7] में भी ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप का वर्णन मिलता है।

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का नकारात्मक रूप से भी वर्णन किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने पांच स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के अज्ञेयत्व की ओर संकेत किया है।[8] ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन करते हुए वृहदारण्यक के अन्तर्गत एक स्थल पर याज्ञवल्क्य कहते हैं–

.......सएष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो नं हि सज्यते ऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजयानीयात्,[9] अर्थात् वह आत्मा 'नेति नेति' शबद करके अग्राह्य है। वह आत्मा अशीर्य, असंग एवं अवद्ध है। क्योंकि न वह जीर्ण हो सकता है, न किसी में आसक्त है और न उसको कोई पीड़ा दे सकता है। तथा न वह हत् हो सकता है। मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को कोई किस के द्वारा जान सकता है। वृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश में प्रयुक्त 'असितः' शव्द के विद्वानों ने एकाधिक अर्थ किये हैं। यहां इस सम्वन्ध में डाक्टर दास गुप्त के मत के सम्वन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

डा० दास गुप्त का मत और उसकी आलोचना

डाक्टर दास गुप्त ने 'असितः' का अर्थ करते हुए कहा है कि वह आत्मा खड्ग के आघात

१. एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एषसेतु विधरण एषां लोकानामसंभेदाय... वृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२।
२. वृ० उ० ३।७।१।
३. माण्डूक्योपनिषद्-६।
४. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ४।१।
५. नृसिंहात्तरतापिन्युपनिषद् १।
६. रामोत्तरतापिन्युपनिषद् १।
७. ब्रह्मोपनिषद् १।
८. वृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।२५, ३।६।२६, २।३।६।
९. वृ० उ० ४।५।१५।

से आहत नहीं हो सकता।[1] डायसन ने 'असितः' का अर्थ Not Fettered अर्थात् अवन्द्ध किया है।[2] डाक्टर दास गुप्त ने डायसन, मैक्समूलर और विद्वान रोर के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने वृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है। उक्त विद्वानों के मत की आलोचना करते हुए डा० दासगुप्त का विचार है कि डायसन, मैक्समूलर और रोर ने 'असितः' की व्याख्या विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मान कर की है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' की विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मानकर की गई व्याख्या अप्रामाणिक है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' असि शब्द का अपादान कारक का रूप है।[3] मेरे विचार से डाक्टर दास गुप्त का 'असितः' को अपादान कारक का रूप मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि अपादान कारक का व्यवहार पृथक् करण के अर्थ में होता है। इसके विपरीत डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ करते समय असितः को अपादान कारक न मानकर करणकारक माना है। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ किया है–He cannot suffer by a stroke of the sword.....अर्थात् वह आत्मा खड्‌ग के आघात से आहत नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असितः' को अपादान स्वीकार कर लेने पर उससे करण कारक का अर्थ निकालना, मेरे विचार से अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। अतः मैक्समूलर आदि विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'असितः' का अवद्ध अर्थ ही समीचीन कहा जायेगा। इस मत के समर्थन में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि जिस प्रसंग में असितः का प्रयोग हुआ है वहां असितः से पूर्व अगृह्य, अशीर्य एवं असंग शब्द का नञर्थ बोध्य है। अतः असितः में भी असि को पृथक् शब्द के रूप में न ग्रहण करके नञर्थ बोध्य अवद्ध अर्थ लेना ही संगत होगा। जैसा कि वृहदारण्यक के उपर्युक्त स्थल (वृ० उ० ४।५।१५) में भी कहा गया है, नेति-नेति के द्वारा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के विचार का निरूपण नकारात्मक रूप से किया गया है। नेति नेति से आत्मा अथवा ब्रह्म के अवर्ण्य होने का अभिप्राय है।[4] याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म का नकारात्मक रूप ही से वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म अक्षर, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असंग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर, तथा अवाह्य है।[5] याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के उक्त नकारात्मक रूप के प्रतिपादन में भी 'नेति नेति' वाली शैली की ही पृष्ठभूमि है। पश्चिमी विद्वान् हिलेब्रां और एकहार्ट ने नेति नेति के सम्बन्ध में एक विलक्षण मत प्रस्तुत किया है। यहां इस मत के सम्वन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

---

१. ...He cannot suffer by stroke of the sword. *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 44, 45.

२. डायसन, फिलासफी आफ उपनिषद् स, पृ० १४७। (मैक्समूलर ने भी डायसन के समान ही असितः का अर्थ अवद्ध ही किया है–मैक्समूलर के मत के लिये देखिए–सेक्रिड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग १५, पृ० १८५)

३. ...It is evidently the ablative of Asi, a sword. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45 (F.N.).

४. वृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ३।९।२६, २।३।६।

५. वृ० उ० ३।८।८।

'नेति नेति' के सम्बन्ध में हिलेब्रां और एकहार्ट का मत और उसकी आलोचना

हिलेब्रां ने 'नेति नेति' में 'न' का अर्थ निषेध परक न स्वीकार करके स्वीकृति परक माना है।[१] इसी प्रकार पश्चिमी विद्वान् एकहार्ट भी 'न' का अर्थ निषेध परक न ग्रहण करके स्वीकृति परक मानते हैं। एकहार्ट ने 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं है, वरन् वह (ब्रह्म है) (न इति न, इति) इस प्रकार एकहार्ट न नकारद्वय के द्वारा निषेध का भी निषेध माना है।[२]

पश्चिमी विद्वानों का उपर्युक्त मत भारतीय अध्येताओं के लिए एक नवीन मत तो है परन्तु उचित नहीं। 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है–

'नेति नेति' 'नह्येतस्मादिति नेति, अन्यत् परमस्ति'[३] अर्थात् 'नेति नेति' से बढ़कर परमात्मा का उपदेश दूसरा नही हैं। इस स्थल पर स्पष्ट ही नेति के अन्तर्गत प्रयुक्त नकार का अर्थ निषेध परक है। वादरायण ने भी 'प्रकृतैतावत्वं हिप्रतिषेधति ततो व्रवीति च भूयः' (ब्र० सू० ३।२।२२) के अन्तर्गत यही कहा गया है कि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृत में प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का ही निषेध करती है। शंकराचार्य ने भी वादरायण के उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि 'नेति नेति' श्रुति ब्रह्म के रूप प्रपंच का प्रतिषेध करती है और ब्रह्म को शेष रखती है।[४]

प्रकरण एवं विषय समन्वय की दृष्टि से हिलेब्रां एवं एकहार्ट की 'नेति नेति' की व्याख्या ऊपर निर्दिष्ट की गई उपनिषद् वर्तिनी एवं वादरायण और शंकराचार्य कृत व्याख्या की अपेक्षा हेय एवं अनुचित प्रतीत होती है।

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप

ऋग्वेद में एक ओर आत्मा का प्रयोग जगत् के मूल तत्त्व के लिये किया गया था और दसूरी ओर मनुष्य के प्राणवायु के अर्थ में।[५] उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में मिलता है।[६] उपनिषदों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पुरुष और आदित्य में रहने वाला ब्रह्म एक ही है।[७]

उपनिषदों में आत्मा के भेदों (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण

छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसंग के आधार पर आत्मा के निम्नलिखित तीन रूप मिलते

---

१. A Review of Deussen's Translation of the Upanishads, Deutsche Literaturz, 1897.

२. देखिए, एकहार्ट के मत के लिए–*Deussen* : Philosophy of Upanishads, p. 149.

३. वृ० उ० २।३।६।

४. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२ तथा देखिये शा० भा०, वृ० उ० ४।५।१५।

५. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45.

६. तद् ब्रह्म स आत्मा–तै० उ० १।५।१।

७. स यश्चायं पुरुषे यश्चासौ आदित्ये–तै० उ० २।८ तथा देखिए छा० उ० ३।१।३।७, ३।१।४।२-४; वृ० उ० ५।५।२; मु० उ० २।१।१०।

है–[1] (१) शारीरिक आत्मा (२) जीवात्मा (३) सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

शारीरिक आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए प्रजापति–इन्द्र तथा विरोचन से कह रहे है कि अन्य पुरुष के नेत्र में पुरुष का दर्शन आत्मा का ही स्वरूप है और यह आत्मा अमर तथा अभय है। उक्त विषय के सम्बन्ध में जब इन्द्र तथा विरोचन प्रजापति से पूछते हैं कि भगवन् जल और दर्पण में दिखाई पड़ने वाली वस्तु क्या है तो प्रजापति यही उत्तर देते हैं कि आत्मा ही सब में दिखाई पड़ता है।[2] आत्मा के दूसरे रूप जीवात्मा के सम्बन्ध में शिक्षा देते हुए प्रजापति कहते है कि स्वप्न में जो आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करता है, वह आत्मा ही है। आत्मा के इस स्वरूप का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के एक तीसरे स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रजापति इन्द्र और विरोचन से कहते हैं कि यह जीव सुप्त रहता हुआ आनन्द की ऐसी ऊंची स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उसे किसी स्वाप्निक विचार का नहीं होता।[3] आत्मा का यही सर्वोच्च रूप है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा के अन्य पांच रूप और मिलते है। यह पांच रूप हैं–(१) अन्नमय आत्मा (२) प्राणमय आत्मा (३) मनोमय आत्मा (४) विज्ञानमय आत्मा (५) आनन्दमय आत्मा।

उपनिषदों में माया का स्वरूप–मायावाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त है। बिना माया के ब्रह्म की सिद्धि असम्भव ही कही जायेगी। यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में प्राप्त माया सम्बन्धी विचार परवर्ती मायावाद (शांकर मायावाद) की विचारधारा से भिन्न है। परन्तु इतना तो निःसंकोच स्वीकार किया जायेगा कि उपनिषदों में परवर्ती मायावाद की पृष्ठभूमि अवश्य मिलती है। प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है–एक बार प्रश्नोपनिषद् (१।१६।१) में और एक बार वृहदारण्यकोपनिषद् (२।५।१६) में। प्रश्नोपनिषद् में माया शब्द का प्रयोग आचार की कुटिलता के लिए किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन उपनिषदों के उपर्युक्त माया शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त उत्तरकालिक उपनिषदों में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। श्वेताश्वर उपनिषद् में माया को प्रकृति एवं परमेश्वर को मायी कहा है।[4] इसके अतिरिक्त भी उत्तरकालिक उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है।[5]

उपनिषदों से मुक्ति का सिद्धान्त–मुक्ति सम्बन्धी विचार का पृष्ठाधार औपनिषद दर्शन में भी पूर्ण रूप से मिलता है: मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[6] मुक्त पुरुष का लक्षण बतलाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जिस प्रकार पुष्करपलाश

---

१. *Deussen* : Philosophy of Upanishads, p. 94.
२. छा० उ० ८।७।४।.
३. वही, ८।१०।१ तथा देखिये छा० उ० ८।११।१।
४. श्वे० उ० ४।१०।
५. देखिये नृ० पू० ३।१, कै० १।१२, सर्व० सार० ४, राम० पू० ता० २-४, गोपीचन्दन २, कठ० रूद्र० १०, गोपाल० उप० १७, कृष्ण ४।
६. मुण्डक० ३।२।६।

को जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार आत्मज्ञानी को पापकर्म नहीं लगता।[1] मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे सर्प जव अपनी निर्जीव त्वचा को त्याग देता तो वह किसी वामी के ऊपर पड़ी रहती है उस समय सर्प न उसकी रक्षा का यत्न करता है और न उसे फिर ग्रहण करना चाहता है। इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर सर्प की त्यागी हुई त्वचा की तरह जीते जी भी निर्जीवित पड़ा रहता है अर्थात् ज्ञानी उससे असमवद्ध रहता है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष शरीर रहित और मरण धर्म रहित होता है।[2] मेरे विचार से परवर्ती वेदान्त सम्मत जीवन्मुक्ति सम्वन्धी विचार की पृष्ठभूमि वृहदारण्यक के उपर्युक्त विचार में मिलती है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि परवर्ती अद्वैत दर्शन में मुक्ति के जिस स्वरूप की विवेचना की गई हैं उसकी मूल रूपरेखा उपनिषद् दर्शन में उपलब्ध होती है।

सूत्र साहित्य और अद्वैतवाद

अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि वादरायण का ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का प्रयोग चार जगह हुआ है।[3] चारों जगह ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है। अद्वैतवाददर्शन की प्राणप्रतिष्ठाकर्त्री माया का संकेत ब्रह्मसूत्र में केवल एक स्थान पर हुआ है और वह 'माया मात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सूत्र ३।२।३) सूत्र के अन्तर्गत हुआ है। उक्त सूत्र में माया शब्द का प्रयोग स्वाप्निक प्रपंच के मिथ्यात्व के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिम्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र के अन्तर्गत सूत्रकार ने जागतिक प्रपंच की सत्यता का स्पष्ट निषेध किया है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र–अथातोब्रह्मजिज्ञासा–में भी सूत्रकार के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही वतलाया गया है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र के सूत्रों की रचना सिद्धान्तवद्ध नहीं है तथापि उसमें अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि का पर्याप्त आधार मिलता है।

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त शण्डिल्य सूत्र आदि सूत्रों में भी अद्वैतिक विचारधारा के स्रोत मिलते हैं,[4] परन्तु न्यून रूप में ही।

पुरान साहित्य और अद्वैतवाद

यद्यपि कालनिर्णय आदि की दृष्टि से पुराणों की प्रामाणिकता संशयग्रस्त है, परन्तु कहीं-कहीं तो पुराणों को वेदों से भी प्राचीन वतलाया गया है।[5] अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी पुराणों को स्वीकार

---

१. यथापुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते। छा० उ० ४।१४।३।
२. वृ० उ० ४।४।७।
३. अथातोब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१), ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः (४।४।५), स्याच्चैकस्यब्रह्मशब्दवत् २।३।५, ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४।१।५।
४. *S.K. Belvalkar & R.D. Ranade*: History of Indian Philosophy, Vol. VII, p.12.
५. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणास्मृतम् –अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः (अग्निपुराण ५।३।३ अष्टादशपुराणदर्पण, पृ० ११ सं उद्धृत)

किया है। पुराण भारतवर्ष के प्राचीन धर्म एवं दर्शन के अद्‌ भुत संग्रह रूप हैं। भारतीय दर्शन के विविध सिद्धान्तों व्यवस्थित नहीं तो विस्तृत विवेचन पुराणों में अवश्य मिलता है। यहां पुराणों के अद्वैततत्त्व सम्वन्धी विचार सूत्रों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

विष्णु पुराण के अन्तर्गत परमात्मा के वासुदेव नाम की चरितार्थता बतलाते हुए कहा है कि यह सर्वत्र स्थित है और सब कुछ इसी में स्थित है, इसीलिए इसे वासुदेव कहते है।[1] यह तत्त्व पूर्णतया शुद्ध है, क्योंकि इसमें हेयांश किंचित् भी नहीं है।[2] परम तत्त्व सम्वन्धी उक्त संकेतों में ब्रह्म के सर्वव्याकत्व और उसकी शाश्वतता का स्पष्ट निरूपण मिलता है। विष्णुपुराण के अन्तर्गत विष्णु की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता का संकेत करते हुए एक स्थल पर कहा है कि जगत् के अनेक रूप विष्णु के ही विकार रूप है।[3] विष्णु पुराण के अन्तर्गत विष्णु की माया का उल्लेख भी मिलता है। मोहिनी रूप धारी भगवान् विष्णु अपनी माया के द्वारा दानवों को मोहित करके उनसे कमण्डल लेकर देवताओं को दे देते हैं।[4] विष्णु पुराण के अन्तर्गत एक स्थल पर विष्णु के मायामोह उत्पन्न करने का वर्णन भी मिलता है।[5]

शिव पुराण का शिवाद्वैत वाद तो प्रसिद्ध ही है। शिव पुराण की कैलाशसंहिता में शिव का वर्णन परब्रह्म के रूप में मिलता है। इसीलिए शिव पुराण का दार्शनिक सिद्धान्त शिवाद्वैत कहलाता है।[6] शिव पुराण की रुद्र संहिता के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत परमार्थसत्य का विवेचन करते समय जीव और ब्रह्म की अद्वैतता का निरूपण करते हुए कहा है कि सर्वोच्च सत्य जिससे कि मुक्ति की प्राप्ति होती है शुद्ध चिद् रूप है और चिद्‌रूपता की स्थिति में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता।[7] जीव और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त के विस्तार से सम्पन्न हुआ है। अज्ञान के सम्वन्ध में शिव पुराण में कहा गया है कि वह तो बुद्धि भेद का ही फल है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।[8] परमात्मा रूप शिव के अतिरिक्त जगत् के दर्शन का मूल शिव पुराण में भ्रान्ति बतलाई गयी है।[9] शिव पुराण में कारण और कार्य के भेद को भी अवास्तविक कहा गया है। इस प्रकार शिव पुराण के अन्तर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलते है जहां अद्वैत तत्त्व का स्पष्ट विवेचन मिलता है।

श्रीमद्‌भागवत पुराण का महत्त्व तो 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' से स्पष्ट ही है। श्रीमद्‌भागवत के प्रथम श्लोक में ही अद्वैतवाद का विचार सूत्र वर्तमान है। इस श्लोक में परम सत्य का वर्णन किया गया है। श्रीधराचार्य ने इस श्लोक प्रयुक्त पर शब्द का अर्थ परमेश्वर किया है। इसी श्लोक में परमेश्वर

---

१. विष्णु पुराण १।२।१२।
२. हेयाभावाच्च निर्मलम्–विष्णु पुराण १।२।१३।
३. विष्णु पुराण १।२।३२।
४. वही, ६।१०६।
५. वही, ३।१७-४१।
६. शिवाद्वैतमहाकल्पवृक्ष भूमिर्यथाभवत् ।। शिव पुराण ६।१६।११।
७. शिव पुराण २।२।२३।
८. अज्ञानं च मतभेदो नास्त्यन्यच्चद्वयं पुनः। शिवपुराण ४।३८।८।
९. भ्रान्त्या नानास्वरूपोहि भासते शंकरस्सदा–शिव पुराण ४।४३।१५।

के अधिष्ठान रूप का भी संकेत उपलब्ध है।[1] इस पुराण में प्रायः सभी प्रमुख दर्शन पद्धतियों के सूत्र मिलते हैं। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मादि तत्त्वों के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत में परमेश्वर के ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम दिये गये हैं। परन्तु वस्तुतः परमेश्वर को श्रीमद्भागवत में अरूप एवं चिदात्मा कहा है।[2] परमात्मा अपनी माया शक्ति द्वारा ही जगत् का स्रष्टा है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के विना माया की सत्ता सम्भव नहीं, परन्तु उसकी सत्ता की प्रतीति ब्रह्म में सम्भव नहीं है।[3] श्रीमद्भागवत में जगत् के स्रष्टा परमात्मा को आनन्द एवं अव्यक्त रूप तथा चित् एंवं अचित् शक्ति से सम्पन्न बतलाया गया है।[4] इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अद्वैतवाद सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों का निरूपण स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है।

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के समान ही ज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति को ही योग कहा है। जिसका फल एक ओर तो मुक्ति एवं ब्रह्मैक्य है और दूसरी ओर प्राकृत गुणों के साथ अनैक्य का भाव है। जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में एक स्थल पर कहा है कि जिस प्रकार जल में फेंका गया जल एकता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार योगी भी पूर्णता की स्थिति में एकता को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।[5] मार्कण्डेय पुराण के उक्त विचार अद्वैत के प्रमुख विचार सूत्रों के अत्यन्त समान हैं।

नारदीय पुराण में तो नारायाण का ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णन किया गया है। नारायाण ही स्वयं स्रष्टा, ब्रह्मा, लोकरक्षक, विष्णु एवं संहारकर्ता रुद्र का रूप ग्रहण करते है।[6] नारदीय पुराण में सर्वोच्च सत्य को महाविष्णु भी कहा है। महाविष्णु या नारायण अपनी शक्ति के द्वारा संसार की सृष्टि करते है। नारायण की यह शक्ति सत् एवं असत् तथा विद्या एवं अविद्या दोनों प्रकार की है।[7] नारायण और उनकी शक्ति का उक्त विचार अद्वैत दर्शन की प्रमुख विचारधारा के बहुत कुछ समीप है। शक्ति के सम्बन्ध में नारदीय पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकारर उष्णता अग्नि में व्याप्त होती है उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति भी परमेश्वर से कभी पृथक् नहीं हो सकती।[8] नारदीय पुराण में ईश्वर प्राप्ति के दो साधन बतलाये हैं एक ज्ञान और दूसरा कर्म। ज्ञान का विकास नारदीय पुराण में दो प्रकार से बतलाया गया है–एक श्रुति ग्रन्थों के अध्ययन से और दूसरे विवेक के द्वारा।[9]

---

१. श्रीमद्भागवत प्रथम अध्याय, प्रथम स्कन्ध, प्रथम श्लोक। तथा देखिये श्रीधरी टीका।
२. श्रीमद्भागवत १।३।३०।
३. वही, २।६।३३।
४. वही, ७।३।३४।
५. मार्कण्डेय पुराण ३।६।१, ४०-४१।
६. नारदीय पुराण १।३।४।
७. वही, १।३।६।
८. वही, १।३।१३।
९. वही, १।३।४,५।

कूर्म पुराण में सर्वोच्च सत्ता को विष्णु न कहकर महेश्वर कहा गया है। कूर्म पुराण के अनुसार महेश्वर को अव्यक्त चतुर्व्यूह, सनातन, अनन्त, अप्रमेय, नियन्ता एवं सर्वतोमुख बतलाया गया।[१] अव्यक्त रूप सनातन ईश्वर से ही सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति होती है।

वायु पुराण में सर्वोच्च सत्य का वर्णन ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति, आत्मा, गुह, चक्षुष क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तप, सत्य एवं अतिं प्रकाश आदि रूपों में किया गया है। वायु पुराण में ब्रह्म को सर्वोच्च सत्य सूक्ष्म अनन्त, आनन्दमय, सर्वव्यापी, कूटस्थ, स्वयंप्रकाश एवं चिद् रूप कहा है। वायु पुराण के अनुसार परमात्मा सर्वात्मा एवं भूतात्मा है। इस प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त एवं सर्वोच्च है।[२] मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वायु पुराण में कहा गया है कि सत् एवं असत् कर्मों का त्याग ही मोक्ष का हेतु है।[३] जो पूर्णतया शुद्ध एवं पापरहित है वही परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मानुभाव के सम्बन्ध में वायु पुराण में बतलाया गया है कि समाधि के द्वारा उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसकी स्थिति में साधक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।[४] इस प्रकार वायु पुराण के उक्त विचार अद्वैतवाद की विचारधारा के लिये उपयुक्त विचार-सूत्र प्रदान करते हैं।

स्कन्द पुराण का अद्वैत-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। स्कन्द पुराण की ब्रह्म गीता के अन्तर्गत ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया, जगत् एवं कार्य कारणवाद आदि के सम्बन्ध में अद्वैत दृष्टि से विचार किया गया है। स्कन्द पुराण में शिव को ही परमात्मा एवं परब्रह्म का रूप दिया गया है। यह शिव रूप परमात्मा भोक्ता, भोग्य एवं भोग से विलक्षण है। यही सदाशिव एवं अद्वैत सत्य है।[५] स्कन्द पुराण के अनुसार ईश्वर जीव अज्ञान एवं दृश्य जगत् की सत्तायें ब्रह्म से भिन्न न होकर ब्रह्म ही है।[६] यहां तक कि व्यावहारिक सत्तारूप अज्ञान को भी स्कन्द पुराण में ब्रह्म रूप ही माना गया है।[७] इस प्रकार स्कन्द पुराण में अद्वैत सिद्धान्त का बहुत कुछ व्यवस्थित विवेचन मिलता है।

गरुड़ पुराण में शिव का ही ब्रह्म रूप में वर्णन किया गया है। गरुड़ पुराण का शिव सर्वव्यापी सुर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। गरुड़ पुराण में शिव का परब्रह्म रूप से वर्णन मिलता है।[८] गरुड़ पुराण के अनुसार अविद्यावन्धन से मुक्ति प्राप्ति करने का उपाय ज्ञान है। ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त का गरुड़ पुराण का उक्त विचार अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है।

ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत अदिति द्वारा की गयी कृष्ण की एक स्तुति में उन्हें सनातन भूतात्मा

---

१. माहेश्वरः परो व्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः। अनन्तश्चाप्रमेयश्च नियन्ता सर्वतोमुखः।। कूर्म पुराण ४, ५।

२. वायु पुराण १४।३, ६-८, १३-१४।

३. वही, १७।७।

४. वही, १०, ८६, १८।५, १४।७।

५. ब्रह्मगीता २।१७, १८, ३।१६, १७, ५१-५३, ६।१, १४।१७, १०।३५, ३६, ११।३६।

६. वही, ५।११०।

७. वही, ५।८५, ८६।

८. गरुड़ पुराण ४६।६।

एवं सर्वात्मा कहा गया है।[१] इसके अतिरिक्त संसार में ममत्व की भावना का कारण परमेश्वर की माया को बतलाया गया है।[२] इसी स्थल पर भगवान् की माया के द्वारा पुरुषों के बद्ध होने का उल्लेख भी मिलता है।[३] ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत माया को बन्धन का मूल स्वीकार करना अद्वैत दर्शन के ही समान है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अन्तर्गत कृष्ण को ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णित किया गया है। ब्रह्म वैवर्तपुराण के अनुसार भगवान् एवं भक्त में भेद नहीं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं भक्तों का प्राण हूं और भक्त मेरे प्राण हैं।[४] इतना ही नहीं, भगवान् यह भी कहते है कि मैं भक्तों की रक्षा करने के लिये सदा उनके समीप स्थित रहता हूं।[५] ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार मुक्ति इसी जीवन में सुलभ बतलाई गयी है। जीवन मुक्ति के बन्धन में ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा गया है कि जो आन्तरिक एवं वाह्य रीति से हरि का स्मरण करता है वह इसी जन्म में मुक्ति लाभ करता है।[६]

आग्नेय पुराण में तो स्पष्ट रूप से ही अद्वैत सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। अग्नि पुराण के अनुसार चित् एवं ब्रह्म के योग के ऐक्य का नाम योग है। अग्नि पुराण में विष्णु को ही ब्रह्म का रूप दिया गया है। अग्नि पुराण के अनुसार ब्रह्म के भी दो रूप हैं–एक परब्रह्म और शब्द ब्रह्म।[७] विद्या भी दो प्रकार की है–एक परा विद्या और दूसरी अपराविद्या। परा विद्या ब्रह्म सम्बन्धिनी और अपरा विद्या वेद-वेदांग के ज्ञान से सम्बन्धित है।[८] जब जीव परमात्मा के साथ पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाता है तो उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते है। इस प्रकार अग्नि पुराण के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अत्यन्त स्पष्ट बीज मिलते हैं।

पद्मपुराण में एक स्थल पर भगवान् शंकर का वर्णन परमेश्वर के रूप में किया गया है। इस स्थल पर परमेश्वर शंकर को शरण्य, शाश्वत एवं शास्ता कहा गया है। इसी प्रसंग में विष्णु आदि की उत्पत्ति भी मायिक बतलाई गयी है।[९] पद्‌ मपुराण में आत्मा के अविनाशित्व का भी वर्णन मिलता है।[१०] इसके अतिरिक्त पद्‌ मपुराण में ब्रह्मज्ञानियों की भी चर्चा मिलती है।[११]

वामन पुराण में एक स्थल पर जब वामन भगवान् की स्तुति की गयी है तो उनके मायिक स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी स्थल पर भगवान् की माया का भी वर्णन है।[१२]

---

१. ब्रह्मपुराण २०३।६
२. वही, ३०२।११
३. यदेतेपुरुषा बद्धा मायया भगवंस्तव। ब्रह्मपुराण २०३।१५।
४. ब्रह्मवैवर्तपुराण ६।५२।
५. वही, ६।४७।
६. *J.N. Sinha* : A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 165. (Sinha Publishing House, Calcutta 1956).
७. अग्नि पुराण १।१।११, ५।
८. वही, १।१।१५, १७।
९. पद्‌ मपुराण १।४५।१७६, १।४५।१७८।
१०. वही, १।४५।१७६।
११. वही, १।३२।१२३।
१२. वामनपुराण ३०-२४, २५, २६, २६।

अद्वैत वेदान्त के माया सम्बन्धी विचार का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में भी किया गया है ब्रह्माण्ड पुराण में माया का प्रयोग अनाचारसूचक अर्थ में किया गया है।[१]

देवी भागवत में शक्ति को परब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। देवी भागवत के अन्तर्गत ब्रह्मा जी के यह पूछने पर कि शक्ति और वैदिक ब्रह्म में क्या भेद है, देवी स्वयं कहती है कि मुझमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। मतिविभ्रम के कारण मनुष्यों को भेद की प्रतीति होती है।[२] देवी भागवत में अद्वितीय ब्रह्म को नित्य एवं सनातन कहा है।[३] शक्ति और परब्रह्म के सम्बन्ध को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए देवी भागवत में कहा है कि जो दर्पण और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ब्रह्म और शक्ति का है।[४] इस प्रकार देवी भागवत का शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही पोषक है।

मत्स्य पुराण में एक स्थान पर देवता शंकर की स्तुति कर रहे हैं। देवताओं द्वारा की गई इस स्तुति में शंकर का स्वरूप अद्वैत-परमात्मासम्बन्धी विचार के अत्यन्त सन्निकट कहा जा सकता है। इस स्तुति-स्थल पर शंकर को विश्वात्मा विश्वस्रष्टा एवं विश्व को आवृत करके स्थित रहने वाला कहा गया है।[५] अद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्म के भी उक्त लक्षण ही विशेष रूप से बतलाये गये हैं। मत्स्य पुराण के अन्तर्गत औपनिषद ज्ञान का भी संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में नारायण को ब्रह्म स्वरूप बतलाया गया है।[६]

ऊपर पुराणों के जिन विचार सूत्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधान विचार-धारा, अद्वैतवाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि मिलती हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता और अद्वैतवाद

श्रीमद्भगवद्गीता में अद्वैत तत्व का निरूपण अनेक स्थलों पर किया गया है। ब्रह्म का वर्णन भी गीता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि गीता में सर्वत्र ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में नहीं है परन्तु अनेक स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में किया गया है।[७] इस प्रकार गीता में जहां आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है वहां वह सर्वोच्च सत्य के रूप में ही वर्णित हुआ हैं। यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि गीता द्वारा प्रतिपादित सर्वोच्च सत्य निर्गुण तत्त्व ही है, सगुण नहीं। गीता में परमात्मा को अनादि एवं निर्गुण होने के कारण ही अव्यय कहा गया है।[८] अनादि ब्रह्म को सत् तथा असत् से

---

१. ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, अनुषंगपाद १६।१०५।
२. देवीभागवात ३।६।२।
३. एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्मनित्यंसनातम्, देवीभागवत ३।६।४।
४. देवीभावत ३।६।५।
५. मत्सय पुराण १६६।२१।
६. वही, १६६।४, १६६।२१।
७. 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म' गीता ३।१५, ५।२४, ४।३१, ५।६, ५।१६, ७।२६, ८।३, ८।१३, १०।१२, १३।१२, १३।३०, १४।४, १३।१२, १०।५०।
८. गीता १३।३१।

विलक्षण कहना भी उसके निर्गुण होने का ही प्रमाण है। माया परमात्मा ज्ञान की बाधिका है। गीता में स्पष्ट कहा है कि योग माया के आवृत होने के कारण परमात्मा साधारणतया लोगों के लिये नहीं प्रकट होता। यही नहीं, गीता में ईश्वर की माया के भ्रमोत्पादक रूप का वर्णन भी मिलता है।[१] गीता में माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के रूप में किया गया है।

माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर है और जीव ईश्वर का ही अंश है। यहां अंश शब्द का अर्थ भाग एवं देश है।[२] इस दृष्टि से गीता का जीव और ईश्वर का सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही समर्थक है। जहां तक जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न है, परमेश्वर माया शक्ति के द्वारा जगत् का कारण है।[३] परमात्मा से पृथक् जगत् के मिथ्यात्व का संकेत भी गीता में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। सप्तम अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त जगत् का कारण और कुछ नहीं है। यह जगत् मुझ में उसी प्रकार स्थित जिस प्रकार कि सूत्र में मणियां अनुस्यूत रहती हैं।[४] वैसे तो, गीता में कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग के रूप में तीन प्रकार के योग का वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्व ज्ञानयोग का ही है। इसीलिये आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को ही भगवान् का अत्यधिक प्रिय बतलाया गया है।[५] इस प्रकार गीता में परम तत्व को ज्ञान रूप, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य सिद्ध किया गया है।[६] मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए गीता में कहा गया है कि जिसने इन्द्रिय मन और बुद्धि को वश में कर लिया है, जो ईश्वर का मनन करने के कारण संन्यासी हो गया है और जो इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित है, वही मुक्त कहलाता है। आत्मा दष्टा के सम्बन्ध में बतलाते हुए गीता में एक स्थल पर कहा गया है कि जो विनाशशील सर्वभूतो में अविनाशी परमेश्वर को समान रूप से स्थित देखता है, वही वस्तुतः तत्त्वद्रष्टा है।[७] ब्रह्मज्ञानी का लक्षण भी गीता में निर्दिष्ट है। जो प्रिय वस्तु को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर दुखी नहीं होता ऐसी स्थिर बुद्धि वाला एवं मोहरहित पुरुष ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है।[८] मुमुक्षुओं की कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में गीता में यह विचार स्पष्ट रूप से मिलता है कि मोक्ष के अभिलाषी जन फलकामना को त्याग कर परमात्मभाव से अनेक प्रकार की यज्ञादि क्रियाओं को करते हैं।[९] इसके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए गीता में यह भी कहा गया है कि मुमुक्षु को संसार के समस्त धर्मों का त्याग करके एक मात्र परमात्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसे पुरुष को मुक्त करने का वचन स्वयं कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।[१०] जहां तक ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्ति का प्रश्न है, गीता में ज्ञान को स्पष्ट ही मोक्ष

---

१. वही, १३।१२, ७।२५, १८।६१।
२. अविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्न एकदेश अंशइव कल्पितो यतः। शा० भा० गीता १५।७।
३. गीता १४।३।
४. वही, ७।७।
५. वही, १३।१७।
६. ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदिसर्वस्य विष्ठितम्। गीता १३।१७।
७. गीता १३।२७।
८. वही, ५।२०।
९. वही, १७।२५।
१०. वही, १८।६६।

का कारण स्वीकार किया गया है।[१]

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म, ईश्वर, माया एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित अनेक विचार धारा के पोषक है। अतः निश्चय ही यह विचार परवर्ती शांकर अद्वैतवाद के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आधारतत्त्व कहे जा सकते हैं। उक्ततथ्य का समर्थन इस तर्क से भी होता है कि शंकरचार्य ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अनेक स्थलों पर गीता के उद्धरण भी दिये हैं।[२]

तन्त्र और अद्वैत वेदान्त

तन्त्र के शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत अद्वैतवाद विचारधारा की प्रबल पृष्ठभूमि मिलती है। यहां तान्त्रिकों के शक्त्यद्वैतवाद के स्वरूप का विवेचन किया जायेगा।

शक्त्यद्वैतवाद का स्वरूप

शाक्त दर्शन के प्रौढ़ समालोचक जान वुडरफ ने शाक्त दर्शन को अद्वैतवाद का ही रूप माना है।[३] जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म ज्ञान के विना मुक्ति असम्भव है, उसी प्रकार शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त में भी शक्ति ज्ञान के विना मुक्ति की कल्पना असम्भव ही है–'शक्तिज्ञानं विना देवि निर्वाणं नैव जायते' (निरुत्तर तन्त्र) शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार शक्ति ब्रह्म का ही रूप है।[४] यद्यपि शक्ति से स्त्रीत्व की व्यंजना होती है, परन्तु आद्या शक्ति स्त्रीत्व, पुरुषत्व एवं क्लीवत्व से अतीत है।[५] शक्ति, शक्तिमान में रहती है, अतः परमात्मा रूप शिव शक्तिमान् है और परा प्रकृति उसकी शक्ति है।[६] दोनों में अविनाभाव सम्वन्ध है। शिव का शिवत्व भी शक्ति पर ही आधारित है क्योंकि शक्ति के विना शिव में विश्वक्रिया के स्पन्दन की क्षमता नहीं है।[७] शक्ति के अभाव में तो शिव शव मात्र होने के कारण जड़ है। शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा की शक्ति होते हुए भी परा प्रकृति वेदान्त की माया शक्ति से भिन्न है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमात्मा की शक्ति माया, मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है। इसके विपरीत शाक्त दर्शन की परा प्रकृति–महामाया शक्ति सर्वव्यापिनी, सर्वशक्तिमती एवं शिव रूपिणी है।[८] इस प्रकार शाक्त दर्शन के अनुसार शक्ति ही अद्वैत सत्य है। यही शक्ति, चित् एवं आनन्द रूपिणी है।[९]

---

१. गीता ६।१।

२. देखिये ब्र० सू०, शा० भा० १।२।६, १।३।२३, १।४।२२।

३. It is sufficient to say that Shakta Doctrine is a form of Advaitavada. Shakti and Shakta, p. 350.

४. अथर्वशीर्ष।

५. नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं नक्लीवं सर्वसंक्षये।
सर्वे सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयंधिया पुनः।। देवीभागवत ३।६।७।

६. महानिर्वाण तन्त्र ४।१० (गनेश एण्ड कम्पनी मद्रास)।

७. सौन्दर्य लहरी, १।

८. Para Prakriti is the ominipotent, omminiscient, Ishvara or Shiva
Arthus Avalon : The Great Liberation, p. 66 (F.N.).

९. चिदानन्द, परायणा। कुलचूडामणितन्त्र १।१६।

शक्त्यद्वैतवाद मत में जीव और शिव के ऐक्य एवं मुक्ति का विचार

अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव एवं ब्रह्म की सत्ता पृथक् न होकर दोनों में ऐक्य भाव है। यही सिद्धान्त शांकर वेदान्त में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के विचार द्वारा प्रस्फुटित हुआ है। इसी प्रकार तन्त्रदर्शन में भी जीव और परमात्मा शिव का विवेचन अद्वैतवेदान्त जैसा ही है। कुलार्णव तन्त्र में स्पष्ट कहा है कि जीव शिव एवं शिव जीव का रूप है। वह जीव केवल शिव ही है।[१] इस प्रकार तन्त्र दर्शन में भी अद्वैतवेदान्त की तरह जीव और परमात्मा के ऐक्य को स्वीकार किया गया है।[२] जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योगियों ने योग कहा है।[३]

जिस प्रकार कि अद्वैत वेदानत दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान को मुक्ति का रूप कहा है। उसी प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत भी ज्ञान से ही मुक्ति की व्यवस्था बतलाई गई है।[४] यह ज्ञान प्रकृति और परमात्मा शिव की एकता का ज्ञान है। मुमुक्षु के लिए यह ज्ञान परम अपेक्षित है।[५] शक्तिरूपिणी प्रकृति को परमात्मा शिव से पृथक् देखना अज्ञानता है। जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, शक्ति के अभाव में परमात्मा शिव सामर्थ्य हीन है।[६] अतः शिव एवं शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन ही शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रमुख विषय है।

अतः उपर्युक्त शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत परवर्ती वेदान्तिक अद्वैतवाद की स्पष्ट एवं विकसित पृष्ठभूमि मिलती है, यह कहना सर्वथा समीचीन होगा।

योगवासिष्ठ एवं अद्वैतवाद

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन, धर्म एवं आचार शास्त्र का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अद्वैतवाद एवं उनके पोषक अनेक सिद्धान्तों का विशद विवेचन मिलता है। यहां हम योगवासिष्ठ के कतिपय अद्वैतपरक सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।[७]

योगवासिष्ठ में परमार्थ सत्य ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म तत्त्व का विवेचन योगवासिष्ठ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का विवेचन करते समय लिखा है कि ब्रह्म सर्व प्रकार की शक्तियों से युक्त है। वह सर्ववस्तुमय है तथा उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों की नेति नेति की शैली में, योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को अवर्णनीय भी सिद्ध किया गया है।[८] योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार एक मात्र ब्रह्म की ही अद्वैतात्मक सत्ता सिद्ध की गयी है।

---

१. जीवः शिवः शिवो जीवः सजीवः केवलः शिवः (कुलार्णव तन्त्र, ६।२२)।
२. परात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते। (गन्धर्व तन्त्र) (झा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ६६ से उद्धृत)।
३. ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः (कुलार्णव तन्त्र ६।३०)
४. ज्ञानादेवविमुक्तिः स्यान्नान्यथावीरवन्दिते। (कुलार्णव तन्त्र १।१०५)
५. मुमुक्षश्चिन्तयेल्लीनां प्रकृतिं परमात्मनि। (गन्धर्व तन्त्र)
६. परोपि शक्तिरहितः शक्त्या शक्तो भवेद्यदि।
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्तः शक्त एवंहि।। वामकेश्वर तन्त्र
(झा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ६७ से उद्धृत)
७. देखिए, योगवासिष्ठ ६।१४।८।
८. योगवासिष्ठ ५।७२।४१ तथा देखिए ५।७२।४२, ५।७२।४३।

जीव का स्वरूप–योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत जीव की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ब्रह्म में ही कल्पित है। योगवासिष्ठकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परब्रह्म में स्वतः ही इस प्रकार की कल्पना का उदय होता है कि 'मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूं।' यही केन्द्र जीव कहलाता है। काल्पनिक चन्द्र के समान वह जीव सत्य न होता हुआ भी सत्य प्रतीत होता है।[1] जीव के बन्धन का मूल उसका संकल्प है। योगवासिष्ठकार का कथन है कि जिस प्रकार श्रृंखलाबद्ध सिंह विवश होता है उसी प्रकार जीव भी अपने ही संकल्पों द्वारा रचित विषयों की अग्नि में पड़कर विवश हो जाता है।[2] जब जीव के यह वासनाजन्य संकल्प नष्ट हो जाते हैं तो वह शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है।

योगवासिष्ठ का कल्पनावाद–जहां शांकर अद्वैतवाद में जगत् के स्वरूप का विवेचन करने के लिए मायावाद सिद्धान्त की अवतारणा की गई है, वहां योगवासिष्ठ का प्रमुख सिद्धान्त कल्पनावाद है। कल्पनावाद के सिद्धान्त के अनुरूप समस्त जगत् कल्पनामात्र है। जाग्रत् , स्वप्न एवं सुषुप्ति काल का त्रिविध जगत् मन-के-मनन से ही निर्मित है।[3] जिस प्रकार कि कुम्भ कार घट का निर्माण करता है तथा उसे भग्न करता है उसी प्रकार मन ही रूप (विषय), आलोक (संवेदन), मनस्कार (मन का विचार) तत्ता (पदार्थ का तात्त्विक रूप) एवं काल और क्रिया सम्पन्न जगत् का निर्माण तथा विनाश कर्ता है।[4] जागतिक पदार्थों के अतिरिक्त देश और काल की सत्ता भी मानसिक कल्पना पर ही आधारित है।[5] यही नहीं, देश और काल का परिमाण भी कल्पना पर ही आश्रित है। इसलिए तो कभी-कभी व्यक्ति निमेष, कल्प सदृश और कल्प निमेष सदृश वर्तित होते दिखाई पड़ते हैं। यही कारण तो था कि हरिश्चन्द्र को एक रात्रि द्वादश वर्ष की हो गई थी।[6]

पदार्थों का कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि जिस प्रकार बालक को प्रेत न होते हुए भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि पदार्थ असत् होते हुए सत् के समान प्रतीत होते हैं।[7] इस प्रकार जगत् के भौतिक तत्त्वों को भी कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शशश्रृंग के समान पूर्णतया असत् हैं। जहां तक जगत् के स्थूल रूप से दर्शन की समस्या है, योगवासिष्ठकार का तर्क है कि मानसिक देह ही चिरकाल की भावना के अभ्यास के कारण भौतिक शरीर का रूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है।[8] इस प्रकार मानसिक

---

१. योगवासिष्ठ ३।१३।२०।
२. वही, ५।४२।३४।
३. मनोमनन निर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। यो० वा० ४।११।२३।
४. यो० वा ५।४८।५२।
५. वही, ३।११०।५६।
६. रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्र तथा ह्यभूत्। यो० वा० ३।२०।५१ तथा देखिए
Dr. B.L. Atreya : Yogvashishtha and Modern Thought, p. 41.
७. योग० वा० ३।२२।४५।
८. वही, ३।५७।१६, ३।२१, ५४।

कल्पना ही जड़ता का रूप धारण कर लेती है।[1]

योगवासिष्ठ का उपर्युक्त कल्पनावाद का सिद्धान्त बौद्ध विज्ञान वाद के अत्यधिक समान प्रतीत होता है। साथ ही सिद्धान्त गौडपादाचार्य के स्वप्नवाद के भी समीप है। निश्चय ही, योगवासिष्ठ के कल्पनावाद पर वौद्ध विज्ञानवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त योगवासिष्ठ के जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त भी अद्वैतवाद के ही पोषक हैं।[2]

वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक प्रमुख महर्षि एवं आचार्य

वेदान्त दर्शन के कुछ ऐसे प्राचीन महर्षियों का उल्लेख मिलता है जिनके मतों का यत्किंचित् सम्बन्ध वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों साथ प्रतीत होता है। इन महर्षियों में बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि, और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन महर्षियों की दार्शनिक कृतियां अनुपलब्ध हैं, परन्तु फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों के आधार पर इनके मतों का गवेषण सम्भव है। यहां उपर्युक्त महर्षियों और उनके दार्शनिक मतों के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

बादरि–आचार्य बादरि का उल्लेख चार वार वादरायण के ब्रह्मसूत्र[3] तथा चार बार जैमिनी के मीमांसा सूत्र[4] के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आचार्य बादरि के दार्शनिक सिद्धान्तों की जो रूपरेखा उपलब्ध होती हे वह इस प्रकार है–

(१) आचार्य बादरि वैदिक कर्म में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का अधिकार स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त आचार्य की अद्वैतपरक बुद्धि का ही परिचायक है।

(२) उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापी ईश्वर का प्रादेश मात्र रूप से वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में उत्पत्ति देते हुए वादरि का विचार है कि मन प्रादेश मात्र हृदय में रहने के कारण शास्त्रों प्रादेश मात्र कहा जाता है। उस प्रादेश मात्र मन से ही ईश्वर का स्मरण होता है, इसीलिए वह (ईश्वर) प्रादेश मात्र रूप से वर्णित होता है।

(३) छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) 'तद्य इह रमणीयचरणाः' वाक्य में प्रयुक्त चरण शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य बादरि के अनुसार सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द के वाच्य हैं। इस प्रकार अनुष्ठान वाचक चरण शब्द का प्रयोग बादरि ने कर्म के अर्थ में स्वीकार किया है।

(४) छान्दोग्योपनिषद् (४।१५।५) के 'सएनान् ब्रह्मगमयति' वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द का अर्थ बादरि ने कार्य-ब्रह्म ग्रहण किया है। अपने मत की पुष्टि में इस आचार्य का कथन है कि ब्रह्म से यहा

१. विशेष देखिए डा० बी० एल. आत्रेय, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० १६७ (तारा प्रिन्टिंग वर्क्स, वाराणसी, १६५७)।
२. योगवासिष्ठ ४।४५।२६, ६।१२८।४६।
३. ब्रह्मसूत्र १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०।
४. मीमांसा सूत्र ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ६।२।२३ (सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज के अन्तर्गत प्रकाशित)।

परब्रह्म का अर्थ नहीं लिया जा सकता। परब्रह्म स्वर्ग है और गन्ता का प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म है, इसलिए उसमें गन्ता गन्तव्य और गति आदि की भेद व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसके विपरीत कार्य ब्रह्म प्रदेशवान् है। इसीलिए उसका गन्तव्य रूप से वर्णन किया गया जाता है। इसके छान्दोग्योपनिषद् के उक्त वाक्य में बादरि ब्रह्म शब्द से कार्य ब्रह्म का अर्थ ग्रहण करना समुचित मानते हैं।

(५) छान्दोग्योपनिषद् (८।२।१) में ही मुक्त पुरुष के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि–'संक्ल्पादेवास्यपितरः समुत्तिष्ठन्ति' अर्थात् मुक्त पुरुष के संकल्प से ही पितृगण उठ जाते हैं। यहां यह शंका होती है कि ईश्वर भावापन्न पुरुष के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य बादरि का विचार है ईश्वरभावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता नहीं रहती है, इसीलिए तो छान्दोग्यपनिषद् (८।१२।१५) में कहा गया है–'मनसा एतान् कामान् पश्यन्'।

आचार्य बादरि के उपर्युक्त मतों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि यह आचार्य किसी न किसी रूप से वेदान्त के ही समर्थक थे।

जैमिनि–आचार्य जैमिनि मीमांसा सूत्र के लेखक के नाम से विख्यात हैं। ब्रह्मसूत्र में इनकी चर्चा ग्यारह बार हुई है।[१] विधुशेखर भट्टाचार्य का विचार हैं कि इन्होंने ब्रह्म सूत्रों की भी रचना की थी।[२] इस सम्बन्ध में उन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि का प्रमाण रूप में उल्लेख किया है।[३]

जैमिनि को वायरायण का शिष्य बतलाया जाता है। पुराणों में इन्हें वेदव्यास का शिष्य बतलाया जाता है। इन्होंने वेदव्यास से सामवेद और महाभारत की शिक्षा प्राप्त की थी। मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त जैमिनि ने भारतसंहिता जिसे जैमिनि भारत भी कहते हैं, की रचना भी की थी। कहते हैं, जैमिनि ने मिलकर वेद की एक-एक संहिता बनाई है। इन संहिताओं का अध्ययन हिरण्यनाभ, पैष्पञ्जि और अनन्त्य नामक शिष्यों ने किया था।

काशकृत्स्न–ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्नकी चर्चा केवल एक बार हुई है।[४] इसके अतिरिक्त पंतजलि के महाभाष्य में काशकृत्स्न की मीमांसा की चर्चा तीन बार की गई है। यह मीमांसा कर्मपरक भी है और ज्ञानपरक भी। आचार्य काशकृत्स्न का विचार है कि छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीव लोक में अवस्थित है। काशकृत्स्न जीव को परमात्मा का विकार नहीं स्वीकार करते। काशकृत्स्न के उक्त मत का उल्लेख शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस प्रकार किया है–**काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इतिमतम्**–(ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२) इस प्रकार काशकृत्स्न जीव को अविद्या कल्पित मानते हैं। सूत्रकार ने काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते

---

१. ब्र० सू० १।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११।

२. *B. Bhattacharya* : Agam Sastra of Gaudpada, Introduction.

३. सुरेश्वर, नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ५२ (द्वितीय संस्करण प्रो० हिरियन्न द्वारा सम्पादित)।

४. ब्र० सू० १।४।२२।

५. Yogsutra, *Keilhorn*, Vol. II, pp. 206, 249, 325 (Coverment Central Book Depot, Bombay, 1883).

हुए कहा है : काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्या कल्पित भेद से ब्रह्म ही जीव रूप से स्थित है–अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः– (ब्र० सू० १।४।२२) शंकराचार्य ने आचार्य काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है।[1]

औडुलोमि–औडुलोमि का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के अन्तर्गत तीन स्थानों पर किया गया है।[2] आचार्य औडुलोमि के मतानुसार भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुसार है। औडुलोमि के मत के अनुसार संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, परन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। वास्पति मिश्र ने भामती में औडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है :–

"जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादि साधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसंघातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपतेः इदमभेदेनोतक्रमणम्। एतदुक्तं भवति-भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः।" (भामती)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में मूलतः ऐक्य ही है। जब जीव ज्ञानादि साधनों के अनुष्ठान से देहादि के संघात से ऊपर उठ जाता है तो इस स्थिति में जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आगामी अभेद के आधार पर भेद काल में भी अभेद ही मानना चाहिए। औडुलोमि के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–

औडुलोमि पक्षे पुनः स्पष्टभेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते
(ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार्य औडुलोमि का मत है कि जीवों के चैतन्य रूप होने से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं।[3]

कार्ष्णाजिनि–आचार्य कार्ष्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।६) तथा मीमांसा सूत्र (४।३।१७), दोनों में उपलब्ध होता है। कार्ष्णाजिनि के मत का उल्लेख व्यास देव ने अपने मत के समर्थन में तथा जैमिनि ने उनके मत का खण्डन करने के लिए किया है।[4] इस प्रकार कार्ष्णाजिनि वेदान्त के ही आचार्य प्रतीत होते हैं।

आत्रेय–आचार्य आत्रेय का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।४।४४) मीमांसा सूत्र (४।३।१८, ६।१।२६) तथा महाभारत (१३।१३७।३) में उपलब्ध होता है।आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। ब्रह्मसूत्रकार ने निम्नोद्धृत सूत्र में आत्रेय के उक्त मत को ही उद्धृत किया है–स्वामिनः फलश्रुते रित्यात्रेयः' (ब्र० सू० ३।४।४४) अतः आत्रेय के मतानुसार सारी उपासनाएं यजमान को करनी चाहिए, न कि पुरोहित को।[5] महाभारत (१३।१३७।३) में आत्रेय का नाम निर्गुण ब्रह्म विद्या के उपदेष्टा के रूप में मिलता है। किन्तु निश्चित रूप से यह कहना

---

१. तत्रकाशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२।
२. ब्र० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६।
३. वही, ४।४।६।
४. वेदान्तांक (कल्याण) पृ० ६३१।
५. तस्मात् स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेयः। (ब्र० सू०, शां० भा० ३।४।४४)।

कठिन है कि ब्रह्मसूत्रोक्त आत्रेय उनसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

आश्मरथ्य–आश्मरथ्य के नाम का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के दो सूत्रों (ब्र० सू० १।२।२६, १।४।२०) तथा मीमांसा सूत्र (६।५।१६) में मिलता है। आश्मरथ्य के मत के अनुसार परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रादेश मात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। आश्मरथ्य का वैकल्पिक मत यह है कि हृदयादि उपलब्धि स्थानों अर्थात् प्रदेशों में परमेश्वर की उपलब्धि विशेष रूप से होने के कारण भी परमेश्वर को प्रादेश मात्र कहा जा सकता है। आश्मरथ्य के मतानुसार विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। शंकराचार्य ने आश्मरथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है–

आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति
सापेक्षत्वाभिधानात् कार्य-कारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति मन्यते।

(ब्र० सू०, शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त कथन के अनुसार आश्मरथ्य के मत में यद्यपि जीव परमात्मा से अभिन्न है, तो भी प्रतिज्ञासिद्धि से सापेक्षत्व का अभिधान है। इससे यत्किंचित् कार्यकारणभाव इष्ट ही है। आश्मरथ्य के भेदाभेदवाद की पुष्टि परवर्ती काल में यादव प्रकाश ने भी की थी।[1]

काश्यप–ब्रह्मसूत्र में तो काश्यप का उल्लेख नहीं है परन्तु शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र (तामैश्वर्यपरां काश्यपपरत्वात्, २६) में शाण्डिल्य की चर्चा मिलती है। शाण्डिल्य के मतानुसार काश्यप भेदवादी थे तथा वादरायण अभेदवादी।

शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र के अतिरिक्त महाभारत (१३।३।६।५६) में भी काश्यप का उल्लेख मिलता है। अभिनव गुप्त आचार्य ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में एक काश्यप का उल्लेख किया है। हृदयंगमा नामक ग्रन्थ में काश्यप तथा वररुचि प्रभृति के लक्षण शास्त्र का उल्लेख मिलता है। राजा नान्यदेव ने स्वनिर्मित सरस्वती हृदयालंकार नामक नाट्य शास्त्र की टीका में स्थान-स्थान पर काश्यप का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त नान्यदेव की उक्त रचना में ही एक वृहत्काश्यप का उल्लेख भी प्राप्त होता है। चित्रविद्या में कुशल काश्यप की चर्चा भी कहीं-कहीं मिलती है।[2] मेरे विचार से शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र में चर्चित काश्यप उपर्युक्त काश्यपों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त ऋषियों के अतिरिक्त जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार किया था उनमें असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं। इस दिग्दर्शन से केवल इतना कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के पूर्ववर्ती प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों में भी वेदान्त दर्शन की यत् किंचित् धारणा वर्तमान था। इस धारणा का आधार कोई सिद्धान्त विशेष न होकर व्यक्तिगत स्वतन्त्र अनुभूति मात्र अतः इन उपर्युक्त प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों के दार्शनिक विचारों में अद्वैत वेदान्त के नष्ट बीज ही देखे जा सकते हैं।

---

१. अच्युत, पृष्ठ ५, संवत् १६६३ में प्रकाशित।
२. देखिए, अच्युत, पृष्ठ ६-७ पर टिप्पणी।

तृतीय अध्याय

अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्ती आचार्य और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज

हम अद्वैत वेदान्त-दर्शन का अव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करते समय पिछले अध्याय में कुछ वादरि प्रभृति प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहां केवल यही कथ्य है कि उक्त आचार्यों के यत्र-तत्र प्राप्त विचारों में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन न मिलकर विभिन्न दर्शन पद्धतियों के बीज मात्र ही मिलते हैं। इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ अन्य आचार्य भी मिलते हैं जिनकी रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचारदृष्टि का संकेत मिलता है। इस स्थल पर शंकराचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों की व्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया जायेगा।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्त के जो आचार्य मिलते हैं उनमें बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी या कपर्दिक, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी या ब्रह्मानन्दी, टंक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दर पाण्ड्य और गौड़पादाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहां इन आचार्यों की रचनाओं .एवं दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

बोधायन–बोधायन उपर्युक्त आचार्यों में सर्वाधिक प्राचीन थे। इनका काल लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इन्होंने वादरायण के ब्रह्म सूत्र पर एक विस्तीर्ण वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख डा० थीबो ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका के अन्तर्गत किया है।[१] इसी वृत्ति का नाम कृतकोटि है।[२] रामानुज का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और जैमिनि का मीमांसा दर्शन इसी वृत्ति पर आधारित बतलाया जाता है।[३] परन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोवी का कहना है कि बोधायन ने मीमांसा सूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी।[४] यही वृत्ति जैमिनि के मीमांसा सूत्र का आधार रही होगी।

उपवर्ष–यह कहा जाता है कि उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमंसा सूत्र दोनों पर ही वृत्ति लिखी थी। उपवर्ष की चर्चा शावरभाष्य (मी० सू० १।१।५) तथा शांकर भाष्य (३।३।५३) में उपलब्ध होती है।

---

१. S.B.E. Vol. XXXIV, P. 21, तथा देखिए–*Sukhtankar* : The Teaching Vedanta According to Ramayana, p. 9.

२. देखिए त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित 'प्रपंच हृदय,' पृ० ३६।

३. *B. Bhattacharya* : Agam Shastra of Gaudapada (Introduction), p. CV.

४. Journal of the American Oriental Society-1911, p. 17.

गुहदेव और कपर्दी–रामानुज के वेदार्थ संग्रह[1] और श्रीनिवासदास की यतीन्द्रमत दीपिका[2] में गुहदेव, कपर्दी और भारुचि का नाम वेदान्त के विद्वानों के रूप में मिलता है। प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि रामानुज ने गुहदेव और कपर्दी की गणना शिष्ट जनों में की है, इसलिए ये दोनों विद्वान् विशिष्टद्वैतवाद के समर्थक रहे होंगे।[3]

भारुचि–विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा (१।१८, २।१२४) और माधववाचार्य ने पाराशर संहिता[4] की टीका में भारुचि को धर्मशास्त्र का लेखक बतलाया है। सरस्वती विलास (पैराग्राफ १३३) में भी धर्मशास्त्रकार भारुचि का उल्लेख मिलता है। इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र पर भी एक टीका लिखी थी। परन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्ती भारुचि तथा धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही थे। यदि दोनों को एक ही मान लिया जाए तो इनका समय नवम शती के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है।[5]

भर्तृहरि–बौद्ध दर्शन के अनुयायी चीनी यात्री इत्सिंग, जिसने भारत की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी, का कथन है कि लगभग चालीस वर्ष पहले भारतवर्ष में भर्तृहरि नाम के एक महान् वैयाकरण की मृत्यु हुई थी।[6] मैक्समूलर ने भी भर्तृहरि का देहावसान सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अन्त ही माना है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। परन्तु अब अन्तसाक्ष्य एवं बहिः साक्ष्य के आधार पर इस बात का निराकरण हो चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि भर्तृहरि वेदान्ती ही थे।[7] काश्मीरी शैवदर्शन के लेखक सोमानन्द एवं उत्पल ने स्फोटवाद सिद्धान्त की आलोचना करते हुए भर्तृहरि को उद्धृत किया है, तथा उन्हें अद्वैतवादी कहा है।[8] आचार्य चित्सुख की तत्त्वप्रदीपिका के टीकाकार प्रत्यगरूप ने भर्तृहरि को ब्रह्मवित् प्रकाण्ड कहा है। यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ५) में भर्तृहरि का उल्लेख वेदान्त के लेखकों के अन्तर्गत किया गया है।

भर्तृहरि की प्रसिद्ध रचना शब्द ब्रह्मवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है। वाक्यपदीय का प्रमुख सिद्धान्त शब्दब्रह्मवाद अथवा शब्दाद्वैतवाद है। किसी-किसी आचार्य का मत यह भी है कि भर्तृहरि के

---

१. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४।
२. यतीन्द्र मत दीपिका, पृ० २ (पूना संस्करण)।
३. Agam Sastra of Gaudapada (Introduction), p. CIX.
४. पाराशर संहिता, पृ० ५१० (बाम्बे, संस्कृत सिरीज संस्करण)।
५. *P.V. Kane* : History of Dharma Sastra, Vol. I, p. 265; *B. Bhattacharya* : Agam Sastra of Gaudapada, p. CIX.
६. *Dr. C. Kunhan Raja's* Article– I-tsing & Bhartrhari's Vakyapadiya, Dr. Krishna Swami Aiyangar Commemoration Volume, pp. 203-208.
७. *T.M.P. Mahadevan* : Gaudapada, p. 228.
८. *K. Madhava Krishna Sarma's* article–Bhartrahari not a Buddhist, Poona Orientalist Vol. No. 1 (1940), p. I.

शब्दब्रह्मवाद का प्रधानता अवलम्बन करके मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था।[१] उत्पलाचार्य के गुरू काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने अपने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेष समालोचना की है। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षितकृत 'तत्त्व संग्रह', अविमुक्तात्माकृत 'इष्ट सिद्धि' तथा जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दाब्रह्मरूप मानते थे। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि इस मत में पश्यन्ती वाक् ही परा वाक् के रूप में व्यवहत होती थी। सूर्य नारायण शुक्ल ने भाव प्रदीप नामक अपनी वाक्य पदीय की टीका में परावाक् को ही ब्रह्म कहा है। शुक्ल जी का उक्त विचार निम्न कथन में स्पष्ट है–

'शब्दब्रह्म वादिनस्तु (परावाक्) एवं ब्रह्म तदेव अविद्यया नानारूपं भासते इति प्राहुः

(भावप्रदीप, वाक्यपदीय, 'ब्रह्मकण्ड, श्लोक १३२)

उपर्युक्त वाक्य से ही यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रूपों में भासित होता है। यही दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की भी है। तत्त्वदीपिकाकार ने भी भर्तृहरि को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी स्वीकार किया है। उमामहेश्वर कृत 'तत्त्वदीपिका' में लिखा है–

महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाभ्युपगच्छति ।

इस प्रकार भर्तृहरि निश्चित ही शब्द ब्रह्माद्वैतवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं।

भर्तृमित्र–जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' (पृ० २१३-२२६) तथा यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' (पृ० ४,५) में भर्तृमित्र का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने अपने 'श्लोक वार्तिक' (१।१।१।१०, १।१।६।१३०-१३१) में भी भर्तृमित्र की चर्चा की है। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि मिश्र की अपनी न्यायरत्नाकर नाम की टीका में भी भर्तृहरि कृत 'मीमांसा सूत्र' की टीका का उल्लेख मिलता है।[२] वैष्णव ग्रन्थों में वर्णित भर्तृमित्र तथा मीमांसा शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित भर्तृमित्र एक ही हैं, यह कहना कठिन हैं। मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधा वृत्ति मातृका' ग्रन्थ में भी भर्तृमित्र का उल्लेख किया है।[३]

ब्रह्मनन्दी–मधुसूदन सरस्वती ने अपनी संक्षेपशारीरक की टीका (३।२१७) में ब्रह्मनन्दी को वाक्यकार कहा है। ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य लिखे थे और इन वाक्यों पर भाष्य लिखा था द्रविड़ाचार्य ने।[४] ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ का उल्लेख संक्षेप शारीरक की अन्वयार्थप्रकाशिका टीका में भी मिलता है।[५] आचार्य भास्कर के मतानुसार ब्रह्मनन्दी परिणामवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।[६] इसके विपरीत मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार ब्रह्मनन्दी अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[७] ब्रह्मनन्दी विवर्तवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।

---

१. अच्युत, पृ० ११।

२. Agam Sastra of Gaudapada, p. CX.

३. अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १७ (निर्णयसागर, बम्बई)।

४. *K.B. Pathak* : Commemoration Volume, pp. 157-158.

५. अन्वयार्थप्रकाशिका, संक्षेप शारीरक ३।२२१।

६. भास्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र १।४।२५।

७. संक्षेप शारीरक ३।३१७।

टंक–राजानुजाचार्य के 'वेदार्थ संग्रह' (पृ०१५४) में टंक का उल्लेख मिलता है। टंक विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं।

द्रविडाचार्य–द्रविडाचार्य का उल्लेख भारतीय दर्शन के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को माण्डूक्योपिनष्द् कारिका भाष्य में आगमवित् कहा है तथा द्रविडाचार्य के 'सिद्धंतुनिवर्तकत्वात्' सूत्र को उद्धृत किया है।[१] उक्त स्थल पर शंकराचार्य के भाष्य पर टीका करते हुए आनन्दगिरि ने द्रविडाचार्य के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार वे अद्वैतवादी प्रतीत होते हैं। इस मत के अनुसर द्रविडाचार्य स्वाभाविक द्वैत के अभाव वोधन के द्वारा अध्यस्त जगत् की निवृत्ति मानते हैं।[२] इसके अतिरिक्त वृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य ने आचार्य द्रविड को 'सम्प्रदायवित्' कहा है।[३] ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्योपनिषद् पर जो वाक्य लिखे थे उनपर द्रविडाचार्य ने भाष्य रचना की थी। वृहदारण्यक उपनिषद् पर भी द्रविडाचार्य का भाष्य बतलाया जाता है।

उपर्युक्त वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। रामानुजाचार्य ने अपने वेदार्थ संग्रह में भी द्रवडिाचार्य का उल्लेख किया है।[४] सिद्धित्रय में यामुनाचार्य ने भी–'भगवता वादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता' कहकर 'भाष्यकृता' शब्द से द्रविडाचार्य का ही संकेत किया है। किसी-किसी विद्वान् का यह भी मत है कि द्रविड संहिताकार अलवर, शठकोप अथवा बकुलाभरण ही वैष्णव ग्रन्थों में द्रविड़ाचार्य के नाम से विख्यात हैं।[५] सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप शारीरिक (३।२२१) के अन्तर्गत जिन भाष्यकार का उल्लेख किया है उससे द्रविडाचार्य का ही तात्पर्य है।

ब्रह्मदत्त–ब्रह्मदत्त की रचनाओं एवं उनके स्थिति काल का निर्णय अत्यन्त दुष्कर[६] है। शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्तियों में ब्रह्मदत्त का प्रमुख स्थान है। उनके नाम एवं मत का उल्लेख वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वेदान्तदेशिकाचार्य ने तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मदत्त का जो मत दिया है उसके अनुसार वे जीव को अनित्य तथा एक मात्र ब्रह्म को नित्य पदार्थ मानते हैं।[७] सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं।[८] परन्तु ब्रह्मदत्त आत्मज्ञान में उपासनाविधि का श्रेय मानते हैं।[९]

ब्रह्मदत्त कर्म और ज्ञान के समुच्चय के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। ब्रह्मदत्त के मतानुसार साधक को

---

१. सिद्धंतु निवर्तकत्वात्–इत्यागमविदां सूत्रम् (मा० का०, शा० भा० २।३२)।

२. देखिये मा० का० २।३२ पर आनन्द गिरी की टीका।

३. वृहदारण्यक उपनिषद, पृ० २६७ (पूना संस्करण)।

४. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४ (काशी संस्करण)।

५. अच्युत, पृ० १७।

६. *Hiriyanna's* article– Brahmadutta : & Old Vedantin, J.O.R.M. 1928, pp. 1-9.

७. सर्वार्थसिद्धि २।१६।

८. नैष्कर्म्य सिद्धि १।६८।

९. देखिये, नैष्कर्म्य सिद्धि १।६७।

पहले उपनिषद् के द्वारा ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ करना चाहिए। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में ब्रह्मदत्त कर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मदत्त का ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद है। ज्ञानोत्तम ने ब्रह्मदत्त को नैष्कर्म्य सिद्धि की टीका में ज्ञानसमुच्चयवादी सिद्ध करते हुए कहा है-

वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्त्तरेणैव अज्ञानस्य निवृतेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः (ज्ञानोत्तमः चन्द्रिका, नैष्कर्म्यसिद्धि १।६७)

भर्तृप्रपंच-भर्तृप्रपंच भी वेदान्त के एक प्राचीन आचार्य थे। संक्षेप शारीरिक के टीकाकार मधुसूधन सरस्वती के निम्नलिखित वाक्य के अनुसार भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भी प्रतीत होते हैं।

कैश्चित् तत् सूत्रं व्याचक्षाणै भर्तृप्रपंचादिभिः।[1]

यामुनाचार्य ने अपने सिद्धि त्रय में भी भर्तृप्रपंच को वेदान्त दर्शन का लेखक स्वीकार किया है। आनन्द गिरि ने वृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए सुरेश्वर के वार्तिकों की व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर भर्तृप्रपंच का उल्लेख किया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रणेता जो प्रतीत होते ही हैं, साथ ही कठोपनिषद् तथा वृहदारण्यक उपनिषद् पर भी उनका भाष्य बतलाया जाता है।[2] कुछ विद्वानों ने भर्तृप्रपंच के कतिपय लेखांशो को संकलित करने का भी प्रयत्न किया है।[3]

भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त-भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त भेदोभेदावाद या द्वैताद्वैतावाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। भर्तृप्रपंच के भेदाभेदावाद के अनुसार परमार्थ में एकत्व भी है और अनेकत्व भी। परमार्थ, ब्रह्म रूप में एक है और जगत् रूप में नाना। भर्तृप्रपंच के मत में जीव नाना तथा परमात्मा एकदेश मात्र हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरंग के समान द्वैतमय है। ब्रह्म में अनेक जीवों की सत्ता होने के कारण ही वह अनेक रूप है और मूलतः ब्रह्मरूप में वह एक रूप ही है। ब्रह्मरूप में वह अभेद, अद्वैत एवं एक है परन्तु अनेक जीवों के रूप में वह भेदपूर्ण, द्वैतमय एवं अनेक रूप है। इसलिए भर्तृप्रपंच का उक्त सिद्धान्त भेदाभेदावाद, द्वैताद्वैतवाद तथा अनेकान्तवाद के नाम से प्रख्यात है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा में एकत्व के साथ अनेकत्व की कल्पना करके भर्तृप्रपंच ने ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की स्थापना की है। परमात्मा के एकत्व की स्थापना के द्वारा उन्होंने मोक्ष की साधिका ज्ञानमीमांसा पर बल दिया है और दूसरी और परमात्मा में अनेकत्व की कल्पना के द्वारा कर्मकाण्ड पर आश्रित लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों की महत्ता को पुष्ट किया है। भर्तृप्रपंच के उक्त दार्शनिक विचार की अभिव्यक्ति शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (ब्र० सू०, शां० भा० २।१।१४) के अन्तर्गत स्पष्ट की है।

भर्तृप्रपंच का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त-भर्तृप्रपंच की दृष्टि में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की तरह ही मुक्ति के दो रूप मिलते हैं-एक अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग एवं दूसरा परामुक्ति अर्थात् ब्रह्मभावापत्ति।

---

१. देखिये, मधुसूदन सरस्वती की टीका 'संक्षेप शारीरक', १।७ पर।

२. अच्युत, पृ० ८।

३. देखिए, हिरियन्ना का लेख-Indian Antiquary 1924, pp. 76-86 के अन्तर्गत तथा देखिए, Procedings and Transaction of the Third Oriental Conference, Mdras 1925, p. 139.

अपरमोक्ष मनुष्य को इसी शरीर में आत्मसाक्षात्कार होने पर होता है। यह जीवन्मुक्ति के ही समान है। इसके विपरीत परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति देहपात होने पर होती है।[1] यही विदेह मुक्ति की अवस्था है।

भर्तृप्रपंच का परिणामवाद–भर्तृप्रपंच परिणामवाद को भी स्वीकार करते हैं। इसके मतानुसार ब्रह्म का परिणाम अधोलिखित तीन प्रकार से उपलब्ध होता है–

(१) अन्तर्यामी तथा जीव रूप में; (२) अव्याकृत, सूत्र विराट् तथा देवता रूप में; (३) जाति तथा पिण्डरूप में।

इस प्रकार ब्रह्म की उपर्युक्त अन्तर्यामी आदि आठ अवस्थायें सिद्ध होती हैं।

भर्तृप्रपंच का प्रमाणसमुच्चयवाद–भर्तृप्रपंच की दृष्टि में लौकिक एवं वैदिक दोनों ही प्रकर के प्रमाणों की सत्यता है। इसलिये वे प्रमाण समुच्चवादी कहलाते हैं।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भर्तृप्रपंच के दार्शनिक सिद्धान्त को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है– (१) राशित्रयवाद (२) अनेकान्तवाद (३) परिणामवाद और (४) मोक्ष निरूपण।

प्रथम राशित्रयवाद को छोड़कर अन्य तीन सिद्धान्तों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। राशित्रयवाद के अनुसार उपाध्याय जी ने परमात्मा को उत्तम राशि, जीव को मध्यम राशि और शेष मूर्तामूर्त जगत् को अधम राशि कहा है।

सुन्दर पाण्ड्य–सुन्दर पाण्ड्य दक्षिण भारत के मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के विद्वान् थे। यह अनुमान किया जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य से सम्बन्धित कारिकाबद्ध वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत तो नहीं मिलता, परन्तु विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य ने समन्वयाधिकरण के भाष्य के अन्त में (ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४) जो निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे सुन्दर पाण्ड्य के वार्तिक ग्रन्थ से ही उद्धृत हैं:

अपि चाहुः
गौणमिथ्यात्मनो सत्वे पुत्रदेहादि बाधनात्।
सद् ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्य कथं भवेत् ।।
अन्वेष्टव्यात्म विज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पापदोषादि वर्जितः।।
देहात्मप्रत्ययो यद् वत् प्रगाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ।।
(ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४ में उद्धृत)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्म ज्ञान का उदय नहीं होता, उस समय तक समस्त प्राणियों एवं विधियों की सार्थकता है। जहाँ तक आत्म वस्तु का सम्बन्ध है वह न हेय है और न उपादेय। अद्वैत दृष्टि के अनुसार आत्मा के बोध में प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मबोध की स्थिति में प्रमाता एवं विषय की सत्ता नहीं रहती। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त

---

१. अच्युत, पृ० १०।
२. देखिए, वेदान्तांक (कल्याण) में भर्तृप्रपंच का अद्वैत सिद्धान्त नामक लेख, पृ० ३३२।

श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु नरसिंह स्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप द्वारा रचित पद्मपाद की पंचपादिका की टीका प्रबोध परिशोधिनी के अनुसार उपर्युक्त श्लोक सुन्दर पाण्ड्य कृत ही बतलाए जाते हैं। माधव मन्त्रिकृत सूतसंहिता की तात्पर्य दीपिका नाम की टीका में भी यह उल्लेख मिलता है कि उपर्युक्त शंकराचार्य द्वारां उद्धृत श्लोकों में तृतीय श्लोक-'देहात्मप्रत्ययो···निश्चयात्' सुन्दरपाण्ड्य कृत वार्तिक से उद्धृत है। अमलानन्द के कल्पतरु (३।३।२५) के अन्तर्गत सुन्दर पाण्ड्य के निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' आदि और तीन वचन तथा तन्त्र वार्तिक (बनारस संस्करण, पृष्ठ ८५२-८५३) में उक्त तीन तथा 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो, यों पांच वचन उद्धृत किये हैं। 'न्यायसुधा' (पृष्ठ १२२८) के अन्तर्गत उक्त पांच श्लोक 'वद्धानाम्' के नाम से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य के वार्तिक के प्रमाण संकेत उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में तो सुन्दर पाण्ड्य राजा नेडूमारण नायनर का नामान्तर है।[1]

इसके विपरीत कुछ विद्वानों के अनुसार यह पाण्ड्यराज कुब्जवर्धन या कुलपाण्ड्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे। कतिपय विद्वानों का विचार है कि प्रसिद्ध शैव आचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समसामयिक थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दर पाण्ड्य ने जैन धर्म को छोड़कर शैव धर्म को स्वीकार किया था। यह भी उल्लेख मिलता है कि सुन्दर पाण्ड्य ने चोल-राजकुमारी से विवाह किया था।[2]

इस प्रकार सुन्दर पाण्ड्य एवं उनके दार्शनिक मत के सम्बन्ध में अनेक मतवाद मिलते हैं।

ऊपर हमने जिन शंकराचार्यपूर्वती आचार्यों की चर्चा की है उनमें कतिपय ही ऐसे हैं जिनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे हैं जिनकी रचनाओं के कुछ संकेत मात्र ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अतः भर्तृहरि आदि कतिपय को छोड़कर अन्य आचार्यों के दार्शनिक मतों का उल्लेख विभिन्न टीकाओं, भाष्यों एवं अन्य विविध ग्रन्थों में प्राप्त संकेतों के आधार पर ही किया गया है। अतः यहाँ यह निर्देश करना उपयुक्त होगा कि उक्त आचार्यों के मतों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीज मात्र ही उपलब्ध होते हैं। अब यहाँ शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रधान गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

गौडपादाचार्य का दर्शन

प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौडपादाचार्य दर्शन में ही उपलब्ध होता है। गौडापादाचार्य का प्रमुख दर्शन ग्रन्थ गौडपादकारिका है। 'गौडपादाचार्य' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभाव

---

१. देखिए-महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा लिखित लेख-
Some problems of Identity in the Cultural History of Ancient India (Journal of Oriental Research, Madras, Vol. I).

२. देखिए-अच्युत, पृष्ठ १८ पर पादटिप्पणी।

उनके प्रशिष्य शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त, अद्वैतवाद, पर भी पूर्ण रूप से पड़ा है। डाक्टर वलेसर,[१] जैकोवी,[२] एवं डाक्टर दास गुप्त[३] आदि कुछ विद्वानों ने गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव ढूंढ़ने की चेष्टा की है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

गौडपादाचार्य द्वारा अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन

औपनिषद दर्शन के अनुसार गौड़पादाचार्य विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ को आत्मा के विभिन्न रूपों में न स्वीकार करके एक ही स्वीकार करते हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार उपर्युक्त तीन स्वरूप एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं–(एक एवत्रिधास्मृतः, गौ० का० १।१)। यही आत्मा अद्वैत ज्ञान-स्वरूप एवं सर्वव्यापक है। (अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुओं विभुस्मृतः, गौ० का० १।१०)। अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सुप्त जीव अज्ञान निवृत्ति होने पर जब प्रबुद्ध होता है तभी अज, अनिद्र, अस्वप्न एवं अद्वैत तत्त्व का बोध होता है।[४] इस प्रकार शांकर वेदान्त की तरह आचार्य गौडपाद की दृष्टि से द्वैत जगत् की सत्ता मायिक ही है। माया अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होने से तत्त्व ज्ञान होने पर प्रपंचमय द्वैत जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है–ज्ञाते द्वैतं न विद्यते (गौ० का० १।१८)।

परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व के रूप में स्वीकार करके ब्रह्म तत्त्व का विस्तार से विवेचन किया गया है। गौडपादाचार्य ने प्रणव अर्थात् ओंकार को ब्रह्म रूप ही माना है। (प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्, गौ० का० १।२५)। प्रणव रूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रणव ही अपर, पर, अपूर्व, अनन्तर, अवाह्य अनपर तथा अव्यय रूप है। प्रणव ही सर्व प्रपंच का आदि, मध्य तथा अन्त है।[५]

ब्रह्म का स्वभाव–जो ब्रह्म जिज्ञासु का ज्ञेय है उसे गौडपादाचार्य ने अज तथा नित्य कहा है–'ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यं' (गौ० का० ३।३३) यही शान्त तथा अद्वयरूप[६] तत्त्व है तथा प्रत्येक स्थिति में समान[७] है। ब्रह्म स्वभाव से स्वस्थ, शान्त[८] तथा विशुद्ध रूप[९] है। आचार्य गौडपाद ने ब्रह्म को अनिद्र, अस्वप्न, नाम रूप से रहित, सकृद्विभात तथा सर्वज्ञ कहा है।[१०]

---

१. डा० वसेलर के मत के लिये देखिए–J.R.A.S. (1910) p. 1363.

२. जैकोबी के मत के लिये देखिए–J.O.S. (1913), pp. 52, 54.

३. डा० दास गुप्त के मत के लिए देखिए–Indian Philosophy, Vol. 1, p. 423.

४. अनादिमायया सुप्तो, यदा जीवः प्रबुद्धते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।। गौ० का० १।१६।

५. गौ० का० १।२५, २६।

६. शान्तमद्वयम्, गौ० का० ४।४५।

७. समतांगतम्, गौ० का० ३।२।३८।

८. स्वस्थं शान्तम्, वही, ३।४७।

९. वही, ४।६३।

१०. वही, ३।३५।

ब्रह्म दर्शन के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप[1] है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अनुत्तम सुख एवं निर्वाण रूप है।[2] एक कारिका के अन्तर्गत परमार्थ तत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है क्रि परमार्थ दृष्टि से न किसी का प्रलय है न किसी की उत्पत्ति, न कोई वद्ध है तथा न कोई साधक। इस प्रकार तो मुमुक्षु एवं मुक्त का भेद भी मिथ्या ही है।[3]

उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है उसका पूर्ण समर्थन तब तक एकांकी ही कहा जाएगा जव तक कि जगत् के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य के दृष्टिकोण का अध्ययन न किया जाए। गौडपादाचार्य के प्रशिष्य शंकराचार्य ने तो जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हुए उसका मिथ्यात्व सिद्ध किया था। गौडपादाचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए स्वप्न सादृश्य के आधार पर जगन्मिथ्यात्व का समर्थन किया है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगत् के स्वाप्निक मिथ्यात्व के सम्बन्ध में विचार करना उचित होगा।

गौडपादाचार्य द्वारा स्वप्न सादृश्य के आधार पर किया गया जगन्मिथ्यत्व का प्रतिपादन

आचार्य गौडपादा ने माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य एवं अलातशन्ति प्रकरण के अन्तर्गत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्नसिद्धान्त के आधार पर किया है। स्वाप्निक विषयों का मिथ्यात्व निष्पन्न करते हुए आचार्य ने वैतथ्य प्रकरण में कहा है कि स्वप्न काल के समस्त व्राह्म एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होते हैं।[4] क्योंकि स्वप्नावस्था के पश्चात् जाग्रत् अवस्था में स्वाप्निक भावों की सत्यता नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए स्वप्न में गज या पर्वत देखने वाले व्यक्ति के लिए जाग्रत् अवस्था में गज या पर्वत की सत्त नहीं देखी जाती। अतः स्वप्न काल के गज या पर्वत के भाव भी मिथ्या ही हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य गौडपाद ने कहा है कि स्वप्न में जो व्यक्ति अपने मित्रों से आलाप करता है वह जाग्रत दशा में नहीं करता।[5] इसी प्रकार स्वाप्निक रथादि की सत्ता भी मिथ्या ही है।[6]

गौडपादाचार्य ने उपर्युक्त स्वप्न सिद्धान्त के आधार पर ही स्वाप्निक पदार्थों की सत्ता की तरह जाग्रत् जगत् की सत्ता को मिथ्या कहा है।[7] स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मिथुयात्व का विवेचन करते हुए आचार्य गौडपाद ने उक्त दोनों अवस्थाओं को एक ही कह दिया है—स्वप्न जागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः (गौ० का० २।५)।

शंकराचार्य ने गौडपादाचार्य के उपर्युक्त स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साम्य के प्रतिपादक कथन (गौ० का० २।४) पर नैयायिक शैली में भाष्य करते हुए कहा है—

---

८. प्रभातं भवति स्वयम् , गौ० का ४।८१।

२. वही, ३।४७।

३. वही, २।३२।

४. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्नमाहुर्मनीपिषिणः, गौ० का० २।१।

५. मित्राद्यैः सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते। गौ० का० ४।३५।

६. गौ० का० २।३।

७. वही, २।४।

१–जाग्रद्दृश्यानां भावनां वैतथ्यम्–इति प्रतिज्ञा

अर्थात् जाग्रत अवस्था में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, यह प्रतिज्ञा है।

२–दृश्यत्वात्–इति हेतुः।

क्योंकि वे दृश्य हैं, यह हेतु है।

३–स्वप्नदृश्यभाववत्–इति दृष्टान्तः।

स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के समान मिथ्या हैं, यह दृष्टान्त है।

४–यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टम् इति हेतूपनयः।

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में देखी गई वस्तुएँ भी मिथ्या ही हैं। यह हेतूपनय है।

५–तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम्–इति निगमनम्

अर्थात् इसलिए जाग्रत् जगत् में देखी गई वस्तुएं मिथ्या हैं–यह निगमन है।[1]

उपर्युक्त भाष्य के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का साधर्म्य स्पष्ट है। परन्तु प्रकारान्तर से देखने पर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद भी दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत के भेद का प्रतिपादन भी किया है।

शंकराचार्य द्वारा किया गया स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत विज्ञानवादी बौद्ध के मत को प्रस्तुत करते हुए और उसका खण्डन करते हुए कहा है कि–

यदुक्तं वाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्ययाधिनैव वाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति वक्तव्यम्। अर्थात् स्वप्नादि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी वाह्य अर्थ के विना ही हों, यह युक्त है, क्योंकि दोनों में प्रत्ययत्व समान है, ऐसा वाह्य अर्थ के निषेध करने वाले ने जो कहा है उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

शंकराचार्य विज्ञानवादी के उपयुर्क्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं–**अत्रोच्यतेन स्वप्नादि प्रत्यय वज्जाग्रत् प्रत्यया भवितुमर्हन्ति।** अर्थात् स्वप्नकालिक प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते। अपने मत के समर्थन में हेतु प्रदर्शित करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–**कस्मात्? वैधर्म्य हिभवति स्वप्नजापरितयोः**–अर्थात् वैधर्म्य हेतु है। स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थाओं में वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–**किं पुनर्वैधर्म्यम् । वाधावाधाविति ब्रूमंः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्यामयोपलब्धः महाजनसमागम इति, नह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मेमनो बभूव, तेनैषा**

---

१. डा० राधाकृष्णन् ने नैयायिक शैली में किए गए उपर्युक्त प्रतिपादन का महत्व जैकोबी महोदय को दिया है। (देखिए, डाक्टर राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४२९ पर पादटिप्पणी) परन्तु शंकराचार्य ने तो उपर्युक्त विषय का नैयायिक शैली में प्रतिपादन जैकोबी से शतियों पूर्व कर दिया था। अतः नैयायिक शैली के प्रतिपादन का महत्व जैकोबी को देना उचित नहीं प्रतीत होता।

भ्रान्तिरुद्बभूवेति। अर्थात् वैधर्म्य क्या है ? बाध और अबाध। क्योंकि स्वप्न में उपलब्ध हुई वस्तु का जाग्रत् अवस्था में बाध होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है जो जाग्रत् में स्वप्न द्रष्टा को उस स्वप्न दृष्ट महाजन की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए जाग्रत् अवस्था में वह स्वप्न द्रष्टा यही कहता है कि स्वप्न में महाजन समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। वास्तव में मुझे महाजन समागम नहीं हुआ। मेरे मन के निद्रा से ग्लानि युक्त होने के कारण मुझे यह भ्रान्ति हो गई थी।

स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था से भेद दिखलाते हुए शंकराचार्य ने कहा है—नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्येत।[1] अर्थात् जाग्रत अवस्था में जिन स्तम्भादि अवस्थाओं की उपलब्धि होती है उनका किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता।

उपर्युक्त रीति से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद की स्थापना करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मौलिक भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्न दर्शन का कारण 'उपलब्धि'। स्मृति और उपलब्धि का प्रत्यक्ष भेद स्वतः अनुभव में आता है। वह भेद यह है कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है।[2] इस प्रकार शंकराचार्य ने स्पष्ट ही स्वप्न एवं जाग्रत के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है।

समालोचना

अद्वैतवाद ग्रन्थ के लेखक गंगा प्रसाद ने शंकराचार्य के उपर्युक्त मत की आलोचना की है। गंगाप्रसाद प्रभृति कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन शंकराचार्य ने माण्डूक्य कारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उन्होंने योगाचार बौद्ध के मत का खण्डन (ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९) करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य की स्थापना करके माण्डूक्यकारिकाभाष्य वर्ती मत के विरोधी मत की स्थापना की है। इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद के समालोचक गंगाप्रसाद ने लिखा है—

"उन्होंने यह न सोचा कि हम अपने ही शब्दों में अपने मत का खण्डन कर रहे है"[3]

मेरे विचार से गंगाप्रसाद आदि का उपर्युक्त दृष्टि से शंकराचार्य के मत में विरोध ढूंढ़ना उचित नहीं प्रतीत होता। शंकराचार्य का माण्डूक्य कारिका भाष्य एवं ब्रह्मसूत्र भाष्य में भिन्न-भिन्न तात्पर्य है। माण्डूक्य कारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए जहाँ शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, वहां उनका उद्देश्य गौपादाचार्य के इस मत का समर्थन करना है कि जागत् के पदार्थ सत्य न होकर मिथ्या हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के पदार्थों का जाग्रत् में बाध हो जाता है उसी प्रकार परमार्थावस्था में जाग्रत् अवस्था के पदार्थों का बाध हो जाता है। परमार्थावस्था में आत्मतत्त्व का बोध होने पर केवल आत्म तत्त्व की ही सत्ता सिद्ध होती है। अतः जहाँ आचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९।

२. विशेष देखिए—ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९।

३. गंगाप्रसाद, अद्वैतवाद, पृ० ७०। (कला प्रेस, इलाहाबाद—१९४७ सं०)

साधर्म्य को स्वीकार किया है, वहां उनका तात्पर्य गौडपाद के अनुसार जाग्रत् के पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध करना है।

जहां तक शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य निरूपण का प्रश्न है वह भी शंकराचार्य के माण्डूक्य कारिका भाष्य (२।४) का विरोधी नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद अवश्य स्थापित किया है परन्तु वहाँ भी उन्होंने जाग्रत् के पदार्थों की परमार्थ सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। स्वप्न एवं जाग्रत् का अवस्थागत भेद निश्चित है। स्वप्न द्रष्टा के लिए अपनी चार हाथ की कुटियों में जिन गजराजों के दर्शन होते हैं उनकी वहाँ (कुटिया में) स्थिति भी असम्भव है कि स्वप्नकालिक पदार्थों की सत्ता केवल मन का भ्रममात्र ही होती है। परन्तु इसके विपरीत इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जगत् के पदार्थ केवल मानसिक कल्पनामात्र न होकर भौतिक दृष्टि से सत्य हैं। गौडपादाचार्य[१], शंकराचार्य[२] एवं आनन्दगिरि[३] ने भी स्वप्न एवं जाग्रत के इस वैधर्म्य को स्वीकार किया है। परमार्थ दृष्टि से दोनों के मिथ्या होने के कारण दोनों में मिथ्यात्व रूप साधर्म्य है।[४] और स्वप्न एवं जाग्रत् के पृथक् दृष्टिकोण से दोनों में वैधर्म्य है। अतः शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के सम्बन्ध में जिस साधर्म्य एवं वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उसे विरोधी समझना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

गौडपादाचार्य का अजातवाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के समर्थन में अजातवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती है और न कोई जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।[५] अतः परमार्थ दृष्टि से जीव अजात ही है। एक अन्य स्थल पर वास्तविक अद्वैत एवं परमार्थ तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है कि वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है और न उत्पत्ति। जो न बद्ध है और न साधक। इसके अतिरिक्त जो न कभी मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्म तत्त्व परमार्थ सत्य है। निम्नलिखित श्लोक के अन्तग्रत गौडापादाचार्य का उक्त भाव ही अभिव्यंजित हुआ है–

न निरोधो न चोत्पतिर्नबद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता।। (गौ० का० २।३२)

आत्मा की अजातता को सिद्ध करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि द्वैतवादी लोग जन्महीन आत्मा

---

१. गौ० का० २।४।

२. अन्तःस्थानात् संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद् दृश्येभ्यो भेदः (शा० भा० गौ० का० २।४)।

३. आनन्दगिरी ने स्वप्न काल के विषयों ने स्वप्न काल के विषयों को 'कल्पनाकाल भाविनो भावाः, और जाग्रत काल के विषयों को 'प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वापरकालभाविनः' का है। (देखिए, आनन्दगिरी का टीका) गौ० का० २।१४)

४. देखिए *F.H. Bradley* : Essay on Truth and Reality, Ch. XVI.

५. नकश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते।। (गौ० का० ३।४८)

के भी जन्म के अभिलाषी प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ (आत्मा) निश्चित ही अजन्मा और मरणहीन किस प्रकार हो सकता है। इसलिए जो अमृत पदार्थ (आत्मा) है वह मर्त्य नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो मर्त्य पदार्थ है वह अमृत तत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यह है कि स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[१] इस प्रकार जज एवं अमर आत्मा ही एक मात्र परमार्थ सत्य है। परमार्थतः जीव की उत्पत्ति न मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद पड़ा है।

गौड़पादपाचार्य और माया सम्बन्धी सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन मायावाद उपसिद्धान्त को स्वीकार किए बिना असम्भव है। यही कारण है कि ऋग्वेद से लेकर मायावाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के काल तक के अद्वैततत्त्व के प्रतिपादक दार्शनिक साहित्य में किसी न किसी रूप से माया की चर्चा मिलती है। अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक गौडपादाचार्य ने भी अपनी माण्डूक्य कारिका में माया सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया है।

गौडपादाचार्य के दर्शन के अनुसार परमार्थ तत्त्व अद्वैत तत्त्व से द्वैत सृष्टि की उत्पत्ति की शंका स्वाभाविक ही है। इसी शंका का समाधान करते हुए आचार्य गौडपाद का कथन है कि माया के कारण मरमार्थ सत्य अद्वैत तत्त्व भी द्वैत रूप में प्रतीत होता है।[२] भाष्यकार शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार तिमिर रोगी के लिए एक चन्द्र के अनेक चन्द्र दिखाई पड़ते हैं एवं अज्ञान के कारण रज्जु में सर्प-धारा आदि का भेद दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत सत् तत्व भी माया के द्वारा अपने स्वभाव के विपरीत भेदमय दिखायी पड़ता है। परन्तु यह भेद सात्विक कदापि नहीं होता। अतः परमार्थ सत् को द्वैत रूप समझना ही भूल है।[३]

उपनिषदों के कुछ वावदूक एवं ब्रह्मवादी व्याख्याताओं के मत की ओर संकेत करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि जो वादी अजात आत्मतत्व की स्वाभावतः उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनका मत पूर्णतया असंगत है क्योंकि जो भाव अजात एवं अमृत रूप है वह मर्त्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है[४] और जो मर्त्य नहीं है उसका जन्म असम्भव है। इस प्रकार अद्वैत तत्त्व अनुत्पन्न एवं अमृत है।

अजात तत्त्व की जातता की प्रतीति का कारण बतलाते हुए गौड़पादाचार्य ने कहा है कि अजायमान आत्मा ही माया के द्वारा जायमान प्रतीत होता है। अजायमानो बहुधा मायया जायते तुसः (गौ० का०

---

१. अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्तिवादिनः।
अजातो ह्यमृतोभावो मर्त्यतां कथमेष्यति। (गौ० का० ३।२०)
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो नकथंचिद् भविष्यति।। (गौ० का० ३।२१)

२. मायया भिद्यते ह्येतन्नन्यथाऽजं कथंचन। गौ० का० ३।१९।

३. तस्मान्न परमार्थ सद् द्वैतम्। शा० भा० गौ०, का० ३।१९।

४. येतुपुनः केचिदुपनिषद् व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैव वात्मतत्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिच्छिन्न–स च जातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति। (शा० भा०, ३।२०)

६।२४) यहाँ माया शब्द का प्रयोग गौडपादार्चा ने अविद्या के अर्थ में किया है। गौडपादाचार्य ने माया को स्वप्नोपम भी कहा है।[1]

अधिष्ठान और माया–अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त है। मायिक जगत् का आरोप अधिष्ठान के स्वीकार किये बिना असंगत है।[2] इसी लिये अद्वैत दर्शन के मण्डनकर्ता आचार्यगौडपाद ने निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत परमार्थ सत् स्वरूप आत्मा से माया के द्वारा मिथ्या जगत् की उत्पत्ति बतलाई है, जो अपारमार्थिक है–

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः (गौ० का० ३।२७)

उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत प्रयुक्त 'सत्' की व्याख्या शंकराचार्य ने पंचम्यन्त एवं पष्ठ्यन्त दोनों मानकर की है। 'सतः' को पंचम्यन्त मानने पर अर्थ होगा–सत् (विद्यमान) कारण से ही माया निर्मित जगत् का जन्मयुक्त है, परन्तु जगत् की यह उत्पेत्ततात्त्विक नहीं है।[3] इसके विपरीत 'सत्' को पष्ठ्यन्त मानकर किया गया उपर्युक्त कारिकांश का अर्थ होगा–सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का माया के द्वारा जन्म कहना युक्त है। परन्तु आत्मा का यह जन्म पारमार्थिक नहीं है।[4] प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सत्' को पष्ठ्यन्त मानकर ही अर्थ किया है।[5] दोनों मत आचार्य गौडपाद के अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं।

गौडपादाचार्य के दर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने शंकराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक साहित्य में सर्वप्रथम अद्वैतवाद सिद्धान्त का सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत किया था। उनके इस अद्वैतसिद्धान्त का आधारसिद्धान्त अजातवाद था, जिसका विवेचन अभी हम कर चुके हैं। अतः आचार्य शंकर को गौडपादाचार्य के दर्शन से अद्वैतवाद सिद्धान्त की आलोचना एवं स्थापना में एक महती प्रेरणा एवं आधार भूमि प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। परन्तु इसके साथ-साथ यह कहना भी असंगत न होगा कि गौड़पादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर दर्शन की सबल पृष्ठभूमि होते हुए भी दोनों आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक समानताएँ होते हुए भी कुछ विषमताएँ मिलती है। इन समानताओं एवं विषमताओं का उल्लेख सप्तम अध्याय में किया जायेगा। अब इस स्थल पर शंकराचार्य के गुरू गोविन्दपाद एवं उनकी देन के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

गोविन्दपाद एवं उनकी दार्शनिक देन–गौडपादाचार्य के शिष्य एवं शंकराचार्य के गुरू गोविन्दपाद नम्रदा तट पर निवास करते थे तथा एक महान् योगी थे। कहते हैं, इस महायोगी का स्थूल शरीर एक सहस्र वर्ष तक इस संसार में रहते हुए भी दिव्य था। गोविन्दपाद के सम्बन्ध में विद्यारण्य का मत है

---

१. गौ० का० २।३१।
२. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनंगी कारात। वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।
३. सतोहिविद्यमानात् कारणात् मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्यैव जगज्जन्मयुज्यते।
शा० भा०, गौ० का० ३।२७।
४. सतोविद्यमानस्य वस्तुनो रज्जवादेः सर्पादिव मायया जन्मयुज्यते।–शा० भा०, गौ० का० ३।२७।
५. The birth of that which exists can be reasonsable only through illusion, but not in reality, Agamsastra, p. 66.

कि गोविन्दपाद भाष्यकार पतंजलि के रूपान्तर हैं।[1] राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गुणभद्र तथा शंकराचार्य के गुरू गोविन्दपाद समसामयिक थे। राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरू थे, क्योंकि जैसा कि इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्दपाद गुणभद्र के शिष्य थे। भट्टारक गोविन्द पुत्र हस्तिमल्ल ने भी स्वरचित विक्रान्तकौरव नामक नाटक के अन्त में कवि प्रशस्ति में लिखा है कि गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य परम्परा में अन्यतम था। यह मत असंदिग्ध है कि जिनसेन ने ७०५ शकाबद में अर्थात् ७८३ सन् में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता है कि जिनसेन, गुणभद्र एवं गोविन्द–ये तीनों आचार्य धाराधिप भोज के सभा पण्डित थे। परन्तु उक्त ग्रन्थ का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि धाराधिप राजा भोज का काल ११ वीं शताब्दी है। ११ वीं शताब्दी में होने वाले राजा भोज की चर्चा ७८३ सन् के ग्रन्थ में सर्वथा अप्रामाणिक ही कही जायेगी। अतः हरिवंश का मत तर्कप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विद्वान् का यह मत भी है कि हरिवंश में उल्लिखित भोज धारापति भोज न होकर कोई कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय राजा हैं।[2]

प्रभावक चरित्र के अनुसार वाष्पभट्टि एवं गोविन्द समकालीन थे। ८३६ ई० में वाष्पभट्टि के मरण के पश्चात गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। वाष्प भट्टि का जन्म काल ७४४ ई० सन् है।[3]

गोविन्दपाद रचित कोई भी वेदान्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। रसहृदय नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभगवत्पाद रचित अवश्य मिलता है परन्तु इस ग्रन्थ का विषय रसायन शास्त्र है। माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह के रसेश्वरदर्शन प्रकरण में उक्त ग्रन्थ का प्रामाण्य भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि गोविन्दभगवत्पाद शंकराचार्य के गुरू थे।

इस अध्याय के अन्तर्गत अभी तक किये गये विवेचना से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद संहिता से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों के काल तक के समय में अद्वैतवाद के अस्पष्ट एवं स्पष्ट बीज वर्तमान थे। परन्तु इसके साथ साथ यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन निष्पन्न नहीं हुआ था जैसाकि आगे स्पष्ट किया जायेगा। उक्त कार्य शंकराचार्य के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। अब यहाँ शंकराचार्य के दर्शन के अनुसार अद्वैतवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा। शांकर अद्वैतवाद की स्थापना से प्राचन अद्वैतवाद की न्यूनतायें स्वतः स्पष्ट हो जायेंगी।

---

१. शंकर दिग्विजय–५।६४।

२. विशेष देखिए :
Proceedings of Third Oriental Conference, p. 224.

३. देखिए, अच्युत, पृष्ठ २० पर टिप्पणी।

शंकराचार्य (७८८-८२०) द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन

शंकराचार्य के आविर्भाव काल की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। एक ओर वौद्ध धर्म का ह्रास होते हुए भी उसका पूर्ण उच्छेद नहीं हुआ था और दूसरी ओर मीमांसक विद्वान् वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व को समझने म असफल सिद्ध हो रहे थे। ऐसी स्थिति म एक ऐसे धर्म एवं दर्शन के प्रचारक की आवश्यकता थी जो समाज की धार्मिक एवं दार्शनिक एकता के स्तम्भ की स्थापना कर सकता। यही कार्य आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा किया था।

शंकराचार्य-पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद सिद्धान्त अनाविष्कृत था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वयं शंकराचार्य ने ही अपने भाष्यग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्यों का उल्लेख किया है।[1] अतः जैसा कि ऊपर अद्वैतवेदान्त के ऐतिह्य से भी सिद्ध हो चुका है, यह निश्चित है कि शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य से अद्वैत सम्वन्धिनी विचारधारा की एक सबल पृष्ठभूमि उपलव्ध हुई थी। परन्तु शांकर अद्वैतवाद का प्रमुख आधार वादरायण का ब्रह्मसूत्र दर्शन था। यह स्वभाविक है कि अध्यात्म विद्या के अनेकों अनुशीलनकर्ताओं–उपनिषद्वर्ती तत्त्ववेत्ताओं एवं उपनिपद्वर्ती सिद्धान्तों के सूत्ररूपता के कारण कुछ असामंजस्य एवं सन्दिग्धता वनी रहे। अपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र दर्शन की उक्त न्यूनताओं की पूर्ति शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रस्तुत समन्वयात्मक सिद्धान्त के आधार पर की है। अतएव शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों की व्याख्या को थीवो,[2] गफ[3] एवं जैकोव[4] प्रभृति विद्धानों ने सर्वाधिक सन्तोष जनक कहा है। जहां तक ब्रह्मसूत्र भाष्य का प्रश्न है, शंकराचार्य ने सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। डां० थीवो अद्वैतवादसमस्त शांकर भाष्य की अपेक्षा विशिष्टद्वैतसम्मत रामानुज भाष्य को ब्रह्मसूत्र का अधिक संगत भाष्य मानते है। अपने मत के

---

१. 'इति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्'–ब्रा० सू०, शा० भा० १।३।१६।
तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति–ब्र० सू०, शा० भा० १।४।१४।
अत्रोक्तं वेदान्त सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।
यैरिमे गुरूभिः पूर्व पदवाक्य प्रमाणतः।
व्याख्यातः सर्व वेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।–तै० उ०, शा० भा०, मंगलाचरण।

२. The task of reducing the teaching of the whole of the Upanishads to a system consistent and free from contradiction is an intrinsically impossible one. But the task once given we are quite ready to admit that Sankar's system is most probably the best that can be devised. *Thibaut* : Introduction; S.B.E. Vol. XXXIV.

३. *Gough* : Philosophy of Upanishads, p. VIII.

४. It may be admitted that if the impossible task of reconciling the contradiction of the Upanishads and reducing them to a harmonious and consistent whole is to be attemped at all, Sankar's system is about the only one that could do it. *Col. Jacob* : Introduction to Vedantasar.

समर्थन में डा० थीबो ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निराधार हैं।[1] मेरे विचार से शंकराचार्य का भाष्य ब्रह्मसूत्र की सर्वाधिक संगत व्याख्या है।

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन

हम यह कह चुके है कि शंकराचार्य के दर्शन का मूल आधारा उपनिषत् साहित्य था। विशेषतः, उपनिषदों के आधार पर ही शंकराचार्य ने ब्रह्म विद्या का निरूपण किया था। शंकर अद्वैतवाद के अनुसार अद्वैततत्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। जगत् की सत्ता शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मायिक बतलाई गई है। शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन आगे किया जायेगा। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व है, वस्तुतः जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। यही शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। शांकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतब्रह्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है-

"अस्य जगतोनामरूपाम्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृ भोक्तृ संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल निमितक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य रचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म"। (शा० भा०, ब्र० सू० १।१।२)

अर्थात् नाम रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। शंकराचार्य कृत उपर्युक्त लक्षण के अनुसार ब्रह्म की विशेषताएँ-सर्वव्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्व शक्तिमत्त है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्त्व है।

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण

जर्मन विद्धान डायसन का यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता कि भारत के विद्वान् सत्व विद्या सम्बन्धी (ontological) प्रमाण के बन्धन में नहीं फंसे।[2] डायसन का यह कथन कम से कम शंकराचार्य के सम्बन्ध में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। शंकराचार्य ने ब्रह्म के सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निश्चय ही सत्व विद्या सम्बन्धी प्रमाणों से युक्त हैं। आचार्य ने जिस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वह तर्क प्रतिपाद्य न होने के कारण अनुभव गम्य है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है, उसकी सत्ता व्यावहारिक, देशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।[3] जैसा कि वेदान्तपरिभाषाकार का

---

१. डा० थीबो के तर्कों और उनके निराकरण के लिए देखिये :
Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 469-470, (*foot note*).

२. D.S.V., page 123

३. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४ तथा देखिए डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलास्फी', भाग २, पृ० ५३४।

कथन है, यद्यपि यह ब्रह्मतत्व कोई द्रव्य रूप सत्य नहीं है।[1] परन्तु फिर भी यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष, समस्त वस्तुओं का एक महासामान्य (ब्रह्म) में ही अन्तर्भाव होता है।[2] ब्रह्म का अस्तित्व बड़ा विलक्षण है। यदि देखा जाय तो ब्रह्म का अस्तित्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु देश कालातीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्व है, जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा असम्भव है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि वह अभाव रूप है।[3] ब्रह्म की सत्त को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है–

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावावसानः (ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२)

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त के आधार पर असम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म के न कुछ समान है और न कुछ असमान। ब्रह्म वस्तुतः किसी भी प्रकार के स्वगत भेद से रहित है। शंकराचार्य का कथन है कि एक वृक्ष, जो पत्तियों, पुष्पों एवं फलों के स्वगत भेदों से युक्त है, का सादृश्य अन्य वृक्षों के साथ देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाषाण आदि वृक्ष से असदृश वस्तुएं भी उपलब्ध होती हैं।[4] परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं ब्रह्म की स्थिति इसके विपरीत है। अतः किसी दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन असम्भव ही है।

ब्रह्म सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म की यह आनन्दरूपता नैयायिक की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसलिए वह मुक्ति को शुष्क स्वीकार करता है।[5] जर्मन दार्शनिक कान्ट भी परम तत्त्व के बोध से उत्पन्न होने वाले आनन्द का बोध न होने के कारण परम तत्त्व की उपलब्धि के सम्बन्ध में संदिग्ध था। यही कारण है कि दार्शनिक कान्ट शुद्धवस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था।[6] इसके विपरीत शांकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है। इस साध्य की प्रस्तावना के रूप में ही ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा–(ब्र० सू० १।१।१) सूत्र का निर्माण प्रतीत होता है।

शांकर दर्शन के अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। इसलिए वह स्पिनोजा के स्वतन्त्र सत्व (Substantia) के अधिक समीप प्रतीत होता है।७ वेदान्तिक ब्रह्म का पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

---

१. वेदान्त परिभाषा १।

२. शां० भा०, वृ० उ० २।४।६।

३. वाङ् मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणोभावाभिप्रायेणामिधीयते।–ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

४. गीता, शा० भा० १३।१२।

५. देखिए न्यायसूत्र १।२।२२ पर वात्स्यायन का भाष्य एवं उद्योतकर का वार्तिक।

६. देखिए *H.J. Paten* : Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I. p. 64. London. Allen & Unwin.

७. *Maxmuller* : Three Lectures on the Vedanta Philosophy, Page 123, Longman's Green, London, 1894.

ब्रह्म को असत् पदार्थ कहने की आशंकर शंकराचार्य को पहले से विदित थी। आचार्य ने अपने छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में उन मन्द बुद्धियों की चर्चा का स्पष्ट उल्लेख किया है जिनके लिए दिग्, देश, गुण, गति, फल और भेद से शून्य परमार्थ सत् एवं अद्वय तत्व असत् पदार्थ के समान दिखाई पड़ता है।[1] इसीलिए शंकराचार्य ने शून्यवाद सिद्धान्त को सर्वथा अनुपपन्न कहा है।[2]

नेति नेति द्वारा वर्णित ब्रह्म के सम्बन्ध में उसके असत् होने की शंका करना तार्किक दृष्टि से किये गये अध्ययन का फल है। पश्चिमी विद्वान् आगस्ताइन भी ईश्वर की अज्ञेयता में विश्वास रखता था।[3] न्यायशास्त्र का भारतीय विद्वान् विश्वनाथ भी निर्दिष्ट वस्तु के ज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानता था।[4] पश्चिमी विद्वान् हेगल भी शुद्ध सत् को असत् कहने लगा था।[5] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, यदि मिथ्या जगत् के मूल में किसी सत् तत्व की स्थिति न हुई होती तो जगत् की स्थिति असम्भव ही होती। जगत् की तो बात ही क्या, मृगतृष्णिका आदि जो नितान्त असत् हैं, विना आधार के सिवा नहीं हो सकते।[6] अतः ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान मानने में संकोच नहीं किया जा सकता। अधिष्ठानवाद के इस सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण आगामी अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म की जगत् कारणता के सम्बन्ध में विचार

परमार्थ दृष्टि से तो शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व होने के कारण कार्यकारणता का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। इसीलिए शांकर दर्शन के अनुसार जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है, परिणाम नहीं।[7] परन्तु माया शक्ति से शवलित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् कार्य है। स्वयं आचार्य शंकर ने आकाशदि प्रपंचमय जगत् को कार्य तथा परब्रह्म को कारण कहा है।[8] परन्तु ब्रह्म के जगत् के कारण होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि ब्रह्म अथवा उनके धर्म अथवा धर्मों में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है क्योंकि उत्पत्ति रक्षा तथा प्रलय काल

---

१. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसद् इवप्रतिभाति। शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।

२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३२।

३. We can know what God is not, but not what He is. (Trinity, VIII. 2)

४. निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्–न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ४६।

५. Hegal has declared that pure being devoid of all, predicates is not different from non being. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, Page 538.

६. नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदाभवन्ति (शा० भा०, गीता १३।१४)।

७. परिणाम और विवर्त के सम्बन्ध में देखिए–वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

८. कार्यमाकशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म।–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१२।

में ब्रह्म अविकृत ही रहता है।[1] अतः जगत् की उत्पत्ति आदि की इच्छा भी माया विशिष्ट ब्रह्म में ही है। इसी माया विशिष्ट ब्रह्म को ईश्वर संज्ञा दी गई है। ईश्वर सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि माया शक्ति से विशष्टि ब्रह्म जगत् का कारण है। संक्षेपशारीरककार ने माया की विशिष्टता के कारण ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहा है। केवल माया व्यापार[2] मात्र होने के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं कही जा सकती। अतः ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। शांकर दर्शन के अनुसार माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण ही नहीं, नित्य कारण भी है।[3]

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर का विवेचन करने से पूर्व यह कहना आवश्यक होगा कि शांकर दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर नाम की दो पृथक् सत्तायें नहीं स्वीकार की गई हैं। ब्रह्म की ही एक स्थिति है। शांकराचार्य ने ब्रह्म के पर एवं अपर, यह दो भेद भी किये हैं। आचार्य का कथन है कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिरोध से अस्थूलादि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह पर ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त जब वह नाम और रूपादि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए वर्णित होता है तव वही अपर ब्रह्म कहलाता है।[4] यह ऊपर ब्रह्म ही शांकर दर्शन का ईश्वर है। शंकराचार्य-परवर्ती दार्शनिकों ने ईश्वर की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इस स्थल पर शंकराचार्य के परवर्ती कतिपय आचार्यों के मतों का निरूपण किया जायेगा।

नृसिंहाश्रम का मत–नृसिंहाश्रम और उनके अनुयायियों का कथन है कि जब शुद्ध चित् का प्रतिविम्ब माया में पड़ता है तो वह ईश्वर कहलाता है और जब उस चित् का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है तो वह जीव कहलाता है।[5]

सर्वज्ञात्मा का मत–सर्वज्ञात्मा माया एवं अविद्या के मध्य किसी प्रकार का भेद नहीं देखते। सर्वज्ञात्मा के विचार से जब चित् का प्रतिविम्ब पूर्ण कारण के रूप में अविद्या में पड़ता है तो हम उसे ईश्वर कहते हैं और इसके विपरीत जब चित् का प्रतिविम्ब अविद्योत्पन्न अन्तः करण में पड़ता है तो उसे जीव या

---

१. *P.M. Modi's* article–Relation of Brahma & Jagat. Indian Culture, Vol. VIII, p. 149.

२. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।

३. In Sankar's system, Brahman being the efficient ('निमित्तकारणम्') as well as the material cause (उपादान कारणम्) of the world & there being no manipulator of an extraneous material co-eternal with Him. (S.B. Fellowship lectures 1929, Page 281.)

४. किंपुनः परं ब्रह्म किमपरमिति, उच्यते यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधास्थूलदिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत् परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विविशिष्टमुपासनायोपदिश्यते, 'मनोमयःप्राणशरीरो भारुपः (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। ब्र० सू० शा० भा० ४।३।१४।

५. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.

जीवात्मा कहते हैं।

विद्यारण्य का मत–पंशदशी के लेखक विद्यारण्य ने जीव और ईश्वर को माया नामक कामधेनु के वत्स रूप कहा है।[२]

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत–अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य का विचार है कि एक ही परमेश्वर मायानिष्ठ सत्व, रज और तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश संज्ञाओं से प्राप्त होता है।[३]

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता माया पर आधारित नहीं होता।[४]

ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व–विषय एवं विषयी दोनों के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता होने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, शासक एवं सहारकर्ता है।[५] श्रीमद्भगवद्गीता की उस उक्ति में ईश्वर के अन्तर्यामित्व की बड़ी स्पष्ट झलक मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर ही यन्त्रारूढ़ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में वर्तमान रहता है।[६] परन्तु यहां यह विचार्य है कि मायोपाधिक ईश्वर स्वयं अपनी माया से स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार मायावी (ऐन्द्रिजालिक) स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पष्ट नहीं होता उसी प्रकार परमात्मा भी संसार माया से अस्पष्ट है।[७]

ईश्वर की लीला और सृष्टि–जैसा कि ऊपर भी कहा गया है शांकर दर्शन में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा कहा गया है। श्रुति में भी 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' आदि वाक्यों में परमेश्वर के अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह विचारणीय है कि जो परमेश्वर आप्तकाम है, उसमें सृष्टि उत्पत्ति की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न होती है। उक्त शंका का समाधान शंकराचार्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत समुचित रूप से उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने सृष्टि को ईश्वर की लीला का फल कहा है। शंकराचार्य ने इस सम्वन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लोक में किसी राजा या राजा के मन्त्री की जिसकी समस्त कामनाएं पूर्ण हो गई हैं, क्रीड़ाक्षेत्र में प्रवृत्तियां किसी दूसरे प्रयोजन की अभिलाषा न करके केवल लीला-रूप ही होती हैं और जिस प्रकार कि उच्छ्वास, प्रवास आदि किसी बाह्य प्रयोजन की अभिसन्धि के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही ईश्वर की भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति कही जायेगी।[८] यदि कहा जाय कि

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.
२. मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।–पंचदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक २३६।
३. अद्वैतचन्द्रिका, पृष्ठ ४० (बनारस संस्करण १६०१)।
४. नहितयाविना परमेश्वरस्य स्रष्ट्रत्वं सिध्यति (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३)।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१८-२०, २२, १।३।३६, ४१, ३।२।६।१०।
६. शा० भा०, गीता, १८।६१
७. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।
८. ब्र० सू, शा० भा० २।१।३३।

लोक में लीलाओं में भी किसी प्रकार का सूक्ष्म प्रयोजन देखा जा सकता है तो भी ईश्वर लीला के सम्बन्ध में किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्पेक्षा करना सम्भव न होगा। क्योंकि जो ईश्वर पूर्ण काम है उसकी लीला में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं देखा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि लीलाविधायी ईश्वर के स्वभाव का फल है।

शांकर दर्शन में सृष्टि वैषम्य और ईश्वर–यदि आप्तकाम एवं निस्पृह ईश्वर जगत् का स्रष्टा है तो उसकी सृष्टि में वैषम्य किस प्रकार मिलता है, यह विचारणीय है। वस्तुतः सृष्टि वैषम्य स्पष्ट है, क्योंकि संसार में कोई अत्यन्त ऊंचा है, कोई माध्यम है और कोई नीच। सृष्टि की उक्त विषमता का कारण शंकराचार्य ने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य का कथन है कि ईश्वर निरपेक्ष होकर सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् वह धर्म और अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि निर्माण करता है।[1] सुज्यमान प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि विषम होती है। अतः ईश्वर का कोई अपराध नहीं है। ईश्वर को तो पर्जन्य के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार कि व्रीहि, यव आदि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदि की विषमता में उस बीज में रहने वाली समार्थ्य असाधारण कारण है, उसी प्रकार देव मनुष्य आदि की सृष्टि का ईश्वर साधारण कारण है। देव मनुष्यादि की विषमता में तो तत् तत् जीवों में रहने वाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्म की अपेक्षा रखने से वैषम्य और नैघृण्य रूप दोषों का भाजन नहीं है।

यह विचारणीय है कि सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसार का निर्माण किस प्रकार करता है। इस सम्बन्ध में कौषीतकि ब्राह्मण के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर जिसको इस लोक से ऊंचा ले जाना चाहता है, उससे साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है।[2] परन्तु श्रुति के उक्त विचार के अनुसार तो ईश्वर की वैषम्य सृष्टि अधिक पक्षपात पूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि किसी से साधु एवं किसी से असाधु कर्म कराने में ईश्वर का उद्देश्य पक्षपात पूर्ण ही कहा जायेगा। ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त शंका का करना उचित नहीं है। अनादिकाल से पूर्व संचित साधु असाधु वासनाओं के कारण पुरुष स्वभाव से ही तत्-तत् कर्मों में प्रवृत होता है। अतः ईश्वर इस में साधारण हेतु है। इसलिए ईश्वर को पक्षपात पूर्ण स्रष्टा नहीं कहा जा सकता।[3]

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप

एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्योपाधि के कारण जीव, ये दो भेद हैं। शंकराचाय्र ने जीव की जीवना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।[4] जीव के स्वरूप विवेचन

---

१. धर्माधर्मावपेक्षत इतिवदामः।–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३४।

२. ऐषह्येवसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यः लोकेभ्यः उन्निनीपत एषउएवासाधु कर्मकारयति तं यमधो निनीषते। (कौ० ब्रा० ३।८)

३. अनादिपूर्वाजितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन जनस्य तत् तत् कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वरः–रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।३४।

४. यावदेव चायं बुद्धयुपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च–ब्र० सू०, शा० भा० २।३।३०।

के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न मत मिलते है। इस स्थल पर इन विद्वानों के प्रमुख मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

वायस्पति मिश्र का मत–वाचस्पति मिश्र का मत है कि अविद्या जीव का अधिकरण है परन्तु जीव में रहने वाली अविद्या निमितता और विषयता के कारण ईश्वराश्रित होने से ईश्वराश्रया कही जाती है।[१]

प्रकटार्थविवरणकार का मत–प्रकटार्थ विवरणकार का मत है कि सर्वभूतप्रकृति, चिन्मात्र सम्वन्धिनी, अनादि एवं अनिर्वचनीय माया में चैतन्य का प्रतिविम्ब ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नाम वाले, आवरण और विक्षेप शक्ति युक्त परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिविम्ब जीव है। (सिद्धान्त लेश संग्रह, २६)

विद्यारण्य का मत–विद्यारण्य का मत है कि त्रिगुणत्मिका प्रकृति के माया और अविद्या यह दो रूप है। रज और तम से तिरस्कृत न होकर जो मुख्य रूप से शुद्ध सत्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन सत्व प्रधान है वह अविद्या है। संक्षेप में, माया प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है।[२]

सर्वज्ञात्म मुनि का मत–संक्षेप शारीरिक के रचयिता सर्वज्ञात्म मुनि ने अविद्या में चैतन्य के प्रतिविम्ब को ईश्वर तथा अन्तः कारण प्रतिबिम्बित चैतन्य के प्रतिविम्ब को जीव संज्ञा दी है।[३]

दृगृदृश्य विवेक के अनुसार जीव के तीन भेद–दृगृदृश्य विवेक के अन्तर्गत विद्यारण्य मुनि ने जीव के तीन भेद किये हैं–(१) अन्तःकरणावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य पारमार्थिक जीव। (२) मायावृत कूटस्थ में चित् का आभास रूप व्यावहारिक जीव। (३) निद्रा से आवृत व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव।[४] इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव के उक्त भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया है।

अप्पय दीक्षित द्वारा उद्धृत कुछ अन्य मत

विवरण मत के अनुयायियों के अनुसार अविद्या में चैतन्य का आभास जीव और विम्वस्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार जीव, अन्त करण से अवच्छिन्न है। एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए अप्पय दीक्षित ने कहा है कि कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव न प्रतिबिम्ब है और अवच्छिन्न। जिस प्रकार कुन्तीपुत्र कर्ण में राधेयत्व (राधापुत्र) का व्यवहार होता है उसी प्रकार अविद्या से अधिकृत ब्रह्म में ही जीवत्वका व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव की स्थिति योगी के समान है। जिस प्रकार कि एक ही योगी विभिन्न शरीरों के समूहों में अपना अधिपतय रखता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ से अन्य एक मुख्य जीव है। यही जीव सव शरीरों में अधिकार रखता है।[५]

---

१. भामती, ब्र० सू०, १।४।३।
२. पंचदशी तत्वविवेक प्रकरण–१६,१७।
३. सिद्धान्त लेश संग्रह, ३२ (प्रथम परिच्छेद)।
४. देखिए, सिद्धान्त लेश संग्रह, ३८, ३६ (प्रथम परिच्छेद)।
५. देखिए, सिद्धान्त लेश संग्रह, ४०, ४२, ४४ (प्रथम परिच्छेद)।

इस लेखक का दृष्टिकोण

जैसा कि जीव सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मूल तत्व एक मात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है–जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म (भामती, ब्र०सू० १।४।३)। यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि अविद्या निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख दुःखादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्ता यही जीव है।[१] इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

कर्ता एवं भोक्ता जीव की ही विश्व, तैजस ओर प्राज्ञ संज्ञाएं है। जीव की उक्त अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुपुप्ति, इन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रत अवस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विशानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को तैजस कहते हैं। उक्त तीन कोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्त्वमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्य रूप है। सुषुप्तिअवस्थावर्ती आनन्दमय कोश रूप कारण शरीर के अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टि रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट्, सूत्रत्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं।

जीव और ईश्वर

ईश्वर माया शक्ति सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यंत लघु है।[२] शंकराचार्य का कथन है कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।[३] जैसा कि कहा जा चुका है, ईश्वर और जीव मूलतः एक ही हैं। चैतन्य तत्व जीव एवं ईश्वर का एक ही है। जीव ईश्वर के अंश के समान ही है, परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है। इसका कारण यही है कि निवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।[४]

जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख सुखादि का अनुभव कर्ता है

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।२६, २।३।३३।

२. वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागोजीवः सविज्ञेयः च चाऽऽनन्त्याय कल्पते।।–श्वे उ० ५।६।
तथा देखिए, ब्र० सू०, शा० भा० २।३।२६।

३. निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधि सम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीती न किंचिद् विप्रतिषिध्यते। ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४५।

४. अंशइवांशो नही निरवयस्य मुख्योऽशः सम्भावित।–ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४३।

परन्तु ईश्वर दुःखादि का अनुभवकर्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वश देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'अहंदुःखी' मैं दुःखी हूं, इत्यादि अविद्याकृत दुःख के उपयोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव या दुःखादि का अभिमान नहीं है। वैसे तो, यदि विचार कर देखा जाए तो जीव का दुःखदि का अभिमान भी पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निर्वृत देह, इन्द्रिय एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुःखादि का अभिमान है' पारमार्थिक दुःखाभिमान कदापि नहीं है। एक उदाहरण से यह कथन और स्पष्ट हो जाएगा। जिस प्रकार की पुरुष अपने देह को प्राप्त हुए दाह, छेदन आदि से उत्पन्न दुःख का उस देह के अभिमान की भ्रान्ति से अनुभव करता है, उसी प्रकार स्नेह वश पुत्र मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ 'मै ही पुत्र हूं' और 'मै ही मित्र हूं' इत्यादि रूप से अनुभव करता है। अतः इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्याभिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव ब्रह्म रूप ही है।[2] अतः उसे (जीव के) दुःखादि भी पारमार्थिक नहीं हैं।

जीव और साक्षी का अन्तर—ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधि शून्य चेतन तत्व का नाम है ब्रह्म एवं मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्ता है न भोक्ता और न स्रष्टा। जीव और साक्षी के भेद का स्पष्टीकरण मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत एक उपमान के आधार पर बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखता मात्र रहता है।[3] यह द्रष्टा ही साक्षी है। उक्त स्थल पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने शरीर को क्षेत्र, एवं अविद्याकामकर्मवासना के आश्रय लिंगोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।[4] आचार्य शंकर का कथन है कि उनमें से एक क्षेत्रज्ञ लिंगोपाधि रूप वृक्ष के आश्रित हुआ कर्मानुसार निष्पन्न सुखदुःख रूप फल का अविवेक से उपयोग करता है। दूसरा अर्थात् ईश्वर जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला, सर्वज्ञ तथा सर्वसत्वोपाधियों से युक्त है, वह कर्म फलों का भोक्ता नहीं है। यदि ईश्वर साक्षी रूप से भोक्ता जीव एवं भोग्य का प्रेरक है। राजा के समान ईश्वर का दर्शन ही प्रेरणा है।[5] इस प्रकार भोक्ता जीवात्मा एवं साक्षी ईश्वर के बीच अन्तर द्रष्टव्य है।

जीव और आत्मा—प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्मरूप है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४६।

२. तथाचाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः तत्वमसि इत्येवमादयः।—ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४६।

३. मुण्डकोपनिषद् ३।१।१।

४. शा० भा०, मु० उप०, ३।१।१।

५. तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो...दर्शनमात्रं हितस्य प्रेरयितृत्वं राजयत्—शा० भा०, मुण्ड०, उप० ३।१।१।

आत्मा की अजरता एवं कूटस्थता एवं कुटस्थता शांकर वेदान्त में स्थान स्थान पर व्याख्यात है।[1] जीव भी आत्मा से भिन्न नहीं है। वस्तुतः न वह आत्मा से भिन्न है, न उसका अंश है और न उसका रूपान्तर है। इसके विपरीत जीव स्वभावतः आत्मा ही है। यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा कूटस्थ है वह जीव में सक्रियता एवं प्रवृत्ति किस प्रकार ला देता है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लौह का प्रवर्त्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, इसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से सबको प्रवृत्त कर, यह उचित ही है।[2]

जीव और आत्मा के एक होते हुए भी जीव की आत्मरूपता के बोध के न होने का कारण यह है कि वह अविद्याजन्य विभिन्न उपाधियों से आवृत है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव-आत्मरूपता को ही प्राप्त होता है। आत्मरूपता को यही स्थिति ब्रह्मात्मता की स्थिति है।

जीव की एकता एवं अनन्तता का विचार

जीव एक रूप है अथवा अनन्त रूप है, इस विषय में अनेक मत उपलब्ध होते है। कुछ विद्वान् एक जीववाद का समर्थन करते हैं एवं कतिपय अन्य विद्धान् अनेक जीववाद के अनुयायी हैं। एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के भी अनेक रूप मिलते है। इस स्थल पर एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के अनेक रूपों की आलोचनात्मक विवेचना की जायेगी।

एक जीववाद के अनेक रूप–एक जीववाद के अनेक रूप उपलब्ध होते है। इस सम्बन्ध में जो एकाधिक मत मिलते हैं, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा।

प्रथम मत–एक जीववाद के कुछ अनुसमर्ताओं का कथन है कि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही जीव अविद्या से समस्त जगत् की कल्पना करने वाला है। इन एक जीववादियों का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थों की निद्रा निवृत्ति होने पर, निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या निवृत्ति के पश्चात् अनन्त जीवयुक्त जगत् की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। इस मत के अनुसार मुक्ति की सत्ता की काल्पनिक ही कही गयी है।

आलोचना–उक्त मत का एक बड़ा दोष यह है कि इस मत के अनुसार जीव ही समस्त काल्पनिक जगत् का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। जगत् का स्रष्टा तो ईश्वर ही है जो बिना किसी प्रयोजन के जगत् की सृष्टि करता है।[3] अतः एक जीववादियों का उक्त मत संगत नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय मत–एक जीववादियों के दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ को ही मुख्य जीव माना गया है। इस मत के अनुयायी विद्वान् जीव के स्रष्ट्रत्व का विरोध करते हैं।

उक्त मत का दोष–प्रत्येक-कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने के कारण किसी एक हिरण्यगर्भ में मुख्य रूप से जीवत्व की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः एकजीववादियों का उक्त मत भी दूषित है।

---

१. देखिए, शांकर भाष्य, गीता, २।२०, २।२४।

२. ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य २।२।२।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।१।३३

तृतीय मत–तृतीय मत के अनुसार एक जीववादियों का कथन है कि एक ही जीव मुख्यामुख्य विभाग के बिना ही सब शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है।[१] अतः इस मत के अनुसार अविद्या के एक होने के कारण तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य–जीव एक ही है। यही जीव सकल शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है। एक जीववादियों का उक्त सिद्धान्त 'अविशेषनेकशारीरैक जीववाद' के नाम से प्रचलित है।

अनेक जीववाद का सिद्धान्त

अनेक जीववाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या जन्य अन्तःकरणोपाधि के द्वारा अनेकजीवभावत्व को प्राप्त करके संसारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है कि अनन्त संसारी जीव अपने स्वरूपबोध से वंचित होकर अज्ञान की निद्रा में शयन किया करते हैं।[२] अविद्या निवृत्ति होने पर ही जीव मुक्ति लाभ करते हैं। जिन जीवों की अविद्या निवृत्ति नहीं होती, वे मुक्ति लाभ नहीं करते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव एक न होकर अनन्त हैं। अनेक जीववाद के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा जीवों की संख्या ज्ञात होने पर जीवों को अनन्त नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जायेगा कि ईश्वर के लिए भी जीवों की संख्या अनन्त है तो ईश्वर के सर्वज्ञत्व में बाधा उत्पन्न होगी। उक्त पक्ष के विपरीत हमारा निवेदन है कि अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्याजन्य जीवों की निश्चित संख्या के अभाव में जीवों की एक काल में गणना न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा गया है। रामाद्वयाचार्य ने भी जीवों की संख्या ज्ञात न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा है।[३]

अनेक जीववाद के अनेक स्वरूप

एक जीववाद की ही तरह अनेकजीववाद के भी अनेक स्वरूप होते हैं। यहाँ अनेक जीववाद के सम्बन्ध विभिन्न मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

प्रथम मत–कतिपय अनेकजीववादी आलोचक विद्वान् अन्तःकरण आदि को जीव की उपाधि मानकर बद्ध तथा मुक्त की पृथक् व्यवस्था करके अनेक जीववाद का प्रतिपादन करते हैं।

द्वितीय मत–अनेक जीववादियों के द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि शुद्ध ब्रह्म का आश्रम एवं विषय अज्ञान एक ही है एवं इस अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही मोक्ष होता है तथापि यह अज्ञान सांश है। इसका कारण यह है कि जीवन्मुक्ति में अज्ञान के विक्षेपांश की अनुवृत्ति होती है। अतः जिस उपाधि में

---

१. देखिए–अप्पयदीक्षित, सिद्धान्त लेश संग्रह १।१२३।
२. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। ब्र० सू, शा० भा० १।४।३।
३. अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्वात्। वेदान्त कौमुदी, पृष्ठ २७८।

व्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति होगी उसी स्थल में अज्ञान की आंशिक निवृत्ति होगी। इसके विपरीत अन्य उपाधियों में पुर्ववत् अपने अंशों में अज्ञान की अनुवृत्ति होगी।[1]

तृतीय मत–अनेक जीववाद के इस तृतीय मत का स्थापक नैयायिक है। अनेक जीववादी नैयायिक का कथन है कि जिस प्रकार भूतल में घटात्यन्ताभाव की वृत्ति में घटसंयोगाभाव के नियामक होने के कारण, घटसंयोगभाव वाले प्रदेशों में घटात्यन्ताभाव सम्बन्ध करके स्थित रहता है, इसके अतिरिक्त प्रदेशान्तर में जहाँ घट संयोग की उत्पत्ति से घटसंयोगाभाव की निवृत्ति हो गई है, सम्वद्ध नहीं होता, इसी प्रकार चैतन्य में अज्ञान की वृत्तित्ता का नियामक मन होने के कारण अज्ञान मनरूप उपाधि से युक्त प्रदेश में तो व्याप्त करके रहने वाली जाति के समान, अन्तःकरण में प्रतिविम्ब रूप समस्त जीवों में रहता है। जिस प्रकार कि जातिरूपधर्म नष्ट शक्ति का त्याग कर देता है उसी प्रकार अज्ञान भी उस जीव का त्याग कर देता है, जिसमें विद्या उत्पन्न हो जाती है। यही त्याग मुक्ति का कारण है। परन्तु जिस पुरुष में ज्ञानोत्पत्ति नहीं हुई है अज्ञान उसमें आश्रित रहता है। अतः जिस जीव में अज्ञान का आश्रय है, वहीं वद्ध है। इस प्रकार नैयायिक अनेक जीववादी की बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी शांकर वेदान्त से भिनन है।

चतुर्थ मत–अनेक जीववादियों के चतुर्थ मत के अनुसार प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न रूप से वर्तमान रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव की मुक्ति उसकी अविद्या निवृत्ति पर आधारित है।

आलोचना–ऊपर हमने एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि एक जीववाद की अपेक्षा अनेक जीववाद ही युक्ति-संगत है। जैसा कि कहा जा चुका है, शंकराचार्य भी अनेक जीववाद के ही समर्थक हैं। एक जीववाद के विरोध में हमारा तर्क है कि यदि एक जीव को ही सकल शरीरों का अधिष्ठान माना जायेगा तो उस जीव को भिन्न-भिन्न शरीरों की सुख-दुःखादि की अनुभूति भी होगी, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः एक जीववाद की अपेक्षा अनेकजीववाद का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत कहा जायेगा।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के क्षेत्र में मायावाद का महत्व अत्यन्त प्रमुख है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किये बिना अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही असम्भव है, यही मायावाद की उपयोगिता है। अनेकों आलोचकों की बुद्धि में भ्रम होने के कारण, यहाँ यह कह देना और संगत होगा कि मायावाद सिद्धान्तवाद नहीं है। सिद्धान्तवाद तो अद्वैतवाद ही है। मायावाद अद्वैतवाद का उपांगभूत सिद्धान्त है। मायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पश्चिमी एवं भारतीय विद्धानों के अनेक मत प्रचलित हैं। यहाँ इन मतों का संकेत एवं आलोचन उपयुक्त होगा।

थीबो का मत–वेदान्त दर्शन के पश्चिमी अध्येताओं में जार्ज थीबो का स्थान प्रमुख है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य के अनुवाद ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत थीबो महोदय ने अतिविस्तृत तो नहीं, परन्तु इस विषय पर कुछ विचार किया है कि उपनिषदों में मायावाद का सिद्धान्त उपलब्ध है अथवा नहीं। इस विषय पर विवेचन करते हुए थीबो महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपनिषदों में माया की जिस

---

१. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १२६, (अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी) सं० २०११ मद्रपुरी।

असारता एवं तुच्छता की चर्चा है, उनमें से कोई भी माया के उस अर्थ में मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करती, जिस अर्थ में कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया मिथ्या है।[१] इस प्रकार जार्ज थीबो औपनिषद माया सम्बन्धी दृष्टिकोण को शंकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण से पृथक् मानते हैं। थीबो महोदय का विचार है कि शंकराचार्य ने जिस प्रकार जगत् को रज्जु में सर्प के समान मिथ्या कहा है, उस प्रकार उपनिषदों में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है। थीबो का विचार है कि उपनिषद् हमें वह दृष्टिकोण नहीं देते जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् मिथ्या दिखाई देता है ओर जिस मिथ्यात्व की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है।[२]

कोलब्रुक का मत—कोलब्रुक महोदय का विचार है कि जगत् के मायात्व, मिथ्यात्व, स्वप्नत्व एवं अकिंचनत्व का विचार उपनिषदों एवं मूल वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।[३]

मैक्समूलर का मत—मैक्समूलर महोदय भी माया सम्बन्धी सिद्धान्त को उपनिषदों की देन न मानकर उपनिषदों के उत्तर काल की देन स्वीकार करते हैं।[४] इस सम्बन्ध में मैक्समूलर महोदय का कथन है कि उपनिषदों में जगत् को माया या मिथ्या सिद्ध करने वाला विचार नहीं मिलता।

रेगनाड का मत—जर्मन विद्वान् रेगनाड कहते है कि यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय को छोड़कर कहीं भी माया शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। निःसन्देह वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु जिस अंश में वहाँ माया शब्द का प्रयोग हुआ है वह अंश ऋग्वेद संहिता से उद्धृत है, जहाँ माया शब्द का अर्थ सृष्टिकर्वी शक्ति है।[५] रेगनाड महोदय का विचार था कि उपनिषदों की शिक्षा में मायावाद सिद्धान्त उपलक्षित तो होता है, परन्तु यह सिद्धान्त वहाँ अस्पष्ट ही है।[६]

गफ़ का मत—गफ़ महोदय ने अपने 'फिलासफी आफ उपनिषद्स' ग्रन्थ के नवम अध्याय के अन्तर्गत बलपूर्वक कहा है कि मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है।

डाक्टर प्रभुदत्तशास्त्री का मत—वेदान्त दर्शन के अध्येता एवं मायावाद के आलोचक डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने अपनी 'दि डाक्ट्रिन आफ माया' नाम लघु पुस्तक के अन्तर्गत मायावाद का उदय और विकास दिखाने की चेष्टा की है। इस ग्रन्थ में शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मायावाद का विचार ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में प्राप्त है।[७]

ऊपर जिन पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के मतों की चर्चा की गई है उनके मत निम्नलिखत चार मतों में अन्तर्भूत हैं।

---

१. *G. Thibaught* : S.B.E. XXXIV, p. CXIX.

२. वही।

३. *Max Muller* : Three Lectures on The Vedanta Philosophy, p. 130.

४. वही, पृ० १२८।

५. It is well known......in which Maya means creative power. (*Regnaud* : LaMaya, in the revue de 1' Histoire des Religious, tome XII. No. 3 (1885).–S.B.E. Vol. XXXIV. से उद्धृत।

६. S.B.E.–Introduction, CXVII.

७. The Doctrine of Maya, p. 36 (Luzac & Co., London 1911).

(१) मायावाद का उदय एवं विकास ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इस मत के अनुयायी डाक्टर शास्त्री हैं।

(२) मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है। इस मत के समर्थक हैं–प्रो० गफ।

(३) मायावाद सिद्धान्त का स्वरूप उपनिषदों में उस अर्थ में नहीं उपलब्ध होता जिस अर्थ में कि उसका विकास शांकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। इस मत के समर्थकों में कोलब्रुक, मैक्समूलर तथा थीवो प्रमुख हैं।

(४) उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त का अस्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। इस मत के अनुसर्ता रेगनाड प्रभृत्ति विद्वान् हैं।

समालोचना

प्रथम मत के अनुसार डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि विद्वान् मायावाद का उदय और विकास ऋग्वेद एवं उपनिषदों में मानते हैं। डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखने की चेष्टा की है। परन्तु यदि विचार कर देखा जाए तो वहाँ माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त अविद्या एवं मिथ्यात्व के अर्थ का सूचक नहीं है। ऋग्वेद के प्रामाणिक भाष्यकार सायण ने अधिकतर माया शब्द का अर्थ प्रज्ञा ही किया है।[1] ऋग्वेद के जिस मन्त्रांश 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) के आधार पर प्रायः आलोचकों ने मायावाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि खोजने की चेष्टा की है, वहाँ भी मायाशब्द का प्रयोग इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में किया गया है,[2] अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं। अतः केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद संहिता में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखना नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक उपनिषदों में मायावाद के स्वरूप निरूपण का प्रश्न है, वैसे तो वेदान्तों नाम उपनिषत्प्रमाणं' के अनुसार शंकराचार्य का समस्त वेदान्त दर्शन उपनिषद् दर्शन से ही विकसित हुआ है। इसीलिए ब्लूमफील्ड,[3] मैक्समूलर,[4] डायसन,[5] एवं मेकेन्जी[6] आदि पश्चिमी एवं डॉ० दास गुप्त[7] आदि भारतीय आलोचक विद्वानों ने भी निःसंकोच वेदान्त दर्शन को उपनिषदों का फल स्वीकार किया है, परन्तु यहां यह निवेदन करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में मायावाद ही नहीं, अपितु अद्वैत वाददर्शन का भी सैधान्तिक रूप उपलबध नहीं होता। यदि विचार कर देखें तो उपनिषदों में हमें अनेक स्थलों पर

---

१. देखिए, सायणभाष्य ऋग्वेद संहिता, ५।८५।५, ५।८५।६, ६।८३।३।
२. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 565 (Footnote).
३. The religion of the Veda, page. 5.
४. Vedanta Philosophy, page 135.
५. The Philosophy of the Upanishads, page 27.
६. E.R.E. Vol. VIII p. 597.
७. Indian Philosophy Vol. I, P. 42.

सैद्धान्तिक विरोध मिलता है।[1] जहाँ तक उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त के उदय का प्रश्न है, वहाँ यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों में आत्मा की परमार्थता और अद्वैतता उवं जगत् की असयता का विचार अनेक स्थलों पर मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं–कि हे मैत्रेयि–आत्मा के दर्शन श्रवण एवं चिन्तन से समग्र जगत् का ज्ञान हो जाता है।[2] इस प्रकार आत्मा एवं जगत् की अद्वैतता का चित्रण उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मिलता है।[3] इसके अतिरिक्त वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा रूप सत्य को जगत् रूप व्यावहारिक सत्य से आवृत कहा गया है।[4] इसके अतिरिक्त वृहदारण्यंक में ही एक स्थान पर द्वैत जगत् का निराकरण करते हुए अद्वैत तत्व का प्रतिपादन भी किया गया हैं। इस प्रकार प्राचीन उपनिषदों में जगत् की असारता एवं आत्मतत्व की वास्तविकता का वर्णन अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। परन्तु जगत् की असारता का यह वर्णन वहाँ सैद्धान्तिक रूप में उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक उपनिषदों में माया सम्बन्धी विचार का प्रश्न है, प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग केवल दो बार ही हुआ है। एक बार वृहदारण्यक में और एक बार प्रश्नोपनिषद् में। वृहदारण्यक में माया शब्द का प्रयोग रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में और प्रश्नोपनिषद् में आचार की कुटिलता के अर्थ में किया गया है। निश्चय ही उक्त दोनों स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग मायावादी शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं हुआ है। अतः यह कथन पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में मायावाद का वह सैद्धान्तिक रूप अनुपलब्ध है, जिसका प्रतिपादन शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थों में हुआ है। अतः गफ़ एवं डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि आलोचक विद्वानों का उपनिषदों में मायावाद का रूप देखना उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा कि पश्चिमी विद्वान् रेगनाड ने कहा है, उपनिषदों में मायावाद का सैद्धान्तिक रूप न होकर अस्पष्ट रूप ही कहा जा सकता है। अतः थीबो, कोलब्रुक एवे मैक्समूलर के उपर्युक्त मतों के अन्तर्गत अभिव्यक्त यह विचार सत्य ही प्रतीत होता है कि मायावाद का विकास वेदान्त के मूलसाहित्य में न होकर उत्तर काल की देन है वस्तुतः जिस अविद्या शक्ति एवं जगन्मिथ्यात्व के आधार पर शंकराचार्य नेमायावाद का प्रतिपादन किया है, उसका सैद्धान्तिक रूप उपनिषदों में अनुपलब्ध ही कहा जायेगा। इस तथ्य का ओर अधिक स्पष्टीकरण अभी नीचे शंकराचार्य के मायावाद सिद्धान्त के विवेचन से स्वतः हो जायेगा।

शांकर मायावाद का स्वरूप

शंकराचार्य के समस्त ग्रन्थों में माया सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है, परन्तु मायावाद सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन उपनिषदों में, ईशोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत माया शबद की चर्चा एक बार भी नहीं हुई है।

---

१. मिलाइए–छा० उ० ६।१६।३, कठ उ० ३।१५, मुण्डक० उ० १।१।६, वृ०.उ० ४।४।१६, श्वे० उ० ६।८, तैत्तिरीय भृगुवल्लीय कठ० उ० ६।१२, केन० उ० १।५, वृ० उ० ४।४।१६, तै० उ० २।१।१, कठ० उ० ३।१, श्वे० उ० ४।५।

२. मैत्रेय्यात्मनो वाअरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व निहितम् ।–वृ० उ० २।४।५।

३. वृ० उ० २।४।७, ६, ३।८।११, ४।४।१७ मुण्डक उ० १।१।३, छा० उ० ६।१।१

४. अमृतम् सत्येन छन्नम् ।–वृहदारण्यक उपनिषद्–१।६।३।

केनोपनिषद् भाष्य में लगभग तीन वार, कठोपनिषद् भाष्य में चार वार मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार वार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में चार बार ऐतरेयोपनिषद् भाष्य में तीन वार, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में दो बार, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में दो वार तथा वृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका में भी लगभग पच्चीस वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवदगीता के अन्तर्गत लगभग चालीस वार माया सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत लगभग तीस वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।२।३) माया की चर्चा की गई है। इन स्थलों पर माया की चर्चा परमेश्वर की शक्ति, अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की गई है।

शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि को हेतु अविद्या को बतलाया है। शंकराचार्य का मायावाद के प्रतिपादन के सम्बन्ध में कथन है कि लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म-मरण आदि दुखों का कारण अविद्या ही है।[2] इस अविद्या का विषय जीव है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्म स्वरूप का बोध न होने पर नामरूपात्मक जगत् ही परमार्थ रूप से सत्य भासता है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को आत्म स्वरूप का बोध होता है। जीव की यही स्वरूपस्थिति उसकी ब्रह्मरूपता है। इस अविद्या को आचार्य ने जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति का रूप दिया है।[3] यह बीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है। इस अविद्या रूप बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है-विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् (ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३)

अविद्या का ही अपर नामधेय माया है। ऊपर हमने जिस अविद्या की चर्चा की है उसका सम्बन्ध जीव से है। माया का प्रयोग शंकराचार्य ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है।[4] इन्द्रजाल के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग करके शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल की सत्यता केवल द्रष्टाओं के लिए ही है, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् की सत्यता भी परमात्मा के लिए न होकर केवल अज्ञानी के लिए ही है, आत्मस्थिति के लिए नहीं। इस माया को अतिगम्भीर, दुरवगाह्य एवं विचित्र सिद्ध करते हुए शांकराचार्य का कथन है कि यह समस्त संसार यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है, 'मैं परमात्मा रूप हूं' ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्व को ही गंहण करता है।[5] इस प्रकार अद्वैत के अनुसार माया ही जगत् के परमार्थ रूप से सत्य मानने का कारण है।

---

१. माया शब्द के प्रयोग के लिए देखिये, डा० रामानन्द तिवारी–शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृष्ठ–५८।
२. कठ० उपनिषद् भाष्य–२।५।
३. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः–ब्र० सू०, शां० भा० १।४।३।
४. ब्र० सू०, शां० भा० २।१।६।
५. अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया यदयंसर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थ सतत्वोप्येवं बोध्यमोनोऽहं परमात्मेति न गृहणति। अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्यपुत्र इत्यनुच्यमानोऽपिगृहणाति।–कठोपनिषद्, शा० भा०, १।३।१२।

अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक परमार्थ सत्य तो अद्वैत ब्रह्म ही है और जगत् माया है। परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशश्रृंग के समान पूर्णतया असत् नहीं है। इसलिए शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है।

माया की विषयिता एवं विषयता

माया का जीव से सम्बन्ध निश्चित करना माया की विषयिता एवं जगत् को माया एवं अविद्या का कार्य कहना माया की विषयता कहलाती है। जब हम कहते हैं कि अविद्या या माया के कारण जीव को नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तो माया से हमारा तात्पर्य उसकी विषयिरूपता से होता है। इसके विपरीत जब हम जगत् को माया मात्र कहते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय माया की विषयता से होता है। अब यह देखना है कि शांकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के विषयित्व एवं विषयत्व की चर्चा किस रूप में मिलती है।

शांकर वेदान्त में माया का विषयित्व

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत माया का विषयी एवं विषय दोनों रूपों में ही वर्णन मिलता है। माया के विषयित्व के अनुसार शंकराचार्य का कथन है कि अविद्या के द्वारा ही नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म में आधारित होता है एवं इस अविद्या जन्य अभ्यास के कारण ही जीव नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखता है।[1] इसीलिए आचार्य ने अविद्या को प्रपंचजन्य समस्त अनर्थ का बीज कहा है।[2] शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त के द्वारा मया एवं अविद्या के विषयित्व का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार भस्मच्छन्न अग्नि के दहने एवं प्रकाशन तिरोहित रहते हैं, उसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित नाम औश्र रूप से सम्पादित देह आदि उपाधियों के योग से अविवेक रूप भ्रम के कारण जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का तिरोभाव हो जाता है।[3] यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि माया एवं अविद्या के विषयी रूप की स्थिति में उसका सम्बन्ध जीव ही से होता है, क्योंकि अज्ञान (अविद्या) के कारण ही जीव को नाम एवं रूप की सत्यता की भ्रान्ति होती है।

विषयत्व की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निरूपण

शांकर वेदान्त के समालोचक विद्वानों ने प्रायः शंकराचार्य प्रतिपादित माया के विषयित्व एवं विषयत्व की आलोचना करते हुए माया को विषयरूप एवं अविद्या को विषयि रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में नलिनी मोहन शास्त्री का कथन है—

What is maya from the objective side is Avidya from the subjective side.[4]

---

१. नामरूपोपाधिदृष्टिरेव भवति स्वाभाविकी।—बृ० उ०, शा० भा० ३।५।१।

२. सा चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजस्। वही०, ३।५।१।

३. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।६।

४. *N.Shastri* : A Study of Sankara, p. 142 (Calcutta 1942).

अर्थात् विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। इस प्रकार उक्त लेखक ने अविद्या एवं माया को एक मानते हुए भी उपर्युक्त दृष्टि से भेद स्वीकार किया है। यहाँ इस लेखक का निवेदन है कि विषयित्व एवं विषयत्व के आधार पर शांकर दर्शन में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण शांकर दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत है। इस सम्बन्ध में ये तर्क दिए जा सकते हैं–

(१) शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया को पर्यायवाची माना है।[1]

(२) नलिनी मोहन शास्त्री के उपर्युक्त कथन के विपरीत शांकर वेदान्त में केवल विषयी रूप से ही अविद्या का वर्णन नहीं मिलता, अपितु विषयरूप से भी अविद्या का वर्णन मिलता है।[2] उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने जहाँ नामरूपात्मक जगत् की उत्पन्नकर्त्री अविद्यात्मिका वीज शक्ति की चर्चा की है वहाँ अविद्या का वर्णन विषयिरूप में न होकर विषययरूप में ही है। शांकर भाष्य के अभी उद्धृत दोनों स्थलों (ब्रू० उ०, शा० भा०, २।१।१४, ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३) में अविद्या से जीव सम्बन्धित विषयिरूप अविद्या का अर्थ कदापि नहीं ग्रहण किया जा सकता। क्योंकि जीवगत अनादि अविद्या देहेन्द्रियादि संघातमय नामरूपात्मक भौतिक जगत् की उत्पादिका कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः उक्त स्थल में जहाँ अविद्या का उल्लेख नामरूपात्मक जगत् की बीजशक्ति के रूप में किया गया है, वहाँ अविद्या एवं माया से उस विषयरूप अविद्या एवं माया का तात्पर्य ग्रहण करना ही उचित होगा जो भौतिक जगत् का बीज है। अतः नलिनी मोहन शास्त्री का ऊपर निर्दिष्ट किया गया यह मत संगत नहीं प्रतीत होता कि विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। जैसा कि अभी कहा गया है शांकर भाष्य ग्रन्थों में अविद्या–माया का विषय रूप में वर्णन भी मिलता है।

भाष्यकार आनन्दगिरि ने भी माया एवं अविद्या के भेद का निराकरण करते हुए अविद्या एवं माया को एक ही कहा है।[3] अतः यह कथन उपयुक्त नहीं है कि जो विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है वही विषयत्व की दृष्टि से माया है। ऊपर हमने इस प्रकार के उद्धरण भी उद्धृत किए हैं जहाँ शंकराचार्य ने अविद्या का प्रयोग विषयत्व की दृष्टि से किया है। अतः यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि शांकर वेदान्त में अविद्या का वग्रन विषयित्व एवं विषयत्व दोनों दृष्टियों से मिलता है।

शांकर वेदान्त में उपलब्ध अविद्या के उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण से हमें एक अन्य तथ्य भी उपलब्ध होता है ओर वह यह है कि विषयमूलक अविद्या द्वारा उत्पन्न जगत् की सत्ता केवल विषयितव की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु विषयित्व की दृष्टि से भी है। इस तथ्य का समर्थन इस तर्क से भी हो जाता है कि विद्या के द्वारा ब्रह्म में अत्यस्त नाम रूपात्मक प्रपंच का तो लय हो ही जाता है, परन्तु भैतिक जगत् का विनाश नहीं होता। इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद वेदान्त के समालोचक कोकिलेश्वर शास्त्री का यह कथन

---

१. ब्र० सू०, शां०, भा०, १।४।३।

२. बृ० उ०, शां०, भा०, २।१।१४।

३. आनन्दगिरि के मत के लिए देखिए–
S.R.E. Vol. XXXIV, page 243. पर पाद टिप्पणी।

उपयुक्त ही है कि जिस क्षण जीव मुक्त होता है उस क्षण जगत् का अभावरूपात्मक विनाश नहीं हो जाता है।[1]

रामतीर्थ का मत

अज्ञान की विषयमूलकता का प्रतिपादन करते हुए शांकर वेदान्त के समालोचक रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार एवं असत् सिद्ध करने वाले मतोंका निराकरण किया है।[2] रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्या ज्ञान न मानकर त्रिगुणात्मक माना है। इसके अतिरिक्त रामतीर्थ ने अज्ञान को ज्ञान का अभाव सिद्ध करने वाले मत का निराकरण तो किया ही है।[3] उन्होंने अज्ञान की भावरूप सत्ता स्वीकार की है। अतः माया एवं अविद्या के भाव रूप होने के कारण उसे केवल विषयिमूलक कहना उचित नहीं है।

प्राणरूप से अविद्या के विषयत्व का निरूपण

अपनी अव्यक्त स्थिति में प्राण, शंकराचार्य द्वारा अव्यक्त नाम से व्याख्यात[4] माया का ही पर्यायवाची है।[5] इसी प्राण को आचार्य शंकर ने जगत् के समस्त विषयों का बीजात्मा कहा है।[6] यह प्राण अथवा माया वीज अव्यक्त स्थिति में ब्रह्म रूप में अधिष्ठित होता हुआ स्थल, सूक्ष्म एवं कारण रूप से व्यक्त हुआ है व्यक्तावस्था के प्राण अथवा माया के शंकराचार्य ने निम्नलिखित तीन रूप बतलाये हैं–

(१) प्रथम रूप के अनुसार एवं माया का प्रथम रूप विकार रहित आत्मा का रूप है।

(२) द्वितीय रूप के अनुसार एक आत्मा का ही माया के कारण अनेक रूप में दर्शन होता है।

(३) तृतीय रूप के अनुसार सूर्य के प्रतिविम्ब के समान आत्मा का अनेक रूप में दर्शन होता है।[7]

प्राण रूप से जिस माया वीज की चर्चा हमें शांकर दर्शन में मिलती है वह भी माया एवं अविद्या की

---

१. The world does not vanish into nothingness, the moment the individual soul attains *Mukti*.
देखिए, कोकिलेश्वर शात्री का लेख–Objectivity of Maya (Jha Commemoration Vol. 1937, page 336.)

२. मिथ्याज्ञानजन्यसंसकारः अज्ञानम्, असत्प्रकाशन शक्तित्वेन असद्वा–इतिमतद्वयं निरस्यति। देखिए, रामतीर्थ-वेदान्तसार।

३. सत्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः कारणमव्याकृतात्मकम्। अज्ञानं त्रिरूपेणत्रिगुणात्मकम्। तथा च गुणस्यगुणवत्तानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानम् 'अज्ञानम्'।–Jha Commemoration, Vol. 1937, Page 338 से उद्धृत रामतीर्थ का मत।

४. ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३।

५. अव्याकृत एव प्राणा.....(शा० भा०, मा० का० १।२)

६. इतरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति। (शा० भा०, मा० का० १।६)

७. उपदेश साहस्री १७।२७।

विषयमूलकता की पोषक है। उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शांकर वेदान्त की अविद्या एवं माया को केवल विषयिमूलक ही न मानकर विषयमूलक भी माननना चाहिए।

शंकराचार्योत्तर काल में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण

जैसा कि अभी कहा जा चुका है शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया था। शंकराचार्य के उत्तर काल के अद्वैत वादियों ने ही अविद्या एवं माया के भेद का निरूपण किया था।[1] शंकराचार्य परवर्ती वेदान्त में प्रायः अविद्या को विषयिमूलक एवं माया को विषयमूलक कहा गया है। शंकराचार्य के उत्तरावर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने माया एवं अविद्या का भेद निरूपण भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर किया है। यहाँ कतिपय मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

विवरणकार का मत

प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिका विवरण के अन्तर्गत व्यवहार भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद स्थापित करते हुए कहा है कि विक्षेप-प्राधान्य से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।[2] इस प्रकार विवरणकार ने आवरण शक्ति सम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति सम्पन्न को माया कहा है।

विद्यारण्य का मत

विवरण प्रमेयसंग्रह के रचयिता विद्यारण्य ने जगत् के अनेक कार्यों की उत्पन्नकर्त्री शक्ति को माया एवं जीव की बुद्धि पर आवरण डालने वाली शक्ति को अविद्या कहा है।[3]

पंचदशी के अन्तर्गत विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या का जो भेद दिखाया है उसके अनुसार सत्व की शुद्धि से माया और सत्व की अशुद्धि से अविद्या की उत्पत्ति होती है।[4] इस प्रकार पंचदशी के अनुसार विशुद्धसत्वप्रधान प्रकृति को माया तथा मलिनसत्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं।

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत

अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य ने परमेश्वर की शक्ति माया के दो भेद किए हैं। एक विशुद्धसत्वप्रधाना माया और दूसरी अविशुद्धसत्वप्रधाना माया। विशुद्ध सत्वप्रधाना माया सत्वगुण प्रधान

---

१. **While Sankara uses Avidya & Maya indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two.**
–*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 589.

२. एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादनप्राधान्येन विद्येतिव्यवहारभेदः (पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ३२))विजयनगरम् सिरीज़)।

३. विवरण प्रमेय संग्रह १।१, Indian Thought, Vol. I, p. 289.

४. सत्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते (पंचदशी १।१६)।

है और अविशुद्ध सत्व प्रधाना माया तमोगुण प्रधान है। विशुद्ध सत्व प्रधाना माया परमेश्वर की दासी है एवं अविशुद्ध सत्व प्रधाना माया जीव की स्वामिनी' है। यही अविशुद्ध सत्वप्रधाना माया अविद्या का रूप है।

जैसा कि उपर्युक्त मत से स्पष्ट हुआ है, शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिकों ने माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद का निरूपण किया है। माया के वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से यह भेद निरूपण उपयुक्त ही है। माया एवं अविद्या की इस व्यवस्था की अव्यक्त सूचना हमें वेदान्त सार के अन्तर्गत सदानन्द द्वारा व्याख्यात आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से भी मिलती है। यहाँ सदानन्द द्वारा व्याख्यात माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ

सदानन्द ने वेदान्त सार के अन्तर्गत माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों की चर्चा की है।[२] माया की आवरण शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है, जिसका फल यह होता है कि जीव अपने स्वरूप–परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म–का ज्ञान नहीं कर पाता। माया की दूसरी शक्ति विक्षेप शक्ति है। यह विक्षेप शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टिकर्त्री है।[३] शंकराचार्य के उत्तरकाल में माया का व्यवहारदृष्टि से विषयिमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है वह माया की उपर्युक्त आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के समान ही है। जिस प्रकार कि विषयिमूलक अविद्या जीव को वस्तुज्ञान से वंचित करती है उसी प्रकार आवरण शक्ति भी जीव के स्वरूप ज्ञान में बाधक है। ऐसे ही, जिस तरह कि विषयमूलक माया जगत् की बीज शक्ति है उसी प्रकार विक्षेप शक्ति भी जगत् की रचयित्री है।[४]

ऊपर हमने शांकर वेदान्त सम्मत जिस माया की चर्चा की है वह अनादि, भावरूप अनिवर्चनीय एवं सान्त है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त में ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं माया आदि के सम्बन्ध में उपर्युक्त सिद्धान्तों की स्थापना करके अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ऊपर हमने शांकर अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय शंकराचार्य परवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। शांकर सिद्धान्त के प्रतिपादन के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करना इस लिए अनुचित नहीं है कि शंकराचार्य के परवर्ती वाचस्पति मिश्र आदि आचार्य बहुत कुछ शांकर सिद्धान्त के ही अनुयायी थे। इन आचार्यों की मौलिकता के कारण मतभेद अवश्य हो गया है। इसलिये स्थान-स्थान पर इन आचार्यों के मतभेद का निर्देश कर दिया गया है।

शंकराचार्य पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण

शंकराचार्य ने संहिताओं, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्रह्म सूत्र एवं श्रीमद्भगवद् गीता आदि के आधार

---

१. अद्वैत चन्द्रिका, पृष्ठ ४१ (बनारस १६०१)।
२. वेदान्तसार–४।
३. विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्जेत्। –वेदान्तसार-१० से उद्धृत।
४. विशेष देखिए, संक्षेप शारीरक १।२०।G

पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक स्थापना की थी, उसकी विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या शंकराचार्य के पद्मपादाचार्य आदि शिष्यों एवं वाचस्पति मिश्र तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने की थी। शांकर वेदान्त की व्याख्या होते हुए भी शंकराचार्य के शिष्यों एवं उनके पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या को उसी प्रकार पिष्टपेषण कहना समीचीन न होगा जिस प्रकार कि स्वयं शंकराचार्य का अद्वैतवाद सिद्धान्त उपनिषद् दर्शन पर आधारित होते हुए भी उपनिषद् दर्शन का पिष्टपेषण मात्र नहीं है। जिस प्रकार कि शंकराचार्य ने नवीन एवं मौलिक उद्भावना शक्ति के द्वारा उपनिषद् दर्शन का मंथन करके अद्भुत अद्वैत रत्न की खोज की थी, उसी प्रकार शंकराचार्य के शिष्यों एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभासम्पन्न एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत रत्न का समीक्षात्मक निरूपण किया था। इस स्थल पर पहले शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों तथा उनके प्रमुख मत मतान्तरों का विवेचन किया जायेगा और फिर अद्वैत वेदान्त के ही कतिपय अन्य आचार्यों का उल्लेख किया जाएगा।

सुरेश्वराचार्य (८०० ई०)

सुरेश्वराचार्य मण्डन मिश्र का ही संन्यास आश्रम का नाम है। सन्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्बीय मण्डन कारिका, भावना विवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने तैत्तिरीय श्रुति वार्तिक, नैष्कर्म्य सिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्य सिद्धि, पंचीकरण वार्तिक, वृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्म सिद्धि, ब्रह्म सूत्र भाष्य वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिक सार और वार्तिक सार संग्रह आदि ग्रन्थ लिखे थे।

सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत–मूलतः तो सुरेश्वराचार्य अपने गुरु शंकराचार्य के समर्थक थे। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनायें की थीं। आभासवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। इस स्थल पर आभासवाद का संक्षिप्त निरूपण किया जायेगा।

सुरेश्वराचार्य का आभासवाद का सिद्धान्त–शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की सैद्धान्तिक स्थापना एवं समालोचना की थी, उसकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की थी। सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् को न प्रतिविम्ब स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में। प्रतिविम्बवाद एवं अवच्छेदवाद के विपरीत वे जगत् को आभासमात्र मानते हैं।[1] सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है

---

१. वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ० १२४५।

जब तक कि सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार कि मूर्च्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो उस व्यक्ति के सम्मुख नहीं उपस्थित होतीं और मूर्च्छा हटने पर उस व्यक्ति के मूर्च्छाकाल की वस्तुएँ मिथ्या प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसकी को परमार्थ बोध होने पर अविद्या निवृत्ति के कारण–अविद्या कालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते है। इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासन का कारण अविद्या है।

आचार्य सुरेश्वर का आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिविम्ववाद एवं अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहाँ तक प्रतिविम्ववाद का प्रश्न है, विम्ब (मूलतत्त्व) एवं प्रतिविम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्व (ब्रह्म) एवं आभासमात्र द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है।[२] प्रतिविम्ववाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है, परन्तु सुरेश्वराचार्य के आभासवाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिविम्बवाद की दृष्टि से प्रतिविम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण प्रतिविम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिविम्ववादी की दृष्टि में यह अज्ञान विम्व एवं प्रतिविम्व की भेद दृष्टि है। विम्ब एवं प्रतिविम्ब के भेद दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिविम्ब मिथ्या प्रतीत होता है अभेद दर्शन के द्वारा नहीं।[२] इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती। यह हम अभी कह चुके हैं कि व्यावहारिक जगत् के सत्य दिखाई पड़ने कारण अविद्या है। आचार्य सुरेश्वर के आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी भेद द्रष्टव्य है। अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानसिक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है परन्तु जो (ब्रह्म) अवच्छिन्न दिखाई पड़ता है वह तो सर्वथा अनवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

सुरेश्वराचार्य ने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही अपने सन्यास गुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मण्डन किया था। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र कहकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परन्तु सुरेश्वराचार्य के अनुयायियों ने उनके आभासवाद में व्यावहारिक सत्यता का मिश्रण करके सुरेश्वराचार्य को प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं का समर्थक सिद्ध किया था।

---

१. वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ० ६६६, विधि विवेक २१, २२।

२. *Dr. Virmani Prasad, Upadhyaya* : Lights on Vedants, p. 43.

पद्यपादाचार्य (८२० ई०)

आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण में चोल प्रदेश के अन्तर्गत हुआ था। प्रायः ये शंकराचार्य के साथ ही रहते थे और उनसे वेदान्त के उपदेशों का श्रवण किया करते थे। आचार्य पद्मपाद की प्रमुख रचना पंचपादिका है। पंचपादिका के सम्बन्ध में अद्भूत कहानी सुनने को मिलती है। कहा जाता है कि पद्मपाद पंचपादिका की रचना करके उसे अपने प्रभाकर मतानुयायी मामा के घर रखकर रामेश्वर चले गये थे। जब वे रामेश्वर से लौटे तो उन्हें पता चला कि उनके मामा ने पंचपादिका को जला दिया है। यह जानकर पद्मपाद को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने पंचपादिका को पुनः लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रभाकर मतानुयायी मामा ने आचार्य पद्मपाद को विष दे दिया जिससे वे विक्षिप्त हो गए। अब पद्मपादाचार्य ने गुरु (शंकराचार्य) से सुनकर पंचपादिका की रचना की। पंचपादिका के अन्तर्गत ब्रह्म सूत्र के चार सूत्रों के शांकर भाष्य की व्याख्या मिलती है। पंचपादिका पर प्रकाशात्म मुनि के विवरण और विवरण पर अखण्डानन्द की तत्वदीपन नामक टीका उपलब्ध है।

प्रंचपादिका के अतिरिक्त पद्मपादाचार्य रचित–आत्मानातम विवेक, प्रपंच सार तथा सुरेश्वराचाय्र कृत लघुवार्तिक की टीका, ये तीन ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक पद्मपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है, अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि की थी। पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य एवं विवरण प्रकाशातम यति के नाम से जो दार्शनिक विवेचन मिलता है वह विवरण सम्प्रदाय के नाम से मिलता है। पद्मपादाचार्य ने ब्रह्म एवं अविद्या का सम्बन्ध निश्चित करते हुए इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव एवं विषयविषयिभाव सम्बन्ध स्थापित किया है।[1] इसी को अधिष्ठान एवं अध्यास का सम्बन्ध कहा जा सकता है। वाचस्पति मिश्र उक्त मत के विपरीत अवच्छेद सम्प्रदाय के समर्थक है। अवच्छेद सम्प्रदाय का विवेचन वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार

पद्मपादाचार्य ने मिथ्यात्व को सत्व एवं असत्व के अत्यन्ताभाव का अनाधिकरण कहा है।[2] इस मत के अनुसार मिथ्या एवं अनिर्वचनीय जगत् को न पूर्णतया सत्य कहा जा सकता है और न पूर्णतया असत्य। पद्मपादाचार्य का कथन है कि एक स्थान पर मिथ्या पदार्थ का बोध होने पर भी दूसरे स्थान पर उसकी सत्य रूप से प्रतीति होती है।[3]

मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के सम्वन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार है कि जीव एवं ब्रह्म के एकत्व के

---

१. Lights on Vedanta, Page 105.
२. सत्वासत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । –पंचपादिका, पृ० १०।
३. पंचपादिका १०।

द्वारा ही मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है।[1]

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०)[2] और उनकी दार्शनिक देन–

अद्वैताकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों में भमतीकार वाचस्पतिमिश्र का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। भामती ब्रह्सूत्र के शांकर भाष्य की अद्भूत व्याख्या है। भामती के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र के अन्य कई ग्रन्थ हैं। इन्होंने सुरेश्वर की ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्म तत्व समीक्षा, सांख्यकारिका पर तत्त्वकौमुदी, पातंजल दर्शन पर तत्व वेशारदी, न्याय दर्शन पर न्यायवार्तिक तात्पर्य, पूर्व मीमांसा दर्शन पर न्यायसूची निबन्ध, भाट्टमत पर तत्वविन्दु तथा मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकारिका नामक टीका की रचना की थी। इसके अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र के नाम से दो और ग्रन्थ मिलते हैं–एक खण्डन कुठार तथा दूसरा स्मृति संग्रह। परन्तु इन ग्रन्थों के रचयिता में अभी संदेह बना हुआ है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा अद्वैत वेदान्त की व्याख्या–वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन अवच्छेदावाद के आधार पर किया है, यह हम सुरेश्वराचार्य के आभासवाद का विवेचन करते समय पीछे कह चुके हैं। प्रतिविम्ववाद एवं आभासवाद के विपरीत वाचस्पति मिश्र का कथन है कि जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्न के कारण अनवच्छिन्न एवं असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं समीमता को प्राप्त होता है। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण प्रायः आकाश के उदाहरण द्वारा किया है। जिस प्रकार कि एक ही आकाश को सांसारिक लोग घट एवं मठ के सम्वन्ध से घटाकाश एवं मठाकाश कहकर पुकारते है, उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म जीव की अविद्योपाधि के कारण ससीमता एवं अवच्छिन्नता को प्राप्त होता है। अविद्या प्रत्येक जीव मठ में आश्रित रहती है। जैसे कि घट एवं मठ रूप उपाधियों के नष्ट होने पर घटाकाश एवं मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्योपाधि के नष्ट हो जाने पर भी जगत् के समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं और तत्फलस्वरूप एक ब्रह्मात्मा ही शेष रह जाता है।

जहाँ तक जीव और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्ध की वात है वाचस्पति मिश्र इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव मानते हैं और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में वे विषय विषयि भाव को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म साक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में भी अद्वैत दर्शन के व्याख्याताओं की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र आदि प्राचीन अद्वैती आचार्य प्रसंख्यान (गम्भीर चिन्तन) को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त मत का ही समर्थन एवं स्पष्टीकरण किया है। वाचस्पति मिश्र ने मत को उद्धृत करते हुए अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति मिश्र श्रुतिसाक्षात्कार से वही अर्थ लेते हैं जो मण्डन मिश्र प्रसंख्यान से प्राप्त ब्रह्म साक्षात्कार से ग्रहण करते हैं।[3]

---

१. मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद् भवति न क्रियातः।
–पंचपादिका, पृष्ठ ६०, ई० जे० लज़ारस एण्ड कम्पनी, संवत् १६४२।

२. वाचस्पति मिश्र के काल के सम्बन्ध में देखिए, आशुतोषशास्त्री–वेदान्त दर्शन, अद्वैतवाद (बंगला संस्करण)।

३. वेदान्तकल्पतरु, पृष्ठ ५६।

अद्वैत वेदान्त शास्त्र की उपयोगिता बतलाते हुए कल्पतरुकार का कथन है कि वेदान्त दर्शन जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराने में समर्थ है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०)[2]

सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ये श्रृंगेरी मठ की गद्दी पर विराजित थे। सर्वज्ञात्ममुनि की प्रख्यात रचना संक्षेप शारीरिक है। सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है।[3] रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य से सुरेश्वराचार्य का ही अर्थ लिया है।[4]

जगत् कारणता के सम्बन्ध में शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैतवादियों के जो तीन मत प्रसिद्ध हैं उनमें सर्वज्ञात्ममुनि का मत प्रमुख है। दो अन्य मत प्रकाशात्मयति और वाचस्पति मिश्र के हैं। विवरणकार प्रकाशात्मयति ईश्वर एवं जीव को अविद्या में बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकाशात्मयति का मत है कि शुद्ध चित् तत्व ही जो ईश्वर एवं जीव रूप में दिखाई पड़ता है और जो साक्षी के रूप में कार्य करता है, वही जगत् का उत्पादन कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का जगत् कारणता सम्बन्धी मत विवरणकार के उक्त मत से भिन्न है। संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब जीव है। सर्वज्ञात्ममुनि के मतानुसार शुद्धचित् ही जो अविद्यागत प्रतिबिम्ब का मूल है, साक्षी एवं जगत् का उत्पादन कारण है। वाचस्पति मिश्र का यह मत उक्त दोनों मतों से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण के अनुसार शुद्ध चित् ही जो अविद्या का आधार या अधिष्ठान प्रतीत होता है, जीव है और वही शुद्ध चित् जब अविद्या के विषय रूप में दिखाई पड़ता है तो ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने जीव को ही जगत् का उत्पादान कारण माना है, क्योंकि अविद्या के कारण जीव ही ब्रह्म साक्षात्कार न करके प्रपंचरूप जगत् की सृष्टि करता है।[5]

अप्पय दीक्षित के अनुसार उक्त मतों का विवेचन

सिद्धान्त लेश संग्रह के रचयिता अप्पय दीक्षित के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि माया के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है। जगत् की सृष्टि के कार्य में माया का साहाय्य द्वारत्वेन ग्राह्य है। विवरणकार के मतानुसार माया विशिष्ट ब्रह्म जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है वही, ईश्वर जगत् का कारण है। वाचंस्पति मिश्र के अनुसार ब्रह्म जब अविद्या का विषय बनता है

---

१. ब्रह्मात्मैकत्वबोधित्वाद् वेदान्तिनाम्। -वेदान्तकल्पतरु, पृ० २५ (प्रथम भाग), ई० जे० लजारस एण्ड कम्पनी, बनारस संवत् १९५२।
२. सर्वज्ञात्ममुनि का यह काल डा० दास गुप्त के 'ऐ हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी', भाग २, पृष्ठ ११२ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।
३. जयन्तिदेवेश्वरपादरेणवः। संक्षेपशारीरकम् १।८।
४. सं० शा० १।८ पर देखिये रामतीर्थ की टीका।
५. विशेष देखिये, अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्दी टीका, पृ० ५८३ (बम्बई प्रकाशन) तथा सिद्धान्त बिन्दु, पृ० २२५-२२७।

तो वह ईश्वरता को प्राप्त होता है ओर वही ब्रह्म अविद्या के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप जीव को जब अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है तो जगत् का कारण बन जाता है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि और अधिष्ठानवाद

अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यनत प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के सम्वन्ध में सर्वज्ञात्ममुनि एवं ब्रह्मानन्द आदि शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ सर्वज्ञात्ममुनि के ही अधिष्ठान सम्वन्धी दृष्टिकोण का विवेचन किया जायेगा।

सर्वज्ञात्ममुनि ने एक विलक्षण मत की स्थापना करते हुए आधार एवं अधिष्ठान के वीच भेद की व्यवस्था की है। सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि साक्षी या शुद्ध चिद् रूप, ब्रह्म, जिसकी अविद्या जगत् की स्थिति एवं उसके दृश्यत्व के लिए उत्तरदायिनी है, अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त जब ब्रह्म उस अविद्या से विशिष्ट प्रतीत होता है जो ब्रह्म की उपस्थिति मात्र से ही अविच्छिन्न रूप से व्यावहारिक जगत् के रूप में परिणत होती है और इस परिस्थिति में जव वह (ब्रह्म) अविद्या के आश्रयदाता के रूप में स्थित होता है तो वह अधिष्ठान न होकर आधार होता है। उदाहरण के लिए 'इदं रजतम्' (वह रजत है) इस वाक्य में 'इदं' रूप से वर्तमान चित् का वह रूप जो अविद्या का आश्रय प्रतीत होता है अधिष्ठान न होकर आधार है। शुक्ति एवं रजत और ब्रह्म एवं अविद्योत्पन्न जगत् के सम्वन्ध में शुक्ति और ब्रह्म का आधार रूप मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् के बीच जिस आधार-आधेय भाव की कल्पना की जाती है वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत् की उत्पत्ति अविद्या से हुई है उसे ब्रह्म का आश्रेय औश्र ब्रह्म को उसका आधार नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता का प्रश्न है उसके अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत एवं ब्रह्म में जगत् की वुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु अधिष्ठान रूप शुक्ति एवं ब्रह्म रजत एवं जगत् से असम्बद्ध है। दोनों में सम्बन्ध हो भी कैसे सकता है, क्योंकि एक सत् है और दूसरा असत् और सत् एवं असत् का सम्वन्ध अनिश्चित है।[2] अतः जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि मानते हैं ब्रह्म का अधिष्ठान रूप ही सत्य है आधार रूप नहीं।[3]

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र (११४६ ई०)

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र का काल बारहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध का अन्त है। यह कांची के शारदामठ (कामकोटिपीठ) के पीठाधीश थे और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे। वेदान्त विद्या का अध्ययन इन्होंने रामानन्द सरस्वती से किया था। यह चिद्विलास एवं आनन्द बोध के नामसे भी प्रख्यात थे। इन्होंने ब्रह्मविद्यामरण, शान्तिविवरण और गुरुप्रदीप नामक ग्रन्थों की रचना की थी।[4]

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५६, ७५-६६; पंचपादिका विवरण २२३, २२४, २३१ (वनारस संस्करण)।
२. ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।१८।
३. Lights on Vedanta, p. 163.
४. देखिए, *Tripathi's* Introduction to Anandajñāna's Tarkasangraha.

आनन्दबोध भट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के समीखक आचार्य आनन्दबोध भट्टारक १२वीं शताब्दी में वर्तमान थे। अद्वैत वेदान्त पर इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं–न्यायमकरंद, प्रमाण माला और न्याय दीपावली। न्याय मकरंद इनका संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर इन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

जगत् के मिथ्यात्व का विवेचन अद्वैतवाद के प्रतिपादन का प्रमुख अंग है। जगत् के मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। न्यायमकरंदकार आनन्दबोधाचार्य का मत पद्मपादाचार्य और प्रकाशत्मा के मतों से भिन्न है। मिथ्यात्व एवं अनिर्वाच्यत्व का प्रतिपादन करते हुए आनन्द बोधाचार्य का कथन है कि अविद्या के कार्यों एवं परिणामों सहित अविद्या की निवृत्ति को बाध कहते हैं और उस बाध का ज्ञान होना ही अनिर्वाच्यता है।[1]

आनन्द बोधाचार्य सदसद्विलक्षण अविद्या को ही जगत् का कारण मानते हैं।[2] अपने मत के समर्थन में इनका कथन है कि असत् जगत् की उत्पत्ति किसी सत् पदार्थ से तो हो नहीं सकती और सर्वथा असत् पदार्थ से भी जगत् की उत्पत्ति पूर्णतया असंगत है। अतः जब सत् या असत् वस्तु जगत् का कारण नहीं हो सकती तो सत् एवं असत् विलक्षण वस्तु ही जगत् का कारण हो सकती है। आनन्द बोधाचार्य का कथन है कि सत् एवं असत् से विलक्षण अविद्या ही है।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी)

प्रकाशात्मा रचित पंचपादिका की टीका विवरण का स्थान अद्वैत वेदान्त में अतिशय महत्त्वशाली है। प्रकाशात्मा के गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था।[4] प्रकाशात्मा ही प्रकाशानुभव के नाम से प्रचलित थे।

अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में प्रकाशात्मा का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि उनकी विवरण टीका के नाम से विवरण सम्प्रदाय नामक एक पृथक् सम्प्रदाय का ही प्रचलन हो गया है।

प्रकाशात्मा ने अद्वैत दर्शन का विश्लेषण करते हुए ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय-विषयि भाव सम्बन्ध माना है। पद्मपादाचार्य भी इसी मत के पक्षपाती थे। जैसा कि कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र का मत उक्त मत से भिन्न है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत पद्मपादाचार्य के मत से भिन्न है। पद्मपादाचार्य शुक्ति

---

१. सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव वाधस्तदगोचर तैवानिर्वाच्यता।
–न्यायमकरंद, पृ० १२५, चौखम्बा संस्करण, बनारस १९०७।

२. न्याय मकरंद, पृ० १२२, १२३।

३. डा० दासगुप्त ने विवरणकार प्रकाशात्मा का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है (डा० दास गुप्त के मत के लिए देखिए–इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० १९६-९७)

४. वेदान्त अंक (कल्याण), पृ० ६४९।

आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशातमा शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।[१] विवरणकार ने मिथ्यात्व को अनिर्वचनीयता का ही समर्थक माना है।[२]

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत ब्रह्मदत्त आदि के मत से भिन्न है। प्रकाशातमा ब्रह्मदत्त आदि की तरह मनन को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण न मानकर श्रवण को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण मानते हैं।[३] विवरणकार का मत है कि यद्यपि मनन और निदिध्यासन श्रवण की अपेक्षा आगामी हैं, परन्तु फिर भी वे ब्रह्म साक्षात्कार के प्रधान कारण नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि में प्रकाशात्मा का तर्क है कि श्रवण का ब्रह्म साक्षात्कार से साक्षात् सम्वन्ध होने के कारण श्रवण ब्रह्म साक्षातकार में प्रधान कारण है। इसके विपरीत मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के परम्परया कारण हैं।

विमुक्तात्मा (१२०० ई०)

विमुक्तात्मा ने अपने इष्टसिद्धि नामक ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त की अज्ञान आदि प्रमुख विचार ग्रन्थियों का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है।

विमुक्तात्मा ने आत्मा एवं जगत् के विषयों के बीच पारस्परिक सम्वन्ध के प्रश्न का समाधान खोजने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत् रूप विषय) न एक दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। भिन्न इसलिए नहीं है कि 'दृक्' (आत्मा) दृश्य नहीं है। दृश्य का अदृश्य या अदृश्य का दृश्य से भेद सम्वन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी ने अरुण नामक व्यक्ति को नहीं देखा है तो वह उसे श्याम नामक व्यक्ति से भिन्न नहीं वता सकता। इसी प्रकार जव दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है तो उसे दृश्य से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध कहता है दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत्) के बीच अभेद सम्वन्ध भी नहीं स्थापित किया जा सकता। अभेदवादी का कथन है कि दृक् एवं दृश्य का साथ-साथ बोध होता है। दृक् एवं दृश्य का समकालिक बोध ही उनक भेद का सूचक है, क्योंकि दोनों के अभिन्न होने पर उनके पृथक् बोध का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। विमुक्तात्मा का कथन है कि भेद, अभेद सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक् एवं दृश्य के बीच भेदाभेद सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। भेदाभेदवाद के समर्थक का कथन है कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य में भेद है, परन्तु ब्रह्मात्मता की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, इसलिए दृक् एवं दृश्य में भेदाभेद मानना चाहिए। उक्त तर्क का अनौचित्य स्पष्ट करते हुए विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि दृक् एवं दृश्यं ब्रह्म से अभिन्न हुए होते तो दोनों के भेद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

---

१. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् ।....स्वनिष्ठनिरवच्छिन्नप्रकारता निरूपित निशेष्यता समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम् । **Lights on Vedanta, page 181** से उद्धृत प्रकाशात्मा का मत।

२. पंचपादिका विवरण, पृ० १५६।
(Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, 1958)

३. पंचपादिका विवरण, पृ० १०४, १०५।

अतः भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना भी अनुचित है।[1] अतः दृक् एवं ब्रह्म में तो अभेद है, परन्तु दृक् एवं मायोत्पन्न जगत् का सम्बन्ध अनिर्वाच्य है। मायिक जगत् का अधिष्ठान विमुक्तात्मा ने आत्मानुभूति को माना है। इसीलिए विमुक्तात्मा ने इष्ट सिद्धि के आरम्भ में अज, अमेय, अनन्त एवं आनन्द स्वरूप आत्मानुभूति को महदादि जगत् के माया चित्र की भित्ति कहा है।[2]

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक विलक्षण मत को जन्म दिया है। वे अज्ञान की अनेकरूपता स्वीकार करते हैं। विमुक्तात्मा का चिार है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उतने ही अज्ञान हो सकते हैं जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। इस सम्बन्ध में विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ किसी व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता हैं। यही कारण है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, रस्सी के सम्बन्ध में उत्पन्न किसी व्यक्ति का सर्प रूप अज्ञान नष्ट होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को उसी रस्सी में दण्ड, धारा आदि रूप अज्ञान उत्पन्न हो सकते है। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता के पक्षपाती हैं।

इस प्रकार विमुक्तात्मा ने अद्वैत वेदान्त की अनेक दुरुहताओं का स्पष्टीकरण बड़े वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण ढंग से किया है।

आचार्य चित् सुख (१२२० ई०)

आचार्य चित्सुख दर्शन के क्षेत्र में उस समय अवतरित हुए थे, जिस समय दर्शन के क्षेत्र में दो प्रबल धारायें प्रवर्तित हो रही थीं। एक ओर तो गंगेश आदि नैयायिक न्याय मत के प्रचार में लीन थे और दूसरी और वेष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी चित्सुखाचार्य ने न्याय दर्शन का खण्डन करते हुए, अद्वैत दर्शन का समर्थन किया था। चित्सुखाचाय्र ने अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों–तत्व प्रदीपिका, न्याय मकरन्द टीका और खण्डनखण्डखाद्य की टीका के अन्तर्गत किया है। तत्त्वप्रदीपिका का ही दूसरा नाम चित्सुखी है।

साक्षी के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्य परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में भेद की स्थापना के समर्थक हैं। वे साक्षी को स्वतन्त्र एवं द्रष्टा मात्र मानते हैं। इसके विपरीत प्रमाता आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा अज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है।[3]

आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। चित्सुखाचार्य ने उक्त मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुःखाभाव स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं हैं, प्रत्युत सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। आचार्य

---

१. *T.M.P. Mahadevan* : The Philosophy of Advaita, p. 151-152.

२. यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा
महदादि जगन्मायाचित्रभित्तिम् नमामिताम् ।। –इष्टसिद्धि, पृ० १।

३. तत्वप्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद), पृ० ३८१-३८२ एवं इस पर देखिए नयनप्रसादिनी टीका (निर्णय सागर, बम्बई १६३१)।

चित्सुख पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहते हैं कि सुख ही दुःखाभाव का अंग है, इस प्रकार विपरीत प्रसंग नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि, सुख को दुःखाभाव का अंग मानने पर न उसे दुःखाभाव का उत्पादक माना जा सकता है और न उसका अभिव्यंजक।[1]

अमलानन्द (१३ वीं शताब्दी)

अमलानन्द के गुरु का नाम अनुभवानन्द था। आचार्य अमलानन्द अद्वैत मत के पूर्ण समर्थक थे। अमलानन्द ने वेदान्त कल्पतरु, (वाचस्पति मिश्र की भामती की टीका) शास्त्र दर्पण, और पंचपादिका दर्पण इन तीन ग्रन्थों की रचना की थी। तीनों ही ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में प्रामाणिकता की दृष्टि से सम्मान्य है।

अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं। दृष्टिसृष्टिवाद का सैद्धान्तिक विवेचन अगामी प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा। दृष्टि सृष्टिवाद के अनुसार समस्त प्रपंच शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है। वस्तुतः श्रुतियों में सृष्टि का प्रतिपादन पारमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहाँ आरोप न्याय के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ अपवाद न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया गया है। उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों (सइमांल्लोकानसृजत आदि) का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उनका अभिप्राय कदापि नहीं है।[2] इसलिए दृष्टिसृष्टिवादी के अनुसार सृष्टि तात्त्विक न होकर दृष्टि कालिक ही है—**दृष्टि समस्या विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः।**

अमलानन्द का एक और विचार उनके अद्वैत वेदान्त के सूक्ष्म पर्यवेक्षी होने का परिचायक है। ज़ैसा कि वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक मत का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र प्रभृति प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का कारण मानते हैं। प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का कारण स्वीकार करने पर यह आपत्ति स्वभाविक है कि प्रमाण संख्या के अन्तर्गत प्रसंख्यान का परिगणन न होने के कारण उससे उत्पन्न होने वाले ब्रह्म साक्षात्कार को प्रभा नहीं कहा जा सकता। इस आपत्ति का समाधान हमें अमलानन्द के इस कथन के अन्तर्गत मिलता है कि वेदान्त वाक्यों से जन्य ज्ञान के अभ्यास से होने वाली अपरोक्ष वुध्दि वेदान्त वाक्य अथवा उससे होने वाली प्रभा की दृढ़ता से (अविप्रतिपन्न प्रामाण्यहोने के कारण) भ्रम नहीं होती है। इसीलिए परतः प्रामाण्यापति भी प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि

---

१. नात्र दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्तिशेपत्वात्। न च विपरीतवृत्तिप्रसंगाः, विकल्पासहत्यात्। किं सुखदुःखाभावस्योत्पादकमुताभिव्यंजकम्, नोमयथापि।
—तत्त्व प्रदीपिका, चतुर्थ परिच्छेद।

२. श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते।। —शास्त्र दर्पण—१।४।८ पृ० ८७
(वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् १९१३)।

३. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ३६१।

अपवाद के निरास के लिए मूल प्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।[1] इस प्रकार अमलानन्द परिसंख्यान जन्य ब्रह्म साक्षातकार को प्रमा रूप स्वीकार करते थे।

अद्वैत वेदान्त का विवेचन करते समय कहीं-कहीं अमलानन्द का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र आदि के मत से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्र भाष्यकार शंकराचाय्र एवं भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने जीव की ईश्वरभावापत्ति को स्पष्ट सिद्ध किया है।[2] इस सम्वन्ध में अमलानन्द का दृष्टिकोण भिन्न है। वे माया प्रतिविम्वित ईश्वर की मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं स्वीकार करते।[3]

विद्यारण्य (१३५० ई०)

विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इनका दूसरा नाम भारती तीर्थ भी मानते हैं।[4] डाक्टर वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भारती तीर्थ को पंचदशी का लेखक कहा है।[5] इस विषय का विवेचन यहाँ आवसरिक न होने के कारण, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वयं माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीय न्याय माला' की टीका विस्तर में भारती तीर्थ को अपना गुरु लिखा है। अतः भारती तीर्थ और विद्यारण्य को पृथक्-पृथक् मानना ही समुचित होगा।[6] विद्यारण्य द्वारा रचित १६ ग्रन्थ हैं, जिनमें पंचदशी सर्वाधिक प्रख्यांत है।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्वन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिविम्ववाद एवं वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद सिद्धान्त प्रचलित हैं। विद्यारण्य उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिविम्ववाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[7] विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिविम्वित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिविम्वित चेतन को जीव कहते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया एवं अविद्या में यही भेद हे कि माया शुद्ध सत्वमयी है एवं अविद्या मलिन सत्वमयी।[8]

---

१. वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजा परोक्षधीः।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन न नभ्रमत्वं प्रपद्यते।।
न च प्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिरस्तु प्ररुच्यते।
अपवादनिरासाय मूलशुद्ध्यनुरोधात्।
–सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ४७० से उद्धृत कल्पतरुकार का मत।

२. ब्र० सू० शा० भा०, एवं श्रीभामती ४।४।३, ४।४।६, ४।४।७ तथा देखिए–सि० ले० सं०, पृ० ५५३।

३. देखिए–सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५५३।

४. कल्याण–वेदान्तांक, पृ० ६५२।

५. Lights of Vedanta. p. III. 116.

६. वेदान्तांक (कल्याण), पृ० ३५२।

७. *T.M.P. Mahadevan* : The Philosophy of Advaita. p. 219. (Ganesh & Co.. Madras. 1957).

८. पंचदशी १।१६।

विद्यारण्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन

विद्यारण्य ने पंचदशी के कूटस्थदीप, नाटकदीप एवं चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। कूटस्थदीप के अन्तर्गत विद्यारण्य ने साक्षी की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान भूत कूटस्थ चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दोनों शरीरों का साक्षात् द्रष्टा एवं कर्तृत्त्व आदि विकारों से शून्य होने के कारण साक्षी है।[1]

नाटकदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का विवेचन नृत्यशाला में स्थित दीपक के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। जिस प्रकार कि नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों (दर्शकों) तथा नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है एवं स्वामयादि के अभाव में भी दीप्त रहता है, उसी प्रकार साक्षी भी अहंकार, बुद्धि तथा विषयों करे प्रकाशित किया करता है और अहंकारादि के अभाव में भी सुषुप्ति अवस्था में पूर्ववत् साक्षी को दीप्त करता रहता है।[2]

पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत विद्यारण्य ने ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर एवं जीव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उक्त तत्वों का निरूपण पंचदशीकार ने आकाश के दृष्टान्त के आधार पर दिया है। विद्यारण्य का कथन है कि व्यापक आकाश का नाम महाकाश है। घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश, घटवर्ती जल में प्रतिविम्वित आकश को जलाकाश तथा मेघ के जल में प्रतिविम्वित आकाश को मेघाकाश कहते हैं। इसी प्रकार अखण्ड एवं व्यापक शुद्ध चेतन को ब्रह्म और देहरूप उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं। देहान्तर्गत अविद्या में प्रतिविम्वित चेतने जीव तथा माया प्रतिविम्वित चेतन को ईश्वर कहते हैं।[3] विद्यारण्य निरूपित अविद्या एवं माया के भेद की दिशा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

विद्यारण्य ने श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के अतिरिक्त चित्त शुद्धि कर्त्री उपासना को भी मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु उपासना को भी ये आगे चलकर भ्रम ही मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि निर्गुणोपासना संवादी भ्रम है तथा सगुणोपासना विसम्वादी भ्रम है। जो भ्रम, भ्रम होते हुए भी परिणाम में इष्ट वस्तु की उपलब्धि कराता है उसे सम्वादी भ्रम कहते हैं। अन्य सगुणोपासनाएं विसम्वादी भ्रम के अन्तर्गत आती हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासना संवादी भ्रम होने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक है। उक्त क्रम मध्यम कोटि के अधिकारियों के लिए ही है। उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए तो श्रवणादि की ही व्यवस्था है।[4]

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई०)

प्रकाशानन्द रचित (वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली) अद्वैत वेदान्त का एक प्रामाणिक एवं प्रख्यात ग्रन्थ है। प्रकाशानन्द ने अपनी मुक्तावली में अद्वैत वेदान्त का विवेचन करके अपनी प्रांजल एवं पाण्डित्यपूर्ण

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १८०।
२. पंचदशी १०।११, १२।
३. वही, ६।१८, २२।
४. वेदान्तांक (कल्याण), पृष्ठ ६५४।

शैली का परिचय दिया है।

प्रकाशानन्द ने वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के अज्ञान आदि सिद्धान्तों का वैज्ञानिक एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अज्ञान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए प्रकाशानन्द ने उसे वेदसिद्ध एवं लौलिक प्रत्यक्षादि से सिद्ध न मानकर कल्प्य माना है। अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रकाशानन्द का कथन है कि अज्ञान को वेदसिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि वेद के पूर्व काण्ड (पूर्व मीमांसा) का विषय कर्म मात्र है एवं वेदान्त (उत्तर मीमांसा) का विषय एवं फल पूर्ण सच्चिदान्द ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बन्ध में उक्त स्थिति को अभाव होने के कारण अज्ञान का वेद सिद्ध नहीं माना जा सकता।[1] अज्ञान के लौकिक प्रमाणों से सिद्ध होने का निराकरण करते हुए प्रकाशानन्द का तर्क है कि यदि अज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ होता तो इस प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का तर्क है, कि जो ईश्वर, असंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेकविध सुखदुःखादिमय प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि अनुपपन्न है। अतः बिना अज्ञान के प्रपंच मय जगत् की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है।[2] इसलिए अज्ञान वेदान्त सिद्धान्त मुक्तवलीकार की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्मविषयिणी कहा है।[3] शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ईश्वर भी ईश्वर अज्ञान के आश्रित होकर जीवभाव को प्राप्त करके तथा देव, तिर्यक् एवं मनुष्यादि की देह का निर्माण करके उन्हीं के उपकरण ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है।[4] अतः ईश्वर का स्रष्ट्रत्व अज्ञान के कारण ही सिद्ध होता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण प्रकाशानन्द जगत् की सत्ता को दृष्टि मात्र ही मानते हैं, तात्विक नहीं।[5]

अद्वैतवाद का सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकाशानन्द ने अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के आधार पर किया है। ये आचार्य अधिष्ठान एवं अभ्यास में अद्वैतता के पक्षपाती हैं।[6] अधिष्ठान रूप आत्मा के अतिरिक्त द्वैत जगत् की सत्ता का समर्थन निराधार है। समस्त प्रपंचात्मक जगत् आत्मा में ही अध्यस्त है। आत्मा साक्षात्कार होने पर आत्माध्यस्त समस्त द्वैत जगत् का भी साक्षात्कार उसी प्रकार होता हे, जिस प्रकार

---

१. अज्ञानं किं वेदसिद्धम्....' तत्रनाद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात्, वेदान्तानां च परिपूर्ण सच्चदानन्दब्रह्ममात्रविषयत्वात् तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादौ तदभावात् तद्प्रतिपादकत्वात्। वे० सि० मुक्तावली, पृष्ठ २६ (कलिकाता-१६३५)।

२. अत एवं विधस्यप्रपंचरचना बिना अज्ञानं न सम्भवति इति अज्ञानं कल्प्यते इति भावः।
जीवानन्द की टीका, वे० सि० मु०, पृ० २६, २७, २८।

३. जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्यातत्वविन्मता। वे० सि० मु० ३ तथा देखिए विद्यासागरी।

४. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, ६; जीवानन्द विद्यासागर संपादित १६३५ ई०।

५. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्।–वे० सि० मु० ६१।

६. अधिष्ठानभेदेन अध्यस्तस्य पृथक् स्वरूपाभावात्, पृष्ठ २५६।

रज्जु का ज्ञान होने पर उसमें अध्यस्त सर्प, दण्डादि के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है।[1]

इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने अद्वैत वेदान्त के अनेक तथ्यों का विवेचन तर्क प्रतिष्ठित शैली द्वारा प्रस्तुत किया है।

मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०)

मधुसूदन सरस्वती शंकराचार्योत्तर काल के अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में से हैं। इन्होंने सिद्धान्तविन्दु, संक्षेप शारीरिक की व्याख्या अद्वैत सिद्धि, अद्वैत रत्न रक्षण, वेदान्त कल्प लतिका, गूढ़ार्थ दीपिका, प्रस्थान भेद आदि ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण किया है।

सुषुप्ति काल में होने वाले—'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखपूर्वक सोया) अनुभव के सम्वन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है। सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं।[2] इसके विपरीत विवरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रकाशात्मा आदि विद्वान् उक्त अनुभव के परामर्श कहते हैं और परामर्श से स्मृति का अर्थ ग्रहण करते हैं।[3] मधुसूदन सरस्वती ने इस सम्वन्ध में एक नवीन मत की उद्भावना की है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में तामसी वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसी वृत्ति विशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्ति विशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि हम मात्र अज्ञानानुभव मानेंगे तो हम परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मै सुख-पूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता।

वृत्त के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विस्तार से विवेचन किया है। वृत्ति जीव के समस्त परिमित विषयों के ज्ञान के लिए एक आवश्यक दशा है। मधुसूदन सरस्वती वृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उसके नीचे लिखे प्रधान छः कारण बताते हैं।[4]

(१) वृत्ति माया की आवरण शक्ति का उच्छेद करती है।

(२) वृत्ति ही आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त तूलाज्ञान का विनाश करती है।

(३) वृत्ति अविद्या की एक विशेष स्थिति का निवारण करती है। यह विशेष स्थिति अज्ञान और जीव के तादात्म्य की स्थिति है।[5]

---

१. आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्तानान्या यतस्ततः
आत्मन्येव जगत् सर्व दृष्टेदृष्टं श्रुते श्रुतम् ।।

—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, ४६।

२. वृ० भा० वा०, पृ० ४६० (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १८९३)।

३. Lights on Vedanta, p. 133.

४. अद्वैत सिद्धि, पृ० ४५७।

५. लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४५७।

(४) वृत्ति अविद्या के एक देशीयविनाश की कर्त्री है। यह ऐ देशीय विनाश, अविद्या में कार्य की अक्षमता उत्पन्न करना या अविद्या की निवृत्ति है।

(५) वृत्ति के कार्य के सम्बन्ध में एक उपयुक्त दृष्टान्त देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जिस प्रकार दूसरे वीर योद्धा को देखकर भीरु भट भाग जाता है, उसी प्रकार वृत्ति की उत्पत्ति के क्षण ही अविद्या का आवरण नष्ट हो जाता है।

(६) मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि वृत्ति की उत्पत्ति होने पर अविद्या का आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार कि हाथ का संयोग होने पर चटाई हटती चली जाती है।

वृत्ति के उपर्युक्त पंचम एवं षष्ठ कार्यों में यह अन्तर है कि पंचम कार्य के अनुसार वृत्ति की उत्पत्ति होने पर ही[1] अविद्या भीरु भट के समान क्षणमत्र में ही निवृत्त हो जाती है, और पष्ठ कार्य के अनुसार वृत्युत्पत्तिक्षण के उत्तरवर्ती काल में आवरण की निवृत्ति होती है।[2] वृत्ति के उक्त कार्यों की भिन्नता की दृष्टि से ही मधुसूदन सरस्वती ने उपर्युक्त दृष्टान्तों की योजना की है। दोनों दृष्टान्तों में यह भेद है कि भीरु भट वीर योद्धा के आने पर ही भाग जाता है, परन्तु चटाई किसी व्यक्ति के आने पर ही नहीं, सिमट जाती, चटाई को लपेटने के लिए हस्तसंयोग की आवश्यकता पड़ती है।

एकजीववाद–अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जीव की एकता एवं अनेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में पीछे विचार किया जा चुका है। मधुसूदन सरस्वती एक जीववाद के समर्थक हैं।[3] एक जीववाद के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक है कि जव "मैं सुखी हूं", "मैं संसारी हूं" आदि भिन्न-भिन्न अनुभव होते देखे जाते हैं तो एकजीवता का समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि अविद्या के कारण एक ब्रह्म ही जीवरूपता को प्राप्त करता है उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में 'अहं बुद्धि' होती है। इस प्रकार जीव अनन्त न होकर एक ही है।

मिथ्यात्व–मिथ्यात्व के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती विवेचन प्रस्तुत किया है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने की है उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या प्रतिपादन की भी है।[4] इसका कारण यह है कि यदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकारान्तर से जगत् सत्य सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उस का निषेध होता है। इसलिए मिथ्या जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैत सिद्धि के लिए अनिवार्य है।

मिथ्यात्व के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत सिद्धि में साधक न होकर बाधक है। पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपंच रूप जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या कहना प्रपंच के सत्यत्व को सिद्ध करेगा।

---

१. वृत्युत्पत्तिक्षण एवावरणाभिभवः। लघुचन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
२. वृत्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकाले आवरणाभिभवः।–लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
३. स च दृष्टैक एव तन्नानात्वे मानाऽभावात्।–अद्वैत सिद्धि, पृ० ५३६।
४. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 444.

अपने मत के समर्थन में पूर्वपक्षी का विचार है कि एक धर्मी में प्रसकत–दो विरोधी धर्मों में से एक की मिथ्यात्व सिद्धि दूसरे विरोधी धर्म की सत्यता को सिद्ध करती है। अतः प्रपंच रूप धर्मी में मिथ्यात्व प्रतिपादन के प्रपंच की सत्यता सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ी कुशलता से किया है। इनका कहना है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि एक धर्म में प्रसक्त दो धर्मों में से एक के मिथ्या सिद्ध होने पर ही दूसरे की सत्यता सिद्ध होती है, निराधार है। एक गोरुप धर्मी में अत्यन्ताभाव होने पर दूसरे गोत्व धर्म की सत्यता नहीं सिद्ध होती। गजधर्मी में गोत्व एवं अश्वत्व दोनों ही धर्मो का अत्यन्ताभाव है। अतः दो विरोधी धर्मों में से एक का मिथ्या सिद्ध होना दूसरे की सत्यता नहीं सिद्ध करता। अतः जगत् के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतसिद्धि में बाधक न होकर साधक ही हैं।[1]

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के अनेकों सिद्धान्तों का गूढ़ विवेचन किया है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्द की लघुचन्द्रिका टीका जो ब्रह्मानन्दी के नाम से प्रसिद्ध है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि जब द्वैतमतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन जी से अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश ग्रहण करके उन्हीं के मत के निराकरण के लिए तरंगिणी की रचना की थी तो इससे क्रुद्ध हो ब्रह्मानन्द ने लघुचिन्द्रका की रचना की थी। लघुचन्द्रिका के अतिरिक्त ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन जी के सिद्धान्तबिन्दु पर न्यायरत्नावली और सूत्ररत्नावली दो निवन्ध रूप ग्रन्थों की रचना और की है।

ब्रह्मानन्द द्वारा विश्लेषित अद्वैत सिद्धान्त में कारणवाद, अधिष्ठानवाद एवं मुक्ति आदि के सम्बन्ध में नवीन तथा मौलिक विचार मिलते हैं। जगत् के उपादान कारण के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत अप्पचदीक्षित से भिन्न है। अप्पय दीक्षित जीव को जगत् का उपादान कारण कहते हैं, परन्तु इसके विपरीत ब्रह्मानन्द के मतानुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्मानन्द का मत है कि ईश्वर इसलिए जगत् का उत्पादन कारण है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब होने के कारण ईश्वर से सम्बद्ध है और यह जीव ही अविद्या का आश्रय है।[2]

शंकराचार्य के उत्तरवर्ती काल के अद्वैती विद्वानों ने अधिष्ठानवाद पर विचार करते हुए अधिष्ठान में अध्यस्त अविद्या जन्य विषयों को मिथ्या नहीं कहा है, अपितु अधिष्ठान एवं अव्यास सम्बन्ध को भी मिथि कहा है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत है कि जहाँ तक अधिष्ठान एवं अध्यस्त विषयों के सम्बन्ध की वात है, यह सम्बन्ध सत्य नहीं है। अतः अधिष्ठान और अध्यास के सम्बन्ध की दृष्टि से अधिष्ठान मिथ्या है, परन्तु मूलतः अधिष्ठान पारमार्थिक सत्य रूप है।[3]

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ४०७-१३।

२. देखिए–अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मनन्दी, पृ० ४८३, न्यायरत्नावली, पृ० २३१।

३. देखिए–ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धि, पृ० ३८-४७।

४. न्यायरत्नावली, पृ० ४२८।

ब्रह्मानन्द ने न्याय रत्नावली के अन्तर्गत[4] श्रवण, मनन एवं निदध्यासन को तर्क रूप में ग्रहण किया है। यदि 'तत्वमसि' के रूप में ब्रह्म एवं जीव में सम्बन्ध न हुआ होता तो तत्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत मानते हैं। इसी प्रकार तत्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना, मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के मतानुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्कों में मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के मूल एवं आनन्द रूप में परिणत कर देता है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के विभिन्न विषयों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७वीं शताब्दी)

वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। जैसा कि वेदान्त परिभाष के आरम्भ में संकेतित है, इनके गुरु भेदधिक्कार के लेखक नृसिंहाश्रम थे।[1]

वेदान्त परिभाषाकार ने शुद्ध चेतन के ही उपाधि के कारण-प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य एवं विषय चैतन्य रूप से तीन भेद किए हैं। घटादि से अवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम विषय चैतन्य है। अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम प्रमाण चैतन्य है। इसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है तत्प्रदेशवर्ती वृत्ति चैतन्य को प्रमातृ चैतनय कहते हैं।[2]

वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेष रूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उनहोंने कहा है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्रांप्त होकर क्षेत्र में केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट हुआ उन केदारों के अनुरूप ही त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने से अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषय देश को प्राप्त हुआ घटपटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।[3] आगे चलकर वृत्ति के भी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने संशय, निश्चय, गर्व एवं स्मरण-ये

---

१. यदन्तेवासिपंचास्यैर्निरस्तामेदिवारणाः।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यंयतीन्द्रं परमं गुरुम् ।। -वेदान्त परिभाषा, द्वितीय श्लोक।

२. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ० ८, बम्बई सं० १६८६।

३. तत्रयथा तडागोदकं छिदान्निर्गत्यकुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।
-वे० प., प्रथम परिच्छेद।

४. वही, पृ० १२।

चार भेद किए हैं। इस वृत्ति भेद के कारण ही एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार संज्ञाओं को प्राप्त करता है।* उक्त कथन के अनुसर संशय मन का, निश्चय बुद्धि का, गर्व अहंकार का तथा स्मरण चित्त का विषय है।

ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में वेदान्त परिभाषाकार का मत है कि ब्रह्मज्ञानी का लोकान्तर में गमन नहीं होता, अपितु वह अपने प्रारब्ध के कर्मों के क्षय पर्यन्त सुखदुःख का भोग करके अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[1]

अपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त धर्मराजाध्वरीन्द्र ने साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

शंकराचार्य के परवर्ती काल के अद्वैत वेदान्त के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों के अतिरिक्त अन्यानेक आचार्यों ने भी अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया है। इन आचार्यों में, गंगापुरी भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्षमिश्र, श्रीरामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्द गिरि, अखण्डानन्द, मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रंगाराजाध्वरी, अप्पयदीक्षित, भट्टोजिदीक्षित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठसूरि, सदानन्दयोगीन्द सरस्वती, आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, काश्मीरक सदानन्द यति, रंगनाथ, अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्न दीक्षित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में विचार किया जाएगा।

गंगापुरी भट्‌ टारकाचार्य (दशम-एकादश शताब्दी)

गंगापुरी भट्टारकाचार्य ने पदार्तितत्वनिर्णय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भट्टारकाचार्य जी ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म को विवर्तकारण एवं माया को परिणामी कारण स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्णमिश्रयति (११वीं शताब्दी)

विद्वान् आचार्य ने प्रबोध चन्द्रोदय नाटक लिखकर नाटकीय शैली के द्वारा अद्वैत मत का प्रचार किया था। इस दिशा में इनका प्रयत्न अद्वितीय होने के कारण श्लाध्य है।

श्रीहर्षमिश्र (१२वीं शताब्दी)

श्रीहर्षमिश्र दार्शनिक और कवि दोनों ही थे। इन्होंने खण्डन खण्ड खाद्य की रचना करके अपने समय के अनेक अद्वैत विरोधी मत मतान्तरों का निराकरण करे अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। आज भी श्रीहर्ष का उक्त ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना पृथक् स्थान रखता है।

श्रीरामाद्वयाचार्य (१३वीं शताब्दी)

रामाद्वयाचार्य नं वेदान्त कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार १९५५ में मद्रास विश्वविद्यालय ने किया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न मतों की आलोचना करते हुए अद्वैत

---

१. वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।

मता का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने साक्षी को ईश्वर रूप भी कहा है।

शंकरानन्द (१४वीं शताब्दी)

शंकरानन्द विद्यारण्य के शिक्षा गुरु थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका ब्रह्मसूत्र दीपिका एवं १०८ उपनिषदों की टीका लिखकर अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया था। उन्होंने आत्मपुराण नामक एक और ग्रन्थ की रचना भी की थी, जिसमें श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि का विवेचन बड़ी सरल एवं मर्मस्पर्शिनी भाषा में प्रस्तुत किया था।

आनन्दगिरि (१५वीं शताब्दी)

आनन्दगिरि का ही दूसरा नाम आनन्द ज्ञान भी है। आनन्दगिरि ने शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों पर टीकायें लिखकर अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शांकर मत का ही समर्थन किया है।[1] वेदान्त सूत्र भाष्य पर इनके द्वारा लिखी गई टीका–न्याय निर्णय अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने शंकर दिग्विजय नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की है जिसमें शंकराचार्य के जीवन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है।

अखण्डानन्द (१५वीं शतावदी)

अखण्डानन्द अखण्डानुभूकि के शिष्य थे। इन्होंने पंचपादिक विवरण के ऊपर तत्व दीपन नामक एक प्रामाणिक टीका ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त का सूक्ष्मासूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन्होंने भामती पर ऋतु प्रकाशिका नामक टीका भी लिखी है।

मल्लनाराध्य (१६वीं शताब्दी)

इन्होंने अद्वैत रत्न और अभेद रत्न नामक दो प्रकरण ग्रन्थों की रचना करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने अद्वैत रत्न के ऊपर तत्वदीपन नाम टीका की रचना के द्वारा द्वैत मत का निरांकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

नृसिंहाश्रम (१६वीं शताब्दी[2])

नृसिंहाश्रम उद्भट दार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्होंने भाव प्रकाशिका (विवरण की टीका), तत्व विवेक, भेद धिक्कार, अद्वैत दीपिका, वैदिक सिद्धान्त संग्रह एवं तत्वबोधिनी की रचना की थी। इन ग्रन्थों की रचना करके नृसिंहाश्रम ने निश्चय ही दर्शन शास्त्र के लिए एक विलक्षण देन प्रदान की है।

नारायणाश्रम (१६वी शताब्दी)

---

१. प्रज्ञानानन्द, शेपशार्ङ्गधर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक, कृष्णानन्द एवं महेश्वतीर्थ आदि आचार्यो की उक्तियों से भी आनन्द गिरि का शांकर वेदान्त का अनुयायी होना सिद्ध होता है।

२. नृसिंहाश्रम का यह समय (वेदान्तांक कल्याण) के आधार पर किया गया है।

नारायणाश्रम नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। अपेन गुरु के भेद धिक्कार एवं अद्वैत दीपिका नामक ग्रन्थों के ऊपर नारायणाश्रम ने टीका ग्रन्थ लिखे हैं। भेद धिक्कार पर इनका टीका ग्रन्थ–भेद धिक्कार सत्क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थ पर भेद धिक्कार सत्क्रियोज्ज्वला नामक एक और टीका भी मिलती है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में द्वैत का निराकरण करके अद्वैत का प्रामाणिक विवेचन किया है।

रंगराजाध्वरी (१६वीं शताब्दी)

रंगराजाध्वरी वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पदीक्षित के पिता थे। इनकी महत्वपूर्ण कृतियां अद्वैत विद्या मुकुर एवं विवरण दर्पण हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने न्याय वैशेषिक एवं सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

अप्पयदीक्षित (१५५० ई० १६२२ ई०)

अप्पयदीक्षित ने व्याकरण, शास्त्र मीमांसा, अद्वैतवेदान्त मध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त, श्रीकण्ठमत एवं शैव मत आदि पर १०४ ग्रन्थों की रचना की हैं, वेदान्त के ग्रन्थों में परिमल, न्याय रक्षामणि, सिद्धान्त लेश, मतसारार्थसंग्रह एवं न्याय मंजरी इनकी प्रमुख कृतियां हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। इनका सिद्धान्त लेश तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के मत मतान्तरों के अध्ययन की दृष्टि से अनुपम ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित (१६वीं शताब्दी)

भट्टोजिदीक्षित एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे, परन्तु इन्होंने तत्वकौस्तुभ एवं वेदान्त तत्व विवेक की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का समर्थन किया था। इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित एक प्रशस्त वैयाकरण की ही तरह प्रशस्त वेदान्ती भी थे।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र (१६वीं शताब्दी)

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की कृतियाँ अद्वैत विद्या विलास, बोधार्थत्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका और ब्रह्म कीर्तन तरंगिणी आदि हैं। इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय भी अद्वैत वेदान्त ही है।

नीलकण्ठसूरि (१६वीं शताब्दी)

नीलकण्ठसूरि ने महाभारत पर भारतभावदीप नामक टीका ग्रन्थ की रचना की है। गीता की व्याख्या करते हुए इन्होंने, यद्यपि कहीं-कहीं शांकर सिद्धान्त का विरोध भी किया है, परन्तु इनका प्रमुख सिद्धान्त शांकर अद्वैत ही है।

सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती (१६वीं शताब्दी)

सदानन्द जी ने अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त सार की रचना की है। इस ग्रनी में विद्वान् लेखक ने अज्ञान, अध्यारोप, मोक्ष एवं पंचीकरण आदि के सम्वन्ध में आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में शांकर अद्वैत का ही संक्षेप में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वेदान्तसार के अतिरिक्त इनकी रचना शंकरदिग्विजय का भी उल्लेख मिलता है।

आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१६वीं शताब्दी)

आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने श्रीहर्ष खण्डनखण्डखद्य पर न्यायचन्द्रिका नामक टीका की रचना की थी। इस टीका के अन्तर्गत लेखक ने अद्वैत वेदान्त के गूढ सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

नृसिंह सरस्वती (१६वीं शताबदी का अन्तिम भाग)

नृसिंह सरस्वती वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका सुवोधिनी के प्रणेता है। इस टीका में लेखक ने अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

रामतीर्थ (१७वीं शताब्दी का पूर्व भाग)

रामतीर्थ ने संक्षेप शारीरक पर अन्वयार्थ प्रकाशिक, शंकराचार्य की उपदेश साहस्री पर पदयोजनिका और वेदान्तसार पर विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका ग्रन्थों में रामतीर्थ ने विशेषतया अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है।

आपदेव (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

आपदेव वैसे तो एक प्रसिद्ध मीमांसक थे, परन्तु इन्होंने वेदान्तसार पर बालबोधिनी नाम टीका की रचना करके अद्वैत मत का भी समर्थन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीमांसा के प्रौढ़ पण्डित होते हुए भी अद्वैत मत के समर्थक थे।

गोविदानन्द (१७वीं शताब्दी)

गोविन्दानन्द रचित, ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीका–रत्नप्रभा शांकर भाष्य की सरलतम टीका है। इस टीका के अन्तर्गत गोविन्दानन्द ने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का बड़ासरल एवं व्यवस्थित निरूपण किया है।

रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

रामानन्द सरस्वती गोविन्दानन्द के शिष्य थे। इन्होने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य सम्मत ब्रह्मामृतवर्षिणी नामक टीका की रचना की है। इस टीका की सरलता एवं स्पष्टता अनुकरणीय है। इसके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ विवरणोपन्यास है। यह ग्रन्थ पंचपादिका की विवरण टीका का व्याख्या रूप है। रामानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

काशमीरक सदानन्द यति (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के इस प्रतिष्ठित विद्वान् ने अद्वैतब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि अद्वैत मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक जीववाद का समर्थन किया गया है।

रंगनाथ (१७वीं शताब्दी)

रंगनाथ ने ब्रह्मसूत्र की शांकर भाष्यानुसारिणी वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तर्गत तेइसवें सूत्र के पश्चात् 'प्रकरणात्वात्' नामक एक नवीन सूत्र की

कल्पना की है। भामतीकार ने इसे भाष्य के अन्तर्गत माना है, किन्तु वैयासिक न्याय मालाकार भारतीतीर्थ ने इसे पृथक् सूत्र माना है। रंगनाथ जी ने शांकर अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है।

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ ने अपने अप्पय दीक्षित के सिद्धान्त लेश पर टीका लिखी है। सिद्धान्त लेश की यह टीका कृष्णालंकार अत्यनत सरल एवं सुबोध है। कृष्णालंकार के अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य के ऊपर वनमाला नामक टीका लिखी है। इन टीकारओं के अन्तर्गत इनके विवेचन का विषय प्रधानतया अद्वैत वेदान्त ही है। अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ निर्गुण के प्रतिपादक होने के साथ कृष्ण के भक्त भी थे।

महादेव सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

महादेव सरस्वती ने तत्वानुसन्धान नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ नाम की एक टीका भी लिखी है। इन्होंने अद्वैत वेदान्त को सहज एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास में यह फल भी हुए हैं।

सदाशिवेन्द्र सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

इनका दूसरा नाम ब्राह्मण था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर ब्रह्मतत्व प्रकाशिका नामक टीका लिखी है। यह टीका शांकर सिद्धान्तों के अनुसार ही लिखी गई है। इसके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और प्रकाशित हुए हैं। यह ग्रन्थ आत्म विद्या विलास, कविताकल्पवल्ली और अद्वैतरस मंजरी हैं। इनके ग्रन्थ सरल एवं सुबोध शैली में लिखे गये होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने द्वादश उपनिषदों की टीका भी लिखी है।

आयन्न दीक्षित (१८वीं शताब्दी)

आयन्न दीक्षित रचित व्यास तात्पर्य निर्णय नामक एक ग्रन्थ ही मिलता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने सांख्य, मीमांसा, पातंजल, न्याय वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णव मतों का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

१९वीं-२०वीं शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक

प्रायः अद्वैत वेदान्त के इतिहास लेखकों ने अष्टादश शताब्दी में ही अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास माना है।[1] मेरे विचार से अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास असम्भव है। हां, यह अवश्य सम्भव

---

१. आशुतोष शास्त्री, वेदान्त दर्शन—अद्वैतवाद, प्रथम खण्ड, पृ० ३८७, (बंगला संस्करण)।

है कि देश एवं काल की स्थिति के अनुसार अद्वैत विचारधारा भी नया प्रवाह ग्रहण कर ले। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोवाभावे आदि तत्व वेत्ताओं एवं दार्शनिकों ने परम्परागत अद्वैत दर्शन को ठीक उसी रूप में न ग्रहण करके उसे एक व्यावहारिक एवं नवीन रूप प्रदान किया है। इन दार्शनिकों की अद्वैतपरक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जायेगा। वैसे, बीसवीं शताब्दी के पंचानन तर्करत्न एवं अनन्त कृष्ण शास्त्री आदि विद्वानों ने अद्वैत परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना भी की है।

२०वीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखक

अभी हमने बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखकों में, महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री का नामोल्लेख किया है। इसमें से पंचानन तर्क रत्न शांकर अद्वैतवाद के पूर्णतया समर्थक न होकर शाक्त्य द्वैतवाद के समर्थक हैं। शक्त्यद्वैतवाद का प्रतिपादन तर्करत्न जी ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत किया है। शक्तिसिद्धान्तपरक ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना करके तर्करत्न जी ने अपनी विलक्षण मौलिकता का परिचय दिया है। तर्क रत्न जी के अनुसार शक्ति ही अद्वैत तत्व है एवं चित् तथा अचित् जगत् में शक्ति ही व्याप्त है। इस प्रकार शक्ति ब्रह्म का स्वरूप है। तर्क रत्न जी द्वारा प्रतिपादित शक्त्यद्वैतवाद का सिद्धान्त ही स्वरूपाद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

जहां तक अनन्त कृष्ण शास्त्री की मौलिक अद्वैत दर्शन सम्बन्धी देन का प्रश्न है, शास्त्री जी पूर्णतया शांकर अद्वैत के ही समर्थक एवं व्याख्याता हैं। अनन्त कृष्ण शास्त्री जी ने अद्वैत वेदान्त के समर्थन एवं प्रतिपादन के लिए शतभूषणी की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अद्वैत तत्व शुद्धि और अद्वैत तत्वसुधा की रचना करके अद्वैत वेदान्त का जो विश्लेषण किया है, वह बेजोड़ है। इसके अतिरिक्त श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती (ज्योर्तिमठ) श्री भारती कृष्ण तीर्थ (गौवर्धनमठ) श्री अभिनवसच्चिदानन्द तीर्थ (शारदामठ) एवं श्री कृष्णबोधाश्रम जी (ज्योर्तिमठ) आदिं शंकराचार्यों एवं श्री कारपात्री जी आदि दण्डी स्वामियों द्वारा भी परम्परागत शास्त्रीय अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन एवं प्रचार-प्रसार किया गया है और किया जा रहा है।

१६वी २०वीं शताब्दी के नवीन परम्परा के कतिपय अद्वैती दार्शनिक एवं तत्त्ववेत्ताः

१६वीं एवं २० शताब्दी बौद्धिक तर्कनाओं एवं जीवन दर्शन का युग है। इसीलिए इस काल में सामान्यतया उत्तरोत्तर अध्यात्म दर्शन को महत्व न देकर जीव दर्शन का ही अधिक महत्व स्वीकार किया गया है। अतः इस युग में ऐसे दार्शनिकों की अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है जो अध्यात्म दर्शन एवं जीव दर्शन का समन्वयात्मक निरूपण कर सकें। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में यही कार्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोवा भावे द्वारा सम्पन्न हुआ है और हो रहा है। यद्यपि इन दार्शनिकों की विचारदृष्टियों के पृष्ठाधाररूप अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जीव दर्शन एवं व्यावहारिक दर्शन के तत्व निश्चित रूप से मिलते हैं, परन्तु उपर्युक्त दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के आत्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वय तथा विकास नवीन प्रकास एवं नवीन तर्कों के आधार पर किया है। अतः इन दार्शनिकों के अद्वैतवादी होने पर भी इनके अद्वैतवाद का स्वरूप शांकर अद्वैतवाद से कुछ भिन्न हो गया

है। यहाँ इन दार्शनिकों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जाएगा।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१६वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी रामकृष्ण परमहंस सर्वधर्मसमन्वय कर्त्ता थे। इसीलिए उनके हृदय में ज्ञानी, भक्त, निर्गुणोपासक, सगुणोपासक, प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं एवं आज के नवीन ज्ञाताओं के लिए समान आदर भाव था।[१] काली के भक्त होते हुए भी स्वामी जी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते थे। उनका विचार था कि माँ काली की कृपा से जीव असीम आत्मा एवं ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है।[२] अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे। जिस प्रकार कि शांकर वेदान्त के अनुसार ईश्वर माया से अस्पृष्ट एवं अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार स्वामी जी के मतानुसार भी ईश्वर कभी मायावद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि जैसे सर्प जिसको काटता है, वह मर जाता है, सांप के मुँह में सर्वथा विष रहता है, सांप उसी मुँह से सदा खाता तथा निगलता रहता है किन्तु वह स्वयं मरता नहीं हैं, इसी प्रकार माया भी दूसरों के लिए है न कि ईश्वर के लिए।[३]

रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अद्वैत भाव में सुप्रतिष्ठित होना ही समस्त साधनों का चरम लक्ष्य है। यही मुक्ति का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त लोक सेवा के तत्व को भी स्वामी जी अद्वैत भाव का ही रूप मानते थे।

स्वामी विवेकानन्द (१६-२० वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण परमहंस के ही शिष्य थे। इन्होंने स्वामी रामकृष्ण के ही विचारों का विशेष रूप से प्रचार किया था। विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन को एक लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया था। व्यावहारिक वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत विवेकानन्द का विचार था कि शान्त एवं निश्चल चिन्तन की अपेक्षा मानव सेवा प्रशस्त है।[४] जहाँ तक विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन की समस्या है, वे

---

१. Greeting to the feelt of the Jnanin ! Greeting to the feet of the Bhakta ! Greeting to the devout who believe in the formless God ! Greeting to those who believe in God with form ! Greeing to the men of old who knew Brahman ! Greeting to the modern knowers of truth. (Ramkrishna, October 28, *Romain Rolland* : The Life of Ramkrishna, p. 1 से उद्धृत)।

२. By her grace the finite ego loses itself in the illimitable Ego–Atman–Brahman, (*Romain Rollland* : The Life of Ramkrishna p. 32.)

३. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८०, ३८१।
(श्रीरामकृष्ण आश्रम घन्तोली, नागपुर)

४. *D.M. Dutta* : Contemporary Philosophy, p. 526.
(The University of Calcutta, 1950).

स्वयं यह जानते थे कि वे कोई नई बात नहीं कर रहे हैं।[1] इसके अतिरिक्त वे स्वयं को शंकर (शंकराचार्य) भी कहते थे।[2] इससे यह निश्चय करना अत्यंत सरल है कि वे शांकर दर्शन के कितने समीप थे।

शांकर अद्वैतवादी की ही तरह विवेकानन्द भी एक अद्वैत तत्व की सत्ता में विश्वास करते थे। इसीलिए विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं है। इसी आधार पर वे मनुष्यों द्वारा पशुओं के भोजन का भी निराकरण करते थे।[3] शांकर वेदान्त के ही समान विवेकानन्द द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्व भी ब्रह्म ही है। विवेकानन्द विचारानुसार एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है।[4] जगत् की अनेकरूपता के विषय में विवेकानन्द का विचार है कि नाम एवं रूप की सहायता से अज्ञान द्वारा सृष्ट जगत् में ही पत्नी, बालक शरीर एवं मन के भेद दिखाई पड़ते है। जब नामरूपात्मक उक्त अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो अनन्त एवं असीम ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार होता है।[5] जगत् की भ्रान्ति एवं परम सत्य के बोध के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने प्रसिद्ध रज्जु एवं सर्प का दृष्टान्त भी दिया है।[6] इस प्रकार स्वामी जी जगत् को अध्यारोप भी मानते है।[7] माया को स्वामी विवेकानन्द सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। परन्तु माया को विवेकानन्द जगत् की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं मानते।[8] स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार माया कोई सिद्धान्त

---

१. And Vivekanand, though more intellectual and therefore more conscious of his doctrine, knew and maintained that there was nothing new in it. *Romai Rolland* : The Life of Vivekanand and The Universal Gospel, p. 189. (Advaita Ashram Mayavati, Almora)

२. The Life of Vivekanand and The Universal Gospel, p. 189.

३. That the one central ideal of Vedanta is oneness. There are no two in any thing, no two lives, nor even two different kinds of life for the two worlds... The Vedanta entirely denies such ideas as that animals are separate from man, and that they were made and created by God to be used for our food. (The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol. II, p. 295)-Advaita Ashram, Calcutta.

४. Brahman is one, but is at the same appearing to us as may, on the relative plane. (Vivekanand's conversation with a disciple at Belur Math, 1898)-The Complete works of Swami Vivekand Vol. VII-Advaita Ashram, Almora, 1947.

५. As soon as this nescience is removed, the realisation of Brahman which eternally exists is the result. -वही, पृ० २६१।

६. Complete works of Swami Vivekanand, Vol. VII, p. 32.

७. वही, भाग ७, पृ० १६४।

८. "It is not" said Vivekanandin a theory for the explanation of the world. *Romain Rolland* : The Life of Vivekanand & the Universal Gospel. p. 197.

विशेष न होकर जगत् की स्थिति मात्र की बोधक है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द माया का मिथ्या अर्थ भी नहीं ग्रहण करते।[१] जगत् को स्वामी विवेकानन्द परमार्थ सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। परन्तु वे जगत् को पूर्णतया असत् भी नहीं कहते। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद एवं विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद प्रायः समान ही है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। अद्वैत वेदान्त को व्यावहारिक दर्शन का रूप देकर स्वामी विवेकानन्द ने मानसेवा एवं विश्व बन्धुत्व के भाव को उन्नत किया है। दर्शन की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है–

If is is absolutely impracticable, no theory is of any value whatever, except as intellectual gymnastics.[2]

अर्थात् व्यावहारिकता के अभाव में किसी सिद्धान्त का कुछ महत्व नहीं है। विवेकानन्द का कथन है कि व्यावहारिकता के आभाव में तो कोई भी सिद्धान्त केवल बौद्धिक व्यायाम मात्र ही है।[३]

स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक दर्शन का यह प्रवल पक्ष था कि वे साध्य की ही तरह साधन को भी विशेष महत्त्व देते थे। उनका विचार था कि साधन का महत्व समझने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है।[४]

अरविन्द (१६वीं २०वीं शताव्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

भारतवर्ष के आधुनिक काल के दार्शनिकों में अरविन्द घोष एक योगी एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। हम यहाँ उनकी चर्चा एक अद्वैतवादी के रूप में कर रहे है। अद्वैतवादी तो वे थे, परन्तु उनका अद्वैतवाद ब्रह्मादैतवाद से भिन्न है। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धानत को शिवाद्वैतवाद का रूप देना समुचित होगा। अरविन्द के शिवाद्वैत दर्शन के अनुरूप शिव तत्व ब्रह्म रूप है और उसकी चित् शक्ति अपृथक् भूता है। जगत् शिव की चित् शक्ति का ही परिणाम है। इसीलिए अरविन्द दर्शन में भी जगत् भी शिव रूप है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अरविन्द दर्शन के अनुसार जगत् अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। अरविन्द घोष ने जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है–

I do not agree with the view that the world is an illusion mithya.[५]

---

१. Complete works of Swami Vivekanand, Vol. II, p. 105.
२. वही, पृ० २८६।
३. वही।
४. देखिए, स्वामी विवेकानन्द का Los Angeles, California, January 4, 1900 का भाषण।
५. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3, Sri Aurobindo Circle, Bombay.

अरविन्द घोष जगत् को चित् शक्ति का कार्य मानने के कारण, चेतन रूप भी मानते थे।[१] यही सिद्धान्त अरविन्द घोष का जड-चेतनवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं को हम जड कहते हैं वे भी स्वरूपतः चेतन ही हैं। इस प्रकार जगत् के भौतिक पदार्थों को भी अरविन्द चेतनता का ही गुण मानते थे।[२] अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत जगत् की इस चिद्रूपता का दर्शन जीव को अज्ञान के कारण नहीं होता। अरविन्द घोष का विचार है कि अज्ञान ही जगत् के ब्रह्म रूप से दर्शन करने में बाधक है।[३] वस्तुतः ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र वर्तमान है। अतः जगत् के मिथ्यात्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरविनद घोष, शांकर अद्वैतवादियों के समान जगत् को मायिक एवं मिथ्या नहीं स्वीकार करते थे। जगत् को वे मिथ्या माया न कहकर, अज्ञानस्वरूपिणी माया को जगत् के वास्तविक स्वरूप ज्ञान में बाधक मानते थे।[४] जगत् की समस्या को सुलझने के लिए अरविन्द घोष 'माया' शब्द के स्थान पर 'लीला' शब्द को अधिक उपयोगी मानते थे। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि परमात्मा की लीलामात्र है। परमात्मा की लीलारूप सृष्टि को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर अरविन्द दर्शन पर शाक्त दर्शन का साक्षात् प्रभाव कहना अनुचित न होगा। अरविन्द दर्शन के समान ही शक्त्यद्वैतवाद मत में भी जगत् चित् शक्ति का परिणाम होने के कारण, चित् रूप एवं सत्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति एवं शक्तिमान् का अविनाभाव भी शाक्त दर्शन एवं अरविन्द दर्शन में समान ही है। इस प्रकार शाक्त साधना के दार्शनिक पक्ष एवं अरविन्द घोष के दार्शनिक सिद्धान्त में पर्याप्त समानता है। अरविन्द घोष के ही निम्नलिखित कथन से, उन पर पड़े शाक्त दर्शन के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है–

I am a Tantrik, I regard the world as born of Ananda (bliss) and living by Ananda, wheeling from Ananda to Ananda. Ananda and Shakti, these are the two real terms of existence.[५]

अरविन्द घोष के उपर्युक्त कथन से उनका तान्त्रिक होना तो स्पष्ट ही है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत्, आनन्द से ही उत्पन्न से ही जीवित एवं आनन्द के ही क्षेत्र में घूमता रहता है। इस प्रंकार अरविन्द घोष के अनुसार जगत् की सत्ता आनन्द एवं शक्ति रूप है।

आचार्य विनोबा भावे (१८९५ ई०–) और उनका दर्शन

विनोबाजी का दार्शनिक सिद्धान्त सर्वोदय दर्शन है। सर्वोदय षबद के ही अन्तर्गत विनोबाजी की अद्वैतनिष्ठा का परिचय मिल जाता है। विनोबाजी पर औपनि... वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव है।

---

१. *P.T. Raju* : Idealistic Thought of India, p. 301. London, Allen & Unwin, 1952.
२. The Yoga & its object, p. 57.
३. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3.
४. The Yoga & its Object, p. 57.
५. Yogic Sadhan, p. 83.

विनोवाजी पर पड़े, गीता एवं उपनिषदों के प्रभाव का परिज्ञान, उनके निम्नोद्धृत कथन से पूर्णतया हो जाता है:

'मेरे जीव में गीता ने माँ का स्थान लिया है । वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूं कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है।"[१]

उपर्युक्त कथन के अनुरूप विनोवाजी पर वेदान्त विद्या के आधारग्रन्थ–गीता एवं उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसके साथ-साथ यह कह देना और न्याय संगत होगा कि उपनिषदों के ब्रह्म एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन विनोवाजी ने अपने स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर किया है।

कहना न होगा, कि विनोवाजी ने अद्वैत दर्शन को पूर्ण रूप से व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयत्न करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवादी की तरह विनोवाजी भी ब्रह्म सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। विनोवाजी ने ब्रह्म शब्द का अर्थ–विशाल एवं व्यापक किया है।[२]

अद्वैत वेदान्त की ब्रह्मरूपता को स्पष्ट करते हुए विनोवाजी का कथन है कि संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्म होना ही मनुष्य का ध्येय है। इस प्रकार विनोबाजी के अनुसार व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का नाम ही ब्रह्म निर्वाण है।[३] गीतादर्शन के आधार पर विचोबाजी का मत है कि वस्तुतः जीव ब्रह्म रूप है, परन्तु देह के पर्दे के कारण वह अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव नहीं करता। विनोवाजी के मतानुसार देहं साधन तो है, परन्तु साध्य नहीं।[४] विनोवाजी जीवन्मुक्ति के पक्षपाती हैं। उन्हाने जीवन्मुक्ति के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है: मेरा तो ख्याल है कि मनुष्य इसी जीव म ब्रह्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार कर सकता है।'[५] परन्तु एक दूसरे स्थल पर विनोबाजी ने यह भी कहा है कि इस जीवन में जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करना सम्भव तो है, किन्तु शरीर रहते हुए उसकी पूर्णता होना कठिन है। विनोबाजी का विचार है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होते ही शरीर छूट जाना चाहिए।[६]

ब्रह्म लोक से विनोबाजी का आशय साम्यावस्था से है। समत्व की स्थिति प्राप्त करना ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इस साम्य दर्शन को विनोबाजी ने अपने साम्यसूत्र के अन्तर्गत विशद रूप से स्पष्ट किया है।[७] साम्ययोग सिद्धान्त के अन्तर्गत विनोबाजी का विचार है कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा स्थित है। अतः मनुष्य–मनुष्य में भेद नहीं है। यहीं तक नहीं, विनोबाजी का कथन है कि मनुष्य और दूसरे पशुओं में भी आत्मिक दृष्टि से भेद नहीं है।[८]

---

१. विनोबा : उपनिषदों का अध्ययन, प्रस्तावना (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १६६१)।
२. विनोबा : स्थितप्रज्ञ दर्शन, पृष्ठ १६५, (सस्ता साहित्य मण्डल, १६५६)।
३. वही, पृष्ठ १६५।
४. विनोबा, गीता प्रवचन, पृष्ठ १७३, (हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित, सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी)।
५. विनोबा संवाद : व्यीहार राजेन्द्र सिंह, पृष्ठ १५, (अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ, राजघाट काशी, १६५७)।
६. व्यौहार राजेन्द्र सिंह : विनोबा-संवाद, पृष्ठ ३२।
७. साम्य सूत्र (विनोबा लिखित)।
८. Samya Yoga holds that therein dwells in every man the same Spirit. It, therefore makes no distinction between man and man. It even goes

विनोवाजी का उक्त विचार ही उनका अद्वैतवादी विचार कहा जा सकता है। साम्ययोग के अन्तर्गत विनोवाजी ने आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में साम्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। इसी साम्ययोग के आधार पर विनोवाजी ने समस्त संसार को अद्वैत रूप बनाने का संकल्प किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विनोवाजी की अद्वैतवादिता पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाती है। विनोवाजी का सर्वोदय दर्शन भी उनकी अद्वैतनिष्ठा का ही परिणाम है। सर्वोदय दर्शन का मूलाधार 'सर्वेऽपिसुखिनः सन्तु' का भाव है। दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय के आशय को प्रकट करते हुए कहा है–

'एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्‌देश्य है'[2]

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्दघोष एवं आचार्य विनोबा भावे के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१-१६४१) एवं महात्मा गाँधी (१८६६-१६४८) आदि विचारकों पर भी औपनिषद वेदान्त एवं अद्वैतवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव तो मिलता ही है, साथ ही इन विचारकों के सिद्धान्तों में अद्वैत विचारधारा की व्यवस्थ भी मिलती है। आज भी महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि विद्वान् अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में जो कार्य कर रहे हैं, वह स्तुत्य है।

आधुनिक युग समालोचना का युग है। इसीलिए इस युग में अद्वैत वेदान्त से सम्बधित मौलिक ग्रन्थों के स्थान पर समालोचनात्मक ग्रन्थ ही अधिक लिखे जा रहे हैं। हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में आज अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित समालोचना का सर्जन हो रहा है। अद्वैत वेदान्त के मौलिक प्रतिपादन की दृष्टि से बंगला भाषा में उपलब्ध अद्वैत वेदान्त के साहित्य की देन अत्यन्त श्लाघ्य है।

जहाँ तक, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई अद्वैत वेदान्त की समालोचना की बात है, १६वीं[3] शताब्दी के कोलब्रुक, विल्सन, चार्ल्स विल्किन्स, रोअर, कावेल, बोथ लिंक, मैक्समूलर, डायसन, वेवर, थीबो, जैकब, गफ, वेनिस एवं विलियम जोन्स द्वारा अद्वैत वेदान्त की महत्त्वपूर्ण समालोचनायें प्रस्तुत की गई हैं।

यदि हम निष्पक्ष भाव से कहें तो यह कथन उचित ही होगा कि अद्वैत वेदान्त पर उपलब्ध भारतीय आलोचनात्मक देन की अपेक्षा उपर्युक्त विद्वानों की देन किसी प्रकार कम नहीं है। हमें, यह स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अद्वैत वेदान्त ही नहीं, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के भारतीय समालोचकों ने पाश्चात्य समालोचकों की समालोचना प्रणाली से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

---

further & recognizes no ultimate difference in spirit of man and other animals." (Post-Prayer Speech of Vinobaji in Bihar)–quoted from Vinoba and his mission, *Suresh Ram Bhai*, p. 208.

१. देखिए–विनोबा जी का लेख–हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है। 'भूदान यज्ञ' (साप्ताहिक) १६ मार्च, १६६५।

२. दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन, पृष्ठ २३।
(अखिल भारत सर्व सेवा संघ, राजघाट, काशी–१६५७ ई०)
तथा देखिए–*Dr. V.N. Tandon* : The Social & Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji, Introduction.

३. पाश्चात्य विद्वानों का यह समय आशुतोष शास्त्री के वेदान्त दर्शन अद्वैतवाद नामक ग्रन्थ के आधार पर दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (पूर्वार्द्ध)

ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण रूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन विस्तार से मिलता है। मूल सत्य के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन तो संहिताओं से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों में आकर तो निर्गुण एवं सगुण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उपनिषद्परवर्तीकाल के प्रसिद्ध अद्वैती आचार्य गौडपादाचार्य ने भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विचार दृष्टि अपनी कारिकाओं में स्पष्ट की है। अद्वैत वेदान्त के सम्राट शंकराचार्य ने तो अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निगुर्ण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। यहाँ पहले ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन किया जाएगा। इसके पश्चात् निर्गुण एवं सगुण के समन्वय पर विचार किया जाएगा।

ब्रह्म का निर्गुण रूप–ऋग्वेद की हंसवती ऋचा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित एवं उपाधि रहित निर्गुण परमात्म तत्व का वर्णन हंस के रूप में किया गया है।[१] कठोपनिषद् में परब्रह्म को शब्द, रूप, रस तथा गन्ध से रहित एवं अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परातपर और ध्रुव कहा है।[२] गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृत्- विभात तथा सर्वज्ञ कहकर किया है।[३] यहाँ शंकराचार्य ने सर्वज्ञ का अर्थ सब कुछ जानने वाला न करके 'वह ब्रह्म पूर्णतया ज्ञान रूप है' ऐसा किया है–सर्वंच तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्।[४] शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैत वेदान्त का सर्वोच्च सत्य माना है। शंकराचार्य की दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का यही तात्पर्य है कि वह देशकालादि के बन्धन से मुक्त है।[५] शंकराचार्य ने ब्रह्म को वाङ्मनसातीत कहा है, परन्तु फिर भी वह अभाव रूप नहीं है।[६] सत् तत्व होने के कारण ही ब्रह्म बौद्धों के शून्य से भी भिन्न है। साथ ही निर्गुण ब्रह्म कारण रूप भी नहीं कहा जा सकता।[७] ब्रह्म की कारणता स्वीकार करने पर उसका देश कालादि से सम्बन्धं भी स्थापित करना पड़ेगा, जो अनुचित है। ब्रह्म त्रिगुणत्मिका प्रकृति अथवा माया से अविशिष्ट

---

१. ऋग्वेद ४।४।०।५।
२. कठ० उ० १।३।१५।
३. गौ० का० ३।३६।
४. शा० भा०, गौ० का० ३।३६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
६. वही, ३।२।२२।
७. वही, ३।३।३६।

होने के कारण ही निर्गुण है। शांकर वेदान्त के अनुसार यही निर्गुण ब्रह्म का मूल स्वरूप है।

ब्रह्म का सगुण रूप--ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अन्तर्गत सहस्र शिर वाले, अनन्त चक्षुधारी तथा अनन्त चरणों वाले जिस विराट् पुरुष का वर्णन मिलता है, वह परमात्मा के संगुण रूप का ही वर्णन है। इसी स्थल पर पुरुष का वर्णन स्रष्टा के रूप में भी मिलता है।[१] मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला बतलाते हुए, जगत् के नाम, रूप और अन्नादि का स्रष्टा कहा है।[२] यह ब्रह्म के सगुण रूप का ही संकेत है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को स्रष्टा,[३] लोकरक्षक,[४] और नियन्ता[५] कहकर उसके सगुण रूप की ही वर्णना की गई है। आचार्य गौडपाद ने जहाँ पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है,[६] वहाँ उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से परमात्मा की सगुणता का ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का स्पष्टीकरण सौविध्य दृष्टि से ब्रह्म के पर एवं अपर रूप के भेदनिरूपण द्वारा किया है। शंकराचार्य का विचार है कि जहाँ अविद्याप्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त उपासना के लिए जब नाम-रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो वही अपरब्रह्म कहलाता है।[७] उदाहरण के लिए, छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को मनोमय, प्राण शरीर वाला तथा प्रकाश रूप कहना ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूपों का वर्णन मिलता है। निर्गुण एवं सगुण के समन्वय के विना, इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक विरोधप्रतीत के कारण अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन असम्भव है। अतः यहाँ निर्गुण एवं सगुण का समन्वय करना अत्यन्त अपेक्षित है।

निर्गुण एवं सगुण का समन्वय

साधारण दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विवेचना ब्रह्म की अद्वैत सत्यता में वाधक-सी प्रतीत होती है। ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका पश्चिमी विद्वान् डायसन को भी हुई थी।[८] इसीलिए शंकराचार्य ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के विरोध के समाधान के लिए समन्वयमूलक दर्शन की स्थापना की थी। शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को वतलाया है।[९] वस्तुतः ब्रह्म का कर्तृव्य एवं स्रष्ट्रत्व आदि से सम्पन्न सगुण रूप अविद्या पर आधारित

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।९०।१,५।
२. मुण्डकोपनिषद् १।१।९।
३. तै० उ० ३।१।
४. बृ० उ० ४।४।२२।
५. वही, ३।७।३।
६. गौ० का० १।६।
७. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
८. D.S.V., pp. 102-3.
९. शा० भा०, छा० उ० ८।१।२०, ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२०, २४, ३१, १।२।११, १४, ३।२।१२, ३३।

है। इस सम्बन्ध में रत्नप्रभाकार ने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म अविद्या का विषय है[१]। अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्रष्टा, नियन्ता आदि विशेषण देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं, क्योंकि जब साधक को आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है तो उसे जगत् के स्रष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नीहं होता। तत्त्वज्ञान होने पर समस्त द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। अतः जब ज्ञानी की द्वैत बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है तो संसार की सृष्टि आदि के कर्ता सगुण परमात्मा के स्वरूप-विवेचन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सगुण ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्याकालिक ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सगुण ब्रह्म पारमार्थिक न होते हुए भी शंकराचार्य के मतानुसार उपासना दृष्टि से उपादेय है। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता और तब यह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[२] शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि उपासनाओं का एक मात्र फल उपास्य-परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही है। आचार्य का कथन है कि एक ही उपासना से उपास्य का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनाएं निरर्थक ही कही जाएंगी।[३] जहाँ तक कर्तृव्य, स्रष्ट्रत्व आदि विशेषताओं से सम्पन्न सगुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की बात है, एकहार्ट,[४] प्लोटिनस[५] और ब्रेडले[६] आदि पश्चिमी दार्शनिक विद्वानों ने भी सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उपलब्धि मानी है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म में मूलतया भेद न होते हुए भी उपासना की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपासना के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की स्थापना का उद्देश्य ब्रह्मसम्बन्धी विचारों को दूसरों तक पहुँचना भी हो सकता है।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्यावहारिकता

जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त की एक अद्भूत प्रहेलिका है। अद्वैत वेदान्त द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है कि वह कालानुसार जगत् के लौकिक व्यवहारों एवे परमार्थसत्तागत ब्रह्मानुभूति, इन दोनों का ही समर्थन करता है। पश्चिमी विद्वान् वर्कले भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता के पूर्णतया समर्थक हैं।[७] अतः यदि देखा जाए तो अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् का सत्यत्व एवं मिथ्यात्व काल की दृष्टि से ही विचार्य है। जगत् की सत्ता इसलिए असत् कही जाती है कि वह त्रिकाल में नहीं रहता। वस्तुतः ब्रह्मात्मा का ज्ञान

---

१. विद्याविवषयो ज्ञेयम् निर्गुणं सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यम् सगुणकल्पितम्।
—रत्नप्रभा, ब्र० सू० १।१।१२।

२. D.S.V. p. 103.

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।३।५६।

४. Hunt's essay on Pantheism, p. 179.

५. *Enneads* : Mckenna's English Translation, Vol. II, p. 135.

६. Appearence and Reality, p. 159.

७. Principles of Human Knowledge, p. 34.

होने के पहले ही जगत् के व्यवहारों की सत्यता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जाग्रत् अवस्था से पूर्व स्वप्न दशा के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं।[1] परमार्थावस्था में तो जगद् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त सृष्टि के पूर्व काल में भी एक मूल सत्य–ब्रह्म की ही सत्ता थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि जगत् की सत्त त्रैकालिक नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को असत् कहा जाता है। अब हम इस विषय के दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं। इस दूसरे पक्ष के अनुसार जगत् 'सत्' है। सत् इसलिए है कि प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान जगत् को शशशृंग अथवा आकाश कुसुम के समान असत् नहीं कहा जा सकता। उक्त तर्कों के आधार पर अद्वैत वेदान्त का अध्येता इस परिणाम पर पहुँचता है कि नामरूपात्मक जगत् न पूर्णतया सत् है और न पूर्णतया असत्। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जगत् एक दृष्टि से तो सत् है और दूसरी दृष्टि से असत्। इस प्रकार जगत् की सत्ता न पूर्णतया असत् है और न सत्। सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही जगत् की सत्ता को वेदान्तियों ने अनिवर्चनीय कहा है। शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यही दृष्टिकोण है।

जगत् की अभावरूपता का निराकरण

ऊपर हमने शंकराचार्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि परमार्थावस्था में जगत् के समस्त व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा चुका है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् असत् है। यही यहाँ विवेच्य है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् के असत् सिद्ध होने पर भी यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि परमार्थ सत्त–ब्रह्म बोध की स्थिति में जगत् का भी लोप हो जाता है। यदि ब्रह्मात्मता की स्थिति में जगत् का लोप हो जाया करता तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती।[3] परन्तु ऐसा नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपंच एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। अतः शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।[4] भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते अपितु भेद का निराकरण करते हैं।[5] भामतीकार के मत के समर्थन में ही रत्नप्रभाकार का भी कथन है कि ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्ध करता है न कि ऐक्य।[6] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त

---

१. सर्वव्यवहारणामेवप्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः।
स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रवोधात्।–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४

२. एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहारभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।–वही० २।१।१४।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२१

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

५. नखल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम–भामती २।१।१४।

६. कारणात् पृथक् सत्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यम्।–रत्नप्रभा, ब० सू० २।१।१४।

जगत् की सत्ता का ही निराकरण किया है। अतः जगन्मिथ्यात्व का उद्देश्य भौतिक जगत् का अभाव सिद्ध करना भारी भूल कही जाएगी।

जहाँ तक अद्वैततत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्त प्राणी के व्यवहार का प्रश्न है, उसके लिए क्रियाकारक और तन्‌फलस्वरूप समस्त व्यवहार नष्ट हो जाते हैं।[१] जीवन्मुक्त प्राणी तो इस लोक में जडवत् विचरण करता है और प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा होने पर विदेहमुक्ति लाभ करता है। इस विषय का विशेष प्रतिपादन पांचवें अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

अभ्यास के आधार पर जगत् के मिथ्यात्त्व का प्रतिपादन

अभ्यास अविद्या का ही दूसरा नाम है। शंकराचार्य ने अभ्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' कह कर ही दी है।[२] इस परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में उस अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है। शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प और नामरूप से रहित आत्मा में प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का भान होना अध्यास ही है। इस अध्यास का मूल जीव का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प आतमा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है।

यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि अद्वैत वेदान्त का उद्देश्य भौतिक जगत् का निराकरण न होकर जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई द्वैतबुद्धि का निराकरण है। अध्यास ही द्वैत बुद्धि का जनक है। अध्यास के ही कारण आत्मा में बाध्य धर्मों का आरोप होता है। उदाहरण के लिए, पुत्र एवं प्रिया आदि के अपूर्ण तथा पूर्ण होने पर 'मैं ही अपूर्ण तथा पूर्ण हूं' इस प्रकार का अनुभव अध्यास के कारण ही होता है। इसी प्रकार आत्मा में उत्पन्न हुए देहाध्यास के कारण पुरुष को अपने में स्थूलत्व, कृशत्व, गौरतव आदि का अनुभव होता है।[३] वस्तुतः कूटस्थ, अचल एवं सनातन आत्मा स्थूलत्व, गौरत्वादि विशेषताओं से विशिष्ट नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में द्वैतमूलक जगत् की जो नामरूपात्मक सत्यता प्रतीत होती है, वह अध्यास मात्र होने के कारण मिथ्या है।

अध्यासवाद के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण अधिष्ठान के विना असम्भव है। क्योंकि मृग तृष्णिका जैसी असत् वस्तुएँ भी किसी आधार पर ही कल्पित की जाती है।[४] इसीलिए शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्मरूप में ही जगत् को अध्यस्त कहा गया है। इस सम्बन्ध में शंकराचाय्र का स्पष्ट कथन है कि वन्ध्या स्त्री को सत्य अथवा मिथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जा सकता।[५] अतः अध्यास की कल्पना अधिष्ठान के विना नहीं की जा सकती। अधिष्ठानवाद का विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैती आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्किोणों के आधार पर किया है। वाचस्पति मिश्र अज्ञान का आश्रय जीव एवं विषय ब्रह्म मानते हैं।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०

२. ब्र. सू०, शा० भा० उपोद्घात।

३. तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलोवेति ब्राह्यधर्मानातमन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान्-स्थूलोऽहं, कृष्णोऽहं, गोरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

४. शा० भा०, गीता १३।१४।

५. गौ० का०, शा० भा० ३।२८, १।६।

भामतीकार का विचार है कि अज्ञान के कारण ही ब्रह्म में अनेक प्रकार के अनात्म विषयों का आरोप होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के मतानुसार प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का मूल कारण जीवाश्रया अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जगत् भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ख्यातिवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर होती है, जिसका अर्थ दर्शन की परिधि में ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान ख्याति है। उक्त शुक्ति आदि में हुए रजतादि ज्ञान का समीक्षण विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने पृथक्-पृथक् रीति से किया है। ख्याति के सम्बन्ध में प्राप्त नीचे उद्धृत श्लोक में पांच ख्याति सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकेत मिलता है–

आत्मख्याति रसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपंचकम् ।।

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति–इन पांच ख्यातियों के अतिरिक्त सत् ख्याति का विवेचन भी वेदान्त के मूल[1] एवं समालोचनात्मक[2] ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार ख्याति के सम्बन्ध में निम्नलिखिंत छः सिद्धान्त मिलते हैं–(१) आत्मख्यातिवाद (२) असत्ख्यातिवाद (३) अन्यथा ख्यातिवाद (४) अख्यातिवाद (५) सत्ख्यातिवाद, तथा (६) अनिर्वचनीय ख्यातिवाद।

यहाँ उपर्युक्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण करना अनिर्वचनीयख्यातिवाद के सही मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होगा।

आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त

आत्मख्यातिवाद के प्रवर्तक विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में हुए रजत ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत, मानता है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई बाह्य विषय न होकर चित्त ही है।[3] इस प्रकार आत्मख्यातिवादी की दृष्टि में रजतादि असत् न होकर चित्तगत हैं।

असत् ख्यातिवाद का सिद्धान्त

असत्ख्यातिवाद का प्रतिपादन शून्यवादी बौद्ध ने किया है। शून्यवादी बौद्ध शुक्ति आदि में रजत आदि के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। उनके अनुसार अधिष्ठान रूप शुक्ति में रजत के असत् होने के कारण, रजत शुक्ति में विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है।[4]

---

१. श्रीभाष्य, श्रुतिप्रकाशिका १।१।१।
२. शंकर चैतन्य भारती, ख्यातिवादः (सरस्वती भवन टैक्स्ट्स)।
तथा देखिए–The Doctrine of Maya, p. 11.
३. विवरण प्रमेय संग्रह, *Hiriyanna* : Introduction to Istasiddhi.
४. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धान्त

अन्यथाख्यातिवाद सिद्धान्त का प्रतिपादनकर्ता नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के ही कारण शुक्ति का रजत रूप सं अन्यथा ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत में सम्वन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार भ्रम से दूरस्थ रजत का सम्वन्ध पुरोवर्ती 'इदम्' से होने के कारण ही शुक्ति में रजत का अन्यथा ज्ञान होता है।

अख्यातिवाद का सिद्धान्त

अख्यातिवाद का समर्थक प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करता। अख्यातिवादी का विचार है कि द्रष्टा को शक्ति को देखकर जव यह ज्ञान होता है कि 'इदम् रजतम्' (यह रजत है) तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' (यह) का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। 'इदम्' सम्वन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त संस्कार जन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्वन्धी ज्ञान) स्मृति मात्र है। अख्यातिवादी का तर्क है कि पुरोवर्ती–'इदम्' (यह) रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति, इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। इसी सिद्धान्त को भेदाग्रह भी कहते हैं।[1]

सत् ख्यातिवाद का सिद्धान्त

विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के प्रस्थापक रामानुजाचार्य सत्ख्यातिवाद के अनुयायी हैं। सत्ख्यातिवादी शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को मिथ्या न मानकर सत् ही मानते हैं। सत्ख्यातिवाद सिद्धान्त का आधार 'सर्व सर्वात्मकम्' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का सात्विक अंश वर्तमान रहता है। इसीलिए रज्जु आदि में सर्पादि का ज्ञान सत् ही कहा जायेगा। सत्ख्यातिवादी का विचार है कि भ्रान्तिस्थल का रजत भले ही मिथ्या हो, परन्तु द्रष्टा द्वारा किया गया पूर्वदृष्ट रजत का ज्ञान सत्य ही है। अतः रजत ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त मतों की समालोचना

ख्याति सम्वन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में अनेक न्यूनताएं देखने में आती हैं। असत् ख्यातिवादी का रजतादि को असत् कहना संगत नहीं प्रतीत होता। यदि रजतादि असत् हुए होते तो उनका व्यावहारिक ज्ञान सम्भव न होता। इसीलिए शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को सर्व प्रमाण विरुद्ध कहा है।[2] आत्मख्यातिवादी का रजतादि को चित्तगत मानना अनौचित्यपूर्ण ही है। भ्रमकालिक रजत का ज्ञान ही रजत की वाह्य सत्ता को सिद्ध करता है।

---

१. विशेष देखिये–डा० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३।

शंकराचार्य ने आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है, यह कथन अनुचित है।[1] क्योंकि आत्मा में क्रिया का विरोध है। अतः विज्ञानवाद के अनुसर्ता आत्मख्यातिवादी बौद्ध का रजतादि की बाह्य सत्ता को असत् कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

अन्यथा ख्यातिवादी का मत भी दोषपूर्ण है। अन्यथा ख्यातिवादी का तर्क है कि पूर्वकाल में दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरवर्ती रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता हैं। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार भ्रमवश दूरवर्ती रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती इदम् (विषय) से हो जाता है। अन्यथाख्यातिवादी का यह तर्क समुचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भ्रमकालिक रजत-ज्ञान रजत का दूरवर्ती होना सिद्ध नहीं करता। भ्रमकाल में तो इदम् (पुरोवर्ती) विषय ही रजत रूप में भासता है। यही कारण है कि द्रष्टा को शुक्ति का इदम् रूप से ज्ञान होता है और 'इदम्' से सम्बन्धित ही रजत का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम दूर होने पर किसी दूरवर्ती रजत का निषेध न होकर भ्रमकाल में अनुभूयमान रजत का ही निषेध होता है। इसीलिए अन्यथाख्यातिवादी की दूरवर्ती रजत की कल्पना का तर्क असंगत ही कहा जाएगा।

अख्यातिवादी का कथन है कि प्रत्यक्ष काल के विषय–इदम् एवं, स्मरण ज्ञान के विषय-रजतम् के भेदाग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। परन्तु अख्यातिवादी का यह तर्क युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अख्यातिवादी ने जिस 'भेदाग्रह' का प्रतिपादन किया है, वह असंगत है। किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही उस वस्तु का भेदक ज्ञान है। यह अनुचित है कि दो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी 'भेदाग्रह' वना रहे। अख्यातिवादी मीमांसक के मत में पुरोवर्त्ती 'इदम्' और स्मृति पर आधारित रजत दोनों ही भिन्न ज्ञान हैं। इस प्रकार दोनों ज्ञानों के भिन्न होने पर भेदग्रह स्पष्ट ही है। अतः भेदाग्रह का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

सत्ख्यातिवादी ने 'सर्व सर्वात्मकम्' के आधार पर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है, वह भी तर्क सिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त पंचीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। नृसिंहाश्रम ने उक्त विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि पंचीकरण विभिन्न भूतों (क्षित्यादि) का ही होता है, न कि उन भूतों से निर्मित विभिन्न भौतिक पदार्थों का। यदि ऐसा हुआ तो स्तम्भ आदि में भी रजत आदि की प्रतीति हुई होती। इसलिए यद्यपि मूल तत्त्व एक-दूसरे पदार्थों में मिश्रित होते हैं, परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन तत्वों से निर्मित पदार्थों में पार्थक्य न हो। अतः सत्ख्यातिवादी का मत भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आत्मख्यातिवाद असत् ख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद, अख्यातिवाद एवं सत्ख्यातिवाद के सिद्धान्तों में कुछ न कुछ न्यूनताएँ–अवश्य मिलती हैं। अब यहाँ अनिर्वचनीख्यातिवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद का सिद्धान्त

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने उपर्युक्त पंच ख्यातियों को महत्व न देकर अनिर्वचनीय सिद्धान्त

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

ख्याति की स्थापना की है। अनिर्वचनीय ख्याति की परिभाषा करते हुए आनन्दवोधाचार्य ने न्यायमकरंद के अन्तर्गत लिखा है–

सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव वाधस्तद् गोचरतैवानिर्वाच्यता।[1]

उक्त लक्षण के अन्तर्गत लेखक का तात्पर्य है कि कार्यादि विलास सहित अविद्या की गोचरता अनिर्वाच्यता है और उसी कार्यादिविलास सहित अविद्या की निवृत्ति वाध है। अनिर्वाच्यता की उक्त परिभाषा के अनुसार शुक्ति एवं रज्जु आदि में अध्यस्त रजत एवं सर्पादि की सत्ता अनिर्वाच्य विषयों के अन्तर्गत आती है। जब रजत एवं सर्पादि की जननी अविद्या[2] एवं अध्यास ही अनिर्वचनीय हैं तो उनसे उत्पन्न शुक्त्यादि का अनिर्वचनीय होना संगत ही है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति-रजत के उदाहरण में रजत की सत्ता न आत्मख्यातिवादी के अनुसार चित्तगत है और न असत्ख्यातिवादी माध्यमिक बौद्ध के अनुसार असत्। अनिर्वचनीयख्यातिवादी शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए, उसकी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करता है।

सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही रजत अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय रजत के सदसद्विलक्षणत्व के समर्थन में अनिर्वचनीख्यातिवादी का कथन है कि यदि रजत पूर्णतया सत् हुआ होता तो अविद्यानिवृत्ति होने पर उसक वाध न होता। अतः रजत को त्रिकालावाधित सत् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अध्यस्त रजत को नितान्त असत् भी नहीं कह सकते। रजत् शशशृंग के समान नितान्त असत् नहीं है। यदि रजत नितान्त असत् हुआ होता तो भ्रमकाल में भी उसकी प्रतीति सम्भव न होती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों ने शक्ति आदि में अध्यस्त रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचनदृष्टि के अनुरूप सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण, अनिर्वचनीयख्यातिवाद के समर्थक अद्वैतवेदान्ती का रजत प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण शून्यवाद के अनुयायी असत्ख्यातिवादी बौद्ध के असत् रजत एवं विज्ञानवाद के समर्थक आत्मख्यातिवादी बौद्ध के चितगत रजत से भिन्न है। इसके साथ ही साथ अद्वैतवेदान्त के अनुसार शक्ति में अध्यस्त रजत पूर्णतया सत् न होने के कारण सतख्यातिवादी रामानुजाचार्य के सत् रजत से भी भिन्न है। प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण ही अनिर्वचनीख्यातिवादी का रजत अख्यातिवादी मीमांसक के स्मृत रजत एवं अन्यथाख्यातिवादी के देशान्तर एवं कालान्तरवर्ती रजत से भी भिन्न है।

अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने शुक्ति एवं रजत के दृष्टान्त के आधार पर अविद्या जन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् को न शशशृंग के समान अलीक (असत्) कहा जा सकता है और न पारमार्थिक ब्रह्म के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदसद्विलक्षणता के द्वारा जगत् की प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने एक ओर अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत दर्शन को पलायनवादी होने से वचाया है।

---

१. न्याय मकरंद, पृष्ठ १२५, चौखम्बा संस्करण, १६०७।

२. विवेक चूडामणि, श्लोक ११०,१११।

३. तथाचलोकेऽनुभवः शुक्तिकाहिरजतवदवभासते।–ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्धात।

क्या अद्वैत वेदान्त में कार्यकरण सम्बन्धी विचार सम्भव है ?

ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व-प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है। इस अनन्यत्व का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विवर्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का समर्थन किया गया है। विवर्तवाद का समुचित स्पष्टीकरण इसी अवसर पर आगे किया जाएगा। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य गौडपाद ने भी समस्त वस्तुओं की अजातता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सत्, असत् और सदासत् वस्तु की उत्पत्ति की उत्पत्ति न स्वतः होती है और न परतः[1]। इस प्रकार गौपादाचार्य ने अजातवाद के आधार पर प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का निराकरण किया है। उक्त कथन के अनुसार जब जगत् की उत्पत्ति का ही निराकरण हो जाता है, तो ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना किया प्रकार हो सकती है। ब्रह्म और जगत् की कार्य-कारंणता इसलिए भी असंगत प्रतीत होती है कि यदि अमृत ब्रह्म से विनाशशील जगत् की उत्पत्ति होने लगेगी तो अमृत भी मर्त्यता को प्राप्त होने लगेगा।[2] इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि किसी वस्तु से तद् विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति हो जाए। अतः जव अमृत ब्रह्म से तद् विरुद्ध धर्म वाले मर्त्य जगत् की उत्पत्ति ही असम्भव है, तो ब्रह्म को कारण एवं जगत् को कार्य कहना कहां तक सम्भव हो सकता है।३

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-करण सम्बन्ध का विचार असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु यह सुचिन्त्य है कि जहां अद्वैत वेदान्त में कार्य-कारणवाद की असम्भवता सिद्ध होती है वहाँ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा ब्रह्म को जगत् का मूल कारण एवं जगत् को कार्य कहकर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है। 'यतो वाइमानिभूतानि जायन्ते'–(तै० उ० ३।१।१) (जिस परमात्मा से सारे भूत उत्पन्न होते हैं) श्रुतिवाक्य पर आधारित वादरायण के जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२) पर भाष्य करते हुए, शंकराचार्य ने लिखा है कि नामरूप से प्रकट होने वाले, अनेक कर्ता एवं भोक्ताओं से संयुक्त, जिस क्रिया और फल के देश; काल और निमित्त व्यवस्थित हैं–उसके आश्रय तथा मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।४ स्पष्ट ही उक्त स्थान के अन्तर्गत शंकराचार्य ने ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करके ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना की है।

ऊपर दिए गए विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया विदित हो जाता है कि जहाँ एक ओर अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-करण सम्बन्ध की स्थापना असम्भव प्रतीत होती है वहाँ दूसरी ओर कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना का विचार भी पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। कार्य-कारणवाद के विवेचन के सम्बन्ध में इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय अत्यन्त अपेक्षित है।

---

१. गौ० का० ४।२२–स्वतोवापरतोवापिनकिंचिद्वस्तुजायते।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद् वस्तु जायते।।

२. वही ३।१६१

३. शा० भा०, गौ० का० ३।२१

४. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२।

उक्त सिद्धान्तों के समन्वय के अर्थ मेरा विचार है कि जहाँ अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत परमार्थ सत् रूप ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है, वहाँ जगत् की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् की सत्ता अद्वैत वेदान्त में मायिक कही गई है। हयँ यह उल्लेख्य है कि जग मृगतृष्णिका आदि की ही कल्पना विना किसी अधिष्ठान के असम्भव है तो व्यावहारिक जगत् की सत्ता विना किसी अधिष्ठान के कैसे सम्भव हो सकती है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान एवं माया जन्य जगत् को 'अध्यास' कहा है। इस प्रकार अधिष्ठानवाद के आधार पर ही ब्रह्म से मायिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव होती है। क्योंकि जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण मिथ्या है एवं अवास्तविक है। इसलिए ब्रह्म और जगत् के वीच कार्य-कारण सिद्धान्त की योजना भी पारमार्थिक न होकर मिथ्या ही है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण गौडपादाचार्य के निम्नलिखित सिद्धान्त में पूर्णतया मिल जाता है—

सतो कि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः (गौ० का० ३।२७)

अर्थात् सत् रूप अधिष्ठान ब्रह्म से माया के द्वारा जगत् का जन्म होता है। परन्तु जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण तात्त्विक नहीं है। गौडपादाचार्य की उपर्युक्त पंक्ति का एक दूसरा अर्थ यह है कि सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का जन्म माया के द्वारा ही होता है, परन्तु यह तात्त्विक नहीं है। इन दोनों अर्थों के अनुसार रज्जु-आदि में सर्पादि के समान जगत् का जन्म पारमार्थिक न बतलाकर मायिक बतलाया गया है।

उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म और जगत् के वीच कार्य-कारणसम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है। अतः नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् एवं ब्रह्म के बीच सम्बन्ध दृष्टि के निमित्त की कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की उपयोगिता का औचित्य है।

बादराण[1], गौडपादाचार्य[2] एवं शंकराचार्य[3] प्रभृति अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने कार्यकारण सम्बन्ध की उपयोगिता की ओर संकेत करते हुए यही कहा है कि श्रुति वाक्यों के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो निर्देश किया गया है, वह मानव की बौद्धिक जिज्ञासा की सन्तुष्टि मात्र के लिए ही है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार यह कहना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत बह्म एवं जगत् के कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना की सम्भावना पारमार्थिक न होकर ब्रह्म एवं जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में मनुष्य की बौद्धिक भूख की तुष्टि के प्रयोजन से ही संगत है।

अब यहाँ वैदिक एवं अद्वैत वेदान्तवर्ती कार्य-कारणसम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जायेगा।

वैदिक कार्यकारणवाद

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यद्यपि कार्य-कारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्यवस्था नहीं मिलती, परन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर कार्य-कारण सम्बन्धी विचार उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध

---

१. ब्र० सू० २।१।१४०।
२. गौ० का० १।१८।
३. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।

में यहाँ कतिपय स्थलों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के १२६ वें सूक्त तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि आरम्भिक मूल तत्त्व एक ही है। यह तत्त्व अप्रकट सलिल के रूप में वर्तमान है। इस मूल तत्त्व से सर्वप्रथम तप द्वारा काम अथवा मन की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद (१०।१२१।१) में प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ को जगत् का पति कहा है। ऋग्वेद (१०।८२।१) में सृष्टि समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि शरीर के उत्पादयिता और अनुपम धीर विश्वकर्मा ने प्रथम जल को उत्पन्न किया और फिर इधर-उधर चलने वाले द्यावापृथिवी को बनाया। ऋग्वेद (१०।७२।२) के अन्तर्गत कहा है कि ब्रह्मणस्पति (अदिति) ने देवताओं को उत्पन्न किया एवं असत् (अविद्यमान) सत् (विद्यमान) की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद (१०।१२५।७,८) में वाक् का मूल तत्त्व के रूप नें वर्णन करते हुए लिखा है कि आरम्भ में वाक् तत्त्व ही जगत् के स्रष्टा के रूप में वर्तमान था। यह मूल तत्व ही फिर समुद्र के जल में उत्पन्न हुआ। इसके जल में उत्पन्न होने का उद्देश्य जीवों में अपने स्वरूप का प्रचार करना था। ऋग्वेद (१०।१६०।५) में पुरुष का मूल स्रष्टा के रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव मनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि और फिर जीवों के शरीरों का निर्माण किया।

अथर्वेद संहिता (१०।७।,८) के अन्तर्गत स्कम्भ का वर्णन करते हुए कहा है कि स्कम्भ ने जिसमें कि प्रजापति ने समस्त जगत् को आश्रय एवं पोषण दिया, अपने अंशसहित जगत् में प्रवेश किया। अथर्ववेद संहिता में ही एक स्थल पर यह भी कहा है कि प्राण जगत् का निर्माण करता है।[1] शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत कहा है कि पुरुष-प्रजापति जलों को उत्पन्न करता है और फिर उन जलों में अण्ड रूप में प्रवेश करके उनसे ब्रह्म को उत्पन्न करता है।[2] तैत्तिरीय आरण्यक में प्रजापति का स्रष्टा रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजापति ने लोकों का निर्माण करते हुए सृष्टि के आदि तत्व के रूप में आत्म स्वरूप में प्रवेश किया।[3]

उपर्युक्त स्थलों के स्पष्टीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का मूलतत्व एक ही था और यह मूल तत्त्व जगत् का निर्माण करने के पश्चात् उसी में प्रवेश कर लेता था। यह मूल तत्त्व आत्मा एवं हिरण्य गर्भ का ही रूप था।

उपर्युक्त विचार का विश्लेषण उपनिषदों में भी पूर्ण रूप से मिलता है। इस स्थल पर उपनिषदुपलब्ध कार्य-करण सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

वृहदारण्यक में मूल तत्त्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था, फिर यह नाम रूप के द्वारा व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ। इसी स्थल पर यह भी कहा है कि आत्मा इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त उसी प्रकार प्रवेश करता हे जिस प्रकार कि छुरा अपने जल में प्रवेश करता है और अग्नि, अग्नि के आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है।[4] छान्दोग्योपनिषद् में सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आरम्भ में सत् तत्त्व ही वर्तमान था, उसी आदि तत्त्व

---

१. अथर्ववेद संहिता ११।४।

२. शतपथ ब्राह्मण ६।१।१

३. तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।

४. बृ० उ० १।४।७।

ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा की और सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति की। इसके अनन्तर तेज ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा करके जल की रचना की और फिर इसी प्रकार जल ने अन्न को उत्पन्न किया। इसक पश्चात् उस सर्वोच्च सत्ता ने यह इच्छा की कि मैं तेज जल और अन्न में जीवात्मा के साथ प्रवेश करूं तथा नाम और रूप को व्याकृत करूं-(छा० उ० ६।२।२-६।३।२)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत परमात्मा के सृष्टिसंकल्प की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि सर्गारम्भ में परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न होकर बहुत-से रूप धारण करूं। उक्त संकल्प के बाद परमेश्वर ने जड़-चेतन मय समस्त जगत् की रचना की और उसके पश्चात् स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गए।[1]

ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व केवल एक आत्मतत्व की ही सत्त थी, उसी परमात्मा ने लोकों के सर्जन की इच्छा की और तदनुसार अम्भ, (द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक) मरीचि, (अन्तरिक्ष) मर (मर्त्यलोक) और जल लोक की रचना की।[2] ऐतरेयोपनिषद् में ही आगे चलकर कहा गया है कि उस परमात्मा ने विचार किया कि मेरे विना यह मनुष्यरूप पुरुष कैसे रह सकेगा ? इस कामना से परमात्मा ने मनुष्य शरीर में प्रवेश करने की इच्छा की और वह ब्रह्मरन्ध्र को चीर कर मनुष्य शरीर में प्रवेश कर गया।[3]

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त के संकेत स्पष्ट हैं। इन संकेतों में परमात्मा के कारणत्व एवं जगत् की व्यंजना बहुत स्पष्ट है।`परन्तु यहाँ यह कह देना भी समीचीन ही होगा कि ऊपर निर्दिष्ट किए गए वैदिक स्थलों में कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के बीच मात्र ही उपलब्ध हैं, उसका सैद्धान्तिक रूप नहीं। उक्त न्यूनता वैदिक साहित्य की न्यूनता इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसका उद्देश्य किसी सिद्धांत विशेष का प्रतिपादन नहीं था। कार्य-कारणवादसिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा ही किया गया है। अतः यहाँ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों क अनुसार कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की समीक्षात्मक वर्णना की जाएगी।

अद्वैत वेदान्त और कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त

कार्य-कारण सम्वन्धी सिद्धानत का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने आकाशादि प्रपंचमय जगत् को कार्य एवं ब्रह्म को कारणरूप में स्वीकार किया है, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शंकराचार्य ने कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत् के बीच अनन्यत्व की स्थापना की है।[4] परन्तु अनित्य एवं मिथ्या जगत् की कार्यता के सम्बन्ध में कुटस्थ एवं नित्य ब्रह्म की कारणता संगत नहीं कही जा सकती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में मायाशक्तिविशिष्ट परमात्मा से प्रपंच मय जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य ने मायावी परमेश्वर को जगत् का स्रष्टा स्वीकार करते हुए कहा है कि एक ही परमेश्वर जो कूटस्थ, नित्य एवं विज्ञान स्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत

---

१. तै० उ० २।६।

२. ऐतरेयोपनिषद् १।१।१,२।

३. वही, १।३।११,१२।

४. कार्यमाकाशदिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते।-ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

होता है[1]। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' आदि स्थलों में जहाँ-जहाँ परमेश्वर में जगदुत्पत्ति आदि की कामना का वर्णन आया है, वहाँ माया विशिष्ट ब्रह्म का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यही मायाविशिष्ट ब्रह्म अद्वैत वेदान्त में ईश्वर संज्ञा के द्वारा वार्णित हुआ है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार अद्वैत वेदान्त में कार्यरूप जगत् की सत्ता कारण मायावी परमेश्वर है। माया के द्वारा ही परमेश्वर में जगत्-सृष्टि की योग्यता है। इसीलिए शांकर वेदान्त में माया को बीजशक्ति कहा गया है[2]। अपनी माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर उसी प्रकार जगत् की रचना करता है जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल के द्वारा बहुविध अवास्तविक विषयों की रचना करता है। जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक स्वरचित इन्द्रजाल से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार मायावी परमेश्वर भी जगत् के समस्त पाप-पुण्यादि कृत्यों से अस्पृष्ट है[3]।

अद्वैत वेदान्त में, माया की दो शक्तियां बतलाई गई हैं—एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति सत्य—ब्रह्म की तिरोधानकर्त्री एवं ब्रह्मसाक्षात्कार की बाधक है[4] और विक्षेप शक्ति नामरूपात्मक मिथ्या जगत् की निर्मात्री[5]। जगत् की कार्य-कारणता का स्पष्टीकरण अद्वैत वेदान्त में अनेक स्थलों पर रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। इस दृष्टान्त के आधार पर शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार अविद्यावश रस्सी में सर्प का मिथ्या अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण परमात्मा में जगत् के नानात्व का अनुभव होता है।[6] यहाँ यह कहना और उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार भ्रान्तिकालिक सर्प रस्सी का विकार नहीं होता उसी प्रकार जगत् को भी ब्रह्म का विकार नहीं समझना चाहिए। शंकराचार्य ने इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि गाढान्धकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानता हुआ द्रष्टा भय से कम्पित होकर भागने लगता है। किन्तु किसी से यह सुनकर कि 'डरो मत, यह सर्प नहीं है, वरन् रज्जू है' सर्प ज्ञानजन्य भय से मुक्त हो जाता है और कांपना तथा भागना छोड़ देता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार सर्पज्ञानजन्य भय और उसकी निवृत्ति, इन दोनों अवस्थाओं में सर्प रूप वस्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा जाता, उसी प्रकार ब्रह्म में भी किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं है।[7] अतएव अद्वैत वेदान्त में विकारवाद का समर्थन न करके विवर्तवाद का ही अनुसरण किया गया है। इस स्थल पर विवर्तवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

विवर्तवाद का स्वरूप

वेदान्त परिभाष के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विवर्त की परिभाषा करते हुए कहा है—

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।१६।
२. वही, १।४।३।
३. गीता, शा० भा० ५।१४,१५।
४. गौ० का० १।१६।
५. वेदान्तसार–४।
६. ब्र० सू०, शा० भा० २।१२।१६।
७. वही, १।४।६।

विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः

अर्थात् उत्पादन कारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त कहते हैं।[१] इस परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की सत्ता विषम होने के कारण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। यह निःसन्देह सत्य है कि मिथ्या जगत् की उत्पत्ति का कारण अधिष्ठान ब्रह्म ही है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जगत् ब्रह्म के तात्त्विक परिवर्तन का स्वरूप है। जगत् के ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन न होने के कारण ही, ब्रह्म और जगत् में विवर्तभाव है।[२]

विवर्तवाद एवं सांख्य का सत् कार्यवाद या परिणामवाद

कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के विवेचन के सम्बन्ध में सांख्यवादी सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद का समर्थक है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। सांख्यवादी के अनुसार घट एवं पट मुत्तिका एवं तन्तुओं के परिणाम मात्र है, इसीलिए इस सिद्धान्त को परिणामवादी का नाम भी दिया जाता है। सत्कार्यवाद का निरूपण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

परिणामवाद एवं विवर्तवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जहाँ विवर्त[३] उत्पादन से विषम कार्य की सत्ता का नाम है, वहाँ इसके विपरीत परिणाम उपादान के समान कार्य की सत्ता को कहते हैं।[४] रत्नप्रभाकर ने एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परिणामः, यथादुग्धस्य दधिभावः, ... विवर्तः यथा शुक्ते रजतभावः।[५] अर्थात् दुग्ध का दधि भाव परिणाम और शुक्ति का रजत भाव विवर्त है। इस प्रकार विवर्तवाद एवं परिणामवाद सिद्धान्तों का मौलिक अन्तर पूर्णतया द्रष्टव्य है।

विवर्तवाद और असत् कार्यवाद का सिद्धान्त

न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने असत्कार्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर कार्य-कारणवाद की समस्या को सुलझने का प्रयत्न किया है। सांख्य के सत्कार्यवाद एवं न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। सत्कार्यवाद के अनुयायी कार्य की सत्ता को कारण में सत् मानते हैं। इसके विपरीत असत्कार्यवादी कार्य को कारण में असत् मानते हैं। असत्कार्यवादी कारण में कार्य की सत्ता को सत् न मानकर कार्य का नवीन आरम्भ मानता है। इसीलिए असत्कार्यवाद का सिद्धान्त आरम्भवाद के नाम से भी प्रचलित है। असत्कार्यवाद का अपेक्षित स्पष्टीकरण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। विवर्तवादी के अनुसार जहाँ कार्य की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, वहाँ असत्कार्यवादी कार्य की सत्ता को कारण से पृथक् मानता है, यही दोनों सिद्धान्तों का मूल भेद है।

ऊपर किए गये विवेचन के अनुसार कार्यकारणवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त सत्यकार्यवाद

---

१. वेदान्त परिभाषा–१।

२. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविवर्त इत्युदीरितः–वेदान्तसार २१।

३. वही, २१।

४. परिणामोनाम उत्पादनसमसत्ताककार्यापत्तिः–वेदान्त परिभाषा १।

५. रत्नप्रभा–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२८।

एवं असत्कार्यवाद का विरोधी होकर सत्कारणवाद का पोषक है। सत्कारणवाद के अनुसार कारण सत् एवं कार्य मिथ्या है। डा० दासगुप्त ने अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम भी दिया है।[1] परन्तु मेरे विचार से अद्वैत वेदान्त में कार्य की सत्ता मिथ्या होने के कारण, अद्वैतवेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। स्वयं डा० दास गुप्त ने अद्वैत दर्शन के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देने से पूर्व कार्य-कारण सिद्धान्त की विवेचना करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे हैं–

The one truth is clay, So in all world phenomena the one truth is being, the Brahman & all the phenomena that are being imposed on it are but illusory forms and names.2

डा० दासगुप्त के उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत्तिका ही सत्य है। अतः जगत् की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म में आरोपित जगत् की समस्त सत्ता मिथ्या नामरूप मात्र है। उक्त विचार के अन्तर्गत नामरूपात्मक कार्य रूप जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट होने पर भी डा० दासगुप्त ने उक्त विचार को सत्कार्यवाद के अन्तर्गत माना है। कदाचित् अपनी मान्यता में अनौचित्य का भास होने के कारण ही डा० दासगुप्त ने सत्कार्यवाद की अपेक्षा सत्कारणवाद को अधिक समुचित मानते हुए यह वाक्य लिखा है–

This is what is called Satkaryavada or more properly the Satkaranavada of the Vednata.[3]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस लेखक के मतानुसार अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम न देकर सत्कारणवाद का नाम देना ही उपयुक्त है।

अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्यपरवर्ती आचार्यों द्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना

अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने कार्य-कारण समस्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है।

संक्षेप शारीरककार का मत–संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह शुद्ध परब्रह्म ही है।[4] सिद्धान्तलेशकार अप्पयदीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के उक्त मत का ही उल्लेख किया है।[5] परन्तु अद्वैत

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 468.

२. वही, p. 468.

३. वही, p. 468.

४. निमितं च योनिश्चयत् कारणं सत् परब्रह्मसर्वस्य जन्मादिभाजः इतिस्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः कथंसिद्धवल्लक्षणं सिद्धिवाह्मम् ।।–संक्षेप शारीरकम् १।५३२।

५. अत्र संक्षेपशारीरकानुसारिणः केचिदाहुः–शुद्धमेवोपादानम्, जन्मादिसूत्रतद्भाष्ययोरूपादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तेः।

–सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद।

सिद्धि के टीकाकार के अनुसार संक्षेपशारीरककार का मत है कि अविद्योपहित चित् जगत् का कारण है।[१]

विवरणकार का मत–विवरण मतानुयायियों का कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में कथन है कि जो 'सर्वज्ञ', सर्ववित् है तथा जिसका तपोज्ञानमय स्वरूप ज्ञान का विकार है, उस सर्वज्ञ ब्रह्म से हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं, इस श्रुतितात्पर्य के अनुरूप सर्वज्ञत्वादि धर्मों से युक्त माया से शवलित ईश्वर रूप ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है।[२] ब्रह्मानन्द ने विवरणकार के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ईश्वर और जीव अविद्या में क्रमशः शुद्ध चित् के बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप हैं। यह शुद्धचित् तत्व ही जो ईश्वर एवं जीव सत्ता को प्राप्त होता है, एवं सर्वकालिक साक्षी है, जगत् का उपादानकारण है।[३]

वाचस्पति मिश्र का मत–अद्वैत वेदान्त के गम्भी समालोचक अप्पय दीक्षित ने वाचस्पति मिश्र के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार माया से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है और माया सहकारी कारण है।[४] यहाँ जीवाश्रितत्व विशिष्ट चैतन्याश्रितत्व विवक्षित न होकर चैतन्याश्रितत्व ही विवक्षित है।

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का मत–मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार अज्ञान ही इस द्वैतात्मक जगत् का उपादान कारण है। अद्वैत वेदान्त के इस प्रकाण्ड विद्वान् का कथन है कि अज्ञान के ही कारण ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है।[५]

प्रकाशानन्द का मत–वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक प्रकाशानन्द ने जगत् को अज्ञानकृत माना है।[६] प्रकाशानन्द के मतानुसार अज्ञान ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उत्पादान कारण है।

कतिपय अन्य मत–माया एवं अविद्या के भेद के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी मत का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। माया एवं अविद्या में भेद को स्वीकार करने वाले कुछ विद्वान् कहते हैं कि आकाशदि 'महाभूत प्रपंच' ईश्वर में रहने वाली माया का परिणाम है। अतः आकाशादि महाभूत प्रपंच का उपादन ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण आदि प्रपंच, ईश्वराश्रित माया के परिणाम भूत आकाशादि महाभूतों से संसृष्अ जीव की अविद्या से उत्पन्न हुए सूक्ष्म भूतों का कार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्तःकरण आदि के उपादान कारण हैं।

---

१. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत सिद्धि पृ० ४३८।
२. सिद्धान्त लेश संग्रह–१।
३. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८३। (निर्णयसागर, १६१७)
४. वाचस्पतिमिश्रास्तु–जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्मस्वत एव जाड्याश्रयप्रपंचाकारेणविवर्तमान-तयोपादानमित्ति मायासहकारित्वम्।

–सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

५. अस्यदैत्येन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।–अद्वैत सिद्धि, पृ० २३८।
Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 580 से उद्धृत।
६. देखिए–वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक २६ की व्याख्या।
(जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित संस्करण, कलकत्ता १६३५।)

माया एवं अविद्या सम्बन्धी भेद के आधार पर कुछ समालोचक विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूत प्रपंच ईश्वराश्रित माया का परिणाम है और इसलिए आकाशादि महाभूत प्रपंच में ईश्वर उपादान है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि जीवाश्रित अविद्या के ही परिणाम हैं, ओर उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर नहीं।

उपर्युक्त मतों के विपरीत अद्वैत वेदान्त के एकाधिक विद्वानों ने माया एवं अविद्या को अभिन्न मानकर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना की है। माया एवं अविद्या की अभिन्नता के अनुसर्ता कतिपय विद्वानों का विचार है कि यद्यपि आकाशादि महाभूत प्रपंच का ईश्वर ही उपादान है, परन्तु अन्तःकरण आदि में जीव के तादात्म्य की प्रतीति होने से अन्तःकरण आदि का उपादान जीव ही है।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर है और प्रातिभासिक पदाथोन का उपादान जीव है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि केवलए एक जीव ही अज्ञान से स्वाप्नि पदार्थों के समान ईश्वर सहित इस समस्त प्रपंच का कारण है।

विद्वानों के एक वर्ग का विचार है कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत् के प्रति उपादान हैं। केवल अन्तर इत्ता है कि ब्रह्म विवर्त दृष्टि से उपादान है और माया परिणाम रूप से।[1]

आलोचना

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में ऊपर हमने जिन मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है उन सभी ने ब्रह्म, ईश्वर और जीव में से किसी एक को जगत् का कारण स्वीकार किया है। यहाँ पर यह कह देना और उपयुक्त होगा कि उक्त तीनों कारणों की जगत्कारणता विना माया के असिद्ध है। माया के द्वारा ही ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव जगत् के कारण कहलाते हैं। माया की सहकारिकता के विना तो सर्वोच्च सत्य पारमार्थिक ब्रह्म में भी जगत्कारणता नहीं सिद्ध होती। परन्तु माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी सिद्ध होता है और उपादान कारण भी। अपनी चैतन्य प्रधान्ता के कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर प्रपंचमय जगत् का निमित्त कारण है ओर अज्ञानप्रधानता के कारण उपादान कारण। जिस प्रकार कि एक ही मकड़ी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति, चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण है, उसी प्रकार माया विशिष्ट ब्रह्म चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही है।

जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कहना और उचित होगा कि वेदान्तिक विषयवाद एवं अज्ञानवाद का प्रभाव पश्चिमी दार्शनिकों पर भी अक्षुण्ण रूप से पडा है। जिस प्रकार कि विषयिवाद एवं विपयवाद के अन्तर्गत अज्ञान के द्वारा विषयी आत्मा में समस्त विषयों की उत्पत्ति सिद्ध की गई है, उसी प्रकार वर्कले,[2] एडवर्ड कैर्ड,[3] हीगल[4] एवं

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृष्ठ ६७-७४ (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

२. *Prof. J. C. Chatterji's* article, Empericism-History of Philosophy, Eastern and Western, Edited by *Radhakrishnan*.

३. *Edward Gaird* : Evolution of Religion, vol. I., p. 263.

४. Lectures on the Philosophy of Religion, Vol. I. p. 328.

हल्डेन[1] प्रभृति पश्चिमी विद्वानों ने भी जगत् की सत्ता को आतमगत ही माना है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तिक एवं पाश्चात्य विद्वानों के कार्यकारणसम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है।[2]

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद–सृष्टि-दृष्टिवाद एवं अध्यारोपवाद–आदि सिद्धान्तों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद का विवेचन तृतीय अध्याया के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ दृष्टि-सृष्टिवादादि शेष सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

दृष्टि-सृष्टिवाद

दृष्टि-सृष्टिवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। यही कारण है कि इस सिद्धानत का निरूपण अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत दो मतों के आधार पर किया गया है। यहाँ दोनों मतों के अनुसार इस सिद्धान्त का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाएगा।

प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप

दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार कुछ विद्वानों का कहना है कि जाग्रतकालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है। क्योंकि अर्थ-सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं है। दृष्टि-सृष्टिवादी जगत् को कल्पित सिद्ध करते हुए समस्त प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि, दृष्टिसमकालीन ही मानते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त का नाम दृष्टि-सृष्टिवाद पड़ा है। दृष्टि-सृष्टिवाद के समर्थकों का कहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञानसत्ता हो ही नहीं सकती। अतः समस्त जाग्रत् प्रपंच की दृष्टिसमकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु के सन्निकर्ष का अनुविधान प्रतयय, दृष्टि के पूर्व में घटादि का अभाव होने से नहीं हो सकता। इसलिए स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादि जागतिक पदार्थों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।[3]

प्रथम मत की आलोचना

दृष्टि-सृष्टिवाद के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद के आधार पर समस्त जगत् को कल्पित माना जाएगा तो उसकी कल्पना करने वाला कौन कहा जाएगा? अविद्योपाधि से रहित आत्मा अथवा अविद्योपाधि से उपहित आत्मा। अविद्योपाधि से रहित आत्मा को तो इसलिए प्रपंच की कल्पना करने वाला नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष में भी अन्य साधनों की अपेक्षा न करने वाले निरुपाधिक कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपंच की अनुवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार मोक्ष एवं प्रपंच-मय संसार की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। इसके विपरीत यदि कहा जाय कि अविद्योपहित आत्मा प्रपंच-मय संसार का कल्पक है, तो भी यह पक्ष अयुक्त ही है, क्योंकि अविद्या स्वतः कल्पित है। अविद्या के कल्पित होने के कारण अविद्या की कल्पना से पहले

---

१. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. 2, p. III.

२. विशेष देखिए : *J. Kirtikar* : Studies in Vedanta, Ch. II.

३. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, जो असंगत है। क्योंकि जब अविद्या की कल्पना ही नहीं है तो अविद्योपहित आत्मा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। अतः अविद्या की ही सृष्टि असम्भव है। वस्तुतः सिद्धान्त मतानुसार अविद्योपहित आत्मा को ही प्रपंच का कल्पक माना गया है। उक्त शंका का समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि अविद्यादि छः पदार्थ अनादि है, अतः उनमें दृष्टि-सृष्टि नहीं माननी चाहिए। किन्तु अविद्या से भिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपंच में दृष्टि-सृष्टि संगत है।[1] सिद्धान्ती के पूर्वोक्त मत के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि अविद्या से उपहित आत्मा पूर्वोक्त उक्ति से प्रतयक्ष वस्तु का कल्पक भले ही हो, परन्तु केवल श्रुतिमात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच और उनके क्रम आदि का कल्पक किसी को नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के उकत तर्क की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि श्रुति मात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच का कोई कल्पक नहीं है। सिद्धान्ती के उक्त मत के सम्बन्ध में पूर्व पक्षी फिर शंका करता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः, इत्यादि श्रुति सिद्धान्ती के मतानुसार निरालम्ब सिद्ध होगी।

सिद्धान्ती पूर्व पक्षी की उपर्युक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' आदि श्रुतियों का आलम्बन प्रपंचशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अध्यारोप और अपवाद के आधार पर प्रपंचशून्य ब्रह्म की प्रतिपत्ति होती है, इसलिए समस्त प्रपंच शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय रूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। परन्तु वस्तुतः, सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुति का तात्पर्यभूत अर्थ कदापि नहीं है।[2]

द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण

ऊपर हमने दृष्टि-सृष्टिवाद के जिस सिद्धान्त की चर्चा की है उसके अनुसार विश्व की सृष्टि दृष्टिसमसामयिक है। उक्त मत के अतिरिक्त का एक अन्य रूप भी मिलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद के इस द्वितीय मत के संमर्थक वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द आदि विद्वान् हैं। प्रकाशानन्द प्रभृति का कथन है कि दृष्टि ही विश्वसृष्टि है।[3] इस मत के अनुसार स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपंच सृष्टि है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विश्व की सृष्टि दृष्टिसमकालिक कदापि नहीं है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि दृश्य जगत् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप आत्मा से पृथक् नहीं माना जा सकता। अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने स्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है-

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः।।[4]

अर्थात् विवेकी पुरुष इस जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परनतु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।
२. अमलानन्द-शास्त्र दर्पण १।४।४, पृष्ठ ८७ (वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम)।
३. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्-वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्ला० २६ पर प्रकाशानन्द की व्याख्या।
४. अप्पयदीक्षित द्वारा लिखित सिद्धान्त लेश संग्रह, द्वितीय परि० से उद्धृत।

जगत् को ज्ञान सत्त से पृथक् देखते हैं।. इस प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद सम्बन्धी उक्त मत के अनुसार जगत् की सत्ता दृष्टिसमकालिक न होकर दृष्टि मात्र ही है।

समीक्षा

दृष्टि-सृष्टिवाद और अद्वैत वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त में इतना अन्तर है कि जहाँ दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार जगत् की व्यावहारिक सत्ता का निराकरण किया गया है, वहाँ शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। दृष्टि-सृष्टि वादी का सिद्धान्त विज्ञानवादी बौद्ध के अधिक समीप प्रतीत होता है। दोनों में केवल यही एक विशेष असाम्य है कि दृष्टिसृष्टिवादी आत्मारूप परमार्थ सत्य को स्वीकार करता है, जबकि विज्ञानवादी बौद्ध वेदान्त के आत्मवाद का विरोधी है। इसी प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य के आभासवाद से भी इस अर्थ में भिन्न है कि दृष्टि-सृष्टिवादी के अनुसार जागतिक विषयों की सत्त दृष्टिसमकालिक ही स्वीकार की गई है, जबकि आभासवादी के मतानुसार जागतिक पदार्थों की सत्त तक तक सतय ही कही जाएगी, जब तक कि परमार्थ सत्य का बोध नहीं हो जाता।[1]

सृष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के कतिपय विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोधी हैं। ये विद्वान् सृष्टि-दृष्टिवाद के समर्थक हैं। दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोध में इनका कहना है कि दृष्टि-सृष्टिवादियों द्वारा प्रतिपादित जाग्रत् प्रपंच की प्रातिभासिकता, आकाशादि सृष्टि का अपलाप एवं स्वर्गादि का अपलाप अप्रामाणिक है। ये विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन न करके सृष्टि-दृष्टिवाद के पक्षपाती हैं। सृष्टि-दृष्टिवादी का विचार है कि श्रुति में बतलाये हुए क्रम के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृष्ट जगत् अज्ञात सत्ता से युक्त है। इस मत के अनुयायियों का तर्क है कि तत्-त्तत् विषयों में तत्-त्तत् प्रमाणों की प्रवृत्ति होने के अनन्तर आवरण भंग द्वारा तत्-तत् विषयों का अपरोक्षावभास होता है।[2] अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है, प्रत्युत सृष्टि ही दृष्टि की जननी है।

अध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना

ब्रह्मवेत्ता गुरु के लिए जिज्ञासु शिष्य को जगत् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोपवाद एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैत वेदान्त की एक अनुपम देन है। अध यारोपवाद योजना के अभाव में तत्ववेत्त गुरु द्वारा विवित्सु के लिए उपदेश देना ही असम्भव होता। अतः यह कथन अनुचित न होगा कि अध्यारोपवाद सिद्धान्त के द्वारा ही निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश सम्भव है।

अध्यारोप का अर्थ है–किसी वस्तु का आरोप और अपवाद का अर्थ है–आरोपित वस्तु का निराकरण। अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में ब्रह्म में जगत् के विषयों का आरोप अध्यारोप है एवं जगत् के समस्त विषयों का निराकरण अपवाद है। अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्य सदानन्द ने एक उदाहरण

---

१. Lights on Vedanta, p. 46.

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

के आधार पर अध्यारोप की जो परिभाषा की है, वह इस प्रकार है–

असर्पभूतायां रज्जौसर्पारोपवक्स्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः (वेदान्तसार६) अर्थात् किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का आरोप अध्यारोप है। अध्यारोप के द्वारा गुरु पहिले आत्मा में, अवस्तु रूप अनात्म शरीर का आरोप करता हैं और फिर आत्मा को अपवाद पद्धति के द्वारा शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से अतिरिक्त सिद्ध करता है।

अपवाद के तीन भेद

आरोप के निराकरण के लिए ऊपर हमने जिस अपवाद की चर्चा की है वह (१) श्रौत (२) यौक्तिक और (३) प्रत्यक्ष भेद से तीन प्रकार का है[1]। यहाँ इन तीनों भेदों का पृथक्-पृथक् स्पष्टीकरण उपयुक्त होगा।

श्रौत अपवाद–'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा नानात्वमय प्रपंच का निराकरण श्रौत अपवाद कहलाता है।

यौक्तिक अपवाद–कटक एवं कुण्डलादि की सत्ता अपने उपादानकारणभूत सुवर्णादि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार घटादि दृश्य पदार्थों की सत्ता घटादि के उपादान मृत्तिका आदि से भिन्न नहीं है। उक्त युक्ति के आधार पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार कटक कुण्डलादि अपने सुवर्ण रूप उपादान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार प्रपंचरूप जगत् भी अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो प्रपंच का यह निराकरण यौक्तिक अपवाद कहलाता है।

प्रत्यक्ष अपवाद–रस्सी एवं सर्प के उदाहरण में रस्सी का प्रत्यक्ष होने पर यह रस्सी है सर्प नहीं, इस प्रकार सर्प का अपवाद–प्रतयक्ष अपवाद है। इसी प्रकार तत्वमसि आदि वाक्यों के अनुसार तत्ववेत्ता को जब 'मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हूं' इस प्रकार का अनुभव होता है और अनात्मबुद्धि का निराकरण हो जाता है तो यह प्रत्यक्ष अपवाद कहलाता है।

लोक में भी जिस प्रकार कि आकाश के स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त पुरुष पहिले नीलिमा ओर विशालता आदि का ज्ञान कराकर फिर वह यह आकाश वस्तुतः नीलिमायुक्त नहीं है, इस प्रकार अपवाद करके रूपरहित एवं व्यापक आकाश का बोध कराता है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त में भी पहिले आकाशादि का कारण ब्रह्म को बतलाया जाता है और फिर निषेध वाक्यों से आरोपित संसार कारणत्व के अपवाद से शून्य ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया जाता है।

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अद्वैतवाद वेदान्त के अन्तर्गत अध्यारोप एवं अपवाद की व्यवस्था ब्रह्म एवं जगत् की समस्या को सुलझाने का एक सरल एवं वैज्ञानिक उपाय है।

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ ३५६,६० पर देखिए–पाद टिप्पणी (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

पंचम अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (उत्तरार्द्ध)

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान के सिद्धान्त के स्वीकार किए बिना कूटस्थ एवं अचल ब्रह्म में जगत् की कारणता अनिष्पन्न है, यही अधिष्ठान का सर्वाधिक महत्व है। इस सिद्धान्त का यत्किचिंत् उल्लेख तृतीय अध्याय में गौडपादाचार्य एवं सर्वज्ञात्ममुनि के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय किया जा चुका है। यहाँ इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन अभीष्ट है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन के मायावाद सिद्धान्त के अनुसार अविद्या एवं माया को जगत् का कारण कहा गया है। परन्तु अविद्या एवं माया बिना आधार के नाम रूपात्मक प्रपंच मय जगत् की उत्पत्ति में असमर्थ है। इसलिए वेदान्त परिभाषाकार का यह कथन युक्ति-युक्त ही है कि अधिष्ठान सत्ता के स्वीकार किए बिना जगत् की आरोपित सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] व्यावहारिक जगत् की बात तो दूर रही असत् मृगतृष्णिका आदि भी बिना आधार के नहीं रह सकते।[2] अधिष्ठान के उपयोगित्व पर विचार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों के व्यवहार भी बिना अधिष्ठान के स्वीकार किए नहीं सिद्ध हो सकते।[3]

सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है। जिस प्रकार कि विवेक न होने के कारण लोग अप्रत्यक्ष आकाश में श्यामता, शुक्लता और नीलता का आरोप कर लेते हैं उसी प्रकार सत् ब्रह्म में भी अज्ञानी जगत् का आरोप कर लेते हैं। वस्तुतः अध्यस्त जगत् की सत्ता अधिष्ठान रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अध्यस्त जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म से अपृथक् होने पर भी अधिष्ठान ब्रह्म की अखण्डता एवं शुद्धता अवाधित है। इस सम्वन्ध में वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब रहता है, उसी प्रकार पाषादि एवं दोषों से रहित पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में समस्त प्रपंच अध्यस्त है।[4] अधिष्ठान के अनुसार ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना ही भ्रान्ति है। शंकराचार्य ने उक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्पादि की कल्पना करना भ्रान्ति है उसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना भी भ्रान्ति मात्र है।[5]

---

१. वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।
२. गीता, शा० भा० १३।१४।
३. नचाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति।–ब्र० सू० शा० भा० १।१।१।
४. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली २४।
५. विवेक चूडामणि ४०६।

अधिष्ठानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक प्रपंच मय जगत् अध्यस्त है एवं ब्रह्म अधिष्ठान है।

शून्यवादी बौद्ध का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिस सत् तत्व को अध्यास रूप जगत् का अधिष्ठान कहा है, उसका शूयवादी ने निराकरण किया है। शून्यवादी का कहना है कि शून्य में ही सांवृत्तिक सत्ता से रजतादि का भ्रम उत्पन्न होता है। शून्यवादी का अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहना है कि वेदान्ती का यह कथन असंगत है कि बिना सद् रूप अधिष्ठान के भ्रम सम्भव नहीं है। शून्यवादी कहना है कि वेदान्ती के मत में भी केशोण्ड्रक या गन्धर्व नगर आदि भ्रम बिना अधिष्ठान के ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वेदान्ती का यह कथन भी अनुचित है कि शुक्ति ज्ञान होने के अनन्तर रजत के 'नेदं रजतम्' बाध से शुक्ति सत्य बनी रहती है, उसका बाध नही होता और इस प्रकार उसके बाधित न होने से ही वह बाध की अवधि कहलाती है। अतः बाध अवधि के सहित ही होता है, वेदान्ती का यह कथन दोषपूर्ण है। वेदान्ती के उक्त तर्क का खण्डन करते हुए शून्यवादी का कहना है कि रज्जु और सर्प के दृष्टान्त में 'न सर्प' सर्प नहीं है, यह आप्तवाक्यस्वरूप बाध निरवधिक होता है। शून्यवादी का आक्षेप है कि जिस भ्रम का बाध आपके अभिमत अधिष्ठान (शुक्ति, रज्जु आदि) के ज्ञान से नही हुआ अपितु 'सर्प नहीं है या रजत नहीं है' इस आप्त वाक्य से हुआ, उसमें कुछ भी अवधि नहीं है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही नहीं स्वीकार की जा सकती।[1]

शून्यवादी के आक्षेप का परिहार करते हुए यह कहा जायेगा कि शून्यवादी का यह कथन यथार्थ नहीं है कि वेदान्ती के मत में केशोण्ड्रक का भ्रम बिना अधिष्ठान के ही सम्भव है। केशोण्ड्रक के सम्बन्ध में वेदान्ती का मत है कि अंगुलि से आंग भाग में नेत्र दबाकर मलने से एकत्रित हुई नेत्र की किरणें ही केशोण्ड्रक के अधिष्ठान हैं। गन्धर्व नगर का अधिष्ठान वेदान्त के मतानुसार आकाश है। यदि पूर्व पक्षी के अनुसार बिना अधिष्ठान के ही भ्रम सम्भव होने लगेगा तो शून्य ज्ञान भी शुक्ति-रजत ज्ञान के समय निरधिष्ठानक होने से भ्रम ही कहलाएगा।

यदि कहा जाए कि रजत का अधिष्ठान भ्रम है और भ्रम का अधिष्ठान रजत और इस प्रकार ज्ञेय रजतादि और भ्रम ज्ञान दोनों परस्पर एक दूसरे के अधिष्ठान हैं, तो यह अनुचित है, क्योंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आ जाएगा, कारण कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान से पूर्वकाल में रहना आवश्यक है। भ्रम और रजत को एक-दूसरे का अधिष्ठान मानकर भ्रम की साधिष्ठानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए भ्रम और रजत के अतिरिक्त किसी तीसरे सत्य को अधिष्ठान मानना ही युक्ति-संगत होगा।

बीजांकुर न्याय द्वारा अधिष्ठान का समर्थन

बीजांकुर न्याय से भ्रमज्ञान और ज्ञेय (रजतादि) व्यक्तियों की परम्परा मानने पर भी बीजांकुर प्रवाह में अनुगत मृत्तिका की तरह ज्ञान और ज्ञेय की परम्परा में अनुगत रूप से प्रतीत होने वाली किसी स्थायी वस्तु को अवश्य स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार कि घट और कपाल में परस्पर अन्वित-अनुगत

---

१. विवरण प्रमेय संग्रह १।१।

मृत्तिका के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार परस्पर अन्वित बीजांकुर में अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्य के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति हाती है और बीजांकुर परम्परा में जिस बीज से जो अंकुर उत्पन्न हुआ है उसी अंकुर से अपने कारण स्वरूप बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है और यह बीज भी पुनः दूसरे अंकुर को उत्पन्न करता है, अपने कारण भूत अंकुर को नहीं। इस प्रकार एकत्र बीजांकुर में कार्य-कारण का ग्रहरण हो जाने पर उस गृहीत कार्य-कारण भाव को लेकर अदृष्ट बीजांकुर परम्परा में भी कार्य-कारण भाव का ग्रहण हो जाता है। अतः बीजांकुर परम्परा में अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। अतः सद्रूप अधिष्ठान को स्वीकार करना आवश्यक ही है। वेदान्ती का कथन है कि अनुगत स्थायी कारण न मानकर अदष्ट की कल्पना करने में अन्य परम्परा के प्रसंग की आपत्ति अवश्य आ सकती है।

आप्त वाक्य स्वरूप बाध निरवधिक है, शून्यवादी के इस तर्क का निराकरण करते हुए वेदान्ती का कथन है कि 'सर्प नहीं है' इस आप्त वाक्य स्वरूप बाध का भी 'किन्तु रज्जु है' यहाँ तक तात्पर्य होने से आप्त वाक्य रूप बाध भी सावधिक है। 'सर्प नहीं है' यह सुनने पर 'तो क्या है ?' ऐसी अपेक्षा का नित्य उदय होने से पुरोवर्ती वस्तु-मात्र अवधि विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम डर रहे हो, इस प्रकार बाध में भी 'यहाँ' पद से उपस्थित पुरोवर्ती देश ही अवधिरूपेण विद्यमान है। अतः शून्यवादी का उक्त तर्क निरर्थक है।

जिन माया रचित हस्त्यादि स्थलों में पूर्वपक्षी निरधिष्ठान भ्रम की शंका करता है, वहाँ वेदान्ती का मत है कि उन स्थलों में भी भ्रम या बाध का साधक साक्षि-चैतन्य ही अधिष्ठान है एवं अवधि है। पूर्वपक्षी का यह तर्क उचित नहीं होगा कि भ्रम विषय के आधित होने से भ्रम का बाध और भ्रम के बाधित होने से उस बाधित भ्रम का अवभास कराने वाले साक्षिचैतन्य का भी बाध हो जाता है। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क का निरास करते हुए वेदान्ती का कहना है कि साक्षि चैतन्य का बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षि-चैतन्य के बाध का कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ जड रूप ही है। यदि पूर्वपक्षी शून्य को ही अधिष्ठान मानने लगे तो यह अनुचित है, क्योंकि अध्यस्यमान रजतादि में शून्य अनुगम्पमान नहीं है। इसके विपरीत सद्रूप अधिष्ठान 'सदिदं रजतम्' (यह रजत सद् है) इस अनुभव बल से सर्वत्र अन्वयी है। यदि शून्य को अन्वयी मान लिया जाए तो भ्रम दशा में 'शून्य रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इद्म' (यह) इस प्रतीति का विषय होने वाला ही शून्य है, तो ऐसा स्वीकार करने पर तो केवल शून्य एवं सद् ब्रह्म में नाम मात्र का ही अन्तर रहा। इसके अतिरिक्त शून्य को अवधि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वबाध के अनन्तर शून्य की प्रतीति नहीं होती। यदि बाध के अनन्तर भी शून्य की प्रतीति मानी जाएगी तव तो शून्य चैतन्य का ही रूप कलाएगा।

उक्त विवेचन के आधार पर शून्यवादी के उन समस्त तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनके आधार पर उसने अधिष्ठान के वैय्यर्थ्य को सिद्ध करना चाहता था।

जागरण एवं स्वप्न कालिक अध्यास का अधिष्ठान

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जागरण एवं स्वप्नावस्था में वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही अधिष्ठान है। जिस प्रकार कि जगारण में संप्रयोग से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त मुक्ति रूप इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली अविद्या रजताकार होकर विवर्त रूप परिणाम को प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी देह के भीतर ही होने वाले निद्रादि दोषों से दूषित अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त वृत्यवच्छिन्न चैतन्य में विद्यमान अविद्या अदृष्ट द्वारा उद्बुद्ध किए गए अनेक विषयों के संस्कारों से युक्त होती हुई प्रपंच के आकार में विवर्तरूपता को प्राप्त होती है।

वेदान्ती के उपर्युक्त मत के सम्बन्ध में शंका करते हुए पूर्व पक्षी का कथन है कि यदि उक्त कथन के अनुसार स्वप्नकालिक भ्रमा का अधिष्ठान आत्म चैतन्य है तो अध्यस्यमान पदार्थ के साथ आत्मचैतन्य का समानाधिकरण्य होने से 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार की प्रतीति के समान ही 'अहं नीलः' (मैं नील हूं) आदि प्रतीति होनी चाहिए, न कि 'पुरोदेश के सम्बन्ध से' 'यह नील है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। पूर्व पक्षी का तर्क है कि यदि उस पुरोवर्त्ती देश को भी आत्मा में अध्यस्त मानोगे तो 'मैं देश हूं' ऐसा भी अन्दर ही प्रतिभासित मानना पड़ेगा। संक्षेप में पूर्व पक्षी के उपर्युक्त मत का तात्पर्य है कि आत्मा चैतन्य के साथ तादात्म्य दिखाने वाली प्रतीति होनी चाहिए न कि वाह्य देश के साथ। यदि कहा जाए कि आत्म चैतम्य के साथ तादाम्य प्रतीति का अतिप्रसंगात्मक दोष तो अत्यल्प है, जागरण में भी चैतन्य के अधिष्ठान होने से वहाँ भी यह दोष है तो पूर्व पक्षी कहता है कि जागरण में भी यह दोष हम मानते ही हैं।

पूर्वपक्षी के उक्त तर्कों का निराकरण वेदान्ती ने बड़ी कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता के साथ किया है। उपर्युक्त तर्कों के सम्बन्ध में वेदान्ती का कथन है कि शरीरावच्छिन्न अहंकार के साथ समानाधिकरण्य से अन्तः प्रतीति 'अहं देश', अहं नीलः-(मैं देश हूं, मै नील हूं) की आपत्ति उत्पन्न कर रहे हो या शुद्ध चैतन्य के साथ सामानाधिकरण्य से उक्त अन्तःप्रतीति 'अहं देश' 'अहं नील' की आपत्ति प्रस्तुत कर रहे हो। वेदान्ती का समाधान है कि प्रथम दृष्टि से तो आपत्ति इसलिए नहीं स्वीकार की जा सकती कि हमने अहंकार को अधिष्ठान रूप से स्वीकार नहीं किया है। जहाँ तक द्वितीय पक्ष की बात है, यह आपत्ति हमें इष्ट ही है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि वेदान्ती के मतानुसार स्वाप्न पदार्थ अन्तःकरण में ही भासित होता है।

अद्वैत वेदान्त के विचार से केवल स्वाप्न पदार्थ तथा शुक्तिरजतादि ही विभ्रम नहीं है, वरन् व्यावहारकि घट-पटादि भी आत्म चैतन्य में ही अध्यस्त है। पूर्व पक्षी का यह तर्क समूचित नहीं होगा कि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न घटादि का ज्ञान आत्म स्वरूप नहीं है, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य अहंकारवच्छिन्न चैतन्य से वस्तुतः भिन्न नहीं है। जिस प्रकार कि घटाकाश और मठाकाश में केवल घटरूप उपाधि का उल्लेख मात्र विशेष है, परन्तु आकाश उभत्र समान ही है उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में भी केवल विषय और अहंकार रूप उपाधिमात्र विशष है, परन्तु चैतन्य सामान्य उभयत्र समान ही है। अतः दोनों प्रकार के चैतन्यों में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि घटादि व्यावहारिक पदार्थों का स्फुरण (ज्ञान) आत्म स्वरूप ही है।

और वह आत्मचैतन्य में ही अध्यस्त है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार 'मैं हूं और मैं नहीं हूं' इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का व्यवहार अहंकार रूप उपाधि के कारण है। एक ही चैतन्य के सर्व व्यापक होने के कारण उसका 'भीतर' एवं 'बाह्य' जगत् में रहना उपपन्न है। अतः जागरण काल में पारमार्थिक रूप से माने घटपटादि सुल व्यवहार जब सर्वगम चैतन्यरूप अधिष्ठान में अध्यस्त हैं तो स्वप्न भी उसक आत्मचैतन्य में अध्यस्त है, यह कहने की अपेक्षा ही नहीं है।

जैसा कि अधिष्ठान सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा गया है, अधिष्ठानवाद का प्रतिपाद्य मायिक जगत् की कार्यता सिद्ध करना है। मायिक जगत् की सिद्धि में जो स्थानं अधिष्ठान का है, वही अध्यास का भी है। अतः इस स्थल पर अध्यास सिद्धान्त का विवेचन अत्यन्त उपयोगी समझ कर किया जा रहा है।

अध्यासवाद और अद्वैत दर्शन

अद्वैत दर्शन में वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अध्यासवाद का महत्व भी अधिष्ठानवाद से कथमपि कम नहीं है। अधिष्ठानवाद के द्वारा यदि जगत्कारणवाद का स्पष्टीकरण किया गया है तो अध्यासवाद के द्वारा कार्य रूप जगत् की सत्ता का समालोचन निष्पन्न हुआ है। दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। वेदान्त विरोधी आचार्यों के अध्यास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ पहिले इन मतों का निरूपण किया जाएगा। इसके पश्चात् वेदान्तिक दृष्टि से अध्यास का विवेचन अभीष्ट होगा।

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का अध्याससम्बन्धी मत

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का विचार है कि अन्य में (शुक्ति आदि में) अन्य वस्तु (देशान्तरवर्ती रजत आदि) के धर्म का अध्यास होता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी का मत है कि देशान्तर्गत और कालान्र्तगत रजत का ग्रहण दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से होता है।

आत्मख्यातिवादी क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध का मत

अध्यास के सम्बन्ध में आत्मख्यातिवादी बौद्ध का मत है कि अन्य वस्तु (वाह्य शुक्ति आदि) में अन्य वस्तु (बुद्धि रूपी आत्मा) के धर्म रजत आदि का अध्यास होता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आत्मख्यातिवादी की दृष्टि से आन्तर रजत का ही वाह्य पदार्थ के समान अवभास होता है। आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मतानुसार बुद्धि (विज्ञान) के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की सत्त नहीं स्वीकार की गई है। अतः आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत में रजतादि का अध्यास बुद्धि रूप ही है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद भी इस मत में भ्रम ही माना गया है।[1]

शून्यवादी बौद्ध का मत

असत् ख्यातिवाद के समर्थक शून्यवादी का मत है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) यह ज्ञान

१. रत्नप्रभा, ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात।

स्मृति और अनुभव से भिन्न है। उक्त ज्ञान को शून्यवादी बौद्ध अध्यास रूपी ज्ञान मानता है। शून्यवादी का दृष्टिकोण है कि 'यह रजत है', इस ज्ञान में अध्यास के द्वारा असत् रजत का भान होता है।[१]

अख्यातिवादी मीमांसक का मत

अख्यातिवादी के मत का आशय है कि जिस (शुक्ति में) जिस (रजत) का अध्यास है, उसका भेद न समझने से होने वाला भ्रम ही अध्यास कहलाता है।[२]

उपर्युक्त सभी मतों में इस अंश में ऐकमत्य है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। इस अंश में अद्वैत वेदान्त और उपर्युक्त मतों में भी साम्य अवलोकनीय है।

अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप

शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कह कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प और आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृव्य भोक्तुत्व का प्रवर्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।[३]

अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। उक्त शंका का उत्तर अद्वैत दर्शन के सम्राट शंकराचार्य ने बड़ी कुशलता के साथ दिया है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रथम तो आत्मा अविषय ही नहीं है, क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूं, मैं जागता हूं, आदि तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सर्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिस के अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए, अज्ञानी पुरुष अप्रत्यच आकाश में भी तलमलिनता आदि अध्यास का अनुभव करता है।[४] अतः यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता है कि यदि अध्यास–रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतन निष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' यह रजत है इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकार ने उक्त शंका का बड़ा समीचीन उत्तर देते हुए कहा है कि जिस

---

१. रत्नप्रभा की टिप्पणी, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्‌घात (श्रीकृष्ण पन्त सम्पादित)।

२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्‌घात।

३. एवमनादिरनन्तोनैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व भोक्तत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः (ब्र० सू० शा० भा० उपोद्‌घात)।

४. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्‌घात।

प्रकार न्याय दर्शन में आत्मनिष्ठ सुखादिकों का, ज्ञान शरीर के सुखदिकों की अधिकरणता का अवच्छेदक होने से उपलब्ध होता है उसी प्रकार चैतन्य मात्र के सत्य रजत का अधिष्ठान न होने पर भी इदमवच्छिन्न चैतन्य के उसका (रजत का) अधिष्ठान होने से एवं 'इदम्' को उसक रजत का अवच्छेदक होने से अध्यस्त रजत का पुरोदेशवर्ती संसर्गज्ञान सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकर ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि विषय चैतन्य (इदमवच्छिन्न) के अन्तःकरणउपहित साक्षि-चैतन्य के साथ अभिन्न होने से पुरोवर्तिविषयचैतन्य में भी अध्यस्त रजतादि वस्तुतः साक्षी में ही अध्यस्त हैं।

अध्यास के विभिन्न रूप

अध्यास के ही कारण जीव, पुत्र-स्त्री आदि की पूर्णता एवं अपूर्णता के होने पर (मैं ही पूर्ण और अपूर्ण हूं) इस प्रकार अनुभव करके वाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार 'मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं गौरवपूर्ण हूं' इत्यादि अनुभव करके आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास देखा जाता है। इन्द्रियधर्मों के अध्यास के द्वारा जीव 'मैं मूक हूं, मैं अन्धा हूं', ऐसा अनुभव करता है।[1] इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय और निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास देखा जाता है। इसके अतिरिक्त 'मैं' इस ज्ञान के उत्पादक अन्तः करण का, अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास होता है।

अध्यास का महत्त्व

यद्यपि अध्यास परमार्थ सत् होने के कारण मिथ्या है, परन्तु मिथ्या होते हुए भी यह संसार के समस्त लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों का हेतु है। अध्यास के ही कारण विधि-निषेधबोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार अद्वैत दर्शन में अध्यास की महती उपयोगिता स्वीकार की गई है। शंकराचार्य ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस देह में आत्मभाव अध्यस्त नहीं है उस शरीर से कोई व्यापार नहीं किया जा सकता। इस अध्यास के अभाव में असंग आत्मा, प्रमाता नहीं बन सकता एवं आत्मा के प्रमातृत्व के अभाव में प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रों का अनुभवकर्ता अध्यासदृष्टि वाला पुरुष ही है। इसके अतिरिक्त पशु आदि के व्यवहार और शरीर, इन्द्रियादि अनात्मा से आत्मा भिन्न है, इस प्रकार का परोक्षज्ञान करने वाले विवेकियों के व्यवहार में कोई भेद नहीं मिलता। इस से भी यही सिद्ध होता है कि प्रमाण एवं शास्त्र व्यवस्था के आश्रय अविद्वान् ही हैं, क्योंकि उक्त प्रकार के विवेकी पुरुषों को आत्मा और अनात्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान होता है परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उनके और पशुओं के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता।[3] उदाहरण के लिए, जिस प्रकार किसी पशु को यदि प्रतिफल शबद सुनाई पड़ता है तो वह दूर हट जाता है और यदि अनुकूल शब्द सुनाई पड़ता है तो उस ओर प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार पुरुष भी उधर ही प्रवृत्त होते हैं, जिधर अनुकूल व्यवहार दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

३. रत्नप्रभा, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

जिधर प्रतिकूलता दीखती है वहाँ पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होते जैसे कि पशु यदि किसी पुरुष को मारने के लिए लाठी उठाए आते हुए देखता है तो पिटने की आशंका से भागने लगता है और यदि उसके सामने कोई पुरुष हरित तृण लिए हुए आता दिखाई पड़ता है तो उसके सम्मुख प्रवृत्त हो जाता है। यही बात पुरुषों के सम्बन्ध में भी है। व्युत्पन्नचित पुरुष भी यदि किसी को खड्ग लिए एवं चिल्लते हुए देखते हैं तो उससे दूर हट जाते हैं और इससे विपरीत पुरुषों को देखकर उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं। पशुओं एवं पुरुषों के उपर्युक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार का कारण अध्यास है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि पुरुषों के समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार अध्यास के कार्य हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समस्त शास्त्रीय व्यवहारों का मूल भी अध्यास ही है। अतः आत्मबोध के पूर्व में प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुष का ही आश्रय लेता हैं। उदाहरण के लिए, 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र व्यवहार आत्मा में, वर्ण, आश्रम, वय, आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार समस्त प्रमाण-प्रमेय एवं शास्त्रीय व्यवहारों का मूल अध्यास ही है। जब अध्यास की निवृत्ति हो जाती है तो केवल अधिष्ठान तत्व—एक ब्रह्म ही की सत्ता वर्तमान रहती है।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्त्व

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का समन्वय करते समय यह कहा जा चुका है कि सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा भी मनुष्य निर्गुण ब्रह्म का साक्षातकार करने में समर्थ है। अतः उपासना सगुण ब्रह्म की दृष्टि से ही संगत है, निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह सगुणेपासना अविद्या का ही रूप है। अध्यास का विवेचन करते हुए, अभी यह कहा जा चुका है कि शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञादि कृत्यों का आधार अध्यास ही है। यद्यपि ईश्वर की उपासना वेदान्तिक दृष्टि से अविद्या का ही रूप है, परन्तु अविद्या के द्वारा ही मनुष्य मरणत्व को पार करके अमरत्व लाभ कर सकता है।[1] इसलिए अविद्या रूप उपासना भी निर्विशेष ब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या की साधिका हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपासना विधि की उपादेयता मन्दबुद्धि साधकों के लिए ही है, उच्चसाधकों के लिए नहीं।

ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले सगुणोपासकों की मुक्ति

उपासना का फल चित्त की एकाग्रता है। सगुण ब्रह्म की उपासना चित्त की एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है, इस कथन का समर्थन करते हुए कल्पतरूकार अमलानन्द ने कहा है कि निर्विशेष परब्रह्म के साक्षात्कार करने में जो अल्पबुद्धि वाले लोग असमर्थ हैं, उन पर दया करते हुए ही आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया है। सगुण ब्रह्म के परिशीलन के द्वारा जब उपासकों के मन वशीभूत होता है तो वे सगुण ब्रह्म का ही, कल्पित उपाधि से विनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात्कारण न होकर परम्परया कारण है।

---

१. अवान्तरभेदेनोपादानविधिरपि मन्दानुकम्पार्थमपवादत्वेन—रामाद्वयाचार्य : वेदान्त कौमुदी, पृ० २४१ (मद्रास संस्करण १९५५)।

इसलिए वेदान्तपरिभाषाकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सगुण ब्रह्म के उपासक अर्चि[1] आदि मार्ग (या देवयान मार्ग) के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मलोक पहुंचने पर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा तत्वसाक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार करने वालों का शेष में ब्रह्मा की आयु शेष होने से ब्रह्मा के साथ ही मोक्ष होता है।[2]

वेदान्तपरिभाषाकार के उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि सगुणोपासकों को भी विना श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता।

सुरेश्वराचार्य का मत

सुरेश्वराचार्य का मत है कि उपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं है। सुरेश्वराचाग्र का तर्क है कि जो उपासनाविधि कर्म, फल एवं कारके के भेद को लेकर आरम्भ होती है, वह अद्वैततत्त्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म के सम्वन्ध में कर्मादि का भेद सम्भव नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार का तो स्वरूप ही समस्तं अविद्या की निवृत्ति है। जिस प्रकार उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं है।[3] इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य का कथन है कि उपासना की, कर्म की फलभूत उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, प्रयोगविधि एवं अधिकारविधि में से कोई ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं कही जा सकती।[4]

लेखक का मत

उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण है या नहीं, इस समस्या के सम्वन्ध में इस लेखक का मत है कि उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होती हे, इसीलिए वह परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण तो नहीं है, परन्तु परम्परया ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता उसमें अवश्य सम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए चित्त का नैर्मल्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। यहाँ यह और विचारणीय है कि उपासना भी चित्त शुद्धि का अनिवार्य हेतु नहीं है। यही कारण है कि अनेक उपासकों का भी चित्तनैर्मल्य देखने में नहीं आता।

अहंग्रह और प्रतीक उपासनाएं

साधारणतया अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत उपासना के दो भेद किए गए हैं—अहंग्रह उपासना और दूसरी प्रतीकोपासना। जब तत्वजिज्ञासु 'अहंब्रह्मास्मि' 'अयामात्माब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' आदि

---

१. सगुण उपासक का उत्तरायण मार्ग से गमन का क्रम यह है कि वह सर्व प्रथम अर्चि अभिमानी देवता को प्राप्त होता है और फिर दिन के अभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी षण्मासाभिमानी उत्तरायणाभिमानी संवत्सराभिमानी और देवलोकाभिमानी देवता को प्राप्त होकर वायु लोक सूर्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोक में होता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

२. वेदान्त परिभाषा—परिच्छेद, ८।

३. Lights on Vedanta, p. 206-207.

४. Lights on Vedanta, p. 207.

महावाक्यों के आत्मरूप से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं तो वह अहंग्रह उपासना कहलाती है।[1] इसके अतिरिक्त अनात्मवस्तु में देवता दृष्टि से संस्कार द्वारा जो उपासनाएं होती हैं वे सब प्रतीक उपासनाएं हैं।

अहंग्रह और प्रतीक उपासनाओं में यह वैलक्षण्य है कि अहंग्रह के द्वारा जीव जीवनदशा में ही भावना के प्रकर्ष से ही परमात्मसाक्षात्कार करके मृत्यु को प्राप्त होने पर परमात्मरूपता को प्राप्त करता है, परन्तु प्रतीक उपासना के द्वारा उक्त परमात्मसाक्षात्कार असम्भव है। वेदान्त सूत्र के लेखक ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अमानव पुरुष ब्रह्म लोक में उन पुरुषों को ही ले जाता है जो प्रतीकोपासक नहीं हैं।[2] प्रतीकोपासना में तो प्रतीक की ही प्रधानता होने के कारण प्रतीकोपासक प्रतीक की ही उपलब्धि कर सकता है, परमात्मा की साक्षात्काररूप उपलब्धि नहीं, क्योंकि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है।[3] इस प्रकार अहंग्रह एवं प्रतीक उपासनाओं के फल पृथक्-पृथक् हैं।

उपर्युक्त दोनों उपासनाओं के फलवैलक्षण्य को सिद्ध करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि नामवागादि प्रतीकोपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर उपासनाओं में विशेष फल का बोध होता है। उदाहरण के लिए, नामकी ब्रह्म दृष्टि से उपासना करने वाला नाम के विषय में स्वतंत्र होता है (छा० उ० ७।१।५) और नामोत्तरवर्ती वाक् की उपासना करने वाला वाणी के विषय में स्वतन्त्र होता है। (छा० उ० ७।२।२)। इस प्रकार फल विशेष की उपपत्ति उपासनाओं के प्रतीकाधीन होने से ही सम्भव है। इसके विपरीत उपासनाओं के ब्रह्माधीन मानने पर फल विशेष की उपपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविशिष्ट है। अतः प्रतीकालम्बन-उपासनाओं का फल इतर उपासनाओं के फल के समान नहीं है।४

ऊपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया विदित है कि प्रतीकोपासना के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। प्रतीक उपासना की यही उपयोगिता है कि प्रतीकोपासक इस उपासना के द्वारा चित् की एकाग्रता का अभ्यास करता है और ब्रह्मसाक्षात्कार के पावन पथ पर अग्रसर होता है।

संन्यास की उपयोगिता और योग्यता

ब्रह्मसाक्षात्कार में सन्यास की उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद मिलता है। कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मविद्या के प्रादुर्भाव के प्रतिबन्धक अनेक पाप यज्ञादि के अनुष्ठान से निवृत्त होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे पाप भी हैं, जो सन्यासजनित अपूर्व से निवृत्त होते हैं। इस प्रकार कम्र के समान चित्त शुद्धि के द्वारा ही सन्यास की भी उपयोगिता स्वीकार्य है। अद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्यों का मत है कि सन्यास के, श्रवण आदि का अंग होने के कारण सन्यास का फल ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है। उक्त मत विवरण सम्प्रदाय के अनुयांथयों के द्वारा स्वीकार किया गया है। कुद भी हो, सन्यास ग्रहण, श्रवणदि में सहायक होने के कारण ब्रह्मसाक्षात्कार का सहायक ता अवश्य है, परन्तु वह अनिवार्य रूप से ब्रह्मसाक्षात्कार फल का दाता कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवल सन्यासग्रहण से ब्रह्मसाक्षात्कार

---

१. ब्र० सू० ४।१।३
२. ब्र० सू० ४।३।१५ तथा देखिए–वेदान्त कौमुदी द्वितीय अध्याय पृ० १६५।
३. न तस्य प्रतिमाऽस्ति श्वे० उप० ४।१६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१६।

की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है।[1] परमहंसोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा है कि सन्यास आश्रम को धारण करने वाला पुरुष यदि ज्ञान प्राप्त नहीं करता तो अज्ञानवंश महारौरव आदि घोर नरकों को प्राप्त करता है।[2] अतः सन्यासग्रहण परमात्मसाक्षात्कार का अनिवार्य कारण नहीं है।

सन्यास ग्रहण की योग्यता के सम्बन्ध में भी विद्वानों के एकाधिक मत मिलते हैं। स्मृति वाक्य के आधार पर कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए ही ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की व्यवस्था है।[3] सुरेश्वराचार्य भी द्विजमात्र को सन्यास एवं श्रवणदि का अधिकारी बतलाते हैं।[4] परन्तु एक अन्य सम्मानित मत के अनुसार ब्राह्मण मात्र को ही सन्यास ग्रहण करने का अधिकार है।[5] आज के शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी सन्यासियों द्वारा उक्त मत को ही महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण को ही सन्यास का अधिकार स्वीकार करने वाले विद्वानों का कथन है कि यद्यपि स्मृति में तीनों वर्णों के सन्यास की चर्चा है, परन्तु विरोधाधिकरणन्याय से उसी स्मृति के अर्थ का परिग्रहण करना चाहिए जो श्रुति से विरुद्ध नहीं है।[6] अतः श्रुति में कही भी ब्राह्मणेतर के लिए सन्यास की व्यवस्था न होने के कारण, वर्गत्रय के लिए सन्यास की व्यवस्था सिद्ध करने वाला स्मृति वाक्य श्रुति विरुद्ध होने के कारण अमान्य समझा जाएगा।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति का स्वरूप

वेदान्त दर्शन के सर्वोच्च प्रतिपाद्य मोक्ष का विवेचन उपनिषद् दर्शन से ही पूर्णतया मिलना आरम्भ हो जाता है, यह हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत देख चुके हैं। यह बात दूसरी है कि प्राचीन उपनिषदों में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति आदि विषयों का पूर्ण एवं स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। उपनिषत्कालिक मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास हमें शांकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आगे चलकर शंकराचार्यपरवर्ती सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों ने मुक्ति के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टियों से विचार किया था। इस स्थल पर शंकराचार्य और अनेक परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दर्शन के आधार पर मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया जायेगा।

मुक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप

मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रतयय होने पर निष्पन्न होतीं है, जिसका अर्थ छुटकारा पाना होता हे। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। वस्तुतः आत्मा सर्वदा एक दूसरे के विरोधी हैं।

---

१. न च संन्यसनादेवसिद्धिं समधिगच्छति। –गीता ३।४।

२. काष्ठदण्डोधृतोयेन सर्वाशीज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्। –परमहंसोपनिषद्, 'ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषद्' पृ० १६६ (निर्णयसागर, बम्बई १६४८)।

३. ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वैश्योवा प्रव्रजेद् गृहात्।
त्रयाणामपिवर्णानाममी चत्वार आश्रमाः।। –सि० ले० सं०, द्वितीय परिच्छेद से उद्धृत।

४. वृ० भा० वा० पृ० ७५८-७५६।

५. अन्येतु ब्राह्मणस्यैव सन्यासो बहुधाश्रुतः। –वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मंजरी, ३।१२।

६. सि० ले० सं०, तृतीय परिच्छेद।

विकार रहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है, परन्तु अविद्यावश जीवकोटि में आने पर उसमें जगत् के सम्वन्ध में ममत्व-परत्व आदि अनेकानेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण जीव आत्मबोध करने में असमर्थ होता है। आत्म बोध न होने के कारण ही जीव जगत् की समस्त वस्तुओं से कोई सम्वन्ध न होने पर भी अविद्या के कारण अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या वन्धन का मूल है। जब वन्धन की मूलभूता इस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तभी जीव मुक्त कहलाता है। परन्तु वन्धन एवं मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मायिक ही है।[1]

शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्तविक्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयंज्योतिस्वभाव कहा है। शंकराचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीररहित स्थिति को शंकराचार्य ने मोक्ष कहा है।[2] वेदान्त दर्शन की मुक्ति आनन्द रूप है। वह न्याय दर्शन की तरह शुष्क नहीं है।

अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध

आत्मबोध का ही नाम मुक्ति है और अविद्या जीव की मुक्ति में बाधक है, यह विचार अभी व्यक्त किया जा सकता है, अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में भी वेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। जैसा कि अप्पय दीक्षित ने ब्रह्मसिद्धिकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है, ब्रह्मसिद्धिकार के मतानुसार आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है।[3] चित्सुखाचार्य एवं विमुक्तात्मा भी उक्त मत के ही समर्थक हैं। इन आचार्यों ने अविद्या निवृत्ति को ब्रह्मज्ञान कहा है।[4] ब्रह्मसिद्धिकार के उक्त मत के सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि आलोचकों[5] का अप्पय दीक्षित पर यह आक्षेप उचित नहीं है कि ब्रह्मसिद्धि में आत्मसाक्षातकार को अविद्या निवृत्ति कहा है, आत्मा को नहीं। क्योंकि आत्मासाक्षात्कार की स्थिति में आत्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं रहती। आनन्दबोधाचार्य अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय से भी विलक्षण मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में आनन्दवोधाचार्य का तर्क है कि अविद्यानिवृत्ति को सतय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य मानने पर अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती। अविद्यानिवृत्ति को असत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि असत् मानने से अविद्यानिवृत्ति में ज्ञानसाध्यत्व नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति को सदसत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सत् एवं असत् आनन्द बोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वचनीयता

---

१. मानसोल्लास २।५६ अड्यार मद्रास।

२. इदं तु पारमार्थिक कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४।

३. अथकेयमविद्यानिवृत्तिः आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः।

–सिद्धान्त लेश संग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।

४. Lights on Vedanta, p. 259.

५. वही, p. 258-259.

भी अस्वीकार्य है। आचार्य का विचार है कि अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सादि-अनिर्वचनीय पदार्थों के प्रति अज्ञान के उपादान कारण होने से, अविद्यानिवृत्ति के अनिर्वचनीय मानने से अविद्या निवृत्ति की फलभूत मुक्ति में भी अपने उपादानकारण–अविद्या की अनुवृत्ति प्रसक्त होगी और इस प्रकार मुक्ति की स्थिति अनिष्पन्न ही रह जाएगी।[१] अतः आनन्दबोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत् और अनिर्वचनीय से विलक्षण किसी पंचम प्रकार का ही स्वीकार किया गया है।[२] इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ने भी अविद्यानिवृत्ति को किसी पंचम प्रकार का ही माना था। आनन्दबोधाचार्य के न्याय मकरन्द में अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वाच्य भी कहा गया हैं।[३] न्याय मकरन्द के टीकाकार चित्सुखाचार्य के अनुसार उक्त मत का लेखक आनन्द बोधाचार्य को ही सिद्ध किया गया है। परन्तु ऊपर हमने अविद्या निवृत्ति के सम्बन्ध में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार के अनुसार आनन्दबोधाचार्य के जिस मत का उल्लेख किया है उसके अनुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता का निराकरण हुआ है। यदि विचार कर देखा जाए तो उपर्युक्त दोनों मतों में कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। दोनों की मत परमार्थ सत्य के समर्थक हैं। प्रकाशात्मा ने भी दोनों ही मतों का निरूपण एवं समर्थन किया था।[४]

मेरे विचार से अविद्यानिवृत्ति मानना ही तर्क संगत होगा, क्योंकि जब अविद्या ही अनिर्वचनीय है तो उसकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय मानी जाएगी। यदि शंका हो कि मुक्ति में भी अविद्यानिवृत्ति की अनुवृति होगी तो उसकी उपादानभूता अविद्या की भी अनुवृत्ति होने से अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी, तो यह अनुचित है, कारण कि अज्ञाननिवृत्ति की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें उत्पत्ति नाम का एक भावरूप विकार है, जो केवल एक ही क्षण में (उत्पच्यवच्छिन्न काल) में ही रहता है। इसी प्रकार निवृत्ति (विनाश) भी पदार्थों का भावरूप धर्म ही है, जो निवृत्यवच्छिन्न काल में ही रहता है। उत्पत्ति और निवृत्ति, आद्य और विनाश काल के अतिरिक्त यदि अन्य माल में रहती होतीं तो चिरकालोत्पन्न घट में और चिरविनष्ट घट में उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' ऐसा व्यवहार हुआ होता। अतः अत्यन्त क्षणिक अविद्यानिवृत्ति मोक्ष काल में कदापि नहीं सिद्ध की जा सकती। अतः अविद्यानिवृत्ति उचित ही है।

जहाँ तक अविद्यानिवृत्ति का प्रश्न है, अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मबोध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार की कोई व्यक्ति अपने गले में हार के रहते हुए भी विस्मृति के कारण हार को यंत्र-तत्र खोजता फिरता है, परन्तु विस्मृति दूर होने पर उसे अपने गले में ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म जीव को नित्य प्राप्त होते हुए भी जीव के, अनादि अविद्या से आवृत्त होने के कारण अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। जब श्रवशदि के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को अपने आनन्दस्वरूप का बोध तत्क्षण हो जाता है।

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।
२. न्याय मकरंद, पृष्ठ ३५२ (चौखंबा संस्करण)।
३. न्याय मकरंद, पृष्ठ ३५७।
४. Lights on Vedanta p. 257.

मुक्त पुरुष का व्यवहार

मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्वन्ध में विचार करते हुए इस समस्या पर विचार करना परमावश्यक है कि मुक्त पुरुष का प्रपंचमय जगत् के साथ किस प्रकार का सम्वन्ध होता है। इस समस्या का समाधान करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपंच रूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि के द्वारा घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।[१] यदि मुक्ति प्राप्त होने पर जगत् का ही विनाश हो जाता तव तो एक व्यक्ति के मुक्त होने पर ही समस्त जगत् का विनाश हो गया होता।[२] अतः मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जीव की जगद्बुद्धि का ही विनाश होता है। वद्धावस्था में जो प्रपंचमय जगत् को जीव को सत्य रूप से भासित होता है, मुक्तावस्था में उसका प्रपंच शान्त हो जाता है।[३] प्रपंच शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैतवुद्धि का भी विनाश हो जाता है।[४] तत्ववोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है–ब्रह्म हि-भवति य एवं वेद।[५]

मुक्त पुरुष एवं वद्ध पुरुष के व्यवहार में यही अन्तर है कि मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर मिथ्याभिमान एवं भ्रमजन्य दुखादि की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि दुखाद्यनुभूति का कारण मिथ्याभिमान ही है। इसके विपरीत अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण ही वद्ध संसारी पुरुष को दुखादि की अनुभूति होती है। मुक्ति सम्वन्धी सिद्धान्त के विषय में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जब परमेश्वर रूप रामादि को अनेक अवसरों पर अज्ञान एवं दुखादि का अनुभव करते हुए देखा जाता है तो साधारण मुक्त पुरषों में अज्ञान एवं दुखादि की अनुभूति का माया जाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। उक्त शंका के सम्वन्ध में यह निवेद्य है कि ईश्वर रूप रामादि द्वारा किया गया अज्ञान एवं दुखदि का अनुभव ईश्वर का नट के समान अभिनय मात्र है। लोक मर्यादा के लिए ही ईश्वर को इस अभिनय की आवश्यकता पड़ती है।[६] सुरेश्वराचार्य ने मुक्त पुरुष के व्यवार के सम्वन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार निद्राभंग होने पर द्रष्टा स्वप्नदृष्ट पदार्थों को पुनः नहीं देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्यक् ज्ञान होने पर विश्व को नहीं देखता है।[७] ज्ञानी के विश्व को न देखने का यही तात्पर्य है कि उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं दृष्टिगोचर होती। ऐसे मुक्त पुरुष का लोक में जडवद् व्यवहार देखा जाता है।[८] श्रुति में मुक्त पुरुष को चक्षु रहते हुए भी

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।४।
२. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।११।
३. माण्डूक्योपनिषद्, शा० भा०, १।३।
४. ज्ञातेद्वैतं न विद्यते, मा० का० १।१८।
५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२५।
६. सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।
७. निद्रयादर्शितानथन्नि पश्यति यथोत्थितः।
सम्यक्ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति।।–मानसोल्लास १।२।
८. नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् न चाऽन्येनपृच्छतः।
जानन्नपिहि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।।–वे० सि० मु० पृ० २५५ से उद्धृत।

अचक्षु के सामन और कर्ण होते हुए भी अकर्ण[1] के समान कहा गया है। मुक्त के अचक्षु एवं अकर्ण होने का यह तात्पर्य है कि मुक्त पुरुष नेत्र एवं कर्ण रहते हुए भी किसी विषय को कामना से नहीं देखता और न सुनता है। इसलिए जगत् के समस्त विषयों में ज्ञानी की अनासक्ति देखी जाती है। उपदेश साहस्री के अन्तर्गत शंकराचार्य ने आत्मवेत्ता जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्त्यवस्था का अनुभव करते हुए द्वैत जगत् को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मक जगत् को देखता है तो उसे अद्वैत रूप ही समझता है तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष है।[2]

क्या मुक्त पुरुष का परलोकगमन सम्भव है?

मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि क्या मुक्त पुरुष देहत्याग के पश्चात् किसी लोकान्तर की प्राप्ति करता है अथवा नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव की ब्रह्मात्मता सिद्ध होने पर उसका लोकान्तरगमन कदापि सम्भव नहीं है। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ते' (उस आत्मज्ञानी पुरुष के प्राण उत्क्रमण को नहीं प्राप्त होते) आदि श्रुति वाक्य भी उक्त सिद्धान्त के ही प्रतिपादक हैं। इस प्रकार आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष वर्तमान शरीर को त्याग कर लोकान्तर को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त सुख-दुख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[3] इस विषय का विवेचन अभी जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के तुलनात्मक समीक्षण के अवसर पर किया जाएगा। मुक्त पुरुष के लोकान्तरगमन के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत 'कार्य बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' (ब्र० सू०, ४।३।७) सूत्र के अन्तर्गत बादरायण द्वारा उद्धृत आचार्य बादरि के मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि सगुण ब्रह्म में गन्तव्यत्व की उपाधि होने के कारण उपासक ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है, परन्तु इसके विपरीत परब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करने वालों का प्रतयगात्मा है।[4] ब्रह्म देवता मुक्त पुरुष जब स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है और अद्वैत सत्य ब्रह्म के अतिरिक्त जब किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं देखी जाती तो फिर मुक्त के लोकान्तरगमन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

जीवन् मुक्ति और विदेहमुक्ति

मूलतः, मुक्ति के अन्तर्गत भेद का निरूपण शांकर वेदान्त के प्रतिकूल है। शंकराचार्य ने मुक्तावस्था को एक रूप ही माना है।[5] अतः शांकर वेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति–ये दो भेद मिलते हैं। जीवन्मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्म बोध होन पर कर्मादि का वन्धन

---

१. स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णो अकर्णइव–वेदान्तसार ३५ से उद्धृत।

२. .सुषुप्तवज्जाग्रतियो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथाचकुर्वन्नपि निष्क्रियश्चयः, सआत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।। –उपदेशसाहस्री १०।१३

३. वेदान्त परिभाषा, परिच्छेद ८।

४. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।३।७।

५. वही, ३।४।५।

समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति, वेग का क्षय होने पर होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी जीवन धारण करना ही पड़ता है। शंकराचार्य ने जीवन्मुक्ति की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त करते हुए कहा कि जिस प्रकार एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता, जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार मुक्तपुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले कर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना पड़ता है। यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। जब जीवन्मुक्त प्राणी का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त होने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और विदेह मुक्ति में प्राणी कर्मभोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, यही जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का प्रधान भेद है।

मुक्तात्माओं द्वारा, शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार

प्राचीन इतिहास में मुक्त आत्माओं के शरीर धारण करने की अनेक कथाएं मिलती हैं। अपान्तरतमा नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्णद्वैपायन रूप से जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के मानसूत्र वशिष्ठ ने भी निमि के शाप से पूर्व देह का त्याग करके ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इन दृष्टान्तों के अनुसार अपान्तरतमा आदि लोक मर्यादा के अर्थ वेदप्रवर्तन आदि अधिकार में नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार 'अथ तत उर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एवं मध्ये स्थाता' (दा० उ० ३।११।१) श्रुति वाक्य के अनुसार सूर्य सहस्रों युगों तक जगत् का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होने पर उदय और अस्त से रहित होने पर कैवल्य का अनुभव करता है, और जेसे आज भी ब्रह्मदेवता आरम्भभूति कर्मों के भोग के क्षीण होने पर कैवाल्यानुभूति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा तत्-तत् अधिकारों में नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य के हेतु--यम्यक् तत्त्वज्ञान के होने पर भी कर्मों के क्षीण न होने से, अधिकार पर्यन्त शरीर धारण करते हैं और कर्मों के क्षीण होने पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति करते हैं।' इस प्रकार ईश्वर रूप को प्राप्त अपान्तरतमा आदि को भी जब तक कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तब तक पुनः-पुनः शरीर धारण करना ही पड़ता है।

समीक्षा

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने शांकरवेदान्तसम्मत जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है। सर्वज्ञात्ममुनि तो जीवन्मुक्ति को ही अस्वीकार करते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि का तर्क है कि अविद्या के विरोधी तत्वसाक्षात्कार के उदित होने पर लेशरूप से भी अविद्या

---

१. एवमपान्तरतमः प्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्माणः यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने च अपवृज्यन्ते।
—ब्र० सू०, शा० भा०, ३।३।३२।

की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। अतः जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्र श्रवण आदि विधि का केवल अर्थवाद का मात्र है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष ने निदिध्यासन किया है, उस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति मात्र से विलास और वासना के साथ अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।[1] शंकराचार्य और सर्वज्ञात्मुनि के सिद्धान्तों के इस अंश में साम्मत्य है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अविद्यालेश शेष नहीं रहता। ब्रह्मवादी शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म अखण्ड[2] एवं अनन्तप्रकाश सम्पन्न है। अतः अखण्ड एवं अनन्त प्रकाश सम्पन्न ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अविद्यालेश का प्रश्न नहीं उपस्थित होगा। परन्तु जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है अविद्यालेश के निराकरण द्वारा जीवन्मुक्ति का निराकरण असमीचीन है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अपान्तरतमा आदि को भी प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के लिए पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ा था। अतः सर्वज्ञात्मुनि का यह कथन शांकर वेदान्त के प्रतिकूल है कि अविद्या लेश न रहने के कारण, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

विद्यारण्य ने, देहेन्द्रियादिसंघात के उपादान कारण–अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति की असंगतता का निराकरण करते हुए कहा है कि तत्वसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की सिद्धि होगी।[3] इस प्रकार विद्यारण्य के विचारानुसार प्रारब्ध कर्म पूर्णतया अविद्यानिवृत्ति में बाधक है। तत्वसाक्षात्कार होने पर भी अविद्यालेश की अनुवृत्ति का विचार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शंकराचार्य द्वाराप्रतिपादित मुक्तिविषयक विचार से भिन्न है। शंकराचार्य अविद्या की पूर्वनिवृत्ति के पक्षपाती हैं।

मण्डन मिश्र ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारों का उल्लेख किया है।[4] जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए एक ओर उन्होंने सद्योमुक्ति का समर्थन किया है तो दूसरी ओर प्रकारन्तर से जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन भी किया है। सद्योमुक्ति का समर्थन करते हुए मण्डनमिश्र का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने प प्राणी के समस्म संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध कर्मों का ही क्षय हो जाता है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राणी का देहपात हो जाता है और वह विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है। उक्त तर्क का ही समर्थन करते हुए कुछ विद्धानों का कथन है कि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर' (उव परावर परमात्मा का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मवेत्ता के समस्त कर्मों का क्षय होता है) इस श्रुति–तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार समस्त काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान रूप प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण कर्मों का भस्मीभूत करता है) इत्यादि स्मृति वाक्यों के अनुसार ब्रह्मज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों का

---

१. सि० ल० सं०, ५१३.५४।

२. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न चब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति।

–ब्र० सू० शा० भा०, ३।५।५२।

३. तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु।

–वि० प्र० सं० ११, पृ० ३६२।

४. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०।

क्षय सिद्ध होता है।[1] परन्तु श्रुति एवं स्मृति के वाक्यों के पारस्परिक सामंजस्य के आधार पर यदि इस विषय का अध्ययन किया जाए तो उक्त मत का अनौचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि 'तस्य तावदेवचिरंयावन्नविमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (उस आत्मज्ञानी विद्वान् के विदेह कैवल्य में जब तक ही विलम्ब है जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता) इस श्रुति वाक्य तथा 'नाभुक्तं क्षीयतेकर्म' (विना मोक्ष के कर्म का क्षय नहीं होता) इस स्मृति वाक्य के अनुसार प्रारब्ध कर्मों का क्षय ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी विना भोग किए नहीं होता।[2] अतः मण्डनमिश्र प्रभृति विद्वानों का सद्योमुक्ति का विचार समुचित नहीं प्रतीत होता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति के समर्थक विचार का भी उल्लेख किया है।[3] परन्तु उनका जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त शंकराचार्य के जीवन्मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त से भिन्न है। मण्डनमिश्र का विचार है कि जीवन्मुक्ति की स्थिति में शेष अविद्या लेश में, प्राणी में ब्राह्म तथा आभ्यन्तर किसी प्रकार का भी बन्धन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। परन्तु अविद्या का लेश शेष रहने के कारण प्रारब्ध कर्मों का भोग आवश्यक है। मण्डन मिश्र का तर्क है कि अविद्या लेश के कारण जीवन्मुक्ति प्राणी शरीर धारण करना पड़ता है और जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो उस अविद्या लेश[4] की भी पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, जिसके कारण प्राणी प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है। जैसा कि ऊपर किए गए विवेचन से स्पष्ट हुआ है, मण्डन मिश्र का जीवन्मुक्ति सम्बन्धी उक्त मत शांकर मत से पूर्णतया भिन्न है। प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर एकाधिक स्थलों पर इस प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का भोग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ऊपर कहा चुका है कि जीवन्मुक्ति के लिए अविद्या लेश की अनुवृत्ति शंकराचार्य के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। सदानन्द प्रभृति शंकराचाय्र के परवर्ती आचार्यों ने भी उक्त मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी को अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके संचित कर्म, संशय-विपर्य आदि नष्ट हो जाते हैं और देह समस्त बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।[5]

'काश्यां मरणान्मुक्तिः' (काशी में मृत्यु होने से मुक्ति मिलती है) के सम्बन्ध में विचार

अद्वैत वेदान्त के पारम्परिक विवेचन के अन्तर्गत इस तथ्य का प्रतिपादन स्थल-स्थल पर किया गया है कि ज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। परन्तु कुछ विद्वानों ने मुक्ति के एक सरल

---

१. वेदान्त परिभाषा, परिच्छेद ८, पृ० १३६, १३७।
२. वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।
३. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३१-१३२।
४. ज्ञान से आवरण के नष्ट होन पर भी प्रारब्ध कर्म से जो अज्ञान का विक्षेपांश अनुवृत्त होता है, वही अविद्या का लेश है और उसी से जीवन है। कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यन्त स्वच्छ किए लहसुन के पात्र में वर्तमान लहसुन की वासना के समान अनुवर्तमान अविद्या की वासना ही अविद्या का लेश है। -सि० ले० सं०, चतुर्थ परिच्छेद।
५. वेदान्तसार, पृ० ६३ (चौखम्बा संस्करण)।

मार्ग का अनवेषण करते हुए कहा है कि काशी में मृत्यु होने से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उक्त तथ्य को यदि ठीक इसी रूप में ग्रहण किया जाए तो अवश्य ही ज्ञान के बिना मुक्ति को असिद्ध करने वाले सिद्धान्त–ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः'–एवं काशी मरण से मुक्ति प्राप्ति सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर विरोध दिखाई पड़ने लगता है। विरोध के साथ ही साथ 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' सिद्धान्त के स्वीकार कर लेने पर अद्वैत वेदान्त के प्रमुख एवं आधारभूत सिद्धान्त 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' का वैयृयर्थ्य भी सिद्ध होता है। 'ऋतेज्ञानान्न मुक्ति' पक्ष का वैय्यर्थ्य सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जब काशी मरण से ही मुक्ति मिल सकती है तो फिर क्लेशसंकुल, स्त्री आदि के त्याग से ही क्या लाभ ? अतः अनासक्ति एवं वैराग्य के फेर में न पड़कर मुमुक्षु को यथेच्छ जीवनयापन करते हुए काशीमरण के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए।[1] उक्त तर्क के आधार पर पूर्वपक्षी का 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' पक्ष का निराकरण पूर्णतया तर्काप्रतिष्ठित एवं एकांगी है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का निरास एवं उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों क पारस्परिक विरोध का सामंजस्य सिद्ध करते हुए रामाद्वयाचार्य का कथन है कि काशी में भी भगवान् शंकर के उपदेशों में भक्ति होने से ज्ञान प्राप्त होता है और फिर ज्ञान से ही जीव को मुक्ति मिलती है।[2] अतः काशी मरण भी ज्ञानप्रयोजक ही समझना चाहिए। इस प्रकार काशी-मरण के द्वारा भी जीव को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब कि उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कथन नितान्त समुचित होगा कि केवल काशीमरण के द्वारा ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुक्ति सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति निरूपण–

अद्वैत वेदान्त के आध्यात्मिक स्वरूप के सूक्ष्म अध्ययन के दृष्टिकोण से वृत्तिनिरूपण अत्यन्त उपादेय है। यह कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि वृत्ति निरूपण के अभाव में अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी अधूरा है। परन्तु यह तात्पर्य है कि इतना उपादेश होते हुए भी अद्वैत वेदानत के सहस्रों आलोचकों में से कतिपय आलोचकों ने ही इस विषय का यत्किंचत् विवेचन किया है। यहाँ वृत्ति के स्वरूप एवं उसकी स्थिति के सम्बन्ध में आलोचनातमक विवेचन किया जाएगा।

अन्तःकरण के परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति के मूलतया दो भेद किए जा सकते हैं–बाह्य विषयों से सम्बन्धित वृत्ति और दूसरी 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में अन्तःकरण की अखण्डाकाराकारित वृत्ति। आलोचकों ने प्रायः वृत्ति के प्रथम प्रकार के सम्बन्ध में ही विवेचन किया है, जबकि अद्वैत सिद्धान्त के आध्यात्मिक पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से द्वितीय प्रकार की वृत्ति का अध्ययन ही अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया जाएगा।

---

१. ननु किमनेन क्लेशसंकुलकलत्रादित्यागानुष्ठानेन यथाकामं वर्तमानानामपि वाराणसीमरणमेवानुष्ठेयम्। वेदान्त कौमुदी, पृ० (मद्रास १९५५)।

२. तथाहि शम्भूपदेशभक्त्या ज्ञानान्मुक्त्युपपत्तेः। वेदान्त कौमुदी पृ० ७३।

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति–

जिस प्रकार कि तालाव का जल तालाव के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर कुल्य, (नहर) के समान लम्बायमान होकर खेत के केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट होकर उन केदारों की ही त्रिकोण चतुष्कोणदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने के कारण अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर घट-घट आदि विषयदेश को प्राप्त हुआ घटपट आदि विषयों के आकार के रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम वत्ति है[1]। अन्तःकरण की इस वृत्ति के संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण, ये चार भेद हैं। वृत्ति सम्बन्धी उक्त भेद व्यवस्था के कारण ही अन्तःकरण के भी क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त–यह चार भेद होते हैं।

वृत्ति का महत्त्व

वृत्ति के महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रमुख पक्ष मिलते हैं:

प्रथम पक्ष–विवरणकार प्रकाशात्का ने वृत्ति की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि ज्ञिस प्रकार गोत्व जाति के व्यापक होने पर भी उसका गौ व्यक्ति से ही सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव के व्यापक होने पर भी उसका अन्तःकरण से ही सम्बन्ध होता है, परन्तु जीव का अन्तःकरण की वृत्तियों के ऊपर आरुढ होकर अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है[2] और वह जीव ज्ञाता कहलाता है।

द्वितीय पक्ष–एक दूसरा पक्ष है कि अन्तःकरणेपाधिक जीव वृत्ति द्वारा बाहर निकलकर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति से विषय का प्रकाशक होता है।

तृतीय पक्ष –तृतीय पक्ष के अनुरूप, यद्यपि जीव व्यापक एवं अन्तःकरणावच्छेदेन अनावृत्त है, तथापि अविद्यावृत्त होने से स्वयं अप्रकाशमान होकर विषयों का प्रकाश नहीं करता है, परन्तु वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होने पर विषयों पर प्रकाश करता है। वृत्ति के उक्त पक्षों के अनुसार अधोलिखित तीन प्रयोजन हैं[3]–

(१) वृत्ति के विना जीवचैतन्य विषय का अवभासक नहीं होता है, इसीलिए चित् के साथ समबन्ध के लिए वृत्ति की अपेक्षा है।

(२) वृत्ति द्वारा जीवचैतन्य एवं विषयचैतन्य में अभेद की स्थापना होती है।

(३) आवरण के विनाश के लिए वृत्तिनिर्गम की अपेक्षा करके वृत्ति के साथ सम्बद्ध मात्र विषय का जीव प्रकाश करता है। इस प्रकार वृत्ति द्वारा अविद्या का आवरण भंग होता है।

उपर्युक्त तीनों पक्षों की अद्वैत वेदान्त के आलोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से आलोचना की है। इस स्थल पर भी उपर्युक्त पक्षों की समालोचना करना उपयुक्त होगा।

प्रथम पक्ष की आलोचना–प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में आक्षेप की अवतारणा करते हुए आलोचक

---

१. वेदान्त परिभषा, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ९ (बम्बई संस्करण सं० १९८९)।

२. सिद्धान्त लेश संग्रह, प्रथम परिच्छेद, १४३-१४४।

३. वही, पृ० १४६।

विद्वानों का कथन है कि विषयचैतन्य का वृत्तिजन्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मत की पुष्टि में आक्षेपकर्त्ता का तर्क है कि क्रिया रहित विषय चैतन्य का वृत्ति के द्वारा तादात्म्य अथवा संयोग नहीं स्थापित किया जा सकता। तादात्म्यसम्बन्ध तो इसलिए नहीं स्थापित किया जा सकता कि जिनका तादात्म्य व्यवहार से देखा जाता है, वह पूर्व से ही होता है, मध्य में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः विषयचैतन्य और जीवचैतन्य का तादात्म्यसम्बन्ध वृत्ति द्वारा उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जीवचैतन्य एवं विषयचैतन्य में संयोग-सम्बन्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि संयोगसम्बन्ध एक या उभय की क्रिया से उत्पन्न होता है, परन्तु विषयचैतन्य और जीवचैतन्य तो स्वभावतः ही निष्क्रिय हैं, अतः उनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आक्षेप का परिहार करते हुए अद्वैत वेदान्त के समीक्षकों ने भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहाँ प्रमुख चार मतों का संक्षेप में उल्लेख करना समीचीन होगा। इसके पश्चात् शेष दो पक्षों की समालोचना की जायेगी।

प्रथम मत–कुछ विद्वानों का विचार है कि जैसे नैयायिक लोग विषयविषयिभाव सम्बन्ध स्वभाव से ही मानते हैं, उसी प्रकार वृत्ति से विषय-विषय भाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है।

द्वितीय मत–प्रथम मत के विरुद्ध कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि केवल विषय-विषयि संसर्ग माना जाएगा तो वृत्ति का निर्गम ही व्यर्थ होगा। अतः विषयसंयुक्तवृत्ति तादात्म्य ही वृत्ति से उत्पन्न होता है, यह माना चाहिए।

तृतीय मत–तृतीय मत के अनुयायियों का कथन है कि जिस प्रकार तरंग के स्पर्श से वृक्ष में नदी का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विषय में वृत्ति के सम्बन्ध से जीव का सम्बन्ध होता है।

चतुर्थ मत–चतुर्थ मत के पक्षपाती विद्वानों का विचार है कि 'अभेदाभिव्यक्त्यर्था वृत्तिः'–(वृत्तिका प्रयोजन अभेद की अभिव्यक्ति है) इस द्वितीय पक्ष में जीव के अव्यापक होने के कारण, उसके साथ सांकर्य न होने से विषयवच्छिन्नब्रह्मचैतन्य के साथ अभेदाभिव्यक्ति के द्वारा विषय के साथ तादात्म्यसम्पादन की वृत्ति का प्रयोजन है।

द्वितीय पक्ष की आलोचना–वृत्ति की उपयोगिता के जिस द्वितीय पक्ष का उल्लेख हमने पीछे किया है, उसके अनुसार अन्तःकरणोपाधिक जीव वृत्ति द्वारा बाहर निकल कर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति से विषय का अवभासक होता है। इस द्वितीयपक्ष की अभेदाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी अद्वैती आलोचकों ने विभिन्न प्रकार से विचार किया है। कई एक विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार नाली द्वारा तालाब और खेत के जल का एकीभाव–अभेदव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य का जो वृत्ति द्वारा एकीभाव होता है, वही अभेदव्यक्ति है। द्वितीय मत के अन्तर्गत उक्त मत के विपरीत कुछ आलोचक विद्वानों का मत है कि उपाधि के रहने पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद अवश्य रहता है। जिस प्रकार दर्पण के रहने पर दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब और बिम्ब स्थानीय मुख का अभेद अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि दर्पण रूप उपाधि बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की अभेदाभिव्यक्ति में बाधक हैं। उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी विषय और अन्तःकरण रूप व्यावर्तक उपाधि के रहते हुए बिम्बभूत जीवचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

द्वितीय मत के समर्थक विद्वानों ने प्रकारान्तर से अभेदाभिव्यक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य विषयसंस्पृष्ट वृत्ति के अग्रभाग में विषय का प्रकाश करने वाले अपने

प्रतिविम्ब का समर्पण करता है, अतः उसके प्रतिविम्ब का ही जीव के साथ एकीभाव है। यह एकीभाव ही अभेदाभिव्यक्ति है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जाएगा कि जिस प्रकार कौस्तुभमणि या किसी रत्न की प्रभा अपने स्थान से निकलती हुई बड़े आकार में परिणता होकर विषयदेश पर्यन्त जाती है, उसी प्रकार हृदयदेश में रहने वाले अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण से लेकर विषयपर्यन्त अवच्छिन्नरूप से जाती है। इस वृत्ति का विषय के साथ सम्बद्ध भाग अग्रभाग कहलाता है। उस अग्रभाग में पड़े हुए ब्रह्म के विषय प्रकाशक प्रतिविम्ब के साथ जीव का एकीभाव (अभेदाभिव्यक्ति) है।

कुछ आलोचकों ने उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत एक तृतीय मत की अवतारणा करते हुए कहा है कि विषय का अधिष्ठानभूत बिम्बस्वरूप ब्रह्म चैतन्य ही, साक्षात् आध्यात्मिक सम्बन्ध का लाभ होने से, विषय का प्रकाशक है। अतः बिम्बत्वविशिष्ट चैतन्य का बिम्बत्व रूप से प्रतिविम्बत्वविशिष्टचैतन्यरूप जीव के साथ भेद होने पर भी बिम्बत्व और प्रतिविम्बत्व रूप से उपलक्षित शुद्धचैतन्द रूप से जो एकीभाव है, वही अभेदाभिव्यक्ति है।

तृतीय पक्ष की अलोचना–वृत्ति के महत्त्व के सम्बन्ध में तृतीय पक्ष का उल्लेख करते हुए हमने पीछे कहा है कि वृत्ति के द्वारा अविद्या के आवरण का भंग होने पर जीव विषयों का प्रकाश करता है। उपर्युक्त दो पक्षों की तरह तृतीय पक्ष आवरणभंग के सम्बन्ध में भी अद्वैत दर्शन के समालोचकों का मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में प्राप्त मतमतान्तरों का ही निर्देश इस स्थल पर उपयुक्त होगा।

प्रथम मत–प्रथम मत के अनुसन्धित्सुओं का विचार है कि जिस प्रकार अन्धकार में जुगनू के प्रकाश से छिद्र होता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान के एक देश में चटाई के समान अज्ञान का वेष्टन, या 'भीत योद्धा के समान पलायन, आवरण भंग है।

द्वितीय मत–अज्ञान के एकदेशीय विनाश, संवेष्टन या अपसरण को आवरण भंग न मानकर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आवरण के होने से वृत्तिकालपर्यन्त विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरण न रहना ही आवरण भंग है। 'मैं अज्ञ हूं' इस अनुभव की स्थिति में 'अहम्' अनुभव में प्रकाशमान जीव चैतन्य का अज्ञान आश्रय है, परन्तु वह अज्ञान उसे आवृत्त नहीं करता।

तृतीय मत–उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत कुछ आलोचकों का कथन है कि वृत्ति से नष्ट होने वाले और संख्या में वृत्ति के बराबर अवस्थारूप अज्ञान अनेक हैं। एक अज्ञान के नष्ट होने की स्थिति में वृत्ति से अवस्थारूप अज्ञान का विनाश आरणभंग है। इस मत के अनुसार जितने ज्ञान हैं उतने ही अज्ञान भी हैं। इस अवस्थारूप अज्ञान के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। यदि कुछ विद्वान् अवस्थारूप अज्ञान को मूलाज्ञान के समान अनादि मानते हैं तो इसके विपरीत दूसरे निद्रा आदि के समान सादि मानते हैं।

चतुर्थ मत–चतुर्थ मत के अनुयायियों का विचार है कि जिस काल में जो अज्ञान जिस वस्तु का आवरण करता है, उस काल में उस वस्तु के ज्ञान से उसी अज्ञान का नाश होता है। समस्त अज्ञान सर्वदा आवृत्त नहीं करते। जब अन्य वृत्ति के द्वारा, आवरक अज्ञान का नाश होने पर, उस वृत्ति का उपशम होता है तो अन्य अज्ञान उसको आवृत कर लेता है।

पंचम मत–खण्डनाखण्डखाद्य की प्रसिद्ध टीका न्यायचन्द्रिका के लेखक आनन्दपूर्ण विद्यासागर का विचार है कि एक ज्ञान से किसी एक अज्ञान का नाश होता ही है, परन्तु इतर आवरक अज्ञानों का

तिरस्कार नहीं होता। अतः धारावाहिक दूसरी वृत्तियों से भी एक-एक अज्ञान का नाश होता है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार संक्षेप में वृत्ति के कार्य—आवरण शक्ति का उच्छेद, तूलाज्ञान का विनाश, अविद्या की एक विशेष स्थिति का निराकरण, अविद्या के एक देश का विनाश कर उसमें दौर्बल्य उत्पन्न करना, भीरुभटापसरण के समान अविद्या का निवारण तथा कटसंवेष्टन (चटाई लपेटना) के समान अविद्या की निवृत्ति करना है। संक्षेप में, वृत्ति का यही महत्त्व है।

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति का स्वरूप और उसकी उपयोगिता

'अहं ब्रह्मास्मि' अन्तःकरण की वह अखण्ड आकार से आकारित वृत्ति है जिसका उदय जिज्ञासु के अन्तःकरण में, तत्वमसि के द्वारा अखण्डाकार का बोध होने पर होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति के अनुसार तत्त्वजिज्ञासु को यह बोध होता है कि 'मैं ही नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूं'। इस वृत्ति के सम्बन्ध में यह शंका होना स्वभाविक है कि जडचित्तवृत्ति नित्य-शुद्ध-बुद्ध स्वरूप ब्रह्म को अपना विषय किस प्रकार बना सकती है। उक्त शंका का समाधान हमें अद्वैती सदानन्द के इस कथन में मिलता है कि चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, वनंनू वह अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगभिन्नविषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रत्यक्‌चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर करती है। इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर करना ही (अहं ब्रह्मास्मि) इस चित्तवृत्ति के उदय का परिचायक है। प्रत्येक परब्रह्मविषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही तत्वजिज्ञासु को यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूं। उक्त वृत्तिसम्पन्न तत्ववेत्ता को ब्रह्म के अतिरिक्त किसी सत्ता की भ्रान्ति नहीं होती। इस प्रकार अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यक्‌चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान के कार्यप्रपंच का भी उसी प्रकार बाध हो जाता है, जिस प्रकार कि तन्तुरूप कारण के जल जाने पर पटरूप कार्य का विनाश हो जाता है। यहाँ यह आक्षेप करना उपयुक्त न होगा कि अज्ञान ओर उसके कार्य-प्रपंच का बाध होने पर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति तो शेष रह जाएगी, जिसके आरण अद्वैत सिद्धि में बाधा आएगी। उक्त आक्षेप के निराकरण के सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि वृत्ति भी अज्ञान एवं उसके कार्य प्रपंच के अन्तर्गत ही है। अतः जब अज्ञान की निवृत्ति होगी तो कार्य-प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित वृत्ति का भी नाश हो जाएगा[1]। अब यदि यह कहा जाए कि अज्ञान प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का नाश होने पर भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो वर्तमान ही रहेगा, तो इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि अखण्डाकार वृत्ति के नष्ट होने पर उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था वह अलग नहीं प्रतीत हो सकता। जिस प्रकार कि दर्पण में मुख का प्रतिविम्ब तभी तक दिखाई पड़ता है जब तक कि दर्पण रहता है, उसी प्रकार वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविम्ब तभी तक पड़ता है, जब तक कि वृत्ति रहती है। जिस प्रकार कि दर्पण के नष्ट हो जाने पर विम्ब मात्र (मुख) शेष रह जाता है, उसी प्रकार वृत्ति के लीन होने पर उस चैतन्य प्रतिविम्ब के बिम्ब-प्रत्यगभिन्न परब्रह्म मात्र की ही सत्ता रह जाती है।'

जिस प्रकार कि घटादि जड़ पदार्थ को देखने के लिए नेत्र एवं दीपक दोनों की आवश्कता होती है, परन्तु दीपदर्शनार्थ केवल नेत्र ही पर्याप्त हैं[2], उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीव चैतन्यगत अज्ञान को दूर करने पर ब्रह्म मात्र के दर्शन के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तद्गत चिदाभास दोनों की आवश्यकता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' एवं जडघटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति का भेदनिरूपण

वृत्ति सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में जडघटाद्याकाराकारित वृत्ति एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वृत्ति के भेद की ओर संकेत किया गया था। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों के सूक्ष्म भेद का निरूपण किया जाएगा।

जैसा कि 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति सम्बन्धी विवेचन करते समय कहा जा चुका है, अज्ञानवरण का उच्छेद करके स्वयं चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है। इसके पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। यह चैतन्याभास स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, अतः यह उसे प्रकाशित करके स्वयं उसी में विलीन हो जाता है। परन्तु जडघटाद्याकाराकारित वृत्ति की उक्त स्थिति से भिन्न है। क्योंकि जव 'अयंघटः' (यह घट है) इस प्रकार अज्ञातघटविषयक चित्तवृत्ति का उदय होता है तो वह वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्य के आवरण करने वाले घटविषयक अज्ञान का भी नाश करती है और अपने में वर्तमान चिदाभास के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है।[३] इसके विपरीत जैसा कि ऊपर कह आए हैं, 'अहं ब्रह्मास्थ्मि' वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास शुद्धचैतन्य का अंश होने के कारण उसे प्रकाशित करने में असमर्थ होता है।४

'तत्त्वमसि' द्वारा ब्रह्मबोध

मोक्ष के साधन के रूप में उपनिषदों में 'प्रज्ञानं ब्रह्म', (ऐ० ५-१) 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृ० १-४-१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (वृ० २।५।१६) और 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६-८-७)–इन चार महाकाव्यों का उल्लेख किया गया है। यहाँ हमारा उद्देश्य सामवेद शाखा के छान्दोग्योपनिषत् के महाकाव्य–तत्त्वमसि द्वारा होने वाले अखएडार्थबोध की मीमांसा करना है। छान्दोग्योपनिषद् में तत्त्वमसि का उपदेश उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु के प्रति किया है। यहाँ यह कह देना और उपर्युक्त होगा कि तत्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा अखण्डार्थब्रह्म का साक्षात्कार तभी हो सकता है जब कि जिज्ञासु का चित्त शुद्ध, संस्कृत एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए दृढ़ है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का विवेचन करने से पूर्व इस महावाक्य के पदों के अर्थ का विवेचन करना उपयुक्त होगा। अतः यहाँ पहिले तत्वमसि महाकाव्य के पदार्थ का निर्णय किया जाएगा।

---

१. वेदान्तसार, पृष्ठ ७७ (चौखम्बा संस्करण)।

२. चक्षुदीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते।। पंचदशी ।। वेदान्तसार, पृ० ८२ से उद्धृत।

३. बुद्धि तत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धियानश्येदाभसेन घटः स्फुरेत्।। पंचदशी।। वेदान्तसार २८ से उद्धृत।

४. जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तिविशेषोऽस्ति। तथाहि अयं घट इति घटाकाराकारितचितवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्‌गताज्ञाननिरसनपुरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपिभासयति।–वेदान्तसार, पृष्ठ ८०।

'तत्त्वमसि' के अन्तर्वर्ती पदों का अर्थ

'तत्त्वमसि' महाकाव्य के अन्तर्गत पहिला पद तत् है, जिसका वाच्यार्थ अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म-स्थूल शरीर की समष्टि, तदुपहित चैतन्य तथा एतदनुपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य)—इल सबका तप्तलौहपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना है। इसके अतिरिक्त 'तत्' शब्द का लक्ष्यार्थ—अज्ञानावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य का आधार भूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न रूप से अवभासित होना है।

'त्वम्' पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ—अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व चैतन्य और तदनुपहित चैतन्य, इन तीनों का तप्त लौहपिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एकरूप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त व्यष्टिभूत अज्ञानादि, तदुपहित जीवचैतन्य एवं इनका आधार भूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मक तुरीय चैतन्य, इन सबका भेद विवक्षा में पृथक्-पृथक् प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) तत् और त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार तत् त्वम् पदों के अर्थ का निर्णय होने पर अब यहाँ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ का प्रतिपादन किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' का लक्षणप्रतिपाद्य अर्थ—'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' यह क्रमशः सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के बोधक हैं। इस प्रकार दोनों पदार्थों में स्पष्ट विरोध होने के कारण 'तत्त्वमसि' द्वारा अखण्डार्थ का बोध होना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु उक्त आपात्ति का अभिधेयार्थ ग्रहण करने पर ही उत्पन्न होती है। लक्षणा द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ ग्रहण करने पर 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध स्वयं हो जाता है।

पंचदशीकार ने तत्त्वमसि के अन्तर्गत तत् एवं त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए पहिले तत् शब्द का लक्ष्यार्थ निश्चित करते हुए कहा है कि सृष्टि से पहिले नाम रूप से रहित जो सद् एवं अद्वैत वस्तु बतलाई गई है, सृष्टि निर्माण होने के पश्चात् वह सद् वस्तु अब भी वैसी ही अविरत है,—यही तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है। पंचदशीकार विद्यारण्य ने 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए कहा है कि 'त्वम्' पद लक्षणा के द्वारा श्रवणादि का अनुष्ठान करने वाले तथा महाकाव्य के जिज्ञासु श्रोता के देहेन्द्रियातीत एवं तीनों देहों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) के साक्षी पदार्थ का बोधक है।[1]

यह कहना असंगत न होगा कि कि तत्त्वमसि महावाक्य का अखण्डार्थबोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि जहल्लक्षणा वं जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा में से किस लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ का बोध होता है। उक्त तीनों लक्षणाओं के समीक्षात्मक विवेचन के द्वारा यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि किस लक्षण के द्वारातत्व मसि के अखण्डार्थ का बोध संगत हो सकता है।

---

१. पंचदशी ५।५,६।

जहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहल्लक्षणा को ही जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जब पद अपने अर्थ का त्याग करके अन्य अर्थ का बोध कराता है तो वह जहल्लक्षणा कहलाती है। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोष) है उक्त उदाहरण के अन्तर्गत गंगा शब्द का मुख्यार्थ प्रवाह है। परन्तु प्रवाह में घोष का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसलिए गंगा शब्द अपने मुख्यार्थ प्रवाह को त्याग कर सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तीर अर्थ का बोधक है। अतः 'गंगायां घोषः' स्पष्ट ही जहल्लक्षणा का उदाहरण है। जहाँ तक 'तत्त्वमसि' का प्रश्न है, यह महाकाव्य उक्त रीति से जहल्लक्षणा का उदाहरण नहीं सिद्ध होता। तत्वमसि में जहल्लक्षणा न मानने का कारण यह है कि तत्वमसि के तत् एवं 'त्वम्' पद अपने मुख्यार्थ-चैतन्य का पूर्णरूप से परित्याग नहीं करते, क्योंकि दोनों के चैतन्यांश में विरोध न होकर तत् के परोक्षत्व एवं त्वम् के अपरोक्षत्व का ही विरोध है। यदि कहा जाए कि अविरुद्धचैतन्यरूप वाक्यार्थ को त्याग कर तो उक्त लक्षणा हो ही जाएगी तो यह अनुचित है, क्योंकि यदि 'तत्वमसि' के चैतन्यांश रूप वाक्यार्थ का त्याग कर दिया जाएगा तो तत्वमसि के द्वारा प्रतिपाद्य अखण्ड एवं चेतन ब्रह्म का बोध ही नहीं निष्पन्न हो सकेगा। एक दूसरा तर्क करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' के अन्तर्गत गंगा पद अपने अर्थ का त्याग करके तीर अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्वमसि' के अन्तर्गत भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पद क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ और किचिंज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य रूप अर्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा जीवचैतन्य का बोध कराएंगे। पूर्वपक्षी की उक्त शंका निराधार है, क्योंकि गंगायां घोषः में तो तीर पद न होने के कारण लक्षणा द्वारा गंगा शबद का अर्थ तीर ग्रहण किया जाता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तो 'तत्' एवं 'त्वम्' शब्द वर्तमान है, अतः इन पदों के द्वारा तत्-तत् अर्थों की प्रतीति स्वतः हो रही है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का बोध कराने का प्रयत्न व्यर्थ ही कहा जाएगा।[1] इसलिए 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध जहल्लक्षणा द्वारा कदापि संगत नहीं कहा जा सकता।

अजहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहाँ पद अपने अर्थ का परित्यागन न करके अन्य अर्थ का बोध कराता है, वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्था भी कहते है। 'शोणोधावति' (लाल दौड़ता है) अजहल्लक्षणा का उदाहरणा है। उक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'लाल' (वर्ण विशेष) का दौड़ना असम्भव है, इसीलिए शोण शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा शोणवर्णविशिष्ट अश्वादि लिया जाता है। 'शोणोधावति' में शोण शब्द अपने अर्थ–लाल वर्ण का परित्याग ।केए बिना ही शोषगुण विशिष्ट अश्वादि रूप अन्य अर्थ का बोध कराता है। परन्तु 'तत्वमसि' का वाक्यार्थबोध अजहल्लक्षणा के द्वारा नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। इसका कारण यह है कि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अर्थ क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। अतः ये दोनों चैतन्यांश में अविरुद्ध होते हुए भी परोक्षत्व रूप अर्थ में विरुद्ध ही हैं। अतः अजहत्स्वार्था लक्षण मानने पर उक्त विरोध का परिहार न होने के कारण तत्त्वमसि के द्वारा अखण्डार्थ

---

१. वेदान्तसार २५।

का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि अजहत्स्वार्था लक्षणा के अनुसार पदों के अपने अर्थ का त्याग न होने के कारण उक्त परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अर्थ का विरोध बना ही रहेगा।

तत्त्वमसि में पुनः अजहल्लक्षणा सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का विचार है कि 'तत्' पद 'त्वम्' पद से विरुद्ध अपने परोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं (तत् एवं त्वम् पदवर्ती) अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर त्वम् पद के अर्थ–किंचिंज्ञत्वादिविशिष्ट जीव-चैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। उक्त प्रकार के अनुसार ही त्वम् पद तत् पद से विरुद्ध अपने अपरोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर तत् पद के अर्थ–सर्वसत्वादिविष्टि ईश्वरचैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। अजहल्लक्षणा के समर्थन में पूर्वपक्षी का उक्त तर्क संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक पद ('तत्' या 'त्वम्') लक्षणा द्वारा अपने परित्यक्त परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ को भी लक्षणा से सूचित करे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा द्वारा बोधित करे, यह असंगत है, क्योंकि अजहल्लक्षणा का जो उदाहरण 'शोणोधावति' हमने अभी दिया है, उसमें शोण पद अपने अर्थ–रक्त को भी बतलाए और लक्षणया नीलादि वर्णों का भी बोध कराए, यह असंगत है। इसके अतिरिक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों द्वारा अपने-अपने अर्थ की स्वतः प्रतीति होने के कारण लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण करना ही व्यर्थ है।[1]

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर अजहल्लक्षणा द्वारा भी 'तत्वमसि' के अखण्डार्थबोध की असंगति स्पष्ट ही है।

तत्त्वमसि और भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा

भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा उस स्थल पर होती है, जहाँ शब्द अपने कुछ अंश के अर्थ का त्याग कर कुछ अंश के अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत् (सः) शब्द का अर्थ है–तत्काल विशिष्ट देवदत्त और इदम् (अयम्) शब्द का अर्थ है–एतत्काल विशिष्ट देवदत्त। उक्त वाकय के अन्तर्गत देवदत्तांश कोई विरोध न होकर तात्कालीन और एतत्कालीन अंश में ही काल सम्बन्धी विरोध हैं। इस प्रकार उक्त उदाहरण में विरुद्धांश का त्याग करके अविरुद्ध देवदत्तपिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि के अन्तर्गत भी तत् शब्द का अर्थ है–परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य–ब्रह्म और त्वम् पद का अर्थ है–अपरोक्षतवादिविशिष्ट चैतन्य जीव। इस प्रकार इन दोनों पदों के चैतन्यांश में कोई विरोध न होकर केवल परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व में ही पारस्परिक विरोध है। अतः परोक्षतत्व एवं अपरोक्षत्व रूप विरुद्धांशों का तयाग जहल्लक्षणा द्वारा और तत् एवं त्वम् पद से अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य का बोध अजहल्लक्षणा द्वारा होकर, जहदजहल्लक्षणा द्वारा तत्वमसि से अखण्ड चैतन्य का बोध होता है।

जहदजहल्लक्षणा द्वारा पदार्थ के कुछ अंश का त्याग एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिए इसे भागलक्षण भी कहते हैं।

---

१. एकेनपदेनस्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च। –वेदान्तसार २६।

उपर्युक्त प्रकार से तत्वमसि में लक्षणा होने पर सम्बन्धत्रय (समानाधिकरण सम्बन्ध, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध और लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्ध) के आधार पर अखण्डैकार्थ का प्रतिपादन करना है। अतः यहाँ तत्त्वमसि के सम्बन्ध में उक्त तीनों सम्बन्धों का विवेचन अपेक्षित है।

समानाधिकरण सम्बन्ध

जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यावबोध होता है, वह सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ 'सोऽयंदेवदत्तः' इस उदाहरण में तत् (सः) पद का तत्काल-तद्देशविशिष्ट अर्थ है और इदम् (अयम) शब्द का एतत्कालएतद्देश विशिष्ट रूप अर्थ है। परन्तु उक्त दोनों पदों का तात्पर्य देवदत्तपिण्ड रूप एक ही अर्थ को प्रकट करना है। इसी प्रकार तत्त्वमसि में भी तत् एवं त्वम् पदों का परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट रूप अर्थ तथा किंचिंज्जत्वादिविशिष्ट रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हुए भी समानधिकारणसम्बन्ध द्वारा एक ही अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का बोधक है। अतः समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा तत्त्वमसि से एक ही अखण्डाद्य ब्रह्म का प्रतिपादन होता है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध

जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शवदों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शव्द व्यावृत्त होता है उसे विशेष्य कहते हैं। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में अयंशब्दवाच्य एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त 'सः' शवद वाच्य तत्काल-तत् देवविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है, जब यह बोध होता है तो तत् शब्द 'इदम्' शब्द का विशेषण होता है और इदम् शब्द तत् शब्द का विशेष्य है। अतः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध से 'सोऽयं देवदत्तः' से वह यही देवदत्त है, यह बोध होता है और तत्काल-तत्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार तत् पद वाच्य तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्त 'इदम्' शब्द का एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है अर्थात् 'यही वह देवदत्त है' जब इस प्रकार का बोध होता है तो इदं (अयम) शब्द तत् (सः) शब्द का विशेषण होता है और (सः) शब्द विशेष्य होता है। इस प्रकार परस्पर भेद व्यावर्तक होने से से एवायम् (यह वही है) एवं 'अयमेवसः' (वह यही है) के रूप में सः और अयम् दोनों ही एक दूसरे के विशषण एवं विशष्य हो जाते हैं। इस प्रकार विशेषणविशष्यसम्बन्ध के द्वारा देवदत्त रूप एक ही अर्थ का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जव यह बोध होता है कि 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्व-किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य ततपदवाच्य सर्व ज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो तत् शब्द का अर्थ त्वम्पदार्थनिष्ठभेद का व्यावर्तक होने से विशेषण होता है और त्वम्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य होता है। इसी प्रकार जब यह दोष होता है कि ततपदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो त्वम्पदार्थ ततपदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और ततपदार्थ व्यावर्त्य होने से विशेष्य है। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर तत् एवं त्वम् पदों के द्वारा चैतन्यरूप एक ही अर्थ का बोध होता है। तत् एवं त्वम् पदों द्वारा एक ही अर्थ का बोध होने से 'वहीं तू है' और 'तू ही वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ के द्वारा जिस विरोध की प्रतीति होती है, उसका निराकरण उक्त विधि से लक्षणा मानने पर स्वयं हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती प्रभृति अद्वैत वेदान्त के अनेक विद्वानों

ने अखण्डार्थ बोध के सम्बन्ध में जहदजहल्लक्षणा का ही समर्थन किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत

वेदान्तपरिभाषाकार ने स्वमतप्रतिपादन के सम्बन्ध में पहिले पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'आदित्यो यूपः' (यज्ञस्तम्भ सूर्यरूप है) तथा 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान दर्भमुष्टि स्वरूप है), इत्यादि वाक्यों में गौणरूप से यूप में आदित्य एवं दर्भमुष्टि में यजमान का व्यवहार होता है, उसी प्रकार जीव और परमात्मा का अभेद 'द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च', द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति 'आदि प्रमाणों से बाधित होने पर भी तत्त्वमसि इत्यादि में आदित्य एवं यूप तथा यजमान एव दर्भमुष्टि के परस्पर भेद की तरह तत् त्वम् पदों के अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी गौण रूप से अभेद का व्यवहार हो जाता है। पूर्वपक्षी के मत का निराकरण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के विरोध की शन्ति गौणार्थव्यवस्था के बिना स्वीकार किए ही सम्भव है। इस विद्वान् का कथन है कि व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने वाले प्रतयक्षादि प्रमाणों के साथ वास्तविक अभेद का बोध कराने वाले 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का कुछ भी विरोध नहीं है। अपने मत की पुष्टि में वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि 'तत्वमसि' में तत् एवं त्वम् पदों के भेद के साक्षात्कार में प्रत्यक्षादि दोषपूर्ण होने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु वैदिक प्रमाण के सर्वथा निर्दोष होने के कारण उसमें दोषों की सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः वेदजन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणें का बाध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार तत् एवं त्वम् पदों का अभेद प्रतिपादन, वेद प्रतिपाद्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिपादित भेदप्रतिपादन की अपेक्षा प्रामाणिक होने के कारण स्वीकार्य है। यदि शास्त्र प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को बलवान् माना जाएगा, तब तो चन्द्रादि ग्रहों के अधिक परिमाण के ग्रहण करने वाले ज्योतिष् शास्त्र का, चन्द्रादि प्रदेश मात्र परिमाण दिखलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने लगेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शास्त्र प्रमाण को ही बलवान् माना जाना चाहिए। परन्तु पूर्वपक्षी की शंका है कि प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण का परस्पर उपजीव्योपजीवक भाव है। यदि शब्दप्रमाण को प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा बलवान् माना जाएगा तो उपजीव्योपजीवक भाव की स्थिति नहीं देखी जा सकती। पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि अग्निसंयोग से रक्त हुए घट में 'अयं रक्तोघटोनश्यामः' (यह रक्त घट श्याम नहीं है) इत्याकारक प्रतीति होती है। यहाँ वेदान्त परिभाषाकार[1] का कथन है कि 'सविशेषणेहि' न्यायनियम[2] के अनुसार जिस प्रकार कि पके हुए रक्त घट में 'सोऽयं घटोरक्तो न श्यामः' (वह यह घड़ा रक्त है, श्याम नहीं है) आदि स्थलों में श्यामता उवं रक्तता आदि धर्मों के भेद होने से भी धर्मी विशेष मात्र घटादि का अभेद होने से, उक्त वाक्य का केवल श्यामत्व एवं रक्तता आदि धर्म भेद ही में तात्पर्य सिद्ध होता है, उसी प्रकर जीव एवं परमात्मा के भेद के साधक

---

१. वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

२. वेदान्त परिभाषाकार द्वारा निर्दिष्ट 'सविशेषणेहि' इस न्याय के अनुसार विशेषणविशिष्ट में प्रवृत्त होने वाले विधि-निषेध रूप वचनों का यदि विशेष्य भाग में बोध प्रतीत हो तो वह विधि-निषेध विशेषण भाग मात्र में प्रवृत्त होकर शान्त हो जाता है।

प्रत्यक्ष का भी, उसके (प्रत्यक्ष के) विशेषणीभूत अल्पज्ञत्व एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मों का अवगाहन करने वाला होने से अर्थात् 'नाहं ईश्वरः' इत्यादि प्रत्ययों का केवल विशेषण मात्र में उपक्षीण होने से, केवल विशेष्य भाग में अभेद के बोधक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थ के साथ कुछ विरोध नहीं है। अतः 'मैं ईश्वर नहीं हूं' 'दुःखी हूं', 'संसारी हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर तत् एवं त्वम् पदार्थों की भेदयोजना अनुचित कही जाएगी।[१]

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप प्रत्यक्ष का निराकरण होने पर पूर्वपक्षी का यह कथन कि जीव और ईश्वर किंचिज्ज्ञत्वादि एवं सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त होने के कारण तथा प्रकाश एवं अन्धकार के समान विरुद्ध धर्मवाले होने के कारण परस्पर भिन्न हैं, इत्यादि अनुमान के अनुसार जीव एवं ईश्वर में परस्पर भेद होने के कारण तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों में भेद निश्चित है, यह अयुक्त है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा तो 'मेरुषाषाणमयः पर्वतत्वात् विन्ध्यादिवत्' (विन्ध्यादि के समान पर्वत होने के कारण सुमेरु पर्वत भी पाषाण युक्त है।) आदि अनुमान भी प्रामाणिक कहलाएंगे, परन्तु उक्त अनुमानवाक्य आगमप्रमाण से बाधित होने के कारण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'जीवेश्वरौ परस्परभिन्नौ' आदि अनुमान वाक्य भी आगमबाधित होने के कारण अप्रामाणिक हैं। वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि आगमान्तर के साथ भी तत्वमसि आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है,[२] क्योंकि तत्पर एवं वाक्य के बलवान् होने के कारण 'तत्वमसि' में भेद के अनुवादक 'द्वासुपर्णा' इत्यादि आगम वाक्यों से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की ही प्रबलता है। क्योंकि उपक्रम उपसंहारादि षड्विध लिंगों के अनुरोध से अद्वैत में ही तात्पर्य निश्चित होता है[२] इस प्रकार वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों के विरोध का परिहार जहदजहल्लक्षणा के द्वारा न करके उपर्युक्त तर्क-तथ्यों के आधार पर किया है।

---

१. विशेष देखिए—वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

२. अतएव च नानुमनमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषणमयत्वानुमानवत्। नाप्यामगान्तरविरोधः तत्परातत्परवाक्ययाः तत्परवाक्यस्यबलवत्वेनलोकसिद्ध भेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाकयापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्यतत्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात्। —वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

षष्ठ अध्याय

अद्वैतवाद तथा अन्य विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद (तुलनात्मक अध्ययन)

अभी तक इस अध्ययन की समस्याएं–संहिताकाल से लेकर शंकराचार्यपरवर्ती शांकरवेदान्ती आचार्यों के काल तक अद्वैतवाद के इतिहास एवं विकासक्रम का विवेचन, अद्वैतवाद का विविध भारतीय दशन पद्धतियों, इस्लामी दर्शन, यूनानी दर्शन एवं कतिपय अन्य पाश्चात्य दर्शन पद्धतियों के सन्दर्भ में तुलनात्मक विवेचन और शांकर वेदान्त एवे ततपरवर्ती अद्वैत वेदान्तिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक निरूपण, रही हैं। अव यहां रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निरूपण तथा इन सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निरूपण तथा इन सिद्धान्तों का शांकर अद्वैतवाद के साथ तुलनात्मक विवेचन किया जाएगा।

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं वल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों में से केवल मध्व को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्राण उपनिषदों तथा वेदान्त सूत्र को स्वीकार किया है। इन आचार्यों में केवल एक मध्व ही ऐसे हैं जिन्होंने उपनिषदों की अपेक्षा वैदिक संहिताओं को अधिक महत्त्व दिया है। आचार्य मध्व ने वेदान्त की व्याख्या करते समय वेदान्त शब्द का अर्थ 'वेद विनिर्णय' किया है।[1] यही कारण है कि आचार्य मध्व का भाष्य अन्य भाष्यकारों की अपेक्षा अधिक संगत नहीं है।[2] परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार्य होगा कि मध्व के अतिरिक्त शंकराचार्य प्रभूत्ति अन्य आचार्यों के वेदान्तसूत्रभाष्य भी पूर्णतया संगत हैं, यह कहना कठिन है। समालोचक घाटे ने तो शंकराचार्य प्रभृति वेदान्त सूत्र के सभी भाष्यकारों के भाष्यों को सूत्रकार के वास्तविक सिद्धान्त से भिन्न बतलाते हुए कहा है–

Perhaps the system in the mind of the Sutrakara was different from the five we are considering.[3]

अपने मत के समर्थन में घाटे महोदय का कथन है कि वेदान्त सूत्र के शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकारों ने वेदान्त सूत्र की भाष्य रचना करते समय सूत्रकार के सिद्धान्त की चिन्ता न करके अपने पूर्व निश्चित सिद्धान्तों की व्याख्या की थी और इस व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए वेदान्त-सूत्र के सूत्रों

---

१. माध्व भाष्य–वेदान्त सूत्र ३।३।१।

२. *Ghate* : The Vedanta page 168.

३. *Ghate* : The Vedanta. p.51.

४. *Ghate* : The Vedanta. p.51.

का आश्रय लिया था।[१] मेरे विचार से शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों के पूर्वकाल के दार्शनिक साहित्य में सिद्धान्त रूप से किसी दार्शनिक विचार का उदय एवं विकास नहीं हो सका था। वेदान्त सूत्र की बात तो दूर रही, स्वयं वेदान्त दर्शन के मूलाधारभूत उपनिषदों में से किसी एक सिद्धान्त की स्थापना न होकर अनेक सिद्धान्तों के बीच मिलते है। यही कारण था कि उपनिषत्सारभूत वेदान्त सूत्र के अन्तर्गत भी किसी एक सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतिष्ठा नहीं मिली। उक्त कथन की प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकारों ने एक ही वेदान्त सूत्र के आधार पर अपने-अपने भाष्यों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की स्थापना ही है। शंकराचार्य आदि भाष्यकारों के सिद्धान्तों की भिन्नता का कारण उपनिषदों के वे दार्शनिक बीज है जिनके आधार पर मष्यकारों ने अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों के प्रासाद खड़े किए थे। जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि वेदान्त सूत्र के उपर्युक्त शंकराचार्य प्रभूति भाष्यकारों में किस का भाष्य अधिक संगत एवं समीचीन है, वहाँ इस समस्या के काठिन्य की ओर हम पहिल ही संकेत कर चुके हैं। यद्यपि प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में उक्त समस्या के विस्तृत विवेचन का अवसर नहीं है, फिर भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि वेदान्त सूत्र का सर्वाधिक संगत भाष्य वही कहला सकता है, जिसमें कि संहिताओं, उपनिषदों एवं वेदान्त सूत्र की विचारधाराओं की पारस्परिक समरसता एवं समन्वय दिखाई पड़े। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक का विचार तो यह है कि संहिताओं, उपनिषदों एवं सूत्रों के सामरस्यपूर्ण ज्ञान की जैसी त्रिवेशी शंकराचार्य ने बहाई है, वैसी अन्य किसी भाष्यकार ने नहीं। कहना न होगा कि शंकराचार्य के भाष्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त में जो आध्यात्मिक गाम्भीर्य, सूक्ष्म तार्किकप्रणली मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बंगाल के विद्वान् प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने शांकर भाष्य की समालोचना करते हुए कहा है–

शंकरेरभाष्य प्रसन्न गम्भीर। ताहांर भाष्य अचल सिन्धुरमत गम्भीर, अटलपर्वते रन्याय अधृषय, सूर्येर न्याय प्रोज्वल एवं चन्द्रेर न्याय सुशीतल···विचारेर तीक्ष्णताय तिनि साक्षात् सरस्वती। शंकर दार्शनिक क्षेत्रे सार्वभौम सम्राट, चिन्ताराज्ये चक्रवर्ती ओ मनीषाय महाराजाधिराज"[१]।

अर्थात् शांकर भाष्य प्रसन्न गम्भीर है। शंकराचार्य का भाष्य अचल सिन्धु के समान गम्भी, अटल पर्वत के समान अधृष्य सूर्य के समान प्रोज्चल एवं चन्द्रमा के समान सुशीतल है। विचारों की तीक्ष्णता में शंकर साक्षात् सरस्वती हैं। शंकर दार्शनिक क्षेत्र में सार्वभौम सम्राट हैं। डाक्टर थीबो, जिन्होंने रामानुज भाष्य की भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा ही है, का निःसंकोच कथन है कि शंकराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना, विचारों की निर्भीकता और सूक्ष्मता के क्षेत्र में न किसी शांकर वेदान्त के विरोधी सिद्धान्त से की जा सकती हे और न किसी अवेदान्तिक सिद्धान्त से।[२] इस प्रकार अनेकों भारतीय एवं पश्चिमी विद्धानों ने शंकराचार्य के भाष्य और उनके दार्शनिक सिद्धनत की आत्यधिक प्रशंसा ही है। यहाँ रामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों के सिद्धान्तों का निरूपण तथा उनका शांकरवेदान्तसिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

---

१. वेदान्त दर्शनेर इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ८३।
(श्री शंकरमठ वरिशाल प्रकाशन, प्रथम संस्करण वंगाब्द १३३२)

२. S. B. E., Vol. XXXIV p. 14, Oxford Clarandon 1890.

रामानुजाचार्य (१०३७-११३७ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)

अन्य वेदान्तिक सिद्धान्तों के विपरीत रामानुजीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड जगत् ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गए हैं। जीव चित् एवं जड जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। कुछ समालोचकों ने, अद्वैत तत्त्व और दो विशिष्ट-कारण एवं कार्य की सत्ता के आधार पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का नामकरण किया है।[1] रामानुज दर्शन के अनुसार यद्यपि जीव जगत् की स्वतन्त्र सत्ताएं स्वीकार की गई हैं, तथापि परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से भोक्ता–जीव एवं भोग्य–जगत् में स्थित रहता है।[2]

ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन

रामानुजीय वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। ब्रह्म समवन्धी वर्णनों में ब्रह्म के आधार, नियन्ता, शासक एवं रक्षक, शेषी, प्रकारी, स्रष्टा एवं सुन्दर रूप के वर्णन प्रमुख हैं। यहां ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूपों का समीक्षात्मक निरूपण क़िया जाएगा।

ब्रह्म का आधार रूप–शांकर अद्वैत के अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के विपरीत आचार्य रामानुज ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् के बीच शरीर-शरीरी एवं आधाराधेय सम्वन्ध मानते हैं। इस सम्वन्ध के अनुरूप ब्रह्म शरीरी एवं चित् तथा अचित्–जीव-जगत् ब्रह्म के शरीर हैं। दूसरे शव्दों में शरीरी ब्रह्म, शरीरी रूप–जीव तथा जगत् का आधार है तथा जीव एवं जगत् उस ब्रह्म के आधेय हैं। इस सम्वन्ध को ही रामानुज वेदान्त में शरीर–शरीरी सम्बन्ध तथा आधाराधेय सम्वन्ध कहा गया है। शरीर की परिभाषा करते हुए रामानुजाचार्य ने लिखा है कि वह द्रव्य, जिसकी आत्मा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए रक्षा करता है तथा जिसे धारण करता है और जो आत्मा के अधीन रहता है उसे शरीर कहते हैं।[3] जिस प्रकार कि आत्मा सर्वात्मना शरीर को धारण करता है तथा उस पर नियमन करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव तथा जगत् को धारण करता है तथा उसका नियमन करता है। इस प्रकार चेतन जीव तथा अचेतन शरीर उस ब्रह्म के शरीर हैं।[4] ब्रह्म जब आत्मा रूप से जीव को धारण करता है तथा अन्तर्यामी रूप से उस पर शासन करते हुए स्वार्थ सिद्धि के लिए उसे उसी प्रकार कार्य में प्रवृत्त करता है जिस

---

१. The phrase विशिष्टाद्वैतम् is sometimes explained as the oneness or identity and the two Vishista entities mentioned with text, as cause & effect. (There great Acharyas p. 151. Footnote) G.A. Nateson and Co. Madras.

२. परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम् ।

–सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १०८।

३. यस्य चैतन्यस्य यद् द्रव्यम् सर्वातमना स्वार्थे नियन्तुम् धारयितुं च शक्यम् तच्चेष्टेकस्वरूपं चतत् तस्य शरीरम् । –श्रीभाष्य २।१।१६।

४. सर्वपरमपुरुषेण···सर्वचेतनाचेतनं तस्यशरीरं। –श्रीभाष्य। २।१।६।

प्रकार कि जीव शरीर को धारण करता हुआ तथा उस पर नियमन करता हुआ अपनी स्वार्थ सिि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है, तो ब्रह्म और जीव का यह सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ब्रह्म आधार एवं जगत् आधेय है। इस प्रकार शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को ही आधाराधेय-सम्बन्ध भी कहते हैं।

ब्रह्म का नियन्ता रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत आधार रूप ब्रह्म का वर्णन नियन्त रूप से भी किया गया है। ब्रह्म के इस नियन्ता रूप का उल्लेख हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत उस स्थल पर स्पष्ट रूप से मिलता है जहाँ उद्दालक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि इस संसार का अन्तर्यामी नियन्ता एवं शासक कौन है—और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि जो परमात्मा समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता हुआ भी सबसे अलग रहता है और जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते परन्तु समस्त प्राणी जिसके शरीर हैं वही परमातमा अन्तर्यामी रूप से मसस्त प्राणियों का नियन्ता है।[1] इस कथन के अन्तर्गत परमात्मा के प्राणियों से पार्थक्य का यही आशय है कि वह प्राणियों के पाप-पुण्यों से अस्पृष्ट रहता है। नियन्ता परमात्मा पुरुषोत्तम रूप है। उसकी पुरुषोत्तम यही है कि वह अपहत पाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिधित्स, तृष्णारहित, सत्यकाम एवं सत्य संकल्प है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परम पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि परम पुरुष अपाणिपाद होते हुए भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है तथा सर्वत्र वेगपूर्वक गमन करता है। वह परमात्मा नेत्रहीन होते हुए भी देखता है तथा अकर्ण होते हुए भी सुनता है। वह सब कुछ जानता है, परन्तु उसे कोई नहीं जानता।[3] वह परमात्मा ही प्राणियों का सर्वोच्च शासक है, जिसके प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक तथा पृथ्वी एवं समस्त संसार स्थिर रहता है। इसी प्रकार रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा को जगत् को नियन्ता कहा गया है। परमात्मा के नियन्ता रूप के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्त स्थिति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के संकल्प के अधीन है। यही उस परमात्मा का नियाम्यत्व है।[4] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद में भी माया विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को अन्तर्यामी[5] एवं नियन्ता कहा गया है।[6]

ब्रह्म का शासक एवं रक्षक रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जहाँ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को नियन्ता कहा है, वहां उसके शासके एवं रक्षक रूप का भी व्यवस्थित एवं तर्कप्रतिष्ठित वर्णन मिलता है। रामानुज का शासके ब्रह्म जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ फल का दाता है। यद्यपि ब्रह्म स्वभाव से परम कारुणिक है, परन्तु उसकी कारुणिकता का यह अर्थ कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वह पापी को दण्ड नहीं देता। आचारिक दृष्टि से पापी को दण्ड देना भी उस पर कृपा ही करना है[7]।

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ३।७।१५।
२. श्री भाष्य ३।२।११।
३. श्वे० उ० ३।१६।
४. तत्संकल्पधीनसत्तास्थिति प्रवृत्ति कत्वम् नियाम्यात्वम्।
५. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।२०।
६. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।१८, २०, २२, १।३।३६, ४१, १।२।६.१०।
७. The Philosophy of Vishishtadvaita, p. 153.

क्योंकि दण्ड भी पापी के लिए पापकी मुक्ति का ही उपाय है जो परमात्मा की कृपा से सम्पन्न होता है। इस प्रकार शासक ब्रह्म में करुणा की प्रतिष्ठा होने पर भी रामानुज वेदान्त में कर्म सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की गई है। शासक ब्रह्म जहां पापी को दण्ड देता है वहां पुण्यकृत्यकारी को शुभ फल भी प्रदान करता है।

रामानुजीय दर्शन पद्धति में ब्रह्म के उपर्युक्त शासक रूप के अतिरिक्त उसका एक लोकरक्षक का भी रूप है। लोक रक्षा के ही हेतु ईश्वर जगत् की रक्षा के लिए पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चारूपों को ग्रहण करता है।[1] इनमें प्रथम–पर, ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुणों से विशिष्ट परब्रह्म, परवासुदेवादि शब्दों से वाच्य, नारायण का रूप है। ईश्वर का दूसरा व्यूहरूप, उपासना एवं जगत् सृष्टि आदि के लिए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध भेद से चार रूपों में स्थित होता है। इन में वासुदेव षड्गुणयुक्त, संकर्षण ज्ञान और बलयुक्त, प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युकत और अनिरुद्ध शक्ति और तेज से युक्त हैं। ईश्वर का तीसरा रूप-विभव अवतार रूप है। ईश्वर के मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण एवं कल्की, ये अवतार भेद हैं। इन अवतारों का उद्देश्य विनाश पूर्वक साधुओं की रक्षा करना ही है। अपने अन्तर्यामी रूप के द्वारा ईश्वर स्वर्ग नरकादि की अनुभव दशा में भी सुहृद् रूप से जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है। अर्चा रूप से ईश्वर मूर्ति विशेष के रूप में[2] गृह, ग्राम, नगर, प्रशस्त देव एवं पर्वतादि में स्थित रहता है। ईश्वर का यह अर्चा रूप भी, स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध एवं मानुष भेद से चार प्रकार का है। इस प्रकार ईश्वर के उपर्युक्त रूपों के द्वारा उसके लोकरक्षकत्व गुण की सिद्धि पूर्णतया हो जाती है। इसके अतिरिक्त लोकरक्षकत्व परम कारुणिक ईश्वर की करुणा का एक तीव्र रूप वह भी होता है, जब वह प्रलय के द्वारा पापियों एवं अपराधियों का संहार कर देता है और फिर से सृष्टि रचना करके मुक्त होने का अवसर प्रदान कर देता है।

ब्रह्म का शेषी रूप–रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म का एक शेषी रूप भी है। ब्रह्म शेषी एवं जीव 'शेष' है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव में 'शेष-शेषी' भाव है। 'शेष' जीव ईश्वर का उपकारक है। जीव की प्रत्येक क्रिया अर्न्तयामी ईश्वर के निर्देशानुसार ही होती है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म में सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है परन्तु भगवान का कैंकर्य परम भक्ति अथवा प्रपत्ति द्वारा ही प्राप्य है।[3] रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन प्रकारी रूप से भी किया है। ब्रह्म के प्रकारी रूप के अनुसार ब्रह्म 'प्रकारी' और जीव एवं जगत् 'प्रकार' हैं। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव तथा जगत् के अन्तर्गत प्रकार-प्रकारीभाव सम्बन्ध है। भोक्ता जीव, भोग्य जगत् एवं प्रेरक ईश्वर में स्वरूप भेद होने के कारण भेद होने पर भी प्रकार-प्रकारी भाव सम्बन्ध के द्वारा अभेद ही है,[4] क्योंकि रामानुजाचार्य का ब्रह्म प्रकारविशिष्ट प्रकारी कहा गया है।[5]

---

१. एवं प्रकार ईश्वरः पर व्यूहविभवान्तर्याम्यवताररूपेणपंचप्रकारः,–यतिपतिमतदीपिका नवम अवतार, पृ० ४० –(व्रिज वीव० दास एण्ड कम्पनी, बनारस १९०७)।

२. श्रीभाष्य २।४।१४।

३. रहस्य त्रय, अध्याय ३, पृ० २२ (कल्याण बम्बई)।

४. सर्वदर्शन संग्रह, ४।३०।

५. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 685. (F. note)

ब्रह्म का स्रष्टा रूप–विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समर्थकों ने ब्रह्म के कारणावस्थ ब्रह्म एवं कार्यावस्थ ब्रह्म के भेद से दो रूप माने हैं। प्रलयकाल में जीव एवं जगत् के सूक्ष्म रूपता प्राप्त कर लेने पर सूक्ष्म चित् एवं अचित् से विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकाल में स्थूल चित् एवं अचित् से विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है।[1] कारण एवं कार्य ब्रह्म का यह पार्थक्य ही विशिष्टद्वैत सिद्धान्त का समर्थक है। कारणवस्थ ब्रह्म स्वेच्छा से कार्यावस्था को प्राप्त होता है। अतः ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

कार्य रूप जीव एवं जगत् की सत्ता कारण रूप ब्रह्म में वर्तमान रहती है,[2] इसीलिए रामानुज वेदान्त में कार्यकारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तरह विवर्तवाद सिद्धान्त को न मानकर सत्कार्यवाद सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

रामानुज वेदानत के अन्तर्गत सृष्टि का सापेक्ष विधान द्रष्टव्य है। इस सापेक्ष विधान के अनुसार प्रलय एवं सृष्टि ब्रह्म की दो अवस्थायें मात्र है। ब्रह्म की कारणावस्था प्रलय की स्थिति है और कार्यावस्था सृष्टि की स्थिति। प्रलयकालिक ब्रह्म कारणावस्था को प्राप्त होकर जब स्वेच्छा से सृष्टि आरम्भ करता है तो सूक्ष्म भौतिक तत्त्व स्थूल दशा को प्राप्त होते हैं और फिर जीव अपने पूर्व जन्म के पाप एवं पुण्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार स्रष्टा ब्रह्म, जगत् की सृष्टि विभिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुरूप ही करता है। अतः यह कहना और संगत होगा कि स्रष्टा ब्रह्म जगत् की सृष्टि करने में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है।[3]

रामानुज दर्शन में जीव का स्वरूप

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत निर्दिष्ट जीव का स्वरूप शांकर वेदान्त में विवेचित जीव के स्वरूप से नितान्त भिन्न है। जहां शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप जीव और ब्रह्म की एकता का निरूपण करते हुए, यह कहा गया है कि जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है, वहां रामानुज दर्शन में जीव की अनन्त सत्ता स्वीकार की गई है।[4] रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य, अद्वितीय, अनन्त, ज्ञान शक्ति सम्पन्न, चैतन्यस्वरूप, अवयव रहित, अपरिवर्तनीय, अगोचर एवं अणुरूप है।[5] जीव की सत्ता शरीर, इन्द्रियों, प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है। जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों ही है। अणुरूप जीव का आधारस्थान हृत्पद्म है। सुषुप्ति अवस्था में जीव हृत्पद्म एवं परमात्मा का आश्रय लेकर विश्राम करता है।[6] यद्यपि जीव अणु है परन्तु अणु होते हुए भी विस्तार एवं संकोच शील ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण शरीर के सुख-दुख का भोक्ता बनता है। श्री भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए कहा है कि

---

१. यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३६।

२. *Ghate* : The Vedanta p. 28.

३. श्री भाष्य २।१।३४, ३५।

४. *M. Hiriyanna* : Outlines of Indian Philosophy, p. 405. (London, Allen & Unwin—1956)

५. श्री भाष्य २।२।१९-३२, २।३।१८, यतिपतिमतदीपिका ८।

६. श्री भाष्य ३।२।६।

जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करती है उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। दीपक के विस्तार एवं संकोच से सम्पन्न है।

जीवों की संख्या अनन्त है। प्राणियों में सुख एवं दुःख का पृथक्-पृथक् विभाजन जीवों की अनन्तता का द्योतक है। यद्यपि जीव, जगत् में अनेक बार जन्म लेने पर भी उनके मूल रूप में परिवर्तन न होकर–ब्राह्य रूपों में ही परिवर्तन होता है।

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव को ज्ञाता कहा गया है। बन्धन एवं मुक्ति दोनों अवस्थाओं में, जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।[1] इसके अतिरिक्त शंकर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मानकर 'अंशांशि भाव का प्रतिपादन किया गया है। अंशाशि भाव के अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। जीव की अंशता से यह कदापि न ग्रहण करना चाहिए कि जीव ब्रह्म का कोई पृथक् कृत अंश है, क्योंकि ब्रह्म भेदों से रहित है।[2] जीवों के, ब्रह्म विशेषण एवं 'प्रकार' होने के कारण ही उन्हें ब्रह्म का अंश कहा गया है।[3]

जीवों के भेद

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव के बद्ध, मुक्त एवं नित्य रूप से तीन भेद माने गए है।[4] जो जीव अज्ञान एवं स्वार्थ के कारण संसार में बार-बार जन्म लेते हैं वे बद्ध कहलाते हैं।[5] चतुर्दशभुवनों में रहने वाले ब्रह्म आदि से लेकर कीट पर्यन्त जीव बद्ध कोटि में आते हैं। बद्ध जीव के ही देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर ये चार भेद हैं। कुछ एक विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों का एक भेद नित्यबद्ध भी मानते हैं। नित्यबद्ध जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फंसे रहते है।[6] जैसा कि ऊपर कहा है, दूसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। ये वे जीव हैं जो अपनी बुद्धि, गुणों एवं भक्ति के द्वारा संसार के बंधन से मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के नित्य जीव वे जीव है जो भगवदभिमत आचरण के विरुद्ध कदापि व्यवहार नहीं करते। ऐसे जीवों के ज्ञान के संकोच का अवसर नहीं आता।[7] ये जीव कर्म एवं प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए वैकुण्ठ में निवास करते हैं। गरुड एवं विष्वक् सेन आदि जीव नित्य जीवों की कोटि में आते हैं।

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 692.
२. श्रीभाष्य २।३।४२।
३. वही, २।३।४५।
४. सजीवस्त्रिविधः–बद्धमुक्तनित्यभेदात्। यतिपतिपतदीपिका, पृ० ३२।
५. रहस्यत्रयसार ४।
६. तत्त्वमुक्ताकलाप २।२७, २८।
७. यतिपतिमदीपिका, पृष्ठ ३६।

जगत्

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन अत्यन्त बलपूर्वक किया गया है। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के शरीर-शरीरी एवं विशेषण-विशष्य सम्वन्ध के आधार पर जगत् को, ब्रह्म का शरीर एवं विशेषण होने के कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कि नील कमल का नीलत्व कमल से पृथक् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जगत् की सत्ता भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतः शांकर वेदान्त में जगत् को जिस व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत बतलाया गया है, रामानुजीय दर्शन में उसका वैपरीत्य है।[१] रामानुज दर्शन में अचित् जगत् भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार कि ब्रह्म और जीव। मूलतः, जगत्, ब्रह्म और जीव दोनों से भिन्न है परन्तु साथ ही साथ ब्रह्म का विशेषण एवं प्रकार होने के कारण जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है[२]। ब्रह्म की कार्यावस्था में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट रूप से स्थित ब्रह्म स्वेच्छा से, विचित्र शक्ति के याग से नामरूपात्मक जगत् एवं जीवों की सृष्टि करता हैं।

मुक्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन का मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त शांकर वेदान्त के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है। शांकर वेदान्त के अनुसार मुक्ति के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म की जिस एकता का विवेचन किया गया है उसका रामानुजदर्शनपद्धति से विरोध है। रामानुज दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म के साथ ऐक्य को न प्राप्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।[३] इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन अभी रामानुजदर्शन का निरूपण करने के पश्चात् किया जाएगा। रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त जीव सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व को तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह ईश्वर की तरह सर्वकर्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं होता।[४] मुक्त जीव को स्वराट् कहने का यही आशय है कि वह संसार के कर्म बन्धन से मुक्त होता है।[५]

शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव की कोई कामना न होने के कारण उसे फिर संसार में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता।[६] इसीलिए रामानुज वेदान्त में विदेह मुक्ति का समर्थन किया गया है। मुक्तावस्था में जीवात्मा, यों तो आनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है और स्रष्टा द्वारा यह अनेकों लोकों का आनन्द ले सकता है, परन्तु स्रष्टा ब्रह्म की अपेक्षा जीव में दो न्यूनताएं स्पष्ट रूप से मिलती हैं।

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, vol. II, p. 701.

२. *Ghate* : The Vedanta, p. 28.

३. ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्। —श्री भाष्य १।१।१।

४. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्योदेवे विशिष्यते। —सर्वदर्शन संग्रह ४।४३ तथा देखिए श्रीभाष्य ४।४।१७।

५. श्रुत प्रकाशिका—श्रीभाष्य १।१।१।

६. श्री भाष्य ४।४।२२।

एक तो यह कि जीव अणु है और दूसरी यह कि जगत् कि क्रियाओं के नियंत्रण की शक्ति जीव में नहीं होती। उक्त न्यनताओं की पूर्ति ब्रह्म ही में मिलती है।[१]

विशिष्टद्वैतदर्शन परम्परा के अनुसार मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं–एक वे जो संसार और स्वर्ग में परमेश्वर के किंकेर बने रहना चाहते हैं। इन जीवों का यह कैंकर्य ही मुक्ति है। दूसरे प्रकार के मुक्त जीव केवली कहलाते हैं, मुक्त जीवों को सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से नहीं होता। ये जीव अपने मुक्ति रूप लक्ष्य की प्राप्ति आत्मा के सतत चिन्तन द्वारा प्राप्त कर सकता है।[२] प्रथम प्रकार के मुक्तों का कैंकर्य रस की उपलब्धि होती है और इससे उनमें निःस्वार्थ सेवा का भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत केवली मुक्तों को आत्मरतिरूप आनन्द की उपलब्धि होती है।[३]

मुक्तात्माओं को जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है वह साधारण जीवन से भिन्न नहीं है।[४] वेश-भूषा, रहन-सहन एवं रमणीक दृश्यों की सुसम्पन्न योजना वैकुण्ठ में साधारण जीवन की अपेक्षा विशिष्ट होती है। वैकुण्ठ में जीव संगीत भी सुनता है और कभी-कभी गूढ़ रहस्यों का विवेचन करता है। इस प्रकार वैकुण्ठ में भी जीव के कामना एवं विलासिता के जीवन का अन्त नहीं होता। इस प्रकार रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष परमात्मा द्वारा सृष्ट आनन्दमय पदार्थों का भोग करता है। (वे० सा० ४।४)

रामानुज दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन के अनुयायी विद्वानों का मत है कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक एकान्तिक भक्तिभोग से भगवान् की उपलब्धि करता हे।[५] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने तो मुक्ति में भक्ति को प्रधान कारण माना है।[६] भक्ति में भी पराप्रपत्ति का महत्त्व रामानुज दर्शन में अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। यामुनाचार्य के शब्दों में प्रपत्ति को प्राप्त भगवान् का भक्त न अपने आप को धर्मनिष्ठ मानता है, न आत्मवेत्त और न भक्तिमान्। वह सदा अपने अकिंचनत्व एवं अनन्यगातित्व का ही भगवान् से निवेदन करता है।[७] प्राप्ति को प्राप्त भक्त की

१. श्रीभाष्य ४।४।१३, १५।
२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, p. 711.
३. *P.N. Shrinivasachari* : The Philosophy of Vishishtadvaita, page 489-490.
४. नारद पंचरात्र १।६।१३, १४, १५, १६, १७। (सुवर्ण प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, सन् १९०६)
५. बलदेव उपाध्याय–भारीतय दर्शन, पृष्ठ ४७४।
६. वेदार्थ संग्रह, पृष्ठ १४५, १४७।
७. नधर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।।
–यामुनाचार्य : आलबन्दार स्तोत्र २५।
८. रामानुजाचार्य, शरणागतिगद्यम्, १२।

दृष्टि में एकमात्र भगवान् ही उसका उद्धारकर्त्ता है।[८] इस प्रकारप्रपत्ति का अर्थ भक्त का सर्वात्मना भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण है। समर्पण भी निम्नलिखित तीन भेद हैं[१]–

(१) फल समर्पण। (२) भारसमर्पण।। (३) स्वरूप समर्पण।

(१) फल समर्पण–फल समर्पण के अन्तर्गत भक्त का फल-त्याग आता है। फल का समर्पण करने वाला भक्त प्रपत्ति रूप साधन से किसी प्रकार के आत्मानन्द या आत्मसन्तोष की कामना नही करता। जहां ऐश्वर्य एवं कैवल्य के साधक स्वर्ग और आत्म-दर्शन की कामना करते हैं वहां प्रपत्ति का सच्चा अनुयायी यही समझता है कि अनन्यार्ह, शेष एवं पूर्ण परतन्त्र रूप में उसका आधार 'शेषी' परमात्मा ही है। प्रपत्ति पर आधारित भक्त अपनी सत्ता भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही समझता है। इस प्रकार प्रपत्ति में फल-समर्पण के द्वारा भक्त फल का पूर्णरूपेण त्याग कर देता है।

(२) भार समर्पण–भार समर्पण के द्वारा भक्त अपनी रक्षा का पूर्ण भार अपने ऊपर न रख कर पूर्णतया भगवान् को समर्पण कर देता है। प्रपत्ति के अनुसार आत्मरक्षा का भाव उस रक्षक में उत्पन्न होता है जो साध्य एवं साधन दोनों ही है, न कि प्रपन्न में। इसका कारण यह है कि प्रपन्न द्वारा पूर्ण समर्पण होने पर रक्षा एवं रक्ष्य का भेद नहीं रह जाता। भार-समर्पण मूलक प्रपत्ति और भक्ति योग में यह प्रमुख भेद है कि प्रपत्ति हृदय को कर्तव्य, प्रयत्न एवं पाप के भार से मुक्त कर देती है, जब कि भक्तियोग के अनुसार भक्त में सतत नैतिक प्रयत्न एवं आध्यात्मिक उत्कण्ठा तथा जागरण अपेक्षित होता है।[२] अतः प्रपत्ति-योग भक्ति-योग की अपेक्षा सरल है।

(३) स्वरूप-समर्पण–स्वरूप-समर्पण के द्वारा प्रपन्न अपने स्वरूप का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है। स्वरूप-समर्पण केवल अहंकार त्याग ही नहीं है, अपितु उसमें आत्म-समर्पण का भाव भी निहित है।

इस प्रकार प्रपत्ति भाव द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण का नाम है। परन्तु प्रपत्ति सम्बन्धी विवेचन के समय यह विचार करना भी अत्यन्त अपेक्षित है कि क्या प्रपत्ति में कर्मानुष्ठान की उपादेयता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं–

(१) टेंकलई मत–इस मत के प्रस्थापक श्री लोकाचार्य हैं। ये प्रपत्ति में कर्मों के अनुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। इनका विचार है कि प्रपत्ति के अन्तर्गत भक्त पर भगवान् की दया किसी कर्मादि हेतु पर नहीं आधारित होती। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि मार्जार शिशु जब अपनी माँ (बिल्ली) की शरण में जाता है तो उसकी मां (बिल्ली) तुरन्त शिशु को मुंह में दबाकर यथास्थान पहुंचा देती है। अहिर्बुध्न्य[३] संहिता एवं शठकोपाचार्य[४] आदि की उक्तियों के अनुसार भी भक्त पर भगवान् की अकारण कृपा का ही उल्लेख है।

(२) बडकलै मत–बडकलै मत के प्रस्थापक आचार्य वेदान्तदेशिक हैं। इस मत के अन्तर्गत

---

१. वेदान्तदेशिक, न्यासदशक, श्लोक २।

२. *Shrinivasachari* : The Philosophy of Vishishtadvaita, p. 392.

३. अहिर्बुध्न्य संहिता १४।२६।

४. श्रीवचनभूषण, पृष्ठ ६२७।

वेदान्त देशिक प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान को आवश्यक मानते हैं।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का विवेचन अभी ऊपर किया जा चुका है। अद्वैतवाद का निरूपण तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः यहां उसके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं समझते।

शंकराचार्य एवं रामानुज-वेदान्त की तुलना करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है–

Sankara and Ramanuja are the two great thinkers of the Vedanta, and the best qualities of each were defects of the other.[1]

डा० राधाकृष्णन के उपर्युक्त कथन के अनुसार शंकर और रामानुज दोनों वेदान्त के महान विचारक हैं। इन दोनों में प्रत्यके के उत्तम गुण दूसरे के दोष है। विचार करने पर, यों तो दोनों ही दर्शन पद्धतियां अपने-अपने प्रकार एवं स्वरूप के अनुसार बड़े बलपूर्वक स्थापित की गई हैं, परन्तु फिर भी दोनों की कुछ न कुछ दुर्बलताएं अवश्य देखने को मिलती हैं। कहना न होगा कि शंकराचार्य का दर्शन यदि शुष्क तर्कपुष्ट होने के कारण धार्मिक आकर्षण से दूर है तो रामानुजाचार्य द्वारा की गई परलोकसम्बन्धिनी सुन्दर कथाएं विश्वास की भाजन नहीं बनतीं। इसके विपरीत शांकर वेदान्त की वह तर्कविद्या जो ईश्वर, जीव एवं जगत् को पूर्ण-ब्रह्म का रूप देती है, रामानुज दर्शन में किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। जैसा कि रामानुज दर्शन की विवेचना के समय कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर जीव एवं जगत् की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है, जबकि अद्वैती शंकराचार्य ने परमार्थतः ईश्वर, जीव एवं जगत की पृथक् सत्ता को न स्वकीकार करके, एक मात्र अद्वैत की ही सत्ता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ यदि शांकर वेदान्त में बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए तर्क की सुन्दर योजना की गई है तो रामानुजीय दर्शन पद्धति में अपर्व धार्मिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद को जो प्रतिष्ठा मिली है, वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को नहीं। धार्मिक दृष्टि से निःसन्देह रामानुज दर्शन की देन बेजोड़ है, परन्तु धर्म जीवन का प्रथम चरण है और दर्शन द्वितीय। धर्म साधन है, साध्य तो दर्शन ही है। समालोचक घाटे ने शांकर वेदान्त के विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वकीर तो किया है, परन्तु साथ ही साथ उन्होंने उस पर लोक सामान्य के अनुपयोगी होने का आरोप भी लगाया है। मेरे[2] विचार से जैसा कि घाटे महोदय ने स्वयं स्वकीर किया है, शंकराचार्य द्वारा की गई उपास्य सगुण ब्रह्म की स्थापना शंकराचार्य के अध्यात्मदर्शन को पूर्णतया लोकसामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। परन्तु शंकराचार्य प्रतिपादित उपास्य ईश्वर की आलोचना करते हुए घाटे साहब ने उसे मिथ्या एवं गौण कहा है।[3] घाटे महोदय का उक्त मत समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शांकर वेदान्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। अतः

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 720.

२. *Ghate* : The Vedanta, p. 20.

३. वही।

मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में माया को ही मिथ्या कहा जा सकता है, न कि ब्रह्म रूप को। जहां तक कि ईश्वर को गौण सिद्ध करने की बात है, वह भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि शांकर वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर रूप से दो भिन्न तत्त्वों की स्थापना नहीं की गई है। यदि ऐसा हुआ होता तो अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि ही सम्भव न होती। अतः ब्रह्म एवं ईश्वर के मूलतः एक होने के कारण प्रधानत्व एवं गौणत्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जब साधक ब्रह्म रूपता को प्राप्त हो जाता है तो उसकी दृष्टि में ईश्वर एवं ब्रह्म का स्वरूप भेद नहीं रहता। अतः ईश्वर के सम्बन्ध में घाटे महोदय की गौणत्व की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती।

प्रायः समालोचकों ने रामानुजदर्शन के धार्मिक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया है।[१] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, धर्म जीवन का साधन मात्र है। दर्शन ही के द्वारा आत्मदर्शन सम्भव है। अब यहां शंकराचार्य एवं रामानुजदर्शन के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलनात्मक रीति से विचार किया जाएगा। इससे दोनों महान् दार्शनिकों का सैद्धान्तिक अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्मतत्त्व की स्थापना शांकर एवं रामानुज-वेदान्त की उच्चतम निधि है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृद्-विभात एवं सर्वज्ञ है।[२] शांकर वेदान्त में ब्रह्म की सर्वज्ञता का आशय उसकी ज्ञानरूपता से है,[३] न कि सर्वज्ञातृत्व से। रामानुजाचार्य का ब्रह्म उपर्युक्त शांकरवेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म से बहुत-सी बातों में भिन्न है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है।[४] रामानुज के ब्रह्म की कल्याणगुणसम्पन्नता एवं पुरुषोत्तमाभिधानता[५] शांकर वेदान्त के ब्रह्म से विपरीत है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म तो निर्गुण एवं निरभिधान है। यों, रामानुज भी ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, परन्तु उनकी निर्गुणता की परिभाष शांकर वेदान्त की निर्गुणता की परिभाषा से भिन्न है। राणानुज का कथन है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है, इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है।[६]

रामानुज-वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को चिदचिद् विशेषणों से विशिष्ट कहना भी शांकर वेदान्त की ब्रह्मविषयिका विचारधारा से भिन्न है। जहाँ शांकर वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित होता हुआ अद्वैत सत्य रूप है, वहाँ रामानुजाचार्य का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों से शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त में मायोपाधिक ब्रह्म को ईश्वर तथा मायोपाधिरहित को

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philospohy, vol. II, p. 720.
२. गौ० का० ३।३६।
३. या० भा०, गौ० का० ३।३६।
४. श्रीभाष्य १।१।१।
५. पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। –श्रीभाष्य १।१।१।
६. निर्गुणवादश्च परस्यब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते। –श्रीभाष्य, पृ० ८३।

ब्रह्म कहा गया है। इसके विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद नहीं है। रामानुज वेदान्त में जहां सगुणं ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की नित्यता स्वीकार की गई है, वहां शांकर वेदान्त में जीव एवं जगत् की नित्यता का निराकरण कर इन्हें मिथ्या सिद्ध किया गया है। इस प्रकार जहां अद्वैत वेदात में एक मात्र ब्रह्म को ही नित्य पदार्थ माना है, वहां रामानुज दर्शन में ब्रह्म, जीव एवं जगत्, इन तीन नित्य पदार्थों को स्वकीर किया गया है। इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं रामानुज वेदानत के ब्रह्मसम्वन्धी विचार में पर्याप्त अन्तर है। परन्तु ब्रह्म का सत्, चित् एवं आनन्द रूप दोनों दर्शन पद्धतियों में समान है।

जीव

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मैव जीवः स्वयम्, (विवेक चूडामणि, ३९५) कहकर जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध की गई है। जीव की जीवता तभी तक है, जव तक कि यह अविद्या से उपहित है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार शांकर वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता स्वयंसिद्ध है, परन्तु इसके विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में विचारित शेष-शेषीभावसम्वन्ध, प्रकार प्रकारी-भावसम्वन्ध, नियाम्य-नियामकभावसम्वन्ध एवं विशेषण विशेष्य भाव आदि सम्वन्ध दोनों की भिन्न स्थिति के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में ब्रह्म एवं जीव में अंशांशिभावसम्वन्ध माना गया है। अंशांशिभाव को स्पष्ट करते हुए रामानुजाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि आदि आदित्यादि के, गोत्वादि गवादि के और देव-मनुष्य आदि शरीर, देही के अंश हैं, उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश है।[1] रामानुज दर्शन में अंशांशि भाव होने पर भी ब्रह्म एवं जीव में विशेषणविशेष्यसम्वन्ध होने के कारण दोनों में स्वाभाविक वैलक्षण्य भी मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है।[3] जवकि शांकर वेदान्त में जीव 'ज्ञः' कहा गया हैं।[4] अपने ज्ञत्व के कारण जीव स्वयं ज्योतिस्वरूप कहलाता है।

शांकर वेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण कर उसे अणुसिद्ध किया है।[5] जीव के विभुत्व एवं अणुत्व के आधार पर ही दोनों दर्शनपद्धतियों का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवेदान्त के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, जबकि विशिष्टाद्वैतवेदान्त के अनुसार अणु जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादिलोकगमन एवं ऊर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।[6] इस प्रकार शांकरवेदान्त और रामानुज-वेदान्त की जीवसम्बन्धित विचारधारा में मौलिक भेद हैं।

---

१. श्रीभाष्य २।३।४५।

२. विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। –श्रीभाष्य २।३।४५।

३. श्रीभाष्य २।३।१९ तथा देखिए–*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, page 692.

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।३।१०।

५. नायं सर्वगतः अपित्वणुरेवायमात्मा।–श्रीभाष्य २।३।२०।

६. श्रीभाष्य २।३।२०।

जगत्

शांकर वेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताआविशेषण द्वारा मिथ्यात्व की व्याख्या सदसद्विलक्षणत्व की जाने पर भी, इस दर्शन पर आलोचकाविशेषण द्वारा पलायनवादिता का अनुचित आरोप लगाया गया है। शांकर वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता निःसंकोच स्वीकार की गई है, परन्तु रामानुजदर्शन में जगत् की मूलतया सत्य स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शन पद्धतियों की तुलना करते हुए घाटे महोदय लिखते हैं-

According to one, the world as we perceive it, is unreal, only an appearence superimposed through nescience on the entity, i.e. Brahman, just like that of serpent superiposed on a rope. According to the other, the world, though inexplicable, is however, as real as the Brahman.[1]

घाटे साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार रज्जु में आरोपित सर्प के समान अज्ञान के कारण ब्रह्म में आरोपित जगत् का स्वरूप भिन्न है। रामानुज दर्शन के अनुसार जगत् अनिर्वचनीय होते हुए भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार कि ब्रह्म। फिर जैसा कि रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय कहा जा चुका है, रामानुज-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं जगत् का शरीर-शरीरी-सम्बन्ध भी शांकर वेदान्त के पूर्ण विपरीत है।

शांकर वेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज-दश्नन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अधिष्ठानवाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास या अविद्या रूप है। जवकि रामानुज-वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को मूलतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद सिद्धान्त के विरोध में रामानुज ने जो आक्षेप लगाये हैं उनकी समीक्षा अभी आगे की जायेगी।

कार्य-कारणवाद

शांकर-वेदान्त एवं रामानुज-वेदान्त का कार्यकारणवाद-सिद्धान्त भी एक दूसरे से विरुद्ध है। शांकर-वेदान्त के अन्तर्गत मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण दोनों है। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है एवं चैतन्य रूप होने के कारण निमित्त-कारण है। रामानुजदर्शन के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय् ब्रह्म की ही दो स्थितियों के नाम हैं। (रामानुज भाष्य गीता १३।२, ६।७) प्रलयावस्था में जो ब्रह्म कारण रूप से स्थित रहता है वही सृष्टिकाल में कार्यावस्थ देखा जाता है। इस प्रकार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियां हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रामानुज सत्यकार्यवाद[2] के समर्थक है और शंकराचार्य विवर्तवाद के। सत्यकार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्त वर्तमान रहती है। जैसा कि अभी कह चुके हैं, जगत् की कार्यता ब्रह्म के अवस्थन्तर का ही नाम है।[3] इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण न ब्रह्म का कार्य

---

१. *Ghate* : The Vedanta, p. 173.

२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 678.

३. अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।-रामानुजभाष्य, गीता १३।२।

है और न परिणाम। शांकर वेदानत में तो जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य न होकर मायिक एवं मिथ्या प्रतीतिमात्र का फल है। कार्य-कारण-सम्बन्धी उक्त विचार के कारण ही शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के ख्याति सम्बन्धी विचार में भी अन्तर है। रामानुज सत्‌ख्यातिवादी। सत्‌ख्यातिवादी रामानुज के अनुसार शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति असत्‌ख्यातिवादी बौद्ध की तरह असत् अथवा शांकरवेदान्ती की तरह अनिर्वचनीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अन्तर्गत शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शंकराचार्य एवे रामानुजाचार्य के कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त में प्रर्याप्त अन्तर मिलता है।

मुक्ति का विचार

रामानुज-दर्शन की मुक्तिविषयक विचारणा के अवसर पर अभी पीछे रामानुज एवं शांकर वेदान्त की मुक्ति से सम्वन्धिते अन्तर का संकेत किया गया था। निश्चय ही, दोनों की मुक्तिविषयक विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया के फलस्वरूप मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा-प्राप्ति का नाम है। जब जीव की अविद्या निवृत्त हो जाती है तो वह ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त होता है। शांकर वेदान्त के इस दृष्टिकोण से रामानुज का मौलिक विरोध है। रामानुज के मतानुसार मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुजाचार्य का विचार है कि मुक्त जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, न कि स्वरूपैक्य को। (श्रीभाष्य १।१।१) इसके अतिरिक्त रामानुजवेदानत में जहां मुक्त जीव का चन्द्रादिलोकगमन संगत है,[१] वहाँ शांकर वेदान्त में ब्रह्मभावापन्न मुक्त जीव की परलोकादिगमनशीलता का पूर्णतया निराकरण किया गया हैं।[२]

शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के मुक्ति सम्बन्धी विचार का यह अन्तर और विचार्य है कि जहां शंकराचार्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों के समर्थक हैं, वहां रामानुजाचार्य के मतानुसार केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया गया है।[३] रामानुजाचार्य का सिद्धांत है कि जब जीव को परब्रह्म का अनुभव हो जाता है तो फिरं उसे शरीरग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[४] परन्तु शांकर वेदान्त के अनुसार अविद्या निवृत्ति के फलस्वरूप आत्मवोध होने पर जीव को तव तक शरीर धारण करना ही पड़ता है, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। यहां तक कि अपान्तरतमा आदि को भी अक्षीण कर्मों के भोग के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता था। इस प्रकार शांकर वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया गया है।

---

१. श्रीभाष्य २।३।२०।

२. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।७।

३. For Ramanuja there is no Jivanmukti.

—*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 710.

४. श्रीभाष्य ४।४।२०।

तत्त्वमसि

शांकर-वेदान्त और रामानुज-वेदान्त की, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की समन्वय दिशा में भी भेद है। शांकरवेदान्तागुत 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन पंचम अध्ययाय के अन्तर्गत विस्तृत रूप में किया जा चुका है। शांकर वेदान्त के अनुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा द्वारा जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शांकर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। आचार्य रामानुज के मतानुजसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत्कारणरूप ब्रह्म का बोधक है और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का।[1]

अचिद्विशिष्ट जीव शरीरक ब्रह्म रामानुज के वेदान्त का अन्तर्यामी ब्रह्म है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीवात्मा के वाचक 'तत्त्वमसि', आदि महावाक्यों के अन्तर्वर्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान है। इसीलिए तो परमात्मा के द्वारा 'मामेवविजानीहि' (मुझ ही को जानो) और 'मामुपासस्व' (मेरी उपासना करो) का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार वामदेव का यह कथन कि 'मैं ही मनु हूं' और 'मैं ही सूर्य हूं' परमात्मा के अन्तर्यामित्व का ही सूचक है।[2] अनन्त ब्रह्म के सर्वगत एवं अन्तर्यामी होने के कारण प्रत्येक जीव में उसकी सत्ता देखी जा सकती है। अतः प्रत्येक जीव प्रह्लाद की तरह यह कह सकता है कि अनन्त परमात्मा के सर्वगत होने के कारण मैं उस परमात्मा का ही रूप हूं, मुझ से सारा संसार उत्पन्न हुआ है, मैं सब कुछ हूं और मुझ सनातन में सब कुछ स्थित है।[3]

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दृष्टि से विचार करते हुए 'तत्' पदबोध्य, जगत्, कारणब्रह्म एवं त्वम्पदबोध्य अन्तर्यामी ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया है।

मायासम्बन्धी दृष्टिकोण

यों तो, शांकर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त, दोनों ही दर्शनपद्धतियों में माया की चर्चा मिलती है, परन्तु दोनों का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। शांकर वेदान्त का तो प्रासाद ही मायावाद पर आधारित है। क्योंकि मायावाद को स्वीकार किए बिना अद्वैतवाद की सिद्धि ही असम्भव है। शांकरवेदान्त के अनुसार माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है।[4] परमेश्वर की यह माया शक्ति सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। इन्होंने माया शब्द को आश्चर्य अर्थ का बोधक

---

१. तत्त्वमसि, परमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वात्। –श्रीभाष्य २।३।४५।

२. श्रीभाष्य १।१।३१।

३. सर्वगतत्वादनन्तस्य सएवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने।। –विष्णुपुराग १।१९।८५।

४. शा० भा०, श्वे० उ० ४।१०।

माना है।[1] इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने एक स्थल पर माया शब्द का अर्थ कूटयुक्ति भी किया है।[2] अतः निश्चित ही मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व की बोधक शांकर वेदान्त की मायासम्बन्धी विचारधारा से रामानुज का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न है। दोनों दर्शन पद्धतियों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में भेद का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रामानुजाचार्य का विशिष्टद्वैत सिद्धान्त मायावाद की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ने जहां जगत् के मिथ्यात्व का विचार प्रस्तुत किया था, वहां रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण की विरोधिनी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जगत् को सत्य सिद्ध किया था। इतना ही नहीं, रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त के माया सम्बन्ध में कुछ आक्षेप भी लगाये थे। यहां इन आक्षेपों का उल्लेख एवं समीक्षण उपयुक्त होगा। रामानुजाचार्य के यह आक्षेप रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत सात अनुपपत्तियों के रूप में मिलते हैं। यहां सातों अनुपपत्तियों के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के मायावाद विरोधी आक्षेपों का निरूपण एवं समीक्षा की जाएगी।

१. आश्रयानुपपत्ति

शांकर वेदान्त के अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए रामानुजाचार्य का कथन है कि अविद्या का आश्रय अनुपपन्न है। अतः निराधार अविद्या की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती। रामानुजाचार्य का तर्क है कि जीव एवं ब्रह्म दोनों ही अविद्या के आश्रय नहीं सिद्ध किये जा सकते। जीव को अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वह स्वयं अविद्याकल्पित है और ब्रह्म अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान स्वरूप होने के कारण अविद्या का विरोधी है।[3] इसप्रकार रामानुजाचार्य का तर्क है कि अविद्या न ब्रह्माश्रित कही जा सकती है और न जीवाश्रित।

समीक्षा–डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने रामानुजाचार्य के उपर्युक्त आक्षेप की समालोचना करते हुए निम्नलिखित दो दोष बतलाए हैं–

(१) आश्रयानुपपत्ति के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के तर्क का पहला दोष तो यह है कि वे अविद्या को सत् पदार्थ मानकर उसके आश्रय का अन्वेषण करते हैं, जब कि अविद्या सत् न होकर असत् है। अविद्या विद्या का अभाव एवं आवरण है। इस सम्बन्ध में डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार उपाधियों में ब्रह्म की सत्ता एवं चैतन्य भाव छिपा रहता है।[4]

आलोचना–तर्क की कसौटी पर प्रभुदत्त जी का उपर्युक्त मत खरा नहीं उतरता। जैसा कि प्रभुदत्तजी का कथन है, यदि अविद्या का अभाव माना जाएगा तो अविद्या आवरण शक्ति का कार्य ही किस प्रकार कर सकती है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी के कथन के विपरीत अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत

---

१. मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची।–श्री भाष्य ३।२।३।
२. रामनुज भाष्य, गीता ७।१५।
३. अतोऽज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव नाज्ञानाश्रयत्वम्।–श्रीभाष्य १।१।१
४. *P.D. Shastri* : The Doctrine of Maya, p. 122.

अविद्या या अज्ञान को अभाव रूप न मानकर भावरूप माना गया है।[1]

(२) डा० प्रभुदत्त जी के अनुसार रामानुजाचार्य के तर्क को दूसरा दोष यह है कि वे ब्रह्म एवं जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म एवं जीव की भेदव्यवस्था का निराकरण करते हुए डा० प्रभुदत्त जी का कथन है कि उपाधि के कारण ही ब्रह्म और जीव की भेद व्यवस्था सम्भव है। जहां तक अविद्या के आश्रय का कथन है, मन और इन्द्रियों की उपाधियां ही अविद्या की आश्रय हैं।[2]

आलोचना–प्रथम मत के समान ही डा० प्रभुदत्त जी का दूसरा मत भी दोष पूर्ण है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, डा० प्रभुदत्त जी ने जीव एवं ब्रह्म के भेद का निराकरण किया है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थ दृष्टि से अभेद होते हुए भी अविद्योपाधि के कारण जीव एवं ब्रह्म का भेद देखने में आता है। इनके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी का, मन और इन्द्रियों की उपाधियों को बविद्या का आश्रय कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि मन और इन्द्रियों की उपाधियां भी अविद्या रूप ही हैं। इस प्रकार डा० प्रभुदत्त जी ने रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे अप्रामाणिक एवं अयुक्त हैं। परन्तु डा० प्रभुदत्त जी के तर्कों की आयुक्ति से हमारा तात्पर्य रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति को युक्ति-युक्त कहना कदापि नहीं है।

रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध एवं आश्रयोपपत्ति के समर्थन में यह कहा जाएगा किव अविद्या जीवाश्रया है। यदि कहा जाए कि अविद्या को जीवाश्रया मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि अविद्या एवं जीव का सम्बन्ध अनादि है।[3] इस प्रकार जीव एवं अविद्या का अनादिसम्बन्ध होने के कारण रामानुजाचार्य का यह कथन उचित नहीं है कि जीव को अविद्या द्वारा कल्पित होने के कारण अविद्या का आश्रय नहीं कहा जा सकता। दोनों के अनादि होने के कारण अविद्या जीवाश्रया है और जीव अविद्याश्रय।

विवरणकार का मत

विवरण प्रस्थान के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव न होकर ब्रह्म है। इस मत के अनुसार अविद्या स्वरूपज्ञान की उपाधि एवं अविरोधिनी है।[4] अतः रामानुजाचार्य का ब्रह्म एवं अविद्या में विरोध देखना समुचित नहीं है। रामानुजाचार्य द्वारा तर्कित ब्रह्म एवं अविद्या के विरोध के सम्बन्ध में यह कहना और युक्ति-युक्त होगा कि ब्रह्मज्ञान, अज्ञान या अविद्या का निवर्तक नहीं है, अपितु अखण्डाकारवृत्ति ही अज्ञान की निवर्त है। अतः ब्रह्म ज्ञान एवं अविद्या में विरोध मानना असंगत है।

---

१. वेदान्त सार ६।

२. *P.D. Shastri* : The Doctrine of Maya, p. 122.

३. अविद्येयं जीवाश्रया। न चान्योऽन्याश्रयः, अनादित्वादविद्या-जीवतत्सम्बन्धानाम्।

–अनन्तकृष्ण शास्त्री : अद्वैत तत्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट, पृ० १७१)।

४. विवरणप्रस्थाने त्वविद्या ब्रह्माश्रया। सादिस्वरूपज्ञानोपाधिः, तदविरोधिनी च।

–वही, पृष्ठ १७२।

२. ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति

ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति को ही तिरोधनानुपपत्ति भी कहते हैं। मायावाद सिद्धान्त के अन्तर्गत अविद्या की आवरण शक्ति का निरूपण किया गया है। अविद्या की आवरण शक्ति के कारण ही जीव ब्रह्म करने में असमर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने मायावाद सिद्धान्त के उक्त तर्क का निराकरण करते हुए कहा है कि यदि अविद्या के द्वारा प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान समझा जाएगा, तो इससे तो ब्रह्म का स्वरूपनाश ही सिद्ध होगा। उक्त तथ्य के समर्थन में श्रीभाष्यकार का कथन है कि प्रकाश के तिरोधान से प्रकाशोत्पत्ति के प्रतिवन्ध एवं विद्यमान प्रकाश के विनाश का आशय ग्रहण किया जाता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानरूप प्रकाश के अनुत्पाद्य होने के कारण प्रकाशतिरोधान का आशय प्रकाशनाश ही समझा जाएगा।[1] अतः प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान का आवरण मानने से तो ब्रह्म के स्वरूप का नाश ही सिद्ध होगा, जो अनभिप्रेत है।

समीक्षा–ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति के समर्थन में रामानुजाचार्य का यह तर्क समीचीन नहीं है कि अविद्या के द्वारा प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान मानने से ब्रह्म का स्वरूपनाश ही हो जाएगा। अविद्या का आवरण प्रकाश का नाशक न होकर प्रकाश का प्रतिवन्धक ही है। आत्मवोध होने पर प्रकाश के प्रतिबन्धक अज्ञान की ही निवृत्ति होती है न कि स्वरूपज्ञान की[2]। जिस प्रकार घट से आवृत दीपक और दण्डपात होने से घटावरण मात्र की निवृत्ति होती है, न कि दीपक की, उसी प्रकार आत्म वोध होने पर अविद्यावरण की ही निवृत्ति सम्भव है, न कि स्वरूप ज्ञान की। अतः अविद्या के आवरण के द्वारा रामानुजद्वारा की गई स्वरूपज्ञान के विनाश की कल्पना निरर्थक ही कही जाएगी। इस प्रकार रामानुजाचार्य की ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति की सूझ अनिष्पन्न ही है।

३. स्वरूपानुपपत्ति

मायावाद के विरोध में रामानुजाचार्य का विचार है कि जिस अविद्या के कारण अनन्त ज्ञाताओं एवं ज्ञेयों की कल्पना की जाती है, उसका स्वरूप अनुपपन्न है। अपने मत के समर्थन में आचार्य रामानुज का कथन है कि अविद्या को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। अविद्या को सत् मानने में तो स्वयं अद्वैतवेदान्तियों को ही आपत्ति है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत एक मात्र ब्रह्म को ही सत् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को असत् माना जाएगा तो अविद्या का आश्रय भी असत् ही मानना पड़ेगा और इस प्रकार एक अन्य असत् पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इस असत् पदार्थ के आश्रय के लिए भी एक अन्य असत् पदार्थ की कल्पना करना भी

---

१. अविद्यया प्रकाशैक स्वरूपं ब्रह्म तिरोहिमितिवदता स्वरूपनाश एव उक्तस्स्यात्। प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धोविद्यामानस्य विनाशोवा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युप्पगमेन प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एव।–श्रीभाष्य १।१।१
२. अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग, प्रथम संपुट, पृष्ठ १७३।

उक्त कथन के अनुसार अपेक्षित ही होगा। इस असत् पदार्थ कल्पना का परिणाम अनवस्था दोष होगा।[1]

समीक्षा–रामानुजाचार्य की दृष्टि में अविद्या की स्वरूपानुपपत्ति का कारण अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयवाद सिद्धान्त की अवहेलना है। अनिर्वचनीयवाद के अनुसार अविद्या न सत् रूप है और न असत् रूप, सदसत् से विलक्षण है। सदसत् से विलक्षण होने के कारण ही अविद्या को अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा गया है। इस प्रकार अविद्या को अनिर्वचनीय मान लेने पर उसकी स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।[2] अनिर्वचनीयता के द्वारा ही परमार्थ में अविद्या की असत्यता एवं व्यवहार से सत्यता सिद्ध होती है। अतएव अविद्योत्पन्न संसार यदि परमार्थ रूप से सत् नहीं है तो बन्ध्या पुत्रादिवत् नितान्त असत् भी नहीं है। इसीलिए अनिर्वचनीयवाद के आधार पर, अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है।

४. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति

जिस अनिर्वचनीयवाद के आधार पर अद्वैत वेदान्तियों ने अविद्या के स्वरूप का निश्चय किया है, रामानुजाचार्य ने उसका निराकरण करने की चेष्टा की है। अनिर्वचनीयत्व के विरोध में रामानुजाचार्य का कथन है कि अनिर्वचनीयत्व से सदसद्विलक्षणत्व का आश्रय ग्रहण करना अनुचित है, क्योंकि सदसत् से विलक्षण वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिए अनिर्वचनीयता को स्वीकार किया जा सकता।[3] रामानुजाचार्य का तर्क है कि संसार की समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उनकी प्रतीति पर आधारित है और समस्त वस्तुओं की प्रतीति सद्सदाकारा है। सदसद्विलक्षण वस्तु को सदसदाकारप्रतीति का विषय मान लेने पर तो समस्त वस्तुजगत् समस्त जीवों की प्रतीति का विषय बन जाएगा[4] और इस प्रकार वस्तु प्रतीति के सम्बन्ध में कोई मर्यादा न रह जाएगी। उक्त तर्कों के आधार पर रामानुजाचार्य ने अद्वैत वेदान्त के अनिर्ववनीयवाद को अनुपपन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षा–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य का अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध कहना समीचीन नहीं है। अनिर्वचनीयता में अर्थापत्ति प्रमाण है। सद् वस्तु का बाध नहीं होता और असत् की प्रतीति नहीं होती, इस प्रकार प्रतीति का विषय सद्सद्विलक्षणत्व अर्थापति के द्वारा सिद्ध है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य का प्रतीति को सदसदाकार कहना भी आयुक्त है। किसी भी वस्तु की प्रतीति सदसदाकार नहीं होती। इसीलिए मीमांसक की सदसत्ख्याति का भामतीकार द्वारा पूर्णतया निराकरण किया गया है।[5] यदि कहा जाए कि सदसदाकरवती अविद्या ही समस्त कार्य जगत् का उपादान है तो यह असंगत है, क्योंकि अविद्या को सदसदाकारा मानने पर समस्त विषयों की प्रतीति भी सदसदाकारा ही मानी जाएगी और इसका परिणाम यह होगा कि ख्यातिवाद अनुपपन्न ही रह जाएगा।

---

१. श्रीभाष्य १।१।१।

२. अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), पृष्ठ १७४।

३. श्रीभाष्य १।१।१।

४. वही।

५. भामती, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

इस प्रकार ख्यातिबाध की अनुपपत्ति ही अनिर्वचनीय अविद्या में प्रमाण है।[1] ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की तिरोधानकर्त्री, अनेक प्रकार के अध्यासों की उपादानभूता, अज्ञानादिपदवाच्या, भावरूप एवं प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध अनिर्वचनीय अविद्या के स्वीकार कर लेने पर उससे उत्पन्न समस्त जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध ही है। सद्सद्विलक्षणत्व लक्षणवाली अनिर्वचनीयता प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। अनिर्वचनीय अज्ञान के आवरण के बिना ब्रह्म की जगदुपादानता एवं सर्वप्रपंच की अधिष्ठानता सिद्ध नहीं होती।[2]

५. प्रमाणानुपपत्ति

सदसद्विलक्षणत्वसम्पन्न अनिर्वचनीयता का निराकरण करते हुए रामानुजाचार्य ने अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध बतलाया है। श्री भाष्यकार का विचार है कि सदसद्विलक्षण वस्तु में कोई प्रमाण नहीं है।[3]

समीक्षा–अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति की समीक्षा करते समय हम अनिर्वचनीय अविद्या की प्रामाणिकता का उल्लेख कर चुके है। अनिर्वचनीय अविद्या अर्थापत्ति एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। सदसद्विलक्षण एवं अनिर्वचनीय वस्तुओं का स्वरूप पारमार्थिक सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही प्रत्यक्ष का विषय है। इसीलिए शंकराचार्य ने जगत् के उपादान एवं अनिर्वचनीय अध्यास को लोकप्रत्यक्ष का विषय कहा है।[4] इस प्रकार अनिर्वचनीय वस्तुओं की प्रमाणेपपत्ति स्पष्ट ही सिद्ध है।

६. निवर्तकानुपपत्ति

रामानुजाचार्य ने अद्वैत वेदानत के निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के अज्ञाननिवर्तकत्व को अनुपपन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। रामानुजाचार्य का कथन है कि अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त कि श्रुति के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, अमुक्त है। अपने कथन की पुष्टि में रामानुजाचार्य का तर्क है कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्' आदि वाक्य निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के विरोधी हैं। श्रीभाष्यकार का कथन है कि ब्रह्म के सगुण होने के कारण समस्त श्रुतिवाक्य सगुण ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं।[5] इसके अतिरिक्त तत्त्वमसि आदि महाकाव्य भी आचार्य रामानुज के मतानुसार सगुण ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। रामानुजाचार्य के मतानुसार तत्त्वमसि का निरूपण इसी अध्याय में पीछे किया जा चुका है।

समीक्षा–आचार्य रामानुज ने निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञान के विरोध में जिन 'वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तम्' (श्वे०

---

१. इतिख्यातिबाधानुपपत्तिरेवानिर्वचनीयाविद्यायां प्रमाणम्।

–अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), पृ० १७५।

२. वही० पृष्ठ १७५।

३. श्रीभाष्य १।१।१।

४. एवमयमनादिरनन्तोनसर्गिकोऽध्यासो···लोकप्रत्यक्षः।–ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्घात।

५. ब्रह्मणःसविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषाज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति।

–श्रीभाष्य १।१।१।

उ० ३।८) आदि स्थलों को उद्धृत किया है, वे वाच्यार्थ या अनुवाद मात्र की दृष्टि से ही सगुण ब्रह के समर्थक हैं, परन्तु उनका लक्ष्य मरमात्मा को अविद्यारूप अनधकार से सर्वथा अतीत कहना एवं स्वप्रकाश स्वरूप चित् तत्त्व के बोध की ओर संकेत करना ही है। इस प्रकार 'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्' के अन्तर्गत 'तमसः परस्तात्' से परमात्मा की अविद्या से अतीत होने का अभिप्राय है और आदित्यवर्णता से स्वप्रकाश स्वरूप संवित्मात्रता का। इसी प्रकार श्रीभाष्यकार द्वारा उद्धृत अन्य वाक्यों का भी अद्वैत वेदानत के जीवब्रह्मैक्य सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं कहा जा सकता।[1] यों तो, अद्वैत वेदान्त में भी पर एवं अपर ब्रह्म के रूप में निगुर्ण एवं सगुण दोनों प्रकार से ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मनुष्य जीव का सर्वोच्च प्रतिपाद्य किया गया है। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अध्यास रूप अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अतः रामानुजाचार्य का निवर्तकानुपपत्ति का सिद्धानत पुष्टतर्काधारित नहीं कहा जा सकता।

७. निवृत्यनुपपत्ति

जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य से होने वाली अद्वैतवेदान्तानुगत अविद्यानिवृत्ति को श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने अयुक्त बतलाया है। रामानुजाचार्य ने अविद्या निवृत्ति को अनुपपन्न सिद्ध किया है। रामानुजाचार्य का तर्क है कि बन्धन पारमार्थिक है, इसलिए उसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा कदापि सम्भव नहीं है।[2] विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि पुण्यापुण्य कर्मों के निमित्त स्वरूप देवादि के शरीर में प्रवेश करने से होने वाले सुख दुःखानुभव रूप बन्धन का मिथ्यात्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इस बन्धन की निवृत्ति तो भक्तिरूपापन्न उपासना से तुष्ट परमपुरुष के अनुग्रह से ही सम्भव है। अतः जीव वं ब्रह्म के एकत्व के द्वारा अद्वैत वेदान्त में जो अविद्यानिवृत्ति का विवेचन किया गया है, वह असंगत है।

समीक्षा–सूक्ष्मतया विचार करने पर रामानुजाचार्य का निवृतयनुपपत्ति का तर्क पूर्ण तथा असंगत प्रतीत होता है। जैसा कि रामानुजाचार्य के मत का उल्लेख करते समय ऊपर कहा जा चुका है, यदि बन्धन के परमार्थिक होने के कारण जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्ति असम्भव होगी तो फिर श्रीभाष्यकार के मतानुसार ही अविद्यानिवृत्ति का कौन उपाय होगा। यदि उपासना मात्र से अविद्याबन्धन की निवृत्ति मानी जाएगी तो फिर अविद्याबन्धन की पारमार्थिकता का ही क्या आशय होगा। यदि कहा जाए कि अविद्या बन्धन की निवृत्ति होने पर भी अन्धन शेष रह जाएगा तो संसार दशा एवं मुक्तिदशा में अन्तर ही क्या रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि अज्ञाननिवृतयनुपपत्ति का समर्थक कहे कि निवृत्ति से केवल निवृत्त की अबन्धकता से अभिप्राय है तो यह भी अनुचित है, क्योंकि ऐसी निवृत्ति का आशय एवं उद्देश्य अस्पष्ट है। अतः रामानुजाचार्यों द्वारा निवृतयनुपपत्ति के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं, वे निराधार हैं।

श्रीभाष्यकार का बन्धन को पारमार्थिक कहना भी अनौचित्यपूर्ण ही है। 'नेहनानास्तिकिंचन' आदि श्रुतिवाक्य अविद्याजन्य नानात्वमय बन्धन की अपारमार्थिकता के ही द्योतक हैं। जिन जिज्ञासुओं

---

१. अद्वैततत्त्वसुध (प्रथम सम्पुट), पृष्ठ २०६।
२. वन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्।–श्रीभाष्य १।१।१।

को परमार्थतत्त्व का ज्ञान होता है, वे अविद्याजन्य द्वैतबन्धन से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। अतः अविद्याबन्धन को पारमार्थिक कहना, स्पष्ट ही अन्यायपूर्ण है। आश्चर्य तो यह है कि श्रीभाष्यकार को बन्धन के मिथ्यात्व के स्वीकार करने में आपत्ति है। निवृत्ति, अविद्या और उससे उत्पन्न बन्धन के बाध का नाम है। रज्जु एवं सर्प के उदाहरण में पूर्व रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प रूप मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाता है। यही बात सर्पादि के मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न भयादि बन्धन की निवृत्ति करता है। यदि सर्पादि का ज्ञान मिथ्या न होता तो उससे उत्पन्न भयादि बन्धन की निवृत्ति ही कैसे सम्भव होती। अतः श्रीभाष्यकार का, अविद्याजन्यबन्धन के मिथ्यात्व में संशय करना, संगतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रज्जु एवं सर्प के उदाहरण के अनुसार ही ब्रह्म जीव के एकत्व ज्ञान के द्वारा अविद्या एवं उससे जन्य नानात्वरूप मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाता है और तत्फलस्वरूप मिथ्यात्व ज्ञानोत्पन्न अनेक ममत्व–परतवादि बन्धनों की भी निवृत्ति हो जाती है। अतः आविद्यिक बन्धन के मिथ्यात्व में संशय करना नितान्त निर्मूल है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शांकर मायावाद के विरोध में उपर्युक्त जिन सप्तविध अनुपपत्तियों का उल्लेख किया है, वे पूर्णतया असिद्ध हैं।

निम्बार्क दर्शन (११वीं शताब्दी) का स्वरूप

एगेलिंग प्रभृति कुछ पश्चिमी विद्वानों ने तो निम्बार्काचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य–वेदान्तपारिजातसौरभ एवं भास्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य की कतिपय समानताओं के आधार पर भास्कराचार्य, निम्बार्काचार्य का ही दूसरा नाम बतलाया है। इस प्रकार दोनों भाष्यों की समानता के आधार पर एगेलिंग ने निम्बार्काचार्य एवं भास्कराचार्य को एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] परन्तु अब दोनों भाष्यों के सिद्धानतों के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा दोनों के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट हो गया है।

निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धानत द्वैताद्वैतवाद है। यहां द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त

रामानुजाचार्य के मतानुसर निम्बार्क-दर्शन में भी चित्, अचित् एवं ईश्वर रूप से तीन तत्त्व माने गए हैं। चित् तत्त्व जीव एवं अचित् तत्त्व जगत् का बोधक है। परन्तु निम्बार्कदर्शन के चित् एवं अचित् तत्त्व रामानुजाचार्य की तरह ईश्वर के विशेषण नहीं है। इसीलिए निम्बाचार्य विशिष्टाद्वैतावाद के विरोधी हैं। आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में रामानुजाचार्य की तरह विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध न होकर, आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आश्रित तथा ईश्वर आश्रय है।

निम्बार्काचार्य के अनुसर ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है और भेद भी। इस प्रकार निम्बार्क दर्शन में जीव एवं जगत् के आश्रिततत्वादि स्वभाव एवं अचेतनत्वादि विशेषणों के ईश्वर के

---

१. Catalogue of Mss. of the India Office, part IV, pp. 802, 803.

आश्रयत्वादि स्वभाव एवं कल्याण विशेषणों से विरुद्ध होने के कारण ईश्वर तथा जीव एवं जगत् का भेद स्पष्ट ही है। परन्तु जीव तथा जगत् की सत्ता आश्रयरूप ईश्वर के विना असम्भव है, अतः ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।[1] इस प्रकार ईश्वर जीव एवं जगत् में भेद भी है और अभेद भी। जिस प्रकार कि जल की लहरें, सूर्य की किरणें, अग्नि के स्फुलिंग, रस्सी के लपेट एवं सर्प का कुण्डली रूप, जलादि से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव एवं जगत् ईश्वर से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी के मतानुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए द्वैताद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप द्वैत एवं द्वैत दोनों की ही प्रतिपादक श्रुतियां सत्य हैं। अब यहां द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

ईश्वर

द्वैतद्वैतवादी निम्वार्कदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई है। निम्बाकार्यचार्य ने अपने ब्रह्म को समस्त दोषों से रहित एवं अशेष गुणों से सम्पन्न कहा है।२ इसके अतिरिक्त परमात्मा समस्त अन्त-र्जगत् एवं बहिर्जगत् में व्याप्त होकर स्थित है।[३] जीव एवं जगत् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ईश्वराधीन है, इसीलिए ईश्वर इनका नियन्ता कहलाता है।[४] प्रलयकाल में जीव एवं जगत् ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं। प्रलय एवं सृष्टि के पुनर्निमाण काल के बीच जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ईश्वर में ही स्थित रहते हैं। सर्वशक्तिमान् होने के कारण ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से ही समस्त संसार की सृष्टि में समर्थ होता है।[५] इस प्रकार रामानुज के अनुसार जहां जगत् सगुण ब्रह्म की विशषणभूत प्रकृति कापरिणाम है, वहां, निम्बार्काचार्य के दृष्टिकोण के अनुसार वह ईश्वर की शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार आचार्य निम्बार्क अद्वैती की तरह विवर्तवादी न होकर परिणामवादी हैं। इस विषय का विवेचन अद्वैतवेदान्तदर्शन एवं निम्बार्कदर्शन के सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन के समय किया जाएगा। द्वैतवादी मध्वाचार्य के विपरीत निम्बार्क ईश्वर को उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों ही मानते हैं। रामानुजाचार्य के विष्णु, एवं लक्ष्मी के स्थान पर आचार्य निम्बार्क ने कृष्ण एवं राधा की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त निम्बार्काचार्य की वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार व्यूहों की कल्पना रामानुजाचार्य के समान ही है।[६] निम्बार्क दर्शन के अनुसार भी ईश्वर मत्स्यादि रूप से लोक कल्याण के लिए अवतार ग्रहण करता है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् ईश्वर के ही आश्रित हैं।

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 763.

२. दशलोकी ४।

३. यत्किंचित्जगत्यस्मिन् दृश्यतेश्रूयतेऽपिवा।
अन्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।–सिद्धान्तजाह्नवी, पृष्ठ ५३ से उद्धृत।

४. दशश्लोकी ७।

५. निम्वार्कभाष्य, ब्र० सू० १।१।१६।

६. डा० देवराज : दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४६०।

जीव

निम्बार्क दर्शन में जीवों को अनन्त एवं अणु रूप बतलाया गया है, परन्तु अणु होते हुए भी जीव का यह वैशिष्ट्य है कि वह सार्वत्रिक ज्ञान के कारण शरीर के सुख दुःखदि का अनुभव करने में समर्थ होता है। शांकरदर्शन के विपरीत जीव बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में ही कर्तृत्व से युक्त रहता है। परन्तु यहां यह कह देना और अपेक्षित होगा कि जीव स्वतन्त्र रूप से कर्ता नहीं है। उसका कर्तृव्य ईश्वर के अधीन है। जीवज्ञाता एवं भोक्ता भी है, परन्तु कर्तृत्व के समान ही जीव का ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व भी परमेश्वर के ही आश्रित है।

साधारणतया बद्ध एवं मुक्त रूप से जीवों के दो भेद हैं। बद्ध जीव मुमुक्षु तथा बुभुक्षु रूप से दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु एवं बुभुक्षु जीवों का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि मुमुक्षु जीव मुक्ति का इच्छुक होता है और बुमुक्षु जीव विषयानन्द का इच्छुक। इसी प्रकार मुक्त जीवों के भी नित्य मुक्त एवं मुक्त रूप से दो भेद बतलाए गये हैं। नित्य मुक्त जीवों में गरुड एवं विष्वक् सेन आदि आते हैं। नित्यमुक्त जीव भगवान् के पार्षद रूप में परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इसके विपरीत वे मुक्त जीव है जो अपनी साधना के बल से संसार चक्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं। निम्बार्काचार्य का कथन है कि मुक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद के द्वारा सम्भव है।[1] निम्बार्कदर्शनसम्मत मुक्ति का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ईश्वर एवं जीव का सम्बन्ध

निम्बार्कदर्शन के अनुसार जीव एवं ईश्वर में अंशाशिभाव है। जीव अंश एवं ईश्वर अंशी है, परन्तु द्वैताद्वैतवादी के अनुसार अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं है। वेदान्त पारिजात सौरभ (निम्बार्क भाष्य) के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य ने अंश शब्द का 'अर्थशक्ति' किया है[2]। अतः सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही ईश्वर को अंशी कहा गया है। इस प्रकार जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव के द्वारा शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध है।

जगत्

निम्बार्कदर्शन में भी रामानुजदर्शन की तरह जगत् अचित् स्वरूप है। यह कहा जा चुका है कि ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् की सृष्टि एवं संहार करता है। यह अचित् जगत् भी अप्राकृत, प्राकृत एवं काल भेद से तीन प्रकार का है। अप्राकृत जगत् वह जगत् कहलाता है जो प्रकृति के गुणों से निर्मित नहीं है। इस प्रकार के जगत् में भगवान का लोक और उनके अलंकार आदि पदार्थ आते हैं। प्राकृत जगत् से उस जगत् का आशय है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसमें महत्तत्व से लेकर महाभूतों तक के पदार्थ आते हैं। प्राकृत पदार्थों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति सांख्य की प्रकृति के समान त्रिगुणात्मक तो है, किन्तु सांख्यकी प्रकृति के समान स्वतन्त्र न होकर ईश्वर द्वारा नियन्त्रित रहती हैं। जगत् के कालतत्त्व का स्वरूप प्राकृत एवं अप्राकृत स्वरूप से भिन्न है। काल ही संसार चक्र का नियामक है परन्तु यह भी ईश्वर द्वारा शासित है। काल, मूलतया अखण्ड है, परन्तु उपाधि के कारण इसके

---

१. दशश्लोकी–२।

२. अंशोहि शक्तिरूपोग्राह्यः।–वेदान्तकौस्तुभ, ब्र० सू० २।३।४२।

प्रातरादि अनेक भेद हैं।

मुक्ति

जीव, अनादि त्रिगुणात्मिका एवं प्रकृति स्वरूप माया से आवृत्त होने के कारण अपने धर्मभूत ज्ञान से वंचित रहता है। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।[1] निम्बार्क दर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि उसके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव के कर्तृत्व में बाधा नहीं पड़ती[2]। निम्बार्कदर्शन के अनुसार मुक्ति इस संसारावस्था में संभव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

निम्बार्कदर्शन और अद्वैतवेदान्तदर्शन

आचार्य निम्बार्क यों तो, ब्रह्मवादी ही हैं, परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैतवेदान्तियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। उनके ब्रह्म की सगुणता रामानुजाचार्य के चिदचिद्विशेषण विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न है, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म के स्वरूप से तो निवार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया भिन्न ही है। अद्वैतवेदान्तदर्शन और निम्बार्कदर्शन, दोनों के ही अन्तर्गत ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म दोनों ही जगत् के निमित्तकारण एव उपादान कारण हैं, परन्तु दोनों में यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया ब्रह्म अपनी माया शक्ति के कारण जगत् का उपादानकारण है, जब कि निम्बार्कदर्शन के अनुसार चित् एवं अचित् शक्ति के द्वारा ईश्वर जगत् का उपादानकारण है। इसी लिए अद्वैतवेदान्त और निम्बार्कदर्शन के कार्य-कारणसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैत वेदान्त में जहां विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, वहां निम्बार्कदर्शन परिणामवादी है। परिणामवादी निम्बार्कदर्शन के अनुसार जगत् ईश्वर की चित् एवं अचित् शक्ति का ही परिणाम है। विवर्तवाद के विरोध में निम्बार्क दर्शन के अनुयायियों का तर्क है कि जैसा कि विवर्तवादी कहते हैं यदि जगत् मिथ्या हुआ होता तो उसका अध्यस्त होना संभव न हुआ होता।[3] द्वैताद्वैतावादी के उक्त तर्क का अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए यह कथन असंगत न होगा कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत् आकाशकुसुम अथवा शशशृंग के समान मिथ्या न होकर केवल परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार जगत् के नाम एवं रूप का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भी भौतिक जगत् का विनाश नहीं हो जाता, अपितु उसकी नामरूपता का ही विनाश हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त एवं निम्बार्क दर्शन के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद है। अद्वैत वेदान्त में जीव ज्ञानस्वरूप मात्र है, परन्तु निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत वह एक काल में ही ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही है।[4] जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव

---

१. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृ० २०-२३।

२. कर्ता शास्त्रार्थत्वात् वेदान्तपारिजात सौरभ, ब्र० सू० २।३।३२।

३. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

४. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तंयदनन्तमाहुः ।। –दशश्लोकी १।

भी ज्ञान का स्वरूप तथा आश्रय दोनों ही है।

अद्वैत वेदान्त एवं निम्बार्कदर्शन के मुक्तिविषयक विचार में भी पर्याप्त भेद है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अनतर्गत जीव मुक्तावस्था में ब्रह्मरूप हो जाता है। शंकराचार्य भी जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ही समर्थक हैं। इसके विपरीत निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत भक्ति द्वारा प्राप्य भगवत्साक्षात्कार ही मोक्ष है। परन्तु यह भगवत्साक्षात्कार भक्त को इस जीव में संभव नहीं है।

बलेदव उपाध्याय का मत—भारतीय दर्शन के लेखक पंडित वलदेव उपाध्याय ने निम्बार्क दर्शन की विवेचना करते हुए 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' 'शान्तउपासीत' आदि श्रुतिवाक्यों के आधार पर मुक्तावस्था में जीव के उपासनरूप कर्तृत्व को सिद्ध किया है।[1] मेरे विचार से उक्त श्रुति वाक्यों के आधार पर मुक्तावस्था में जीव के उपासनादि कर्तृत्व का सिद्ध करना समुचित नहीं है। क्योंकि उक्त श्रुति वाक्यों के अन्तर्गत जीव के जिस मुमुक्षत्व एवं शान्तित्व की चर्चा है वह मुक्ति की स्थिति के अन्तर्गत नहीं आते। मुमुक्षु का अर्थ है—मोक्ष का अभिलाषी और शान्त का अर्थ है—शान्त चित्त। अतः मुमुक्षु और शान्त शब्दों से मुक्त का अर्थ ग्रहण करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। अपने मत के समर्थन में पंडित बलदेव उपाध्याय ने वेदान्तपारिजातसौरभ के जिस अंश (वेदान्तपारिजातसौरभ, ब्र० सू०, २।३।३२) को उद्धृत किया है उसमें भी 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' को मुक्ति का उपाय ही माना गया है।[2]

अद्वैत वेदान्त और निम्बार्क दर्शन के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैत वेदान्त के समान निम्बार्कदर्शन में यह जीवन्मुक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है। जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत जीव को शरीर त्याग होने पर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव को शरीर दशा में ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन एवं निम्बार्कदर्शन के सिद्धान्तों में भेद का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि समस्त वैष्णव पद्धतियाँ अद्वैत वेदान्त की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई थीं।

मध्वाचार्य (११९९-१३०३ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (द्वैतवाद)

आचार्य मध्व के अपर नामधेय, आनन्द तीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ हैं। इसीलिए ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध मध्व का भाष्य पूर्णप्रज्ञ दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य मध्व का दार्शनिक सिद्धान्त शांकर वेदान्त से उत्पन्न पूर्ण प्रतिक्रिया का फल है। शंराचार्य ने जहां अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, वहां मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद के एकदम विरोधी द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की थी। द्वैतवाद की बीजरोपण तो रामनुजाचार्य के विशिष्टद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हो चुका था, क्योंकि विशिष्टाद्वैतवाद वादी ने ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की सत्यता स्वीकार करते हुए इन्हें ब्रह्म का विशेषण बतलाया था। आचार्य मध्व ने जगत् को ब्रह्म का विशेषण अथवा शरीर न मानकर ब्रह्म और जगत् की पृथक्-पृथक् सत्ता ही स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार कहना न होगा कि आचार्य मध्व का दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का ही विकसित रूप है। यह बात दूसरी है कि रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त

---

१. वलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४९२।

२. आत्मैव कर्तास्वर्गकामोयजेत, मुमुक्षुर्ब्र ह्मोपासीतेत्यादेर्मुक्तमुक्त्युपायवोधकस्य शास्त्रस्यार्थवत्वात् ।—वेदान्त पारिजात सौरभ, ब्र० सू० २।३।३२।

में मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के बीच निहित होने पर भी दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों में भेद दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, आचार्य मध्व का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवाद है। शांकर अद्वैतवाद के विपरीत द्वैतवादी आचार्य मध्व जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्वदर्शन की प्रमुख विशेषता है।[1] अपने इस दार्शनिक वैशिष्ट्य के समर्थन के लिए आचार्य मध्व ने दरिद्र-दम्पत्तिन्याय से श्रुति का भी आश्रय लिया है। अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति, एकमेवाद्वयं ब्रह्म, सर्व खल्विदं ब्रह्म आदि वाक्य भी आचार्य मध्व की अद्भुत कल्पना के अनुसार द्वैतसिद्धान्त के ही समर्थक हैं। यहां उक्त सिद्धान्त वाक्यों के सम्बन्ध में मध्व-दर्शन की दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को न स्वीकार करके यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है।[2] इस सम्बन्ध में माध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीवों और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भविष्यपुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[3] उन्होंने तत्त्वमसि का अर्थ 'त्वम् तदीयः असि' 'त्वम् तस्य असि' भी स्वीकार किया है।[4] आचार्य मध्व 'स आत्मा तत्त्वमसि' को 'स आत्मा अतत्वमसि' के रूप में ग्रहण करते हैं।[5] 'अयं आत्मा ब्रह्म' को आचार्य मध्व जीवात्मा की प्रशंसा अथवा ध्यान की दृष्टि से कहा गया मानते हैं। इन्होंने अद्वैतपरक उपर्युक्त वाक्य को पूर्वपक्ष भी कहा है।[6] 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मध्व ने शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ग्रहण किया है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के ही आधार पर मध वाचार्य ने उक्त वाक्य के अन्तर्गत जीवात्मा या ब्रह्म का वर्णन माना है। जीवात्मा का वर्णन मानने पर मध्वाचार्य ने 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ किया है–यह जीवात्मा वर्द्धनशील है।[7] आचार्य मध्व ने उक्त वाक्य में ब्रह्मपरक वर्णन मानते हुए इस वाक्य का अर्थ किया है–यह जो सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म वेत्ता ब्रह्मरूप ही हो जाता है) वाक्य का अर्थ भी आचार्य मध्व यह करते हैं कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' एवं 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्वाचार्य की दृष्टि से क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता और विश्वव्यापकता के द्योतक हैं, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक। इस प्रकार विश्वव्यापक ब्रह्म को आचार्य मध्व विश्व से पृथक् मानते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यों का मनमाना अर्थ लगाकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की ही स्थापना करने का प्रयत्न किया था।

---

१. *Ghate* : The Vedanta, p. 33.

२. मध्वभाष्य, ब्र० सू० २।३।२६।

३. भिन्नाः जीवाः परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपतः।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषुसर्वशः।। –
भविष्यपुराण, मध्वभाष्य २।३।२६ के अन्तर्गत उद्धृत।

४. *Ghate* : The Vedanta, p. 34.

५. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, vol. II, p. 746.

६. वही, पृ० ७४६।

७. *Ghate* : The Vedanta, p.34.

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद के विपरीत मध्वाचार्य ने पांच प्रकार के भेद की स्थापना की थी। यह भेद ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जीव तथा जड और जड का भेद है।[१] इस भेदवाद के आधार पर ही आचार्य मध्व ने द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। अब यहां ईश्वर, जीव एवं जगत् आदि के सम्वन्ध में आचार्य मध्व के विचार का अध्ययन किया जाएगा। इससे उनका द्वैत दर्शन और भी स्पष्ट हो जाएगा।

ईश्वर

ईश्वर के सम्वन्ध में मध्व का विचार है कि परमात्मा वेदों द्वारा जानने योग्य है (मध्व भाष्य ३।३।१)। अतः ईश्वरस्वभाव को अपरिभाष्य नहीं कहा जा सकता। मध्वाचार्य का कथन है कि परमेश्वर की अवाच्यता का यही आशय है कि उसका पूर्ण ज्ञान होना कठिन है[२]। व्रह्म को मध्व ने विष्णु का रूप प्रदान किया है। विष्णु ही संसार का पूर्ण रूप से शासन करते हैं। वे ही संसार के स्रष्टा एवं संहारकर्ता हैं। इसके अतिरिक्त मध्व विष्णु को सभी जीवों का अन्तर्यामी मानते है।[३] विष्णु संसार के कल्याणार्थ मत्स्यादि रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। विष्णु के समस्त अवतार पूर्ण है।[४] परन्तु मध्व ईश्वर को उपादान कारण न मानकर कारण ही मानते हैं। मध्व का कहना है कि जो ईश्वर ज्ञानस्वरूप है उससे जड जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है।[५]

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा से भिन्न एवं केवल उसी के अधीन है।[६] लक्ष्मी दिव्य शरीरधारिणी होने के कारण अक्षरस्वरूपा है।[७] परमात्मा की तरह लक्ष्मी नित्यमुक्ता तथा देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के ही समान व्यापक है।[८] परन्तु गुणों की दृष्टि से लक्ष्मी परमात्मा से न्यून ही है। निश्चय ही परमात्मभिन्ना, नित्यमुक्ता एवं दिव्यशरीरधारिणी शक्ति (लक्ष्मी) का स्वरूप शांकरवेदान्त की ईश्वराभिन्ना, अज्ञानस्वरूपा एवं जड माया से भिन्न है।

जीव

मध्व दर्शन में जीव परमात्मा से भिन्न है तथा समस्त जीव परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त हैं।[१] समस्त जीवों का आधार परमात्मा है। परमात्मा ही जीवों

---

१. सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १७ (चौखम्वा संस्करण, वनारस १६०७)।
२. मध्व भाष्य १।१।५।
३. वही, १।२।१३।
४. अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः।
पूर्णंच, तत् परंपूर्ण पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः। –मध्वबृहद्भाष्यम्,
(बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४८१ से उद्धृत)
५. *Ghate* : The Vedanta, p. 34.
६. मध्व सिद्धान्त सार, पृष्ठ २६।
७. लक्ष्मीरक्षरदेहत्वात् अक्षरा –मध्वकृतऐतरेय भाष्य।
८. द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परम : प्रकृतिस्तथा। देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ।।
–भागवततात्पर्यनिर्णय, वलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४८२ से उद्धृत।

को उनके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिए प्रवृत्त करता है।[२] मध्वाचार्य का कहना है कि जीव की स्वप्नकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है-(मध्व भाष्य ३।२।३,५) जीव अणु परिणाम होने के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यद्यपि जीव पूर्वकृतकर्मानुसार अज्ञान, मोह, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्ण है तथापि उसका आनन्द ही है। मुक्तावस्था में जीव अपने मूलस्वभाव आनन्दस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मध्व दर्शन के अनुसार प्रधानतया तीन प्रकार के जीव बतलाये गए हैं-मुक्तियोग्य नित्यसंसारी एवं तमोयोग्य जीव। मुक्तियोग्य जीवों के अन्तर्गत देव, ऋषि पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम रूप से पांच प्रकार के जीव आते हैं। नित्य संसारी वे जीव हैं जो महासुखदुःखदि का भोग करते हुए अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग, नरक एवं भूलोक में विचरण करते हैं। तमोयोग्य जीवों में दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अन्य अधम कोटि के जीव आते हैं।

जगत्

मध्व-दर्शन के अनुसार जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर, उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है। स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के -महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रयां, पंचतन्मात्राएं और क्षित्यादि पंचतत्त्व, ये चतुर्विंशति तत्त्व दृष्टि गोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में मूल प्रकृति में ये तत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू एवं दुर्गा रूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्वदर्शन के अनुसर अविद्या प्रकृति का ही रूप है।[३] इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप हैं। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के आवरण के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होत है।[४]

मुक्ति

मध्वदर्शन की मुक्ति, अद्वैत वेदान्त की तरह जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य की समर्थक नहीं है। मध्व समर्थित मुक्ति के अनुसार जीव परमात्मा के साथ परम साम्य को प्राप्त करता है। जीव एवं परमेश्वर के चैतन्यांश में ही एकता है परन्तु गुण दृष्टि से विचार करने पर जीव एवं परमेश्वर का पार्थक्य सिद्ध ही है। मध्वदर्शन के अनुसर मुक्ति की यह विशेपता उल्लेखनीय है कि मुक्तावस्था में भी जीव समान रूप से आनन्द का अनुभव नहीं करते।[५]

---

१. परमाणु प्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराशयः। -मध्वाचार्य, तत्त्वनिर्णय।

२. मध्वभाष्य, ब्रह्मसूत्र २।३।४१, २।३।४२।

३. मध्व भाष्य १।४।२५।

४. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 745.

५. दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदाः समा मताः।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते।। -मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३२।

मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्ति की, कर्मक्षय उत्क्रान्ति, अर्चिरादि मार्ग एवं भोग, ये चार अवस्थाएं मानी गयी हैं। भोग के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य रूप से चार भेद हैं। सालोक्य के अनुसार जीव स्वर्ग में निवास करता हुआ सन्तोषपूर्वक आनन्द का भोग करके सदा ईश्वर साक्षात्कार करता हे। सामीप्य में जीव सदा भगवान् के समीप स्थित रहता है तथा सारूप्य में जीव बाह्य रूप से भगवान् का सादृश्य प्राप्त करता है। सायुज्य में जीव भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करता है।[1] जैसा कि कहा जा चुका है, जीवों के मुक्तिकालिक आनन्द की स्थिति भिन्न-भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार जीव की मुक्ति के लिए वैराग्य, शम दमादि का सम्पादन, स्वाध्याय, शरणागतिभाव, गुरुसेवा, शास्त्रश्रवण, मनन, ईश्वरार्पणबुद्धि एवं ईश्वरोपासना आवश्यक है।

अद्वैतवेदान्त एवं मध्व-दर्शन

मध्व-दर्शन का द्वैतवाद सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त दर्शन द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद चरम विरोधी सिद्धान्त है। यों तो, दोनों ही दर्शन पद्धतियों में ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है, परन्तु दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अत्याधिक भेद मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जहां निर्गुण ब्रह्म को पूर्ण सत्य एवं साध्य के रूप में घोषित किया गया है, वहां मध्वदर्शनपरम्परा में सगुण एवं साकार रूपधारी भगवान् विष्णु ही परमेश्वर के रूप बतलाए गए हैं। अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि मध्व-दर्शन में ईश्वर जगत् का निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, जबकि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर निमित्त कारण एव्र उपादान कारण दोनों ही है। जीव एवं जगत् के मिथ्यात्व के आधारा पर अद्वैतवादियों ने जो जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य सिद्धान्त की स्थापना की है, उसका तो मध्वाचार्य ने पूर्णतया विरोध किया ही है। इस विरोध का ही तो फल है कि आचार्य मध्व ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जीव एवं जड और जड में भेद की व्यवस्था की है। इस भेद व्यवस्था के अनुसार, जीव एवं जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह मध्वदर्शन में मिथ्या न मानकर सत्य ही माना गया है।

मायावाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। अद्वैतवेदान्त में माया से अविद्या एवं मिथ्यात्व का आशय ग्रहण किया जाता है, परन्तु पूर्णप्रज्ञदर्शन के लेखक मध्व ने माया से स्वप्न का तात्पर्य ग्रहण किया है-(मध्व भाष्य ३।२।३) इसके अतिरिक्त जहां अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति परमेश्वर से अभिन्न बतलाई गयी है, वहां मध्व-दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लक्ष्मी को परमेश्वर से भिन्न सिद्ध किया गया है।[2]

जैसा कि मध्व-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्तिकालिक आनन्द के भेद की व्यवस्था, अद्वैतवेदान्तसम्मत मुक्ति की अद्वैतरूपता एवं भेदराहित्य के विपरीत है। इस प्रकार कहना न होगा, कि अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वरादि सिद्धान्तों में भेद की एक अत्यन्त स्पष्ट रेखा मिलती है।

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 318.

२. परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीनालक्ष्मीः।–मध्वसिद्धान्तसार, पृ० २६।

वल्लभाचार्य (१४८१-१५३३ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (शुद्धाद्वैतवाद)

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। अद्वैत वेदान्त के समान वल्लभदर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है, इसीलिए ब्रह्म के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।[1] शुद्धाद्वैतपद के अन्तर्गत गिरिधर महाराज ने कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरुष दोनों समासों की ओर संकेत किया है। कर्मधारय समास मानने पर विग्रह होगा–शुद्धं चेदम् अद्वैतम्–शुद्धाद्वैतम्।[2] इस प्रकार वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्ध अद्वैत तत्त्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करके शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया है। अब यहां वल्लभ-दर्शन के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण करने के पश्चात् वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्म की शुद्धाद्वैतता का ऊपर संकेत किया जा चुका है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों हैं। शुद्ध अद्वैत तत्व होने के कारण ब्रह्म निर्गुण तथा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप के विरोध का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार एक ही ऋजु सर्प कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण कर लेने पर कुण्डलादि अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि में अभेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से स्फुरित होता है।[3] वस्तुतः ब्रह्म शुद्ध अद्वैत तत्व रूप ही है। ब्रह्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध वल्लभाचार्य द्वारा दिए गए 'अहिकुण्डल' दृष्टान्त में यह वैषम्य प्रतीत होता है कि सर्प तो कालरूप से अपनी इच्छा के अनुसार कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण करता है, परन्तु वल्लभाचार्य का ब्रह्म एक ही काल में भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों को प्राप्त होता है। उक्त वैशम्य के समाधानार्थ प्रकाशकार पुरुषोत्तमाचार्य का तर्क है कि भक्त की तादृश इच्छा की उत्पत्ति में ईश्वर की तादृश-तादृश फल देने की इच्छा ही प्रयोजिका है। अतः उक्त दृष्टान्त के अन्तर्गत देखना समुचित नहीं है।[4]

कार्य-कारण-सम्वन्ध

वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत कारण रूप ब्रह्म एवं कार्य रूप जगत् में भेद नहीं है। जगत् ब्रह्म की आविर्भाव दशा है। ब्रह्म की कारणता उसकी तिरोभावदशा है। इस सम्वन्ध में प्रस्थानरत्नाकरकार

---

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यतेवुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धंब्रह्म न मायिकम् ॥–शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २८।

२. शुद्धाद्वैतपदेज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः पष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥–शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २७।

३. अणुभाष्य–ब्र० सू० ३।२।२७ (चौखम्बा संस्करण, १६०६।

४. पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाश टीका, अणुभाष्य ३।२।२७।

पुरुषोत्माचार्य का कथन है कि उपादानरूप ब्रह्म के कार्य की जो शक्ति व्यवहारगोचर करती है, वह आविर्भाविका है। इस प्रकार आविर्भाव व्यवहारयोग्यत्व एव तिरोभावं व्यवहारयोग्यत्व का नाम है।[१] इसीलिए वल्लभाचार्य ने सजातीय जीव, विजातीय जगत् एवे स्वगत अन्तर्यामी ईश्वर, ये ब्रह्म के ही तीन रूप वतलाए हैं। इसलिए जीवादि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म जीवादि में सदा अनुस्यूत है।[२] वल्लभ-दर्शनपद्धति के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों है। ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई वैमत्य नहीं है, परन्तु उपादानकारणत्व विवेचनयोग्य है। वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म को समवायिकारण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु ब्रह्म की समवायिकारणता के विरोध में पूर्वपक्षी का तर्क है कि यदि ब्रह्म को समवायिकारण माना जाएगा तब तो ब्रह्म को भी विकार का विषय मानना पड़ेगा–समवाचित्वेविकृतत्त्वस्यापत्तेः। पूर्वपक्षी के उक्त कथन के विपरीत यह कहा जाएगा कि सत्, चित् एवं आनन्द रूप से सर्वव्यापी होने के कारण ब्रह्म समवायिकारण है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के आरोपवाद सिद्धान्त के विपरीत वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि ब्रह्म स्वेच्छ से सत्, चित् एवं आनन्द तत्वों के प्रभाव से भौतिक जगत्, जीव एवं ब्रह्म रूप से व्यक्त होता है। अतः वल्लभ-दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वल्लभ-दर्शन का समवायिकारणवाद माया को उपादान कारण मानने वाले अद्वैतिक कारणवाद से तो भिन्न है ही, साथ ही न्यायदर्शन की समवायकल्पना से भी भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार कारण एवं कार्य का सम्वन्ध तादात्म्य मूलक है। कारण एवं कार्य रूप द्रव्यों का तादात्म्य निर्विवाद सिद्ध है।

अद्वैत वेदान्त के समान ही वल्लभ-वेदान्त में भी माया ब्रह्म की शक्ति है।[४] परन्तु दोनों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। वल्लभाचार्य की माया अद्वैत वेदान्त की माया की तरह मिथ्या नहीं है। इस अन्तर का विस्तृत उल्लेख दोनों दर्शन पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन करते समय किया जाएगा। वल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की सहायिका शक्ति है।

वल्लभ-दर्शन का जीवसम्बन्धी सिद्धान्त

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव अणु तथा ईश्वर का ही अंश है। अणु होते हुए भी जीव सर्वव्यापक है, परन्तु ईश्वर की तरह सर्वज्ञ नहीं है। वह जीव उसी प्रकार ईश्वर का अंश है. जिस प्रकार स्फुलिंक अग्नि का अंश है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म दोनों में अभिन्नत्व है।[५]

वल्लभ-दर्शनपद्धति द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ईश्वर का अंशांशिभावसम्बन्ध वैष्णव एवं अन्य

---

१. उपादानस्य कार्यम् या व्यवहारगोचरं करोति साशक्तिराविर्भाविका तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्। –प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ २६।

२. देखिए तत्त्वार्थदीप १।६६ एवं उसकी आवरणभंग टीका, पृष्ठ १०६।

३. पुरुषोत्तमाचार्यः प्रकाश टीका, अणुभाष्य, पृष्ठ ६०।

४. प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६ (चौखम्बा संस्करण)।

५. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृष्ठ १५, १६।

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वरसम्बन्ध से भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभावसम्बन्ध वतलाया गया है, परन्तु वहां जीवों की सत्ता ईश्वर से भिन्न है। इस प्रकार मध्वदर्शन के अन्तर्गत जीव एवं ईश्वर का दूरवर्ती समवन्ध है। निम्वार्क दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर से भिन्न होते हुए भी ईश्वर के समान है। निम्वार्क-दर्शन परम्परा के अन्तर्गत भी ईश्वर एवं जीव के सम्वन्ध में अंशांशिभाव को स्वीकार किया गया है। परन्तु निम्वार्क दर्शन के अनुयायियों ने जीव एवं ईश्वर की भिन्नता तथा सादृश्य पर ही विशेष बल दिया है। जहाँ तक रामानुज दर्शन का प्रश्न है, रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर जीवों के ज्ञान का विकास एवं संकोच करते हुए उनकी समस्त क्रियाओं का नियमन करता है। भास्कराचार्य के अनुसार तो जीव स्वतः ईश्वर से सम्बद्ध है। उपाधि के कारण ही जीव ईश्वर से भिन्न दिखाई पड़ता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यद्यपि जीव वस्तुतः ईश्वर से भिन्न है परन्तु जीव ईश्वरस्वभावसम्पन्न है। अतः ईश्वर से जीव अभिन्न है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव सम्वन्ध है।[1]

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, वल्लभाचार्य का जीवेश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त उपर्युक्त आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर के अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न हैं। जीवों का जीवत्व ईश्वर की आर्विभाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का फल है। आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियां एवं गुण जीव में तिरोभूत हो जाते हैं और कुछ आविर्भूत हो जाते हैं।[2]

जीवों के भेद–वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीवों के शुद्ध, संसारी और मुक्त, यह तीन भेद वतलाए गए हैं। आनन्दांश के तिरोधान के फलस्वरूप अविद्या से सम्बन्ध होने से पहले जीव की शुद्धावस्था कहलाती है। जव जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और जब जीव जन्मादि क्रियाओं के वन्धन का विषय हो जाता है तो उसे संसारी कहते हैं संसारी जीव भी द्वैत और आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव वे जीव हैं जो ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर ईश्वराभिन्नत्व को प्राप्त होते हैं। वल्लभ-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन पृथक् रूप से आगे किया जाएगा।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप

वल्लभ-दर्शन पद्धति के अन्तर्गत जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।[3] जगत् ईश्वर की आविर्भाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर स्वेच्छा से आविर्भाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविर्भूत होता है और तिरोभाविका शक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत् का ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण, अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का शासक तथा नियन्ता है।

---

१. स्वर्णसूत्र, पृष्ठ ८५।

२. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p.367.

३. देखिए–तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ १०६।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का और संसार का भेद

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् एवं संसार में भेद की स्थापना की गई है। ईश्वरेच्छा से प्रादुर्भूत पदार्थों को जगत् कहते हैं। इसके विपरीत स्वरूपाज्ञन, देहाध्यास, इन्द्रियाध्या, प्राणाव्यास एवं अन्तःकरणाध्यास, अविद्या के इन पंच पर्वों के द्वारा जीवों की वुद्धि में जगत् के पदार्थों के सम्वन्ध में जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसे संसार कहते हैं। उदाहरण के लिए संसार बुद्धि के अनुसार जीव, जगत् के घटादि पदार्थों की सत्ता ईश्वर से पृथक् समझते हैं। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या न होकर उपर्युक्त द्वैत-मूलक संसार ही मिथ्या है। बादावलिकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिवर्ती घट ही मिथ्या है, न कि प्रपंचान्तर्वर्ती घट।[1] इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जगत् की नानात्वमूलक सिद्ध किया गया है—'नेहनानास्ति किंचन' (विवेकचूडामणि ४६५)।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार भक्ति का स्वरूप

भक्ति वल्लभ-दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। आचार्य वल्लभ ने भक्ति की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि भक्ति-मुक्ति का अनिवार्य साधन है। परन्तु आचार्य वल्लभ ने जिस भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसका विवेचन हमें वल्लभपूर्ववर्ती साहित्य में अनेक मतमतान्तरों के साथ मिलता है। जहां तक वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति सिद्धान्त पर पूर्ववर्ती पुरणादि के प्रभाव का प्रश्न है, निश्चित ही वल्लभाचार्य का भक्ति सम्वन्धी सिद्धान्त पुराणदि के भक्तिसम्वन्धी विवेचन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित हुआ है। श्रीमद्भागवत का तो पूर्ण प्रभाव वल्लभाचार्य के भक्ति सिद्धान्त पर प्रत्यक्ष ही है। यहां वल्लभ दर्शन के अनुसार भक्ति सम्वन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व भक्ति सम्वन्धी विभिन्न मतों के सम्वन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

शाण्डिल्य सूत्र और भक्ति—'परानुरक्तिरीश्वरे' सूत्र के अन्तर्गत शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का निरूपण किया गया है। शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति को 'परानुरक्ति' का रूप दिया गया है। अनुरक्ति राग का ही उत्कृष्ट रूप है। इस प्रकार आराध्यविषयक उत्कृष्ट राग ही शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार भक्ति है।[2] स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्य सूत्र के उक्त अनुरक्ति शबद की व्याख्या करते हुए 'अनु' का अर्थ पश्चात् किया है और 'रक्ति' का अर्थ राग। इस प्रकार स्वप्नेश्वर अनुरक्ति का अर्थ ईश्वरज्ञानोत्तरवर्ती राग ग्रहण करते हैं।[3]

विष्णु पुराण और भक्ति—विष्णु पुराण के अन्तर्गत प्रह्लाद के प्रसंग में भक्ति का प्रीति रूप से वर्णन किया गया है (विष्णु पुराण-१।२०।१६)।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का स्वरूप—श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का जो स्वरूप समझाया गया है, उसमें भक्त का आनन्द भी सम्मिलित है। कृष्ण अपने भक्तों के लक्षण वतलाते हुए कहते हैं कि मुझ में ही जिनका चित्त है तथा मुझ में ही जिनके चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्राण लीन रहते हैं, ऐसे

---

१. अत्रापि बौद्ध एवघटो मिथ्या, न तु प्रपंचान्तर्ववर्तीति निष्कर्षः।
—वादावलिः, पृष्ठ ६। (वृहन्मन्दिरपुष्टिमार्ग, सिद्धान्त कार्यालय, वम्बई १६२०)।

२. शाण्डिल्य सूत्र १।१ तथा देखिए स्वप्नेश्वर की टीका।

३. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 704.

मेरे भक्त परस्पर एक-दूसरे को मेरा तत्त्व समझते हुए तथा ज्ञान, बल, एवं सामर्थ्यादि गुणों से युक्त मुझ परमेश्वर के रूप का वर्णन करते हुए, सदा सन्तुष्ट रहते हैं तथा आनन्द को प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार उपर्युक्त कथन के अनुसार भक्ति में से सन्तोष एवं आनन्द के भाव भी सन्निहित रहते हैं।

रामानुजाचार्य और भक्ति–रामानुजाचार्य ने भक्ति को ज्ञान की एक कोटि रूप में माना है। विभिन्न प्रकार की अर्चनाएं एवं कर्मकाण्ड के अनेक रूप जीव को भक्ति की ओर ही अग्रसर करहते हैं, परन्तु वह भक्ति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति ज्ञान एवं कर्म का समन्वय है (रामानुजभाष्य-गीता उपोद्घात)।

भक्ति चिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप–भक्तिचिन्तामणि के अन्तर्गत भक्ति को 'योगवियोगवृत्तिप्रेम' कहा गया है। योगवियोगवृत्तिप्रेम प्रेम का वह रूप है जिसमें दो मिलन को प्राप्त प्रेमी वियोग से भयविह्वल रहते हैं और दो वियुक्त प्रेमी संयोग के लिए उत्कंठित रहते हैं।[2]

कुछ अन्य आचार्यों एवं विद्वानों के मत–हरिदास एवं गुप्ताचार्य भक्तिचिन्तामणि के उपर्युक्त मत ही के समर्थक हैं। गोविन्द चक्रवर्ती ने भक्ति के पोषक प्रेम को महान् से महान् आपत्तिकाल में भी निरन्तर रूप से स्थिर रहने वाला कहा है।[3] प्रेमलक्षणचन्द्रिकाकार परमार्थ ठक्कर ने उक्त प्रेम की अभिलाषा को वाणी अवर्णनीय कहा है।[4] प्रेमरसायनकार विश्वनाथ ने भक्ति को प्रेममय आकांश का रूप दिया है।

गोपेश्वर जी महाराज का मत–गोपेश्वर जी का भक्तिसम्बन्धी मत उपर्युक्त उन मतों से भिन्न है जो आकांक्षा या उत्कण्ठा को भक्ति का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्र अथवा किसी प्रिय सम्बन्धी के प्रति जो प्रेम होता है उसका आधार कोई आकांक्षा नहीं होती। फिर आकांक्षा किसी अप्राप्य विषय की होती है परन्तु भक्ति का अनुराग ऊप्राप्त नहीं कहा जा सकता।[5] इसके अतिरिक्त गोपेश्वर जी रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत नहीं मानते। उन के मतानुसार भक्ति में कर्मकाण्ड एवं उपासना सम्मिलित नहीं है। गोपेश्वर जी तो शाण्डिल्य सूत्र के अनुयायी होने के कारण भक्ति को अनुरक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं।

इस लेखक का दृष्टिकोण–मेरे विचार से भक्ति, हृदय की वह भावदशा है जिसमें भक्त के हृदय में एक ओर तो भगवान् के माहात्म्य पर दृष्टि रहती है और दूसरी ओर आत्म निवेदन तथा आत्म समर्पण पर। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन, यह नौ भक्ति की मौलिक विशेषताएं हैं। भक्ति ज्ञान से तो कोसों दूर है। जहां ज्ञान है वहां भक्ति नहीं और जहां भक्ति है वहां ज्ञान कहां? दोनों के आधार स्थल भी भिन्न हैं। ज्ञान का आधार बुद्धि है और भक्ति का आधार हृदय। अतः भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत मानने वाले रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के मतों से इस लेखक का मतवैपरीतय है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।६।
२. अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टेविश्लेषभीरूता। –भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५ (चौखम्बा संस्करण बनारस) सं० १६६५।
३. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५।
४. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.
५. भक्तिमार्त्तण्ड, पृष्ठ ७५।

वल्लभाचार्य और उनका भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त—वल्लभाचार्य ने स्नेह को भक्ति का प्रमुख तत्त्व माना है। उन्हीं के शब्दों में भक्ति की परिभाषा है—भगवान् के माहात्मय का ज्ञान होने पर भगवान् के प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह होता है वही, भक्ति हैं।[1] अपनी भक्तिवर्धिनी के अन्तर्गत भक्ति तत्व का निरूपण करते हुए वल्लभाचार्य ने प्रेम को भक्ति का बीज माना है, जो भगवद्कृपा से उत्पन्न होता है। जब यह बीच पुष्टि को प्राप्त हो जाता है तो त्याग, भक्ति, शास्त्रश्रवण एवं नामकीर्तनादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। भक्ति कभी स्वतः, कभी भक्तों के सम्पर्क से और कभी भक्ति के उपयोगी साधनों से उत्पन्न होती है। जिन भक्तों में साधन द्वारा भक्ति उत्पन्न होती है उनके हृदय में वह भाव रूप से स्थित रहती है। फिर पूजादि साधनों के द्वारा प्रेमादि रूप से क्रम से उद्भूत होती है।[2] भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग और व्यसन यह सात भक्ति के क्रमिक विकास के सोपान हैं। जब भक्त को भगवद् व्यसन प्राप्त हो जाता है तो उसे संसार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। भगवद् व्यसन से पहिले सांसारिक वाधायें भक्त के जीवन में वाधक वनकर उपस्थित होती हैं। अतः जब तक व्यसन की उत्पत्ति नहीं होती तव तक सांसारिक पदार्थों का राग नष्ट नहीं होता। इस प्रकार भक्त की स्नेह शक्ति सांसारिक व्यसनों की विनाशकर्त्री है। व्यसनों के नाश होने पर पूर्वकृत समस्त कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। अतः कर्म का त्याग करके ही भगवत् प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।[3]

वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग—वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। पुष्टि का अर्थ है—भगवान् का अनुग्रह (पोषणं तदनुग्रहः, श्रीमद्भागवत् २।१०) इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार भगवदनुग्रह ही मुक्ति का प्रधान कारण माना गया है। इसलिए वल्लभदर्शन का भक्तिसिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित होता है। पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवत् प्राप्ति के लिए ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है।[4]

मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति—पुष्टि भक्त के विपरीत वैष्णव दर्शन का मर्यादा भक्ति का सिद्धान्त है। स्वयं वल्लभाचार्य ने पुष्टि भक्ति का समर्थन करते हुए भी मर्यादा भक्ति की युक्तता की शंका नहीं की है।[5] भक्तिमार्तण्डकार ने मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों एवं साधनों के द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है वह मार्यादा भक्ति कहलाती है और जैसा कि कहा जा चुका है, कर्म और साधकों के विना केवल भगवदनुग्रह के द्वारा जिस भक्ति की उपलब्धि होती है उसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं।[6] कर्म एवं साधनों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी, मर्यादा भक्ति के अनुयायियों की यह मान्यता है कि एक वार कर्म एवं साधनों द्वारा भगवत्प्रेम उत्पन्न

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तास्तया मुक्तिर्नचान्यथा।। —तत्वार्थदीप, पृ० ८०।। —Edited by Hari Shankar Onkarji Shastri, Bombay, 1943.

२. देखिए—भक्तिवर्द्धि, श्लोक ५ पर पुरुषोत्तमाचार्य की वृत्ति।

३. स्नेह शक्तिः व्यसनानाम् विनाशनम्। तथा सतिकृतमपि सर्वं कार्यम् व्यर्थम् स्यात्। तेन तत् त्यागम् कृत्वायतेत।—भक्तिवर्द्धिनी, श्लोक ६ पर वालकृष्ण की टीका।

४. अणुभाष्य ३।३।२६।

५. वही।

६. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५१।

होने पर फिर साधनादि की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु पुष्टिमार्ग के अनुसार किसी स्थिति में भी साधन मात्र से भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। पुष्टि मार्ग में तो भगवत्कृपा को ही साधन कहा गया है–पुष्टिमार्गे वरणम् एवं साधनम्। मर्यादा भक्ति के अन्तर्गत श्रवणादि के द्वारा पापक्षय होने पर प्रेमोत्पत्ति और फिर मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पापादि की अप्रतिवन्धकता का कारण है। इसके अतिरिक्त मर्यादाभक्ति के अन्तर्गत जो श्रवणादि एवं प्रेम का पौर्वापर्य सम्बन्ध बतलाया गया है, वह भी पुष्टि मार्ग की भक्ति में आवश्यक नहीं है।[१]

प्रवाह मार्ग और पुष्टि मार्ग–वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के अतिरिक्त प्रवाहमार्ग के नाम से एक और मार्ग का भी उल्लेख किया है। प्रवाहमार्ग के अन्तर्गत उन वैदिक कर्मों का उल्लेख किया गया है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जो कर्म वैदिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते वे मर्यादामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग का भेद ऊपर बतलाया जा चुका है। पुष्टि मार्ग प्रवाह मार्ग से इस अंश में भिन्न है कि पुष्टिमार्ग प्रवाहमार्ग की तरह वैदिक कर्मों पर आधारित न होकर पूर्णतया भगवदनुग्रह पर ही प्रतिष्ठित रहता है।[२]

भक्ति के साधन–वैसे तो, भगवद्भक्ति की प्राप्ति का प्रमुख कारण भगवदनुग्रह ही है, परन्तु भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्त में अन्तः करण की शुद्धि अत्यावश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि के षोडश साधन बतलाए गए हैं। इनमें कुछ साधन आन्तरिक तथा कुछ बाह्य हैं। बाह्य साधनों में स्नान, यज्ञ और देवमूर्ति का अर्चन, ये तीन साधन आते हैं। सर्वात्मरूप से भगवान् का ध्यान करना चतुर्थ साधन है। सत्वगुण का उत्कर्ष पंचम साधन हैं। समस्त कर्मों का समर्पण एवं अनासक्ति षष्ठ साधन है। श्रद्धेयों एवं आदरणीयों का आदर करना सप्तम साधन है। दीनों के प्रति दया का भाव अष्टम साधन के अन्तर्गत आता है। सभी प्राणियों के प्रति समानता एवं मित्रता का भाव नवम साधन है। दशम साधन यम तथा एकादश साधन नियम है। गुरुमुख द्वारा शास्त्र श्रवण द्वादश साधन है। भगवन्नामश्रवण एवं कीर्तन त्रयोदश साधन है। सार्वभौमसहानुभूति एवं स्नेह चतुर्दश साधन है। सत्यसंग पन्द्रहवां साधन है। डाक्टर देवराज ने ईश्वरसायुज्य को अन्तःकारण की शुद्धि का पंचदश साधन माना है।[३] परन्तु यह अनुचित है, क्योंकि ईश्वर सायुज्य तो साधन न होकर साध्य ही है। अन्तःकरण की शुद्धि का सोलहवां साधन अहंकार का विनाश है।[४] इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ यह सोलह साधन बतलाए गए हैं।

---

१. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५२।

२. अतो वेदोक्तत्वेऽपि जीवकृतवैधसाधनेष्वप्रवेशात् तदसाध्यसाधनात् फलवैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्तसाधनेभ्योऽपित भिन्नैव तत् तदाकारिकापुष्टिरस्तीत्यतो हेतो सिद्धमितिमार्गत्रयोऽत्र न सन्देह इत्यर्थः।–पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद-टीका, पृष्ठ ८।

३. डा० देवराज : दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४३७।
(हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०)

४. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.

वल्लभदर्शन में मुक्ति का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त परम्परा के अनुसार जहां परमात्मसाक्षात्कार का मूलज्ञान है, वहां वल्लभदर्शन के अन्तर्गत भगवत्महात्म्य ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मुक्ति का कारण है, यह इसी प्रकरण के अन्तर्गत कहा जा चुका है। अतः ज्ञान एवं भक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति की स्थिति में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञानसाध्य जिस जीवब्रह्मैक्य रूप मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है, उससे वल्लभाचार्य प्रतिपादित मुक्ति का स्वरूप भिन्न है। वल्लभ दर्शन के अनुसार जीव मुक्तावस्था में भी कर्मरत रहते हैं। इनमें कुछ जीव इस प्रकार के हैं जो पूर्व-बन्धन से मुक्त हो गए हैं। इस प्रकार के जीवों में सनकादि आते हैं। दूसरे प्रकार के जीव वह हैं जो ब्रह्म लोक की प्राप्ति करके, भगवान् के अनुग्रह से मुक्ति प्राप्त करते हैं ; इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के जीव यह हैं जो एकमात्र भगवान् की भक्ति का आश्रय प्राप्त करते हैं और फिर पूर्ण भगवत्प्रेम के द्वारा ईश्वरसायुज्य की उपलब्धि करते हैं।[१]

वल्लभदर्शन के अन्तर्गत यद्यपि भक्ति का साधन है, परन्तु उसका महत्व मुक्ति से भी अधिक है। मुक्ति के अन्तर्गत जिस आनन्द का अनुभव होता है वह आत्मिक है, परन्तु भक्त को जो रसानुभव होता है, वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा ही अनुभूत होता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा आनन्द का अनुभव करने वाले भक्तों की महत्ता जीवन्मुक्तों से भी अधिक मानी गई है।[२]

अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभदर्शन, तुलनात्मक विवेचन

शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त-शुद्धाद्वैतवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद में समताएं एवं विषमताएं दोनों ही है। जहां तक वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद की समताओं का प्रश्न है, दोनों में ही दार्शनिक सिद्धातों के अनुसार अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यदि सजातीय विजातीय भेद से रहित एवं दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्य अद्वैत एवं एकरस ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है[३] तो वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त के अनतर्गत भी मायासम्वन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही अद्वैत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[४] शांकर अद्वैतवाद का परब्रह्म भी शुद्धाद्वैतवादी की तरह माया से रहित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा पदार्थमय जगत् की शून्यता न सिद्ध करके जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न द्वैतबुद्धि का ही निराकरण किया गया है, उसी प्रकार शुद्धद्वैतवादियों ने भी प्रपंचबुद्धि का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया है (वादावलि, पृष्ठ ६)। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' एवं 'नेहनानास्ति किंचन' की भावना के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैतत्व स्थापित किया गया है,

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 760.

२. देखिए तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ ७७।

३. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म।–शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।

४. मायासम्वन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः–शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड २८।

उसी प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत भी जगत् के सम्बन्ध में ब्रह्मात्मकता का भाव स्पष्ट रूप से मिलता है।[1] अद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिबिम्ववादसम्बन्धिनी समानता भी द्रष्टव्य है। अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं। प्रतिबिम्ववाद के द्वारा अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए, अद्वैती शंकराचार्य का कथन है कि जल में स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है और जल के क्षीण होने पर क्षीणता को प्राप्त होता है, जल के कम्पित होने पर कम्पित होता है और जलभेद होने पर भिन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्यप्रतिबिम्ब जल के धर्मों का अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म परमार्थतः अविकृत एवं एक होते हुए भी देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।[2] इसप्रकार प्रतिबिम्ववाद सिद्धान्त के अनुसार जीव प्रतिबिम्ब रूप है जिस प्रकार प्रतिबिम्ब वृद्धिक्षयादि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव सुखदुःखादि का अनुभव करता है। परमेश्वर वस्तुतः सुख-दुःखादि से असम्बद्ध है। अब शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को लीजिए। प्रतिबिम्ववादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिबिम्बवाद का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं–जिस प्रकार कि जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जलवर्ती कम्पादि धर्म मिथ्या हैं और उनका चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार अनात्मदेहादि का जन्म, बन्ध, दुःखादि रूप धर्म, जी का ही है, ईश्वर का नहीं।[3] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभदर्शन एवं शांकरवेदान्त के सिद्धान्तों में समानता भी मिलती है। अतः वल्लभाचार्य के शंकराचार्यपरवर्ती होने के कारण शांकरवेदान्त एवं वाल्लभवेदान्त के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट किए गए समान स्थलों में, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर शांकर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित कहा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत समताओं की अपेक्षा विषमताएं अधिक हैं। शुद्धाद्वैत दर्शन के शांकर वेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण शांकर वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में विषमताओं का होना स्वाभाविक ही है। यहां दोनों दर्शन पद्धतियों की विषमताओं का उल्लेख किया जाएगा।

अद्वैत वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त, दोनों ही पद्धतियों के अनुसार सर्वोच्च तत्त्व ब्रह्म है, परन्तु दोनों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में मूल अन्तर तो यह है अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है ओर वाल्लभ वेदान्त के अनुसार सगुण पुरुषोत्तम। अद्वैत वेदान्त में भी अपरब्रह्म के नाम से सगुण ब्रह्म की चर्चा मिलती है, परन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। परमार्थ दशा में पर अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। पर एवं अपर ब्रह्म का निरूपण चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैती हैं, परन्तु एक का सिद्धान्त केवलाद्वैतवाद है और दूसरे का

---

१. विवेकस्तु ममैतद् एव प्रभुणाकृतम् कोऽहं, किंच साधनम् किं फलम्, को दाता, कोभोक्ता इत्यादिरूपः।–सेवाफल श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२०।

३. यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बतस्य तेन जलेनकृतो गुणः कम्पादिधर्मः आसान्नो विद्यमानो मिथ्यैवदृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रद्वय एवमनात्मनो देहादेर्धर्मो जन्मवन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।–सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत ३।७।११।

शुद्धाद्वैतवाद। केवल द्वैतवादी शंकराचार्य के मतानुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, जगत् जो व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से सत् है, परतमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है क्योंकि माया एवं स्वयं मिथ्या है।[1] शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शांकर वेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद पर आक्षेप करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करना है।[2] वैसे, माया के दायित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है। शांकर वेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है तो वाल्लभवेदान्त में भी माया का उल्लेख भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में किया गया है।[3] परन्तु दोनों की माया शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका उवं मिथ्या है (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३) और वाल्लभ वेदान्त की माया मिथ्या न होकर पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदान्त की माया का मिथ्यात्व अनिवर्चनीयता पर आधारित है। परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया को अद्वैत वेदानत में अनिवर्चनीय कहा गया है। शांकर वेदान्त और वल्लभ दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शांकर वेदान्तसम्मत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान् की माया शक्ति की सहायता से आविर्भूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कार्य रूप जगत् के ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा का फल होने के कारण उसका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कार्यकारणवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठानवाद[4] एवं अध्यारोपवाद[5] का समर्थन किया है उसका भी वल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप का फल है। इसके विपरीत वल्लभदर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार बल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है[6] और शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं माया उपादान कारण है।[7] इस प्रकार शांकर वेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अद्वैत वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहकर विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवर्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शांकर वेदान्त एवं वल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है। अंशांशि भाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।[8]

---

१. गौ० का० ४।५८।
२. अणु भाष्य १।१।६।
३. मायायाअपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमदभिन्नत्वात् ।-प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१, २।१।२८ तथा देखिए वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली-४६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
६. देखिए-पुरुषोत्तमाचार्य की टीका-अणुभाष्य, पृष्ठ ९०।
७. वेदान्त सार, ११।
८. अणु भाष्य २।३।४३।

इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है–शांकर वेदान्त में जीव की सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ-दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[1] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभुत्व का भी शांकर वेदान्त में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप विभुत्व जीव में न होकर ब्रह्म में है। वल्लभ-वेदान्त और शांकर वेदान्त के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकर वेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। इस मत के अनुसार भक्ति का पर्यवसान भी ज्ञान में ही होता है। स्वयं कृष्ण ने भक्त की अपेक्षा ज्ञानी को ही अपनी अधिक प्रिय माना है (गीता ७।१७), परन्तु आचार्य वल्लभ दर्शन की भक्ति का स्वरूप करते समय कह आए हैं, भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[2] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भक्ति का अंग बतलाया गया है।

शांकर वेदान्त और वल्लभ-दर्शन की मुक्तिपरक विचारधारा का प्रमुख भेद भी विवेच्य है। वल्लभ दर्शन की भगवत्सायुज्यादिस्वरूपिणी मुक्ति शांकर वेदान्त की जीवैक्यस्वरूपिणी मुक्ति से तो भिन्न है ही, साथ ही दोनों दर्शनपद्धतियों की आत्मानुभवसम्बन्धिनी दृष्टि में भी मौलिक भेद है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति में जो आनन्दाभुव होता है वह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से अतीत है, क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।[3] इसके विपरीत जैसा कि वल्लभदर्शनानुगत मुक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

ऊपर दिए गए तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि शांकर वेदान्त और वल्लभवेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर यत्किंचित् साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद है। जैसा कि दोनों दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों की समता को प्राप्त वल्लभदर्शन के सिद्धान्तों पर वेदान्त का प्रभाव निःसंकोच कहा जा सकता है।

कतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुजाचार्य आदि चार वैष्णव आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य वैष्णव भी हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। इन वैष्णव भक्त एवं आचार्यों में चैतन्य महाप्रभु, जीवगोस्वामी एवं बलदेवविद्याभूषण प्रमुख हैं। यहां इन वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा। इसके अतिरिक्त इन वैष्णवों के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ जो साम्य एवं वैषम्य मिलता है, उसका भी स्थान-स्थान पर निरूपण किया जाएगा।

---

१. ......it is as real and eternal as Brahman.—Radhakrishnan : Indian Philosophy) Vol, II, p. 757.

२. भक्तिमार्त्तण्ड, पृष्ठ १३७।

३. शांकर भाष्य गीता, ३।४२।

महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

महाप्रभु चैतन्य लिखित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा की जा सके। अतः उनके दार्शनिक सिद्धान्त के यत्किंचिद् बीज उनके चरित-ग्रन्थों में ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। यहां इन चरितग्रन्थों के आधार पर ही चैतन्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चैतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अतः भगवान् और जगत् में भेद है या अभेद, यह भी अचित्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद पड़ा है।[1] भेदाभेद के अचिन्त्य होने के कारण चैतन्यसम्प्रदाय के अनुरूप जगत्, शांकर वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलयकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन हो जाता है।[2]

शांकर वेदान्त की तरह चैतन्यसम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया सगुण माना गया है। ब्रह्म की अनेक शक्तियां हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के प्रमुख तीन रूप हैं–विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति।[3] विष्णु शक्ति के भी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् भेद से तीन भेद हैं, सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियां पराशक्ति या विष्णु शक्ति के अनतर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चैतन्यदर्शन का ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विदिष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्तत्व की विचारणा मिलती है।[4] माया शक्ति से सम्पन्न, चैतन्य दर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है, ईश्वर अपनी अचित्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् यद्यपि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'यदुत्पादि विनाशितत्' के अनुसार विनाशशील अवश्य है। यही शांकर वेदान्त और चैतन्य दर्शन के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का भेद है। शांकर वेदान्त का जगत् परमात्मा की अविद्या शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत हमें चैतन्य एवं रामानन्द के संवादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के करने पर भगवान् की भक्ति की

---

१. स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदावंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमतेतु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्य-शक्तित्वात्। (जीव गोस्वामी, सर्वसंवादिनी)।

२. 'आत्मावाइद' मित्यादौ वनलीनविहंगवत्।
सत्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः।। (प्रमेयरत्नावली ३।२)

३. विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञाना तृतीया शक्तिरिष्यते।। विष्णु पुराण ६।७।६१।

४. भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (गीता १८।६१)।

प्राप्ति होती है।[1] परन्तु भक्तिरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्य चरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार का कथन है कि उत्तमाभक्ति समस्त अभिलाषाओं से शुन्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत्त है। इस प्रकार आनुकूल्य के साथ भगवान् श्री कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।[2] यहां यह उल्लेख्य है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से सहमत नहीं थे कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त असहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वरप्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की वह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत्प्रेम के द्वारा समस्त कर्मविधान का त्याद कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगर्भित स्थिति आती है जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का बाधक न होकर साधक ही है।[3]

पंचधा-भक्ति–भगवान् के प्रति भक्त का जो स्वाभाविक एवं अविच्छेद्य अनुराग होता है उसे प्रेमाभक्ति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। यह पांच भेद शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य हैं।

शुद्धाभक्ति–चैतन्य ने शुद्धाभक्ति की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है।[4] शुद्धभक्तिसम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामनाकी पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। शांकर वेदान्त एवं चैतन्य-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य होते हुए भी यह साम्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शांकर वेदान्त के अन्तर्गत कर्म को मुक्ति से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आचार एवं दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चैतन्यविचारपद्धति के अनुसार भी भक्त के लिए आचार की महती उपयोगिता बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ है कि कृष्ण के भक्त को दयालु, सत्यपालक, समानदृष्टिवाला, अनपकारी, उदारचेता, सहृदय, शुद्धनिःस्वार्थी, एवं शान्त होना चाहिए।[5] इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष पर समान रूप से बल दिया गया है।

जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण, ये दोनों आचार्य भी चैतन्य के ही अनुयायी थे। यहां इन दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे। पहले जीव गोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मीमांसा की जाएगी।

---

१. देखिए–चैतन्यचरितामृतमध्यलीला में अष्टम अध्याय के अन्तर्गत चैतन्य एवं रामानन्द का संवाद।
२. आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनं भक्तिरूत्तमा। भक्तिरसामृतसिन्धु १।१।११।
३. Das Gupta Indian Philosophy, vol : IV, p. 392.
४. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, २६।
५. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 392.

जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप

जीवगोस्वामी का कथन है कि मूलतः तो ब्रह्म भगवान् एवं परमात्मा में भेद नहीं है परन्तु फिर भी एक मूल सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन होने के कारण और तदनुरूप उपासक पुरुष के अनुभव के कारण ब्रह्म, भगवान् या परमात्मा शब्दों का व्यवहार होता है।[1] जब पूर्ण सत्य रूप ब्रह्म और उसकी शक्तियों का भेद नहीं दिखायी पड़ता तो उसे ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जव यह मूल सत्ता (ब्रह्म) अपनी मूल एवं स्वरूपस्थित शक्ति के द्वारा विभिन्न शक्तियों का आधार वन जाती है ओर भक्त को विविध शक्तियों से मण्डित दिखाई पड़ती है तो उसे भगवान् कहते हैं। इस प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार आनन्द विशेष्य, समस्त शक्तियां विशेषण, एवं भगवान् विशिष्ट हैं।[2] यही भगवान् जब जीवों और उनकी क्रियाओं का नियन्ता होता है तो परमात्मा कहलाता है। जीवोगोस्वामी के मतानुसार भगवान् ब्रह्म अद्वैत वेदान्त दर्शन के समान शुद्ध चित् एवं विषय, माया अथवा अज्ञान का आश्रय नहीं है, अपितु उसका माया से अचिन्त्य सम्वन्ध है। अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मा स्वयं जगत् का निमित्त कारण एवं अपनी शक्तियों के कारण उपादान कारण है।[3]

परमात्मा ही संकर्षण या महाविष्णु (समस्त जीवों एवं प्रकृति का स्वामी) प्रद्युम्न (समष्टि जीवान्तर्यामी) एवं प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी रूप को स्वयं धारण करता है।

भगवान् की शक्तियां

भगवान् की मूल शक्ति अचिन्त्य है। दुघटघटकता की सामर्थ्य होने के कारण ही भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य कहा गया है।[4] अचिन्त्य शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है। भगवान् की शक्ति के प्रधान रूप से नीचे लिखे तीन भेद मिलते हैं–

(१) अन्तरंग स्वरूप शक्ति (२) तटस्थ शक्ति और (३) वहिरंग माया शक्ति।

अन्तरंग स्वरूप शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है।[5] भगवान् की द्वितीय तटस्थ शक्ति का प्रतिनिधत्व जीव करते हैं। इस प्रकार शुद्ध जीव तटस्थ शक्ति के प्रतीक हैं। जगत् भगवान् की बहिरंग माया शक्ति के ही विकास का फल है। इन शक्तियों में प्रथम स्वरूप शक्ति एवं तृतीय बहिरंग माया शक्ति में परस्पर वैषम्य प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी जीवगोस्वामी के मतानुसार उनका एक निधान परमात्मा ही है।[6] यही भगवान् का दुर्घटघटक अचिन्त्यशक्तित्त्व है। बहिरंग माया शक्ति का

---

१. जीवगोस्वागी, षट् सन्दर्भ पृष्ठ ५०।
२. आनन्द मात्रं विशेष्यम्, शक्तयः विशेषणानि, विशिष्टो भगवान्।–षट् सन्दर्भ, पृ० ५०।
३. षट् सन्दर्भ, पृ० २५०।
४. दुर्घटघटकत्वंह्यचिन्त्यत्वम्।
५. षट् सन्दर्भ, पृ० ६५।
६. षट् सन्दर्भ, पृ० ६१।

प्रभाव जीवों पर ही हो सकता है, भगवान् पर नहीं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त का ईश्वर मायावी होते हुए भी माया से अस्पृष्ट रहता है। परन्तु दोनों की माया शक्ति में भेद है। इस भेद का निरूपण तुलनात्मक अध्ययन के समय आगे किया जाएगा। जीवगोस्वामी के मतानुसार माया के दो भेद हैं—एक गुणमाया और दूसरी आत्ममाया। गुणमाया जगत् के समस्त भौतिक तत्त्वों की मूलभूता है और आत्ममाया ईश्वर की इच्छारूपिणी शक्ति है। जव माया शब्द का प्रयोग आत्ममाया अथवा ईश्वर की माया के अर्थ में होता है तो उसके तीन अर्थ होते हैं। आत्म माया के यह तीन अर्थ—स्वरूप शक्ति, ज्ञानक्रियाशक्ति और चित्शक्तिविलास हैं।[1] इसके अतिरिक्त जीवमाया का भी उल्लेख मिलता है। जीवमाया के ही भू, श्री एवं दुर्गा, यह तीन रूप मिलते हैं। इनमें भू शक्ति सृष्टिकर्त्री, श्री शक्ति रक्षाकर्त्री एवं दुर्गा शक्ति संहारकर्त्री है।

जीव का स्वरूप—जीव स्वभावतः शुद्ध होने के कारण माया का विषय नहीं है, परन्तु यह माया द्वारा उत्पन्न अन्तःकारण की वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और उनसे प्रभावित भी होता है। जीव स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के साथ अपने सम्बन्ध को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, इसीलिए इसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं।[2] जीव की सत्ता अणुरूप है। जीव अनन्त हैं और वे ईश्वर के अंश हैं। इसके अतिरिक्त जीव सत्व, रज एवं तमोगुण से युक्त हैं। इसके विपरीत ब्रह्म त्रिगुणातीत है।

जगत् का स्वरूप—वैष्णव दार्शनिक जीवगोस्वामी जगत् का मिथ्यात्व रज्जु में सर्प के भान के समान नहीं स्वीकार करते। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्तियों की ओर आक्षेप करते हुए उन्होंने कहा है कि रज्जुसर्प के समान जगत् मिथ्य नहीं है, अपितु घटादि के समान नश्वर है।[3] परन्तु मिथ्या न मानने पर भी जीवगोस्वामी जगत् को सत्य भी नहीं मानते हैं। सत्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि—सत्य वही हो सकता है जो त्रिकालाबाधित है। अतः जीवगोस्वामी के मतानुसार सत्यत्व केवल परमात्मा या उसकी शक्ति में ही देखा जा सकता है।[4] जीवगोस्वामी के विचारानुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। परमात्मा अपनी अचिन्त्यशक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है।[5] इस प्रकार कार्यकारणवाद की दृष्टि से जीवगोस्वामी परिणामवाद एवं सत्कार्यवाद के समर्थक हैं।

जीवगोस्वामी और परमात्मसाक्षात्कार का स्वरूप—जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मसाक्षात्कार के भी दो रूप हैं—एक ब्रह्मसाक्षात्कार और दूसरा ईश्वर या परमात्मा का साक्षात्कार। जीवगोस्वामी के दर्शन के अनुसार ब्रह्म एवं परमात्मासम्बन्धी भेद की ओर हम प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार विभिन्न रूपों सहित परमात्मा का साक्षात्कार उच्चकोटि का साक्षात्कार कहलाता

---

१. षट्सन्दर्भ, पृ० ७३, ७४।
२. षट्सन्दर्भ, पृ० २०६।
३. ततोविवर्तवादिनामिव रज्जुसर्पवन्न मिथ्यात्वम् किन्तुघटवन्नश्वरत्वमेव तस्य।
—षट् सन्दर्भ, पृ० २५५।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० २५५।
५. षट्सन्दर्भ, पृ० २६०।
६. षट्सन्दर्भ, पृ० ६७५।

है।[१] परमात्म साक्षात्कार की स्थिति में भक्त परमात्मा के विभिन्न रूपों एवं उसकी अनन्त शक्तियों का साक्षात्कार करता है। परमात्मसाक्षात्कार की स्थिति में अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है एवं आनन्द स्वरूपवान् परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करते हुए अद्वैतस्थिति को प्राप्त होता है। आनन्द की अनुभूति के द्वारा भक्त के समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है।

मुक्ति का विचार करते हुए यह भी द्रष्टव्य है कि परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले मुक्त पुरुष का जगत् के प्रति कैसा व्यवहार होता है। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचार योग्य है कि मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का लोप नहीं हो जाता। मुक्त पुरुष का यही वैशिष्ट्य है कि वह जगत् को ईश्वर का ही अंश समझता है। उसके लिए जगत् के समस्त सम्बन्ध एवं आकर्षण मिथ्या प्रतीत होते हैं। जहां तक मुक्त पुरुष के कर्म फल भोग का प्रश्न है वह केवल प्रारब्ध कर्मों के फल का ही भोग करते है. परन्तु इन प्रारब्ध कर्मों के फल के भोग में ही न उसकी इच्छा होती है और न उससे वह बद्ध होता है।

परमात्मसाक्षात्कार की उपर्युक्त स्थिति में माया का अविद्याकार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार माया की पूर्ण निवृत्ति ही मोक्ष की पूर्णतया की स्थिति है।

मुक्ति के अन्य रूप–मुक्ति की उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त जीवगोस्वामी ने सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य रूप से मुक्ति के पांच भेद और माने हैं, परन्तु जीवगोस्वामी का कथन है कि सच्चा परमात्मा की मुक्ति से ही सन्तुष्ट रहता है, उसे उपर्युक्त मुक्तियों की अपेक्षा नहीं है।[१]

जीवगोस्वामी और भक्ति का स्वरूप–भक्त का भगवान् में पूर्णतया लीन हो जाने का नाम ही भक्ति है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुमुक्षु को ज्ञान-वैराग्य आदि अभ्यास की अपेक्षा है, परन्तु भक्त को ज्ञान एवं वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है।[२] भक्ति का एक दूसरा रूप भी है जिसके अनुरूप ज्ञान के द्वारा भक्त का चित्त सांसारिक विषयों से हट कर परमात्मा में लीन होता है। इनमें भक्ति का प्रथम रूप ही प्रशस्त है। दोनों प्रकार की भक्ति का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना ही है, अतः कुल मिलाकर भक्ति अहेतुकी भी कहलाती है। क्योंकि सच्चे भक्त का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। जीवगोस्वामी ने भक्ति को ही मुक्ति का रूप दिया है।

भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के द्वारा ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव है।[३] भक्त को समस्त कर्त्तव्यादि कर्मों एवं वैराग्यादि के पोषक कर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भक्त को प्रत्येक कर्म भगवदर्पण बुद्धि से करना चाहिए। इस प्रकार भक्त्यनुष्ठान को जीवगोस्वामी ने कर्मानुष्ठान की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। जीवगोस्वामी ने भक्ति को जीवन्मुक्ति से भी श्रेष्ठ कहा है। जीवगोस्वामी का कथन है कि जीवन्मुक्त

---

१. षट्र सन्दर्भ, पृ० ६६१।
२. भजताम् ज्ञानवैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्ति। षट्र सन्दर्भ, पृ० ६६१।
३. षट्र सन्दर्भ, पृ० ४५४।
४. षट्र सन्दर्भ, पृ० ५७५।

पुरुष पुनः बन्धन को प्राप्त हो सकते हैं,[४] परन्तु भक्त का पतन नहीं होता। भक्त्यनुष्ठान में तो सदा आनन्द की ही स्थिति देखी जाती है।

भगवन्नाम का महत्त्व–जीवगोस्वामी का मत है कि वैसे तो एकमात्र भगवन्नाम ही जीव के घोरातिघोर पापों के विनाश में समर्थ है, परन्तु, यदि किसी में कौटिल्य, अश्रद्धा एवं इस प्रकार की वस्तुओं में अनुराग है जो भगवद्भक्ति में बाधक हैं तो उसमें भगवान् के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।[१] यदि किसी व्यक्ति के पूर्वकृत पाप नहीं हैं तो उसे एक बार भगवान् का नामसंकीर्तन करना ही पर्याप्त है। यदि वह एक बार नामसंकीर्तन करने के पश्चात् फिर घोर पाप नहीं करता तो उसे एक बार का ही नाम संकीर्तन पर्याप्त है।[२] मृत्युकाल के समय तो यदि कोई एक बार ही भगवान् का नाम ले लेता है तो उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह भगवान् के साथ अत्यन्त निकटसामीप्य को प्राप्त करता है।[३]

भक्ति की नौ विशेषताएं–जीवगोस्वामी ने श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन रूप से भक्ति की नौ विशेषताएं बतलाई हैं।[४]

भक्ति के दो भेद–प्रयोजनीच लक्ष्य की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद हैं–सकाम भक्ति, कैवल्यकाम भक्ति ओर भक्तिमात्रकामा भक्ति। सकाम भक्ति के अनुरूप मनुष्य साधारण अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की भक्ति करता है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रतीत होता है, कैवल्यकाम भक्ति का अनुयायी भक्त जीव और परमात्मा के ऐक्य रूप कैवल्य के उद्देश्य से भक्ति करता है। इस भक्ति के अन्तर्गत भक्त ज्ञान एवं योग का आश्रय भी लेता है। तृतीय भक्तिमात्रकामा भक्ति के अनुसार भक्त के समस्त ज्ञान एवं कर्मों का उद्देश्य एक मात्र भगवान् की भक्ति ही है, अन्य कोई लौकिक अथवा अलौकिक कामना नहीं यही भक्ति का प्रशस्त रूप है।

शरणागति भाव और उसके प्रमुख तत्त्व–भक्ति परम्परा के अन्तर्गत शरणागति का भाव प्रमुख भाव है। इस भाव के अनुसार मनुष्य सब ओर से निराश होकर एकमात्र भगवान् की ही शरण ग्रहण करता है।

वैष्णव तन्त्र के आधार पर शरणागति का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने शरणागति भाव के प्रमुख तत्त्व–भगवान् के अनुकूल संकल्पना, भगवान् के प्रतिकूल विषयों का त्याग भगवान् के रक्षकत्व में पूर्ण विश्वास, अपनी रक्षा के लिए भगवान् को वरण करना, आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य बतलाए हैं।[५]

उपर्युक्त शरणागति के समस्त तत्वों में भगवान् में आत्मरक्षा का विश्वास करना सर्वसुन्द तत्त्व है। अन्य तत्व येनकेनप्रकारेण उसी से सम्बद्ध हैं।

---

१. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३२-५३४
२. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।
३. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।
४. षट् सन्दर्भ, पृ० ५४१।
५. षट् सन्दर्भ, पृ० ५६३।

भक्तों की विभिन्न कोटियां–जीवगोस्वामी ने प्रमुख रूप से भक्तों की तीन कोटियां बतलाई हैं, प्रथम कोटि के भक्त वे हैं, जो समस्त जीवों में ईश्वर के ही दर्शन करते हैं। ये जगत् के जीवों को अपने एवं ईश्वर के ही अंश के रूप में मानते हैं। ये भक्त अपने आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए सांसारिक जीव इनके अंश कहे गए हैं। ये उत्तम कोटि के भक्त कहलाते हैं। द्वितीय कोटि के भक्त वे हैं जो ईश्वर के प्रति प्रेम, भगवान् के अधीन भक्तों के प्रति मैत्री, अबोधों के प्रति दया और शत्रुओं के प्रति उपेक्षा का भाव रहते हैं[1] ये भक्त मध्यम कोटि के भक्त कहलाते हैं। तीसरी कोटि के भक्त वे हैं जो श्रद्धापूर्वक भगवान् की ही पूजा करते हैं, परन्तु भगवान् के भक्तों एवं अन्य पुरुषों के सम्बन्ध में उनमें किसी विशष भाव का उदय नहीं देखा जाता।[2] ये अधम कोटि के भक्त कहलाते हैं।

उत्तम भक्त का लक्षण जीवगोस्वामी ने यह भी बतलाया है कि जिसके चित्त में सकाम कर्मों का भाव नहीं उदित होता और जो सदा भगवान् में ही अनुरक्त रहता है, वह उत्तम कोटि का भक्त है।[3] एक अन्य प्रकार से उत्तम भक्त का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने कहा है कि जिसमें अपने पराये का भेद नहीं है और जो समस्त जीवों का मित्र एवं शान्त है वही उत्तम कोटि का भक्त है।[4] इसके अतिरिक्त जिनके हृदय को भगवान् वरण कर लेते हैं और तदानुसार जिनका हृदय भगवान् के चरणकमलों में प्रेम करता है उन्हें भी जीवागोस्वामी ने उत्तम कोटि का भक्त कहा है।[5]

अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण)

जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रमुख आधार वैष्णव भक्ति है, परन्तु फिर भी अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। यहां जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख करेंगे।

जीवगोस्वामी एवं अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और उसके साक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भक्त विभिन्न गुणों एवं शक्तियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब भक्त अपने शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार करता है तो उसे ब्रह्म के शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है।[6] यह विषय अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अनुसार भी जब जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसे ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार स्वयं हो जाता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आत्मबोध का नाम ही ब्रह्मसाक्षात्कार या परमात्मसाक्षात्कार है। अविद्या के कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है।

---

१. ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्स्वपि।
प्रेममैत्रीकृपापेक्षा यः करोति स मध्यमः।। –षट् सन्दर्भ, पृ० ५६२।

२. वही, पृ० ५६४।

३. वही, पृ० ५६४।

४. षट् सन्दर्भ, पृ० ५६५।

५. षट् सन्दर्भ, पृष्ठ ५६५।

६. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosopy, Vol : IV, p. 397.

७. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० १२६।

जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अज्ञाननाश को ही अद्वैत वेदान्त में मोक्ष कहा गया है।[७] यही स्वरूपज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी के ब्रह्मसाक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है।

जीवगोस्वामी और अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मसाक्षात्कार विषयक सिद्धान्त में उपर्युक्त समानता होते हुए भी यह वैषम्य है कि जहां अद्वैतवेदान्तानुगत सिद्धान्त के अनुसार जीव को, स्वरूप बोध के लिए तत्त्वमसि आदि महाकाव्यों के अनुशीलन की उपादेयता बतलाई गई है वहां जीवगोस्वामी के अनुसार निरन्तर भक्ति अथवा भगवत्कृपा के द्वारा ही ब्रह्म साक्षात्कार संभव है। भगवत्कृपा भी भक्ति का ही फल है।

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है। इस विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। इसके अतिरिक्त माया को त्रिगुणात्मिका[१] एवं जड भी कहा गया है। अद्वैत वेदान्त की ही तरह जीवगोस्वामी की दार्शनिक विचार धारा के अनुसार भी मायापरमात्मा की शक्ति है—माया शब्देन शक्तिमात्रमपिमन्यते (षट्र सन्दर्भ, पृष्ठ ७३) साथ ही साथ जीवगोस्वामी अद्वैतवेदान्त के ही समान माया को त्रिगुणात्मक भी मानते हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार यह त्रिगुणात्मिका माया जड भी है।२ इस प्रकार माया का शक्तित्व, जड़त्व एवं त्रिगुणत्व अद्वैत वेदान्त एवं जीव-गोंस्वामी के दार्शनिक विचार में समान है। जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त क विषय में भी साम्य है कि अविद्या ही जीव में द्वैतबुद्धि की जननी है। इसके अतिरिक्त दोनों दर्शन पद्धतियों की यह समानता भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायावी ईश्वर स्वयं माया से स्पृष्ट नहीं होता[३], उसी प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार भी भगवान् की माया पर अपना प्रभाव डालन में अक्षम है।[४] शंकराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा भी संसारमाया से स्पृष्ट नहीं है। (ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६)।

परमात्मा के क्षेत्रज्ञत्व का विचार भी दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उपलब्ध है, परन्तु दोनों का यह अन्तर भी निर्दिश्य है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत निर्विशिष्ट चित्स्वरूप ईश्वर क्षेत्रज्ञ है और जीवगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित दर्शनपद्धति के अनुसार क्षेत्रज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा है।[५]

अद्वैत वेदान्त ही की तरह जीवगोस्वामी के मतानुसार भी परमात्मा जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और जीवगोस्वामी के मतानुसार अनन्य शक्तियों के द्वारा परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त ओर अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत यह सिद्धान्त साम्य भी विचार्य

---

१. अव्यक्तनाम्नी परमेशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणत्मिका या। विवेकचूडामणि श्लोक ११०।
२. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, P. 400.
३. ब्र० सू० शा० भा० २।१।६।
४. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, P. 400.
५. षट्र सन्दर्भ, पृष्ठ २१०।
६. षट्र सन्दर्भ, पृष्ठ २५०।

है कि दोनों दर्शन पद्धतियों के ही अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई मिथ्या दृष्टि का ही विनाश होता है।

जगन्मिथ्यात्वसम्बन्धी दृष्टिकोण के विषय में दोनों दर्शनपद्धतियों में साम्य तथा वैषम्य दोनों मिलते हैं। त्रिकालावाधित वस्तु को ही सत्य कहने के कारण जीवगोस्वामी के मतानुसार केवल परमात्मा या उसकी शक्ति ही सत्य है।[६] परन्तु अद्वैत वेदान्त में परमात्मा को तो त्रिकालावाधित सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है, न कि उसकी शक्ति माया को भी। इसके अतिरिक्त जैसा कि जीवगोस्वामी के अनुरूप जगन्मिथ्यात्व के दृष्टिकोण का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, जीवगोस्वामी को रज्जु में सर्प के समान जगत् का मिथ्या होना स्वीकार नहीं है।[१] जीवगोस्वामी के मतानुसार जगत् क्षणभंगर होने के कारण मिथ्या. कहा जा सकता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन के आधार पर जीवगोस्वामी के आध्यात्मिक विचार पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। अब यहां जीव गोस्वामी के ही अनुयायी भक्त-दार्शनिक बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक विचार की समीक्षा करेंगे।

बलदेच विद्याभूषण और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण के सिद्धान्तों में यत्किंचित् ही अन्तर है। अतः यहां बलदेव विद्याभूषण के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा।

ईश्वर–बलेदेव विद्याभूषण के मतानुसार भगवान् का स्वरूप शुद्धचित् एवं आनन्द है। यह दोनों ही भगवान् के विग्रह रूप कहे जा सकते हैं। शुद्धचित् एवं आनन्द स्वभाववान् भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा अनेक स्थलों पर दिखायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त भगवान् विभिन्न भक्तों के रूप को ग्रहण करता हुआ भी दिखाई पड़ता है। भगवान् का अनेक रूपों में प्रकट होना किसी वासना या कामना का फल न होने के कारण उसकी लीला मात्र है।[२] यह विचार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। वहां भी आप्तकाम ईश्वर के विषय में किसी कामना का मूल सम्भव न होने के कारण, लीला से ही, ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है।[३]

बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार एक ही भगवान् ध्याता भक्तों और कार्यभेद के कारण अनेक रूप ग्रहण करने पर भी स्वरूपतः भेद सम्पन्न न होकर ऐक्य सम्पन्न ही है।[४] अतः बलेदव विद्याभूषण का सिद्धान्त भेदाभेद-सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बलेदव विद्याभूषण के अनुसार भगवान् के स्वरूप में कोई भेद नहीं देखा जा सकता है। बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक मत के अनुरूप तो भगवान् की स्थिति की तुलना उस अभिनेता से की जा सकती है, जो रंगमंच पर अनेक रूपों में प्रकट होता है, परन्तु जिसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता।

बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार जीव भगवान् के ही अंश हैं। वे अणु तथा भगवदाश्रित हैं।

---

१. षट् सन्दर्भ पृष्ठ २५५।

२. गोविन्द भाष्य ३।२।११।

३. गोविन्द भाष्यं ३।२।११।

४. ध्यातृभेदात् कार्यभेदाच्च अनेकतयाप्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यम् – स्वस्मिन्न मुंचति। गोविन्द भाष्य ३।२।१३ तथा देखिए ३।२।१२ पर सूक्ष्म टीका।

बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त

भगवान् और उनके अनेक रूपों के आधार पर उत्पन्न हुई भेदाभेद शंका का निवारण बलदेव विद्याभूषण ने 'विशेष' नामक सिद्धान्त के आधार पर किया है। इस सिद्धान्त का सूत्र रूप तो आचार्य मध्व द्वारा ही उद्घाटित हुआ था। परन्तु बलदेव विद्याभूषण ने इस सिद्धान्त का पूर्णतया विकास किया था। इसीलिए बलदेव विद्याभूषण के सम्प्रदाय को मध्वगौडीय सम्प्रदाय भी कहते हैं।

'विशेष, सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और उसके गुणों अथवा ईश्वर के स्वभाव और उसके शरीर में भेद न होने पर भी भेद की सत्ता सिद्ध की जाती है। 'विशेष' के ही आधार पर भगवान् के स्वरूपभूत चित् एवं आनन्द भगवान् के विशेषण या शरीर कहलाते हैं। इस प्रकार बलदेवविद्याभूषण का 'विशेष' भेद का प्रतिनिधि है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति होती है। 'विशेष' सिद्धान्त का महत्त्व समझाते हुए बलदेव विद्याभूषण का कथन है कि इस सिद्धान्त के स्वीकार किए बिना गुणी एवं गुण का विचार स्पष्ट नहीं हो सकता।[1] जीवगोस्वामी ने केवल शक्ति के आधार पर उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी। परन्तु बलदेवविद्याभूषण ने अचिन्त्य शक्ति के अतिरिक्त 'विशेष' नामक सिद्धान्त का विकास किया था। अतः बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त उनकी विशेष देन है।

भगवान् की शक्तियां–भगवान् की तीन प्रमुख शक्तियां हैं। यह शक्तियां पराशक्ति या विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति हैं। प्रथम शक्ति के अन्तर्गत ब्रह्म स्वरूपस्थ एवं अपरिवर्तनीय है। इतर दो शक्तियों के परिणाम जीव एवं जगत् हैं। इस प्रकार बलदेवविद्याभूषण के अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण[2] दोनों है।

भक्ति–भगवदनुरक्ति के अतिरिक्त भक्ति के सम्बन्ध में दो तथ्य और बतलाए गए हैं। एक तो यह कि भक्ति ज्ञान विशेष का ही नाम है।[3] इसी भक्ति के द्वारा जीव जागतिक विषयों से अपना मन हटा कर ईश्वर की ओर लगाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तथ्य यह है कि सिद्धान्तरत्न की टीका के अन्तर्गत भक्ति के स्वरूप का निरूपण शक्ति के रूप में किया गया है। इस प्रकार भक्ति भगवान् को वंश में करने की शक्ति है।[4]

परमात्मा का पूर्ण साक्षात्कार या दर्शन भक्त को साध्यभक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है, न कि साधनभक्ति के द्वारा। साधन भक्ति के अन्तर्गत जहां भक्ति के सत्संग आदि विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है, वहां साध्यभक्ति के अन्तर्गत साध्य–भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण का भाव ही प्रमुख है।

समीक्षा

ऊपर रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य वल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, जीवगोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा तथा अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय विरोध और साम्य दोनों ही पाये गये हैं। विरोध के कारण–शांकर दर्शन की प्रतिक्रिया,

---

१. गोविन्द भाष्य २।१।१३।
२. गोविन्द भाष्य २।१।१४।
३. भक्तिरपि ज्ञानविशेषोभवति।–सिद्धान्तरत्न टीका, पृ० २६।
४. भगवद्वशीकारहेतुभूताशक्तिः–सिद्धान्तरत्न टीका, पृ० ३५।

ब्रह्मसूत्र की अस्पष्टता, स्वाभाविक तर्कनाशक्ति, सम्प्रदाय परम्परा का अनुपालन और आचार्यत्व की छाप, हैं। सत्य के अन्वेषणकार्य में मत वैविध्य एवं विचारविरोध का होना, लेखक के दृष्टिकोण से आध्यात्मिक अनौचित्य का मूल नहीं कहा जा सकता। किसी साधारण उद्देश्य की प्राप्ति के सम्वन्ध में ही जब साधक विभिन्न पथों का अनुमान करते देखे जाते हैं तो फिर चतुर्थ पुरुषार्थ–मोक्ष के साधकों में विरोध होना आश्चर्यास्पद नहीं है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं वल्लभाचार्य आदि उपर्युक्त आचार्य केवल शास्त्रीय दृष्टि से ही आचार्यत्व के भाजन नहीं थे, वरन् चतुर्थ पुरुषार्थ के साधक भी थे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अतः उक्त साधक विचारकों के सिद्धान्तों में विरोध होने पर भी साध्यगत साफल्य देखने को मिलता है, वह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य की तर्कना शक्ति पर आधारित सैद्धान्तिक विरोध उसे सत्यान्वेषण की साधना से वंचित नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का परस्पर विरोध स्वाभाविक एवं संगत ही है। इसके अतिरिक्त विशेषतया ज्ञान एवं भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों पर आधारित उपर्युक्त आचार्यों की दर्शन पद्धतियां इस रूप में और उपयोगी रहीं हैं कि पात्रत्व की भिन्नता की दृष्टि से भक्तिभावसम्पन्न हृदयों एवं ज्ञानबीजसम्पन्न जीवों को पृथक्-पृथक् पथप्रदर्शन मिल गया है। जहां तक, ज्ञान एवं भक्ति पर आधारित उपर्युक्त दशेनपद्धतियों की सफलता का प्रश्न है, कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है कि भक्त भी परमात्मा की प्राप्ति करते हैं[2] और परमात्मा ज्ञानगम्य भी है।[3] जहां तक शास्त्रीय दृष्टि से शांकरवेदान्त और रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्तों के विरोध-विवेचन का प्रश्न है, वहां यह कहा जाएगा कि श्रुतिसाम्मत्य, सिद्धान्तप्रतिष्ठा, तर्कपुष्टता, वैज्ञानिक विवेचनशीलता, दार्शनिकता और सुस्पष्टता के जो गुण शंकराचार्य के दर्शन में मिलते हैं, वे इतर दार्शनिकों के दर्शन में नहीं। यही कारण है कि रामानुज प्रभृति अनेक आचार्यों द्वारा शांकर वेदान्त का निराकरण होने पर भी आज शांकर वेदान्त की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है।

जैसा कि इस प्रकरण के अन्तर्गत देखा गया है, रामानुजाचार्य आदि का शंकराचार्य का आलोचक एवं व्याख्याता होने के कारण शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य स्वाभाविक है। शंकराचार्य के पूर्ववर्ती होने के कारण, रामानुजादि आचार्यों की दर्शनपद्धतियों के ऐसे विचार जो शांकर सिद्धान्त के समान हैं, शांकर वेदान्त से प्रभावित कहे जा सकते हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत, अद्वैत वेदान्त के साथ रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करते समय इन दर्शन पद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का निरूपण किया जा चुका है। इन साम्य मूलक विचारों के आधार पर शंकराचार्य के परवर्ती रामानुजाचार्य आदि पर शांकर वेदान्त का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट है। इस स्थल पर उक्त दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का पुनरुल्लेख अनावश्यक ही है।

---

१. "We are in a way maintaintng the honour of human reason when we reconcile it with itself in the different persons of acute thinking and discover the truth, which is never entirely missed by man of such thoroughness, even if they directly contradict eact other"
—J. Ward, A Study of Kant, p. 11.से उद्धृत।

२. मद्भक्ता यान्तिमामपि।–गीता ७।२३।

३. ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं।–गीता १३।१७।

सप्तम अध्याय

अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन

वेदान्तिक अद्वैतवाद और तान्त्रिक शक्त्यद्वैतवाद

शक्त्यद्वैतवाद तन्त्रशास्त्र के ही अंगभूत शाक्ततन्त्र का दार्शनिक सिद्धान्त है। 'तन्यते विक्तार्यते ज्ञानमनेन,' इति तन्त्रम् के आधार पर जिस के द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है, उसे तन्त्र कहते हैं। उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति विस्तारार्थक तनुधातु से औणदिक ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त शैव सिद्धान्त के 'क्रमिक आगम' के अन्तर्गत प्रदत्त तन्त्र की परिभाषा के आधार पर जो तत्त्व एवं मन्त्रों से समन्वित विविध विषयों का विस्तार से वर्णन करता है और साधकों की रक्षा करता है उसे तन्त्र कहते हैं।[१] क्रमिक-आगम की उक्त परिभाषा के अन्तर्गत ज्ञान के साथ साधना पक्ष को भी सम्मिलित किया गया है। सामान्यतया तन्त्र शब्द का प्रयोग सांख्य,[२] योग, न्याय और धर्म शास्त्र आदि के लिए मिलता है।[३] परन्तु उसका साधनामूलक तन्त्रशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ विकासशील सिद्धान्तों के आशय का साथ नहीं देते। इसका फल यह होता है कि व्युत्पत्ति पीछे रह जाती है और सिद्धानत विकसित होता जाता है। आगे चलकर तो सिद्धान्त से व्युत्पत्ति का सम्बन्ध कभी-कभी गवेषणा करने पर भी नहीं मिलता। अतः विस्तारार्थक 'तनु' धातु के आधार पर तन्त्र-शब्द की व्युत्पत्ति वर्तमान तन्त्र शास्त्र के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं करती। **मेरे विचार से जिस शास्त्र के अन्तर्गत साधना विशेष के द्वारा भोग एवं मोक्ष प्राप्ति की चर्चा मिलती है उसे 'तन्त्र' कहते हैं।** और संक्षेप में, साधना विशेष को तन्त्र कहा जा सकता है। इस प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत साधना पक्ष एवं दर्शन पक्ष या अध्यात्म पक्ष दोनों का योग है। यह बात दूसरी है कि तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत प्राधान्य साधना पक्ष का ही है। यही विशेषता तन्त्र और अद्वैतवेदान्तादि दर्शनपद्धतियों से उसे पृथक् करती है। वैसे, कतिपय तन्त्रग्रन्थ और अद्वैतवेदान्त दोनों का ही मूल एवं चरमलक्ष्य एक ही है। दोनों का मूल वैदिक दर्शन[४] एवं चरम लक्ष्यमोक्ष है। इस

---

१. तनोतिविपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुतेयस्माद् तन्त्रमित्यभिधीयते।। क्रमिक आगम।

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्यापरमर्षिप्रणीता–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१।

३. न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
यतयो योगतन्त्रेषु यानि स्तुवन्ति द्विजातयः
–महाभारत–बलदेवउपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५११ से उद्धृत

४. *Dr. P.C. Chakrawarti's* article : Philosophy of the Tantras (Jha commemoration volume p. 94-95).

प्रकार तन्त्र और अद्वैत वेदान्त दोनों ही शास्त्रों के अन्तर्गत वैदिक एवं औपनिषद सिद्धान्तों का ही विकास किया गया है, परन्तु तन्त्र और अद्वैत वेदान्त का यह भेद द्रष्टव्य है कि जहां तन्त्र में योग और भोग की योजना है वहां वेदान्तिक योग के अन्तर्गत जीव की जगत् से निवृत्ति के विचार का बलपूर्वक समर्थन किया गया है।[१] यहां यह कहना और समीचीन होगा कि जहां तन्त्र की वैदिकता के अनेक प्रमाण मिलते हैं,[२] वहां कुछ तन्त्रसम्प्रदाय ऐसे भी हैं जो वेदबाह्य हैं। इन वेदबाह्य तन्त्रपद्धतियों में प्रायः साधक के लिए मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन के प्रयोग का समर्थन करने वाले कुलाचार[३] का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है परन्तु तन्त्र ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि मद्यादि की स्थिति बाह्य न होकर सूक्ष्म है।[४] यहां हमारे विवेचन का विषय तन्त्रशास्त्र की वैदिकता अथवा अवैदिकता का निर्णय न होकर तन्त्र दर्शन के शाक्तसम्प्रदाय के अनुगत शक्त्यद्वैतवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद की तुलना करना है। परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि तन्त्रगत कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड का मूलाधार बहुत कुछ वैदिक दर्शन ही है।[५]

प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् समालोचक तन्त्र से केवल शक्तिसम्प्रदाय का ही अर्थ ग्रहण करते हैं तो नितान्त अनुचित है। तन्त्र शास्त्र के, ब्रह्माण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र के रूप में तीन प्रधान भेद हैं। ब्राह्मण तन्त्रों के भी पांचरात्र, शैवागम और शाक्तागम रूप से तीन भेद हैं।

शक्त्यद्वैतवाद के मूलतत्त्व शक्ति की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के विषय में यह कहना उचित

---

१. Tantra is a union of Yoga and Bhoga .....The Vedantic yoga insists upon the withdrawal and aloofness of the conscious soul or Purusa from the world of nature.
(Shuddhanand Bharati's preface, Tantra Raj Tantra, Ganesh & Co. Madras 1954):

२. देखिए, श्री कण्ठाचार्य-शैव भाष्य २।२।३८, मनुस्मृति २।१ पर कुलूकभट्ट की टीका, कुलार्णव तन्त्र २।१४०।

३. तन्त्र शास्त्र के अन्तर्गत शाक्त मत में पशु भाव, वीरभाव और दिव्यभाग–यह तीन भाव हैं और इन तीन भावों के वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार–यह सात आचार हैं।

४. कुलार्णव और गन्धर्व तन्त्र के अनुसार मद्य का अर्थ बाह्य मदिरा न होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्र कमल से क्षारित सुधा है, जिसका पान साधक खेचरी मुद्रा के द्वारा करता हैं। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार जो पुरुष पुण्य और पाप रूपी पशुओं को ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा मारकर अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है, वह मांसभोजी है। आगम सार के अनुसार जो साधक प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को बन्द करके कुम्भक क द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर ले जाता है, वही यथार्थ रूप से मत्स्य साधना करने वाला है। शरीरस्थ इडा तथा पिंगला (गंगा यमुना) में प्रवाहित होने वाले श्वास-और-प्रश्वास ही दो मत्स्य है। विजय तन्त्र के अनुसार असत् संग के त्याग का नाम मुद्रा है। मैथुन सहस्रार में स्थित शिव तथा कुण्डलिनी या सुषुम्ना तथा प्राण के मिलन का नाम है।

५. Jha Commermoration Volume, p.96.

ही होगा कि शक्ति का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी ऋग्वेद संहिता। ऋग्वेद संहिता वागाम्भृणी सूक्त के अन्तर्गत वाग्देवी का जो उल्लेख किया गया है,[१] उसे शाक्त तंत्रों के महान् प्रसाद की भित्ति कहा जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों में शक्ति को सर्वोच्च तथा संसार की पालनकर्त्री कहा गया है।[२] पुराणों में शक्ति का वर्णन चण्डी एवं अन्य विविध देवियों के रूप में मिलता है। सप्तशती के अन्तर्गत समस्त विद्याओं और स्त्रियों को भी देवी के ही भेद के रूप में चित्रित किया गया है।[३]

शक्ति का यह मात्र्युपासना का रूप भी अत्यन्त प्राचीन है। आरम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी।[४] इसके अतिरिक्त शवर एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे।[५] कतिपय विद्वानों का मत तो यह है कि शक्ति पूजा का विकास बौद्ध धर्म के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ था।[६] बौद्ध धर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के द्वारा आदि माता एवं बुद्ध माता के रूप में भी स्त्री देवता की पूजा की जाती थी। आदिमाता समस्त तथागतों की माता समझी जाती थी।[७] इसके अतिरिक्त नेपाली बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हमें शाक्त तन्त्र की तरह देवी के कुमारी एवं माता आदि अनेक रूप मिलते हैं।[८]

उपर्युक्त संकेतात्मक विवेचन से तन्त्र के शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता स्पष्ट है। शक्ति तत्त्व पर आधारित यह शक्त्यद्वैतवाद की रूपरेखा हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि के रूप में दे चुके हैं। अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति न कर अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के प्रमुख-प्रमुख सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा करेंगे।

तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैतवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्तों में परस्पर साम्य और वैषम्य दोनों ही मिलते हैं। यहां अद्वैतवादी के ब्रह्म आदि एवं शक्त्यद्वैतवादी के शक्ति आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

अद्वैतवादी का ब्रह्म ओर शक्त्यद्वैतवादी का शक्तितत्त्व

अद्वैतवादी दर्शन के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादी के यह बह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। शाक्त दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म का स्थान शक्ति ने ग्रहण किया है। शाक्त दर्शन में शक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूपिणी है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ब्रह्म सत्,

---

१. ऋग्वेद १० । १२५ ।
२. छा० उ० ३।१२ तथा देखिए बृ० उ० ५।१४।
३. दुर्गा सप्तशती ११।५।
४. *D.C. Sen* : History of Bengali Language & Literature, p. 261.
५. E. R. E, V.p. 118, Article—Durga.
६. *Mahamahopadhyaya Har Prasad Shastri* : Modern Buddhism, p. 27.
७. *Nical Macnical* : Indian Theism p. 183. (Oxford University Press)
८. Modern Buddhism, p. 127.

चित् एवं आनन्द रूप है, उसी प्रकार शक्ति भी सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है।[1] यदि कहा जाए कि शक्ति तो शक्तिमान् शिव में रहती है, अतः शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी किस प्रकार हो सकती है ? तो यह उचित नहीं है। क्योंकि शक्ति एवं शक्तिमान में अभेद है।[2] अतः शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी है।[3] ब्रह्म एवं शक्ति दोनों ही जगत् के निमित्त कारण एवं उपादान कारण हैं। परन्तु दोनों की कारणता में यह विशेष अन्तर है कि ब्रह्म स्वयं निमित्त कारण एवं अनिवर्चनीय माया शक्ति के द्वारा उपादान कारण है और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति स्वयं ही उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है। हां, यह शक्ति भी चित् शक्ति के रूप में निमित्त कारण एवं माया शक्ति के रूप में उपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म की माया शक्ति एवं शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति में अन्तर होने के कारण दोनों पद्धतियों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त भेद की स्थापना हो गई है। अतः हम यहां पहले अद्वैतवादी की माया शक्ति और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति की तुलनात्मक समीक्षा करेंगे और फिर जगत् की।

अद्वैतवादी की माया और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति

अद्वैतवादी की माया अचित्, एवं सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अनुरूप शक्ति सत् चित् एवं आनन्दरूपिणी माया ही अज्ञानी को जडवत् प्रतीत होती है।[4] वस्तुतः वह अद्वैतवादी की माया की तरह जड एवं मिथ्या नहीं है। शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार शक्ति विद्या एवं अविद्यारूपिणी है। अपनी अविद्याशक्ति के द्वारा ही शक्ति अपने विद्या रूप या चित् रूप को आच्छन्न कर लेती है। इस स्थल पर अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद का यह अन्तर उल्लेखनीय है कि अद्वैतवाद के मायावाद सिद्धान्त के अनुरूप मिथ्या एवं जड जगत् आरोप के कारण सत्य प्रतीत होता है, जबकि शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त चित् रूप जगत् द्रष्टा को उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों में अन्तर होने के कारण दोनों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद मिलता है। यहां दोनों सिद्धान्तों के अनुरूप जगत् सम्बन्धित विवेचन किया जाएगा।

अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार जगत् का स्वरूप

अद्वैतवाद के पोषक शांकर वेदान्त के अन्तर्गत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक रूप से तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार की गई हैं। प्रातिभासिक सत्ता का उदाहरण शुक्ति में भासित रजत, व्यावहारिक सत्ता का उदाहरण मायिक जगत् और पारमार्थिक सत्ता का उदाहरण परब्रह्म है। इस प्रकार

---

१. कुलचूडामणि तन्त्र १।१६।

२. सौन्दर्य लहरी, श्लोक, १, शारदीतिलक तन्त्र, पृ० ३।
Mahamaya, Introduction, p.5, The World As Poser p. 76.,

३. It is Brahman then, for power (Shakti) & the possessor of power (Shaktiman) are one & the same. Wood Roffe, Shakti & Shakta p. 370.

४. To the Shakta Maya is the mother power-MAHAMAYA-who in herself (Svarupa) is conciousness and who by her maya appears to be unconcious. (MAHAMAYA, p.100, F.N.)

शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप जगत् व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत होने के कारण परमार्थ दृष्टि से असत् है। अतः परमार्थ दृष्टि से असत् होने पर भी जगत् शशश्रृंग अथवा बन्ध्या पुत्र के समान असत् नहीं है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से जहां जगत् सत्य है, वहां पारमार्थिक विचार के अन्तर्गत वह मिथ्या है। जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है, परमार्थ दृष्टि से तो ब्रह्म मात्र ही सत्य है। उक्त विचार के आधार पर ही अद्वैतवाद सिद्धान्त की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। इसके विपरीत शक्त्द्वैतवाद के अन्तर्गत उक्त अद्वैतवाद विचारधारा की सत्तात्रय कल्पना स्वीकार नहीं की गई है। शक्त्द्वैतवाद के समालोचकों ने तो व्यावहारिक सत्ता की कल्पना को अद्वैतवाद का बाधक माना है।[1] शक्त्यद्वैतवाद के समालोचकों का तर्क है कि अनिर्वचनीय सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) के रूप में जगत् की सत्ता को स्वीकार करना द्वैतवाद का ही समर्थन करना है, परन्तु यह समीचीन नहीं है, क्योंकि क्षणभंगुर जगत् परब्रह्मतत्त्व के समान सत्य नहीं है। परन्तु उसकी सत्ता को अस्वीकार करना असम्भव है। अतः अनिर्वचनीय माया से जन्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करने से अद्वैतवाद के प्रतिपादन में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह और विचारणीय है कि जब जीव को ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तो उसे जगत् और ब्रह्म का भेद नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्म वेत्ता स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

शक्त्यद्वैतवादी का विचार अद्वैतवादी के उपर्युक्त विचारानुसार जगत् के मिथ्यातत्व के विपरीत है। उसे अद्वैतवादी की न व्यावहारिक सत्ता स्वीकार है और न अनिर्वचनीयता। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत 'शक्ति' अद्वैतवादी की माया की तरह मिथ्या नहीं है। शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति पूर्णतः सत्य है। अतः शक्त्यद्वैतवादी का कथन है कि सत्य शक्ति से उत्पन्न जगत् मिथ्या न होकर पूर्णतया सत्य है।[2] इस प्रकार शक्त्यद्वैतवादी परिणामवाद का समर्थक है और अद्वैतवादी आरोपवाद एवं विवर्तवाद का। इस प्रकार अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्तों के जगत् सम्बन्धी विचार में पर्याप्त भेद मिलता है।

अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत मोक्ष का तुलनात्मक विवेचन

अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवादी दोनों का चरम साध्य मुक्ति है। परन्तु शाक्त मत में शक्ति की उपासना भक्ति एवं मुक्ति दोनों की प्रदात्री बतलायी गयी है। इस प्रकार शाक्त मत में शक्ति के विना मुक्ति असम्भव है।[3] शाक्त मत में जगत् के विषयों का धर्मानुसार किया गया भोग मोक्ष का साधक ही है।[4] अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद की मोक्षसम्बन्धिनी विचारधारा का यह मौलिक भेद द्रष्टव्य है कि

---

१. Mahamaya, p. 124.

२. If the first of cause is real, so is the second or world. Shakti and Shakta, p. 370.

३. शक्तिं विना न वै मुक्तिः शक्तिर्मोक्षप्रदामता। –शक्तिसंगमतन्त्र ४।८०। Gaekwad Oriental Series, Vol. CIV.

४. ....The Kaula teaches liberation through enjoyment, that is the world. The path of enjoyment is a natural one. There is nothing bad in enjoyment itself, if it is according to Dharma. —Shakti and Shakta, p. 377.

अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार बन्धन और मोक्ष का विचार पारमार्थिक न होकर व्यावहारिक एवं मायिक है।[१] परमार्थतः आत्मा शुद्ध एवं मुक्त है। समस्त बन्धन अज्ञान जन्य हैं। बन्धन और मोक्ष की चर्चा ठीक वैसी ही है जैसे कि किसी वन्ध्या स्त्री का पुत्र खोजने पर उसका दुःख शान्त के लिए अनेक प्रकार की सान्त्वाएं दी जाएं।[२] परन्तु अद्वैतवादी की उपर्युक्त विचार दृष्टि के विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न व्यवहारिक अथवा काल्पनिक न होकर पूर्णतया तात्त्विक है। शक्त्यद्वैतवादी के मतानुसार बन्धन, मोक्ष और जगत्, सत्यरूप हैं। बन्धन और मोक्ष की दात्री, शक्ति है। साधक साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है।

दोनों पद्धतियों के सिद्धान्तों के वन्धनसम्वन्धी विचारों का यह सूक्ष्म अन्तर देखने योग्य है कि अद्वैतवाद के अनुसार जीव अविद्या के कारण मिथ्या जगत् को सत्य समझ कर जगत् के ममत्वादि वन्धन में फंस जाता है और शक्त्यद्वैतवादी के मतानुरूप जीव जगत् के वास्तविक रूप–चित् रूप का साक्षात्कार न करके उसे अचित् (जड) समझकर जगत् के जड बन्धनों में फंसता है। अन्ततोगत्वा अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी दोनों ही के विचार 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के रूप में पर्यवसित होते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार साधक स्वयं शक्ति रूप हो जाता है और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार साधक स्वयं शक्ति रूप हो जाता है।[३]

मुक्ति की उपलब्धि में ज्ञान की प्रक्रिया अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी दोनों की दृष्टि में समान ही है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है, उसकी जीव संज्ञा अविद्याजन्य है। शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत भी जीव को शिव रूप वतलाया गया है।[४] अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत जीव और परमात्मा के ऐक्य ज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति वतलायी गई है। इसी प्रकार शक्त्यद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत भी जीव और आत्मा के ऐक्य रूप योग का समर्थन मिलता है।[५] इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए शुभाशुभ कर्म का त्याग एवं ज्ञान अनिवार्य साधन के रूप में वतलाए गए हैं, उसी प्रकार शाक्त दर्शन में भी उनका महत्व स्वीकार किया गया है।[६] अद्वैतवादी शंकराचार्य ने जिस प्रकार निर्मल अन्तःकरण वालों को मोक्ष का पात्र वतलाया है, उसी प्रकार शाक्त दर्शन में भी जिनका अज्ञान क्षीण हो गया है, ऐसे निर्मल अन्तःकरण वाले ज्ञानियों को ही मुक्ति का भाजन कहा है।[७]

---

१. वन्धमोक्षोपदेशादि व्यवहारोऽपिमायया।–मानसोल्लास २।५६, अडयार, मद्रास।

२. देखिए–*J.N.Mazumdar's* paper, The Philosophical, religious and social significance of the Tantra Shastra, July, 1915.

३. साधकोब्रह्मरूपीस्यात् ब्रह्मज्ञानप्रसादतः, रूद्रयामल–Jha Commemoration Volume, p.96 से उद्धृत; तथा देखिए–वलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५१३।

४. जीवः शिवः शिवोजीवः स जीवः केवलः शिवः।–कुलार्णव तन्त्र ६।३६।

५. ऐक्यं जीवात्मनोराहुः योगं योगविशारदाः।–कुलार्णव तन्त्र ६।३०।

६. यावन्न क्षीयते कर्म शुभंवाऽशुभमेववा।
तावन्नजायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि।।–महानिर्वाण तन्त्र १४।१०६।
तथा देखिए–महानिर्वाण तन्त्र १४।१११।

७. देखिए–गीता भाष्य १२।१७, स्वच्छेषुप्रतिबिम्ववत् (आत्मबोध), १७।
ज्ञानं तत्वविचारेण निष्कामेणापिकर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम्।।–महानिर्वाण तन्त्र १४।११२।

इस प्रकार शक्त्यद्वैतवादी के ज्ञानपक्ष पर शांकर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव इससे और सिद्ध होता है कि शाक्त मत में विदेह मुक्ति को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य के मत का संकेत भी दिया गया है।[1]

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार हमें वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद के सिद्धान्तों में भेद एवं अभेद दोनों मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शाक्त तन्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त को शक्त्यद्वैतवाद के रूप में ग्रहण करने पर कुछ ऐसी समस्याएं रह जाती हैं जो अनुत्तरित हैं। यहां उनका निरूपण उपयुक्त होगा।

शक्त्यद्वैतवाद की कुछ समस्याएं

शक्त्यद्वैतवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन शान्त तन्त्रों का प्रमुख विषय नहीं है। यह तो शाक्त तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि से किए गए समालोचन का फल है कि उनमें शक्त्यद्वैतवाद नाम दार्शनिक सिद्धान्त का विकास मिलता है। परन्तु शाक्त तन्त्रों में शक्त्यद्वैतवाद नाम के दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करने में कुछ ऐसी समस्याएं रह जाती हैं, जिनका उत्तर शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत अप्राप्त है। शाक्त तन्त्रों का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना न होने के कारण, शक्त्यद्वैतवाद की इन समस्याओं को तन्त्र शास्त्र का दोष नहीं कहा जा सकता। शक्त्यद्वैतवाद की यह समस्याएं अधोलिखित हैं–

(१) शक्त्यद्वैतवादी ने एक ही शक्ति के चित् शक्ति और जड शक्ति[2] या विद्यामूर्ति और अविद्या के रूप में जो दो भेद बतलाए हैं, वे अद्वैतवाद की स्थापना में बाधक हैं।

(२) शक्ति के विद्यामूर्ति और अविद्यामूर्ति ये दो भेद मानने पर यह शंका स्वाभाविक है कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है अथवा परिवर्तनशील है। यदि इसे परिवर्तनशील माना जाएगा तो यह नितान्त असमीचीन है, क्योंकि शक्ति, जो परमात्मस्वरूप है, उसे परिवर्तनशील कैसे माना जा सकता है? इसके विपरीत यदि कहा जाए कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है तो यह भी असंगत है, क्योंकि अविद्या मूर्ति को परमार्थ सत्य के रूप में स्वीकार कर लेने पर तो मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार शाक्त मत की अविद्या मूर्ति की कल्पना पूर्णतया शक्त्यद्वैतवाद की विरोधिनी है।

(३) शक्त्यद्वैतवादी का कथन है कि शुद्ध चित् शक्ति अपने चित् रूप को आच्छन्न कर लेते है और द्रष्टा को अचित् रूप में दिखाई पड़ती है। परन्तु शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत शक्ति के अपने चित् रूप को आच्छन्न करने का कारण स्पष्ट नहीं है।

शक्त्यद्वैतवादी समालोचकों ने शाक्तमतसम्मत प्रकृति एवं विकृति के एकत्व को, द्वैत तथा अद्वैत मत के पक्षपातियों के महान् द्वन्द्व को निवारण करने वाली प्रमुख देन के रूप में माना है।[3] इन शाक्त मतानुयायी समालोचकों का विचार है कि जगत् प्रकृति शक्ति का विकार होने के कारण सत्य है।

---

१. देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शंकरभाषितम्।
—Jha Commemoration Volume, p.96 से उद्धृत।

२. चिच्छक्तिश्चेतनारूपा जडशक्तिर्जडात्मिका।–ललिता सहस्रनाम १४१।

३. *Shiv Chandra Bhattacharya* : Principles of Tantra, Ganesh & Co. Madras, p. 200.

अतः शाक्त मत के अनुसार द्वैत भी है और अद्वैत भी। द्वैत इसलिए है कि जगत् के समस्त दृश्यमान पदार्थ सत्य हैं और अद्वैत इसलिए है कि चित् शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र एवं सर्वदा है।[१] परन्तु यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि शाक्तसम्प्रदाय उक्त सिद्धान्त की स्थापना में सफल नहीं हो सका है। मूलतया ब्रह्मरूपिणी चित् शक्ति से विकार की उत्पत्ति की कल्पना ही निरर्थक है। जहां तक साधना पक्ष की बात है, वहां न द्वैत सहायक है और न अद्वैत ही। कुलार्णव तन्त्र में शिव ने स्वयं कहा है कि कुछ द्वैत और कुछ अद्वैत प्रिय हैं, परन्तु ये दोनों ही मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते, जो द्वैताद्वैतविवर्जित है।[२]

तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थों में कलियुग में तान्त्रिक उपासना का विशेष महत्त्व बताया गया है। कहीं-कहीं तो यह भी कह दिया है कि कलियुग में बिना आगममार्ग के गति ही नहीं है।[३] कलियुग अन्य युगों की अपेक्षा पाप एवं अनाचार का युग है। ऐसे युग में ज्ञान के द्वारा मुक्ति की उपलब्धि अत्यन्त दुःसाध्य है। इसीलिए तन्त्र ग्रन्थों में, तान्त्रिक उपासना का कलियुग में विशेष महत्त्व बतलाया गया है। तन्त्र शास्त्र की शाक्त आराधना का विषय पारलौकिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है। इस शास्त्र की इससे अधिक लौकिकता और क्या हो सकती है कि इसमें मैथुन भी आराधना का अंग है।[४] शाक्त मत के अन्तर्गत स्त्रीपूजा के समर्थकों का विचार है कि जिस प्रकार रंगरेज रंग के द्वारा किसी वस्त्र के वर्णचिह्नों को दूर कर देता है, उसी प्रकार सम्भोगादि 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार साधक की वृत्ति को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं।[५] अतः यह निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि तन्त्र मत की स्त्री-उपासना या शक्ति-उपासना के कारण शाक्त साधना ज्ञानपुष्ट अद्वैत साधना की अपेक्षा अधिक सरल है। किसी-किसी समालोचक ने तो स्त्री-उपासना से सम्बन्धित कोमलता को ही शाक्त आराधना के प्रचार-प्रसार का प्रधान कारण माना है।[६]

वेदान्तिक अद्वैतवाद और काश्मीरी शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद

क्रमणिका—शैव तन्त्र की साधना का प्रमुख तत्त्व शिव तत्त्व है। वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्य में शिव तत्त्व की साधना के अनेक रूप मिलते हैं। यद्यपि एस० के० बेलवल्कर एवं आ० डी० रानाडे प्रभृति भारतीय दर्शन के समालोचक विद्वानों ने शैव तन्त्र का मूल उद्गम महाभारत से ही माना है,[७] परन्तु इस लेखक के दृष्टिकोण से शिव तत्त्व का मूल स्रोत हमें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद

---

१. चिद्गगनचन्द्रिका, श्लोक ५६।

२. कुलार्णव तन्त्र, १।११०।

३. सत्यंसत्यंपुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते।
विनाह्यागममार्गेण कलौ नास्तिगतिः प्रिये—महानिर्वाण तन्त्र २।७।

४. कर्पूररादिस्वतराज १०। तथा देखिए—कर्पूरादिस्तवराज १० की व्याख्या—गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास।

५. Poussin's Opinions, pp. 403, 405, 406.

६. *D.C.Sen* : History of Bengali Language & Literature, p. 251.

७. *S.S Belvalkar and Ranade* : History of Indian Philosophy, Vol. VII, p. 5. Poona 1933.

में ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में रुद्र के स्वरूप का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[1] ऋग्वेद के अन्तर्गत ही रुद्र शिव को सर्वोच्च शक्ति का रूप दिया जा चुका था।[2] यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय तो शिवाराधना के लिए प्रसिद्ध ही है। इस अध्याय के अन्तर्गत एक रुद्र के स्थान पर अनेक रुद्रों की चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के लिए पशुपति, कपर्दी, शर्व भव, शम्भु और शिव आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अथर्ववेद के अन्तर्गत रूद्र के स्वरूप का वर्णन और उच्चतर स्थिति के रूप में किया गया है। अथर्ववेद में भी रूद्र के अनेक नामों की चर्चा है, परन्तु वहां रूद्र के पृथक्-पृथक् नामों के अनुसार पृथक्-पृथक् देवताओं की कल्पना भी की गई है। उदाहरण के लिए, रुद्र के नामों से में भव और शर्व को अथर्ववेद में पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में चित्रित किया गया है और इन्हे द्विपदों एवं चतुष्पदों का शासक कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण एवं कौषीतकि ब्राह्मण में रुद्र को उषम् का पुत्र बतलाया गया है।[4] उक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति द्वारा दिए गए रुद्र के अष्ट नामधेयों–रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशान नामों की चर्चा भी मिलती है। इनमें रुद्र, शिव, उग्र और अशनि संहार शक्ति के सूचक हैं और भव, पशुपति महादेव और ईशान आरम्भक शक्ति के। गृह्य सूत्रों में रुद्र का उल्लेख भयानक देव के रूप में मिलता है।[5] उपनिषदों में भी रुद्र शिव के स्वरूप का वर्णन विविध रूप से मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत महेश्वर को मायी कहा है।[6] केनोपनिषद् में संकेत रूप से शिव की पत्नी के रूप में उमा की चर्चा मिलती है (केनोपनिषद् ३।१२)। उत्तरकालिक उपनिषद् अथर्वशीर्ष में रुद्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। अथर्वशीर्षोपनिषद् में रुद्र का ब्रह्म रूप में भी वर्णन मिलता है।[7] वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में शिव-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के पाशुपतास्त्र मांगने और उसके प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन भी मिलता है। शिव पुराण का तो प्रधान विषय ही शिव के स्वरूप, महात्म्य एवं साधना का निरूपण है।

ऊपर किए गए विवेचन से हमें दर्शन की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में जो रुद्र शिव एवं शिव के अनेक रूपों से सम्बन्धित वर्णन मिलते है, उनमें शैव दर्शन के बीजतत्व–शिव का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है। अनेक शैवागमों की रचना भी शैव सिद्धान्त के उत्तरोत्तर विकास का ही फल है।

शैव सम्प्रदाय–वामन पुराण के अन्तर्गत शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक के भेद से

---

१. ऋग्वेद ७।४६।३, १।११११।१, ७।४६।२, १।४३।४, २।३३।४, १।११४।८।
२. Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. IV, p. 146.
३. अथर्ववेद, ४।१८।१।
४. शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।७, कौषीतकि ब्राह्मण ६।१।६।
५. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. VII, p. 151.
६. मायिनं तु महेश्वरम् ।–श्वे० उ० ४।१०।
७. अथर्वशीर्षोपनिषद् –३३।

चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।[1] शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में माहेश्वरों के मत का उल्लेख किया हैं।[2] माहेश्वर शब्द को स्पष्ट करते हुए भामतीकार एवं रत्नप्रभाकर ने वामन पुराण के कालदमन के स्थान पर कारुणिक सिद्धान्ती नाम सम्प्रदाय की चर्चा की है। अन्य सम्प्रदाय वामन पुराण के समान ही माने हैं।[3] कारुणि सिद्धान्ती के ही स्थान पर शांकर भाष्य के टीकाकारों ने कारुक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय का भी संकेत किया है।[4] रामानुज तथा केशव काश्मीमरी ने कारुक सिद्धान्ती के स्थान पर कालामुख नामक सिद्धांत का उल्लेख किया है।[5] यामुनाचार्य ने भी कामलामुख नामक सम्प्रदाय का निर्देश किया है।[6] मेरे विचार से कालामुख कारुक का ही संस्कृत रूपान्तर है। इस प्रकार पाशुपत, शैव, कालामुख, और कापालिक, शैवों के ये चार विशेष सम्प्रदाय मिलते हैं। वीर शैव मत का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ था और काश्मीर शैव मत का प्रचार-प्रसार उत्तर भारत में किया गया था।

उपर्युक्त षट् सम्प्रदायों में से पाशुपत एवं शैव सम्प्रदाय द्वैतवाद के समर्थक हैं। उक्त दोनों सम्प्रदायों के अन्तर्गत जीव (पशु) एवं शिव दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। इन सम्प्रदायों में प्रधान को जगत् का उपादान कारण सिद्ध किया गया है। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि उत्तर कालिक शैव सिद्धान्त द्वैतवादी न होकर विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थक प्रतीत होता है। वायवीयसंहित आदि उत्तरकालिक शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार शिव उस शक्ति से सम्पन्न कहा गया है, जिसमें जीव जगत् के मूल तत्त्व वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त कापालिक एवं कालामुख सम्प्रदाय भी द्वैतानुसर्ता ही हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक शंकराचार्य और कापालिक का विरोध तो प्रसिद्ध ही है। जहां तक कालामुख सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त की समस्या है, इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को 'स्थल' कहा गया है। यह 'स्थल' भी अद्वैतवादियों के ब्रह्म की तरह सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में यह विशेष अन्तर है कि वीरशैवसिद्धान्त के अनुरूप 'स्थल' अपनी सूक्ष्म शक्ति के द्वारा लिंगस्थल एवं अंगस्थल रूपों में विभक्त हो जाता है। लिंगस्थल स्वयं शिवरूप तथा आराध्य है और अंग स्थल जीव का स्वरूप है। वीरशैव सिद्धान्त के उक्त कथन के विपरीत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव ब्रह्म का अंश या भाग न होकर अविद्योपाधिक है। इसक साथ ही साथ अद्वैत मत के अनुयायी एवं वीर शैव मतानुयायी के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुरूप जहां परमात्मा की शक्ति माया मिथ्या है, वहां वीर शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत 'स्थल' रूप भी शक्ति में जीव

---

१. वामन पुराण ६।८६।६१।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७।
३. चत्वारोमाहेश्वराः—शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति। रत्नप्रभा ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७ तथा देखिए—ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७। पर भामती।
४. Collected Workds of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. Iv, p. 172.
५. वही, p. 172.
६. आगमप्रामाण्य, पृष्ठ ४८-४६।

एवं जगत् के मूल तत्व वर्तमान हैं। अतः वार शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के समीप न होकर–रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैतवाद सिद्धान्त के समीप है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवाद एवं वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त में भी यह सूक्ष्म भेद विचारणीय है कि विशिष्टाद्वैतवाद मत में ब्रह्म के चिदचिद् विशिष्ट होने के कारण उसमें जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व स्थित हैं, जब कि वीरशैव सिद्धान्त के अन्तर्गत यह शिव की शक्ति ही है जिसके द्वारा यह सृष्टि करता है।[1] उपर्युक्त पाशुपतादि पांच सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त काश्मीरी शैदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवाद का वहुत कुछ समर्थन मिलता है। अतः यहां प्रथम काशमीर शैव दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा और फिर वेदान्तिक अद्वैत के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

काश्मीर-शैवदर्शन का सैद्धान्तिक रूप

उत्तरकालिक अद्वैतिक शैवदर्शन का प्रचार क्षेत्र काश्मीर होने के कारण ही इस दर्शन का नाम काश्मीर शैवदर्शन पड़ गया है। सूक्ष्म समीक्षा करने पर काश्मीरी शैव दर्शन के भी दो शास्त्रीय रूप मिलते हैं–एक स्पन्द दर्शन और दूसरा प्रत्यभिज्ञा दर्शन। अतः यहां दोनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन करना उपयुक्त होगा।

स्पन्द दर्शन–स्पन्द दर्शन के प्रवर्तक स्पन्दकारिक के लेखक वसुगुप्त हैं। वसुगुप्त के ही शिष्य कल्लट स्पन्द दर्शन के प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त क्षेमराज आदि स्पन्ददर्शन के कतिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं। स्पन्ददर्शन के अनुसा शिव सर्वोच्च तत्त्व है। यह शिव तत्व कर्ता एवं कर्म तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप है।[2] यद्यपि यह शिव तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में गतिशील रहता है परन्तु इसका ज्ञातृत्व कभी नष्ट नहीं होता। स्पन्ददर्शन का परमात्मा शिव सुख-दुःख, ज्ञान, ज्ञातृत्त्व एवं जडत्वादि से रहित होकर अद्वैततत्त्व रूप है।[3]

स्पन्ददर्शन के शिव तत्त्व को संसार की सृष्टि के लिए न 'प्रधान' जैसे उपादान कारण की आवश्यकता है और न अद्वैत वेदान्तियों की मिथ्या माया की ही आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त स्पन्द दर्शन के अनुयायियों का शिव तत्त्व स्वयं उपादान कारण भी नहीं है। वह स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमात्मा संकल्प मात्र से अपने अद्वितीय स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति और संहार का कारण है।[4] यदि कहा जाए कि विना उपादान कारण आदि की सहायता के परमेश्वर शिव किस प्रकार जगत् की सृष्टि-रचना में समर्थ होता है, तो इस सम्बन्ध में यह कहना संगत होगा कि जिस प्रकार मृत्तिका एवं वीजादि कारण के विना ही योगियों की इच्छा मात्र से घट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर भी बिना उपादानादि कारण के जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है।[5] स्पन्द शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य वसुगुपत ने भी परमेश्वर को उपादानादि सामग्री एवं भित्ति

---

१. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV, p. 195.
२. स्पन्दकारिका, पृष्ठ २६।
३. वही०, पृष्ठ ५।
४. अनेनस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वम्।–स्पन्दकारिका–१ पर कल्लट की वृत्ति।
५. माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ १७४।

के बिना जगत् रूप चित्र का निर्माता कहा है'।

जहां तक अनेक जीवों का प्रश्न है, यह परमेश्वर शिव के ही रूप हैं। परमेश्वर शिव अपनी माया शक्ति के द्वारा अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है और अपनी व्यतिरिक्त पराशक्ति को ज्ञान एवं भाव से अवभासित करता हुआ जाग्रत्, स्वप्न दशा के व्यवहार का संचालन करता है।[२]

स्पन्ददर्शन के आधार पर भगवान् शिव एवं जगत् की अद्वैतता का निरूपण करते हुए स्पन्दकारिका के टीकाकार क्षेमराज का कथन है कि भगवान् शिव अपने स्वातन्त्र्य भाव से अपृथक् जगत् के रूप को स्वभित्ति पर उसी प्रकार पृथक् रूप से प्रकाशित करता है, जिस प्रकार कि दर्पण नगर वास्तविक नगर से अपृथक् होते हुए भी पृथक् रूप से प्रकाशित होता है।[३] जहां तक परमात्मा शिव का जगत् के व्यवहारों से लिप्त होने का प्रश्न है, वह जगत् के व्यवहारों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार कि दर्पण प्रतिविम्बित होने वाले पदार्थों से अस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार स्पन्ददर्शन के आचार्यों ने शिव की परमार्थ एवं अद्वैत तत्त्व के रूप में स्थापना करते हुए अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। स्पन्ददर्शन के अनुसार जीव और शिव में अभेद है। परन्तु जीव 'मल' के कारण शिव रूपता को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। इस 'मल' के भी तीन भेद हैं–आणव, मायीय और कार्मण। आणव मल के कारण जीव अज्ञान के कारण अपने व्यापक स्वरूप को भुलाकर अपने में अपूर्णता का अनुभव करता है। इसके साथ ही साथ आणव मल के कारण जीव देहादि को आत्मरूप मान लेता है। दूसरे प्रकार का मल 'मायीय' मल है। मायीय मल के प्रभाव के कारण जीव देह रूप में संसार में भ्रमण करता है। अन्तःकरणादि की प्रेरणा से जव इन्द्रियां क्रियाशील होती हैं तो कार्मण मल की उत्पत्ति होती है। कार्मण मल की उत्पत्ति का कारण वह कर्म हो सकता है, जिसके विषय में कर्त्ता की सुख एवं दुःख के दाता सत् और असत् कर्म की धारणा बन गई है।[४]

उपर्युक्त 'मल' का मूल 'नाद' है। नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। उसी से शब्द की उत्पत्ति होती है। नाद के मल का मूल होने का कारण यह है कि शब्द के विना कर्म के आधार भूत भाव कारक एवं प्रेरक नहीं हो सकते। जब गम्भीर चिन्तन एवं सुदृढ़ योग के द्वारा साधक के हृदय में

---

१. अतएवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः–
निरूपादानसम्भारमभित्तावेवतन्वते।
जगच्चित्रम् नमस्तस्मै कलाश्लाघ्यायशूलिने।

–माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह पृष्ठ १७४-१७।

२. परमेश्वर एव स्वमायावशान्नानाक्षेत्रज्ञ रूपतयावभासमानः स्वामेव व्यतिरिक्तां परां शक्तिं ज्ञानज्ञेयभावेनावभासयन् जागरस्वप्नदशा व्यवहारमुद्भावयति। –स्पन्दकारिका १८ पर राम की टीका; तथा देखिए–*N. B. Utagikar* : Report on Search for Sanskrit for 1883-84. (Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 2, page, 204.).

३. अपितुस एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामपि अतिरिक्तामिव जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः। –स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका, स्पन्दनिर्णय।

४. देखिए–क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिणी, सूत्र, १,२ और ३ (Published by the Kashmir Government).

परमेश्वर का रूप प्रकट होता है और तत्फलस्वरूप समस्त सीमित भावों का विलय हो जाता है तो समस्त मलों की निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति में जीव परमात्मा रूप को प्राप्त हो जाता है। स्पन्द दर्शन में परमात्मा के साक्षात्कार को 'भैरव' कहते हैं।[1] स्पन्ददर्शन की यही संक्षिप्त रूप रेखा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन–प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी स्पन्द दर्शन के समान अद्वैत मत का ही समर्थक है। माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा के निम्नलिखित तीन अर्थ बतलाए हैं–

(१) बाह्याभ्यन्तर ज्ञान सुखादि समस्त सम्पत्तियों की सिद्धि तथा तत्त्वप्रकाश और उसकी पूर्ण प्राप्ति जिस प्रत्यभिज्ञा से हो, ऐसे महेश्वर की प्रतिमा के अभिमुख ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञा है।

(२) प्रत्यभिज्ञा का एक लौकिक व्यवहार भी देखने में आता है। उदाहरण के लिए, लोक व्यवहार में 'सोऽयं चैत्रः' (यह वही चैत्र है) इत्यादि स्थलों में अभिमुख वस्तुविषय के जो ज्ञान हैं उन्हें प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

(३) तीसरे प्रकार की प्रत्यभिज्ञा, दर्शन से सम्बन्धित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत पुराण, आगम एवं अनुमानादि से ज्ञात तथा परिपूर्ण शक्तिमान् परमेश्वर के अभिमुख होने पर, स्वकीय आत्मा के विषय में अनुसन्धान द्वारा 'मैं वही परमेश्वर हूं' इस प्रकार का जो ज्ञान उदित होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[2]

प्रत्यभिज्ञा का उपर्युक्त तृतीय स्वरूप अद्वैत वेदान्त के 'स्वरूप ज्ञान' का रूप है। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा। प्रतयभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव, जो स्वरूपतः परेश्वर शिव का रूप है, अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को पहिचानने में अशक्त रहता है। जिस प्रकार कि कोई नायिका प्रेमी नायक के गुणों को सुन, उस पर आसक्त एवं कामातुर होकर, विरह पीड़ा के सहने में असमर्थ हो मदनलेखा के आलम्बन से अपनी विरह विदीर्ण अवस्था का निवेदन करती है तथा वेगपूर्वक नायक के पास पहुंच कर उसका अवलोकन करने पर भी पूर्व-अपरिचित एवं जनसाधारण के समान होने के कारण, अपने भाव को व्यक्त नहीं कर सकती, परन्तु किसी के द्वारा यह विदित होने पर कि 'तुम्हारा प्रिय पुरुष यही है' अपने हृदयगत भाव को स्पष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्वात्मा में विश्वेश्वरात्मा भासित होने पर भी, विश्वेश्वरात्मा का प्रकाश गुणपरामर्श के बिना पूर्णतया का सम्पादन नहीं करता। परन्तु जब गुण-वचनादि से सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि रूप परमेश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान हो जाता है तो जीवात्मा पूर्णतया आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[3] यदि कहा जाए कि पूर्ण प्रकाश स्वरूप परमात्मा जीव रूप को प्रकाशित करने में क्यों असमर्थ रहता है तो इस विषय में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार प्रेमी नायक अनेक प्रार्थनाओं द्वारा प्रेमिका के समीप स्थित होने पर भी अपरिचित होने के कारण एवं साधारण पुरुषों के समान होने के कारण रमण करने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप से प्रकाशमान विश्वेश्वर भी पूर्व अपरिचित होने से निज वैभव प्रकट नहीं करता। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत

---

१. शिवसूत्रविमर्शिणी, १, ५।
२. माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह–'प्रत्यभिज्ञादर्शनम्'।
३. वही।

परमेश्वर अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन अनन्त शक्तियों में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां विशेष है। परमेश्वर अपनी चित् शक्ति से प्रभावित होकर ही विभिन्न जागतिक विषयों के रूप में भासित होता है। यह परमेश्वर का योगी रूप है। इस प्रकार योगी रूप में परमेश्वर अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता।[१] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव अद्वैत सत्य रूप हैं। आनन्द शक्ति के द्वारा स्वाभाविक आह्लाद का निरपेक्ष अनुभव करता है। इच्छा शक्ति के कारण परमेश्वर स्वतन्त्र तथा अवाधित इच्छा शक्ति से सम्पन्न है। ज्ञान शक्ति से वह आनन्द ज्ञान सम्पन्न है, और क्रिया शक्ति से उसमें सर्वाकार ग्रहण करने की योग्यता है।[२]

अद्वैत सतय रूप परमेश्वरशिव को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह सर्वप्रमाण पुष्ट है। तन्त्रालोककार ने शिव तत्त्व का वर्णन मायाण्ड संज्ञित ब्रह्म के रूप में किया है।[३] तन्त्रालोक के उक्त प्रकरण में मायाण्ड के द्वारा मायीय शिव की सृष्टि बतलाई गयी है, परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि तन्त्रालोककार अभिनव गुप्त द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा की माया अद्वैत वेदान्त एवं सांख्यादि की माया से भिन्न है। उन्होंने माया को गोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छा शक्ति के रूप में चित्रित किया है।[४] इसके अतिरिक्त राजानक क्षेमराजाचार्य ने परमेश्वर की माया के स्वरूप का निरूपण प्रकृति,[५] आवरणशक्ति,[६] एवं शक्ति[७] के रूप में ही बहुलता के साथ किया है।

स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रायः काश्मीरशैवदर्शन के मूल लेखकों एवे आलोचकों ने स्पन्द दश्नन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् निरूपण एवं विवेचन न करके दोनों सिद्धान्तों को मिला दिया है। स्वयं माधवाचार्य ने ही स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है। यद्यपि डा० बुह्लर ने माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत विवेचित शैवदर्शन को स्पन्ददर्शन का ही रूप माना है[८] परन्तु बुहूलर महोदय का उक्त कथन नितान्त असंगत है। अपने मत की पुष्टि में मेरा तर्क है कि माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्पष्ट करते हुए शिव सूत्र–'चैतन्यमात्मा' तथा वसुगुप्त की एक कारिका को उद्धृत किया है।[९] इसके विपरीत माधवाचार्य ने सर्व दर्शन संग्रह के अन्तर्गत शैव दर्शन का विवेचन करते समय स्पन्द दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त अथवा उनके किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन को स्पन्द दर्शन का

---

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञासूत्र, ५-६।
२. शिव सूत्र विमार्शिणी, पृ० ५।
३. तन्त्रालोक ४।१८६।
४. तन्त्रालोक ४।२५४ तथा इसी स्थल पर देखिए जयरथ की टीका।
५. प्रत्यभिज्ञा हृदय–१।
६. वही, १७।
७. वही, ५।
८. Dr. Buhler's Report, 1975-1876.
९. Bibl. Ind. Ed. 94-95.

मौलिक एवं सही सैद्धान्तिक रूप नहीं कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन एवं वसुगुप्त के स्पन्द दर्शन में भेद भी है। उदाहरण के लिए, शैव दर्शन में शिव केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं,[1] परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव संकल्प मात्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। जहां तक स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दश्नन के सैद्धान्तिक भेद का प्रश्न है, नीचे दिए गए विवेचन के अनुसार वह पूर्णतया स्पष्ट है।

स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह मौलिक भेद है कि स्पन्द शास्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा साधक को पहले भैरव या महेश्वर या चित्त में दर्शन होता है और फिर समस्त मलों की निवृत्ति होती है, जिससे परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत जीव का अपने को ईश्वर रूप जानना ही परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन है।[2] प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्रतिपादक आचार्य सोमानन्दनाथ का मत है कि एक बार प्रत्यक्षादि प्रमाण अथवा गुरुवाक्य यद्वा दृढ़ युक्तियों से सर्वभावस्थ शिवत्व का ज्ञान होने पर फिर अन्य साधनों अथवा भावना का प्रयोजन नहीं है। उदाहरण के लिए, सुवर्णादि का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके साधन कसौटी आदि से प्रयोजन नहीं होता।[3]

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार स्पन्दशास्त्र एवे प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु उक्त दोनों शैव दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत अद्वैतवाद की ही पुष्टि मिलती है। दोनों ही के दार्शनिक विचारों के अनुसार जीव परमशिव रूप होते हुए भी अज्ञान वंश अपने स्वरूप को भूला रहता है। सृष्टि, परमेश्वर की इच्छा शक्ति का फल है, यह सिद्धान्त भी दोनों ही पद्धतियों में मान्य है। इस प्रकार स्पन्दवादी एवं प्रत्यभिज्ञावादी, दानों ही ईश्वराद्वयवाद के समर्थक हैं। यहां काश्मीरी शैव दश्नन के इन स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञवाद सिद्धान्तों का वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ तुलनातमक अध्ययन किया जाएगा।

स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का ईश्वराद्वयवाद और वेदान्तिक अद्वैतवाद (तुलनात्मक विवेचन)

काश्मीरी शैव दर्शन के अन्तर्गत स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं। परन्तु इन शैव सिद्धान्तों एवं वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से समानता के साथ ही असमानता भी है। यहां इन दर्शन सिद्धान्तों की अद्वैतवाद सिद्धान्त के साथ समानता तथा असमानता को आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और स्पन्दवाद तथा प्रत्यभिज्ञावाद, इन तीनों सिद्धान्तों में तत्वतः-

---

१. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 9, p. 202, 203.

२. वही, vol. IV, p. 187.

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वागुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्या दृढात्मना।।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापिभावनया सकृत्।।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्।। –शिवदृष्टि (सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ १६९ से उद्धृत)

जीव एवं परमात्मा का ऐक्य स्वीकार किया गया है। यह बात दूसरी है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म कहलाती है और इन शैव सिद्धान्तों में सर्वोच्च सत्ता को शिव कहा गया है। शैव दर्शन के ग्रन्थों में शिव का ब्रह्मरूप में वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसार आणव, मायीय और कार्मण मल जीव के परमेश्वर-साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करते हैं। अद्वैत वेदान्त की अविद्या निवृत्ति के समान ही स्पन्द दर्शन में भी जब उक्त विविध मल का नाश हो जाता है तो जीव को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। इस त्रिविध मलका हम स्पन्द दर्शन का विवेचन करते समय कर चुके हैं। स्पन्द दर्शन में आचार्य क्षेमराज ने जगत् के सम्बन्ध में जो दर्पणनगर का दृष्टान्त दिया है,[1] उसमें परमात्मा के, जगत् से अस्पृष्ट रहने का तात्पर्य ही प्रमुख है।[2] शांकर वेदान्त के अन्तर्गत भी परमात्मा माया और मायिक जगत् से अस्पष्ट ही रहता है।[3]

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर स्पन्ददर्शन पर वेदान्तिक अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं स्पन्द दर्शन के अद्वैतवाद में भेद भी मिलता है। उदाहरण के लिए, अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म, माया शक्ति के द्वारा जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है, परन्तु स्पन्ददर्शन के अनुसार परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है।[4] वह तो संकल्प मात्र से ही जगत् की सृष्टि करता है। इसके साथ-साथ वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं स्पन्दवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद में जगत् मायिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु स्पन्द दर्शन के अनुसार जगत् परमेश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। यहां यह विशेष रूप से विचारणीय है कि जगत् के शिवस्वरूप होने के कारण स्पन्द दर्शन की अद्वैतता में बाधा नहीं पड़ती।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रत्यभिज्ञा अद्वैत वेदान्त के स्वरूपज्ञान का ही अपर नाम है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप जीव वस्तुतः शिव रूप ही है, परन्तु अज्ञानवश शिवरूपता को भूला रहता है। जब जीव को अपने शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। यही बात वेदान्त के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी है। जीव अविद्यावश अपने स्वरूप ब्रह्म को भूला रहता है और जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद दोनों के ही अनुसार जीव स्वरूपतः शिव एवं ब्रह्म रूप है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन और वेदान्तिक अद्वैतवाद में उपयुक्त साम्य होते हुए भी भेद की रेखा भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बिना किसी उपादान के महेश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति वेदान्तिक अद्वैतवाद के विपरीत है। जैसा कि कहा जा

---

१. जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः।

—स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका—स्पन्द निर्णय।

२. **The illustration of a mirror is only applicable to this extent that he is not affected by his creation.—Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 2, p. 203.**

३. एवं परमात्मापि संसारमाययानसंस्पृश्यते।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।

४. सर्वशब्देन उपादानादिनैरपेक्ष्यं कर्तुर्ध्वनितम्।

—स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका।

चुका है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन में, वेदान्तियों के अद्वैतवाद की तरह परमेश्वर माया के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शनानुगत महेश्वर की इच्छा एवं क्रिया शक्तियां भी अद्वैत वेदान्त के पारमार्थिक एवं कूटस्थ ब्रह्म के लक्षणों के विपरीत है।

अभी जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि काश्मीरशैवदर्शन के स्पन्द एवं प्रतयभिज्ञाशस्त्र के ईश्वरद्वयवाद के सिद्धान्त शंकराचार्यप्रतिपादित अद्वैतवाद से अभिन्न एवं भिन्न दोनों हैं। परन्तु उपर्युक्त साम्यमूलक अध्ययन के आधार पर यह कहना पक्षपात पूर्ण न होगा कि काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वराद्वयवाद का सिद्धान्त शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से पूर्णतया प्रभावित है।

वेदान्त का अद्वैतवाद और योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद : तुलनात्मक विवेचन

योगवासिष्ठगात अद्वैतवाद एवं कल्पनावाद तथा योगवासिष्ठानुसार जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म अनुशीलन न होने के कारण कतिपय समालोचक योगवासिष्ठ के अद्वैतवादी विचार को शांकर अद्वैतवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। निःसन्देह इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ ऐसी समानताएं हैं, जिनके आधार पर ये दोनों सिद्धान्त समान प्रतीत होते हैं। योगवासिष्ठ एवं शांकर अद्वैतवाद में समानता के अधोलिखित स्थल मिलते हैं।

(१) शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद, दोनों ही दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

(२) जीव और ब्रह्म के ऐक्य के द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है।

(३) शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद दोनों में ही जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है। यह बात दूसरी है कि दोनों के मिथ्यात्वसम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। इस अन्तर का उल्लेख आगे किया जाएगा।

(४) दोनों ही सिद्धान्तों के अन्तर्गत जीवन-मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति के दो भेद किए गए हैं। परन्तु जैसा कि आगे विवेचन करेंगे, दोनों सिद्धान्तों के जीवन-मुक्ति सम्बन्धी विचार में भी भेद है।

(५) शांकर वेदान्त और योगवासिष्ठ के अन्तर्गत प्रदत्त अनेक दृष्टान्तों में भी समानता है। उदाहरण के लिए, शंकराचार्य[1] के 'रज्जुसर्प एवं मृगतृष्णिका' आदि दृष्टान्त योगवासिष्ठ में भी मिलते हैं।[2] इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त के अन्तर्गत दिया गया इन्द्रजाल का उदाहरण भी योगवासिष्ठ[3] के अन्तर्गत मिलता है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद के अनेक स्थलों में साम्य मिलता है। अब यहां कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विचार स्थलों का उल्लेख करेंगे, जिनमें शांकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठगत सिद्धान्तों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है।

(अ) शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुरूप परमार्थ सत्त ब्रह्म को 'सत्' तत्व के रूप में

---

१. माडूक्य कारिका, शा० भा० १।६।
२. योगवासिष्ठ ४।४५।२६, ४।१।७।
३. मिलाइए–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६ तथा या० बा० ३।६५।६।

स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में असद्वाद या शून्यवाद सम्बन्धी भ्रम के निवारणार्थ शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि दिक्, देश, गुण, गति और फल भेद से शून्य, परमार्थसत् अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत् के समान प्रतीत होता है।[1] आचार्य शांकर का कथन है कि ब्रह्म ही चरम सत्य है, न कि अभाव।[2] इसके विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को सत् न मानकर शून्य रूप कहा गया है।[3] यहां यह उल्लेख करना भी न्याय संगत होगा कि योगवासिष्ठ में ब्रह्म को शून्य एवं अशून्य तथा सत् एवं असत् से विलक्षण भी कहा है।[4] परन्तु इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म, जैसा कि ऊपर कहा गया है सत् तथा असत् से विलक्षण न होकर पूर्ण तथा सत् है। इस प्रकार शांकर अद्वैत एवं योगवासिष्ठगत अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्रह्म के सम्बन्ध में महान् अन्तर है।

(आ) योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर जगत् की स्वप्नता एवं विज्ञान का मात्रता का उल्लेख मिलता है।[5] द्वितीय अध्याय में कल्पनावाद का विवेचन करते समय भी यह विस्तार से कहा जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् मानसिक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत योगवासिष्ठ के उक्त मत का विरोध मिलता है। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने जगत् की वाह्य सत्ता को निःसंकोच स्वीकार किया है।[6] इस प्रकार योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, स्वप्नवाद एवं विज्ञानवाद शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया गया है।

(इ) जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते समय योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में स्वप्न स्त्री सुरत, (यो० वा० ३।५४।२०) केशोण्ड्रक (६/२।३९०।१३) तथा शशश्रृंग (यो० वा० १।५७।१६) के जो दृष्टान्त दिए हैं, वे अद्वैतवेदान्तिक दृष्टि के विरुद्ध हैं। शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत के जगत् की सत्ता मायिक है। परन्तु यह माया शून्य या कल्पनामात्र न होकर सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (शशश्रृंगादिवदसत्) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। इस सम्बन्ध में डा० गंगानाथ झा का तर्क युक्तिपरक ही है कि यदि हम अविद्या के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करेंगे तब तो हमें आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना पड़ेगा।[7] इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के द्वारा स्वीकृत जगत् की उपादानकारणभूता माया और उससे जगत्, योगवासिष्ठ[8] के समान अलीक नहीं हैं।

(ई) जैसा कि अभी कहा जा चुका है, जगत् के सम्बन्ध में, शांकर अद्वैतवाद और

---

१. छा० उ०, शा० भा० ८।१।१ का प्रास्ताविक।

२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

३. अस्मद्दृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम्। –यो० वा० ३।१०३६।

४. योगवासिष्ठ–६/१-४८।१२।

५. यो० वा० ६/१।५२। ११, ३।५४।२०, ३।६२।५, ३।५७।२०, ३।५७।५४।

६. तस्माद् यथानुभवं तत्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युमगन्तुम्–ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

७. ......Were we to deny this, we should have to deny the inward self as well. Indian Thought, 1907, edited by *Dr. Thibaut and G. N. Jha.*

८. अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते।
अलीकमेवस्वदते तथालीकं विलीयते।। –यो० वा० ३।६७।७६

योगवासिष्ठ गत अद्वैतवाद में भेद की रेखा स्पष्ट है। इस दृष्टिकोण-भेद का स्पष्टीकरण अद्वैती शंकराचाग्र के सत्तात्रय के विचार से भी पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है। योगवासिष्ठ के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद के समान जगत् की व्यावहारिक सत्ता को न स्वीकार करके समस्त जगत् को प्रातिभासिक सत्ता के ही अन्तर्गत माना गया है।[१] उक्त कथन की पुष्टि इस तथ्य से और हो जाती है कि योगवासिष्ठ में जगत् के सम्वन्ध में जो मृगतृष्णिका एवं केशोण्ड्रक आदि के दृष्टान्त दिए हैं, वे प्रातिभासिक सत्ता के ही सूचक हैं। योगवासिष्ठ के उपर्युक्त मत के विपरीत अद्वैतवाद के प्रतिपादिक शंकराचार्य ने जगत् को प्रातिभासिक सत् न मानकर व्यावहारिक सत् के रूप में स्वीकार किया है। जहां तक, परमार्थ सत् का प्रश्न है, शांकर वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ दृष्टि से सत् है, परन्तु अद्वैत रूप परमार्थ सत्‌तत्त्व ब्रह्म का वोध होने से पूर्व जागतिक पदाथोन की व्यावहारिक सत्ता शांकर वेदान्त में बिना 'ननुनच' के स्वीकार की गई है।[२] इस प्रकार अद्वैती शंकराचाग्र ने प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक—यह तीन सत्ताएं मानी हैं।

(उ) सत्तात्रय की तरह ही जाग्रदादि अवस्थाओं के सम्वन्ध में भी योगवासिष्ठ एवं शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्तों में मौलिक भेद है। योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में अभेद स्वीकार किया गया है। इस विषय का विवेचन करते समय योगवासिष्ठ में कहा गया है कि जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाओं में स्थिरता तथा अस्थिरता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं का अनुभव सदा सर्वत्र समान है।[३] स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में योगवासिष्ठ के दृष्टिकोण के अनुसार केवल अधिक और अल्प समय तक अनुभूत होने का भेद है।[४] परन्तु योगवासिष्ठ के उक्त कथन के विपरीत अद्वैती शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के प्रत्ययों के बीच स्पष्ट अन्तर स्वीकार किया है। आचार्य शांकर ने उक्त सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नावस्था के प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय कदापि नहीं हो सकते। इन दोनों अवस्थाओं में वैधर्म्य है। स्वप्नकालिक वस्तुओं का जाग्रदवस्था में बाध हो जाता है। परन्तु शंकराचाग्र का मत है कि जाग्रत् अवस्था में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तुओं का किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता।[५] यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मुक्त पुरुष के लिए भी जगत् का नाश नहीं हो जाता, वरन् मुक्त पुरुष की द्वैतबुद्धि का ही उच्छेद हो जाता है।

---

१. प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
यथागन्धर्वनगरं तथासंसृतिविभ्रमः ।। –यो० वा० ६/।१।३३।४५।

२. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेःस्वप्नव्यवहारस्येवप्राग् प्रबोधात् । –ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

३. जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ।। –यो० वा०, ४।१९।११

४. कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीहधीः । –यो० वा०, ६-२।१६१।२६।

५. नस्वप्नादिवज्जाग्रत् प्रत्यया भवितुमर्हन्ति कस्मात् ? वैध्यर्म्यात् । वैध्यर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। ······न चैवं जागरितोपलव्धं वस्तुस्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायांवाध्यते । –ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२९।

(ऊ) शांकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठ प्रतिपादित अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी सिद्धान्त में भी भेद है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और अनिर्वचनीय माया का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय, वाह्य तथा अवर्णनीय है। इसके विपरीत योगवासिष्ठकार के मतानुसार जगत् के अनेक रूप शुद्धचित्‌रूप ब्रह्म की स्पन्द शक्ति के परिणाम हैं। यहां यह साश्चर्य विचारणीय है कि योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत शुद्धचित्‌रूप ब्रह्म की स्पन्दक्रिया के सम्बन्ध में किसी सैद्धान्तिक व्यवस्था का निर्देश नहीं मिलता। शुद्धचित् तत्त्व की स्पन्द क्रिया को योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार आकस्मिक या 'काकतालीय' कहा गया है।[१] डा० दासगुप्त ने उक्त न्यूनता को योगवासिष्ठ दर्शन का प्रमुख दोष माना है।[२]

(ए) योगवासिष्ठ का मुक्ति सम्बन्धी विचार भी शांकर अद्वैतवाद के मुक्ति विषयक विचार से वहुत कुछ भिन्न है। शांकर अद्वैतमत के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है। अतः शांकर दर्शन में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने के कारण मुक्त पुरुष भी ब्रह्म वोध हो जाने पर ब्रह्मरूपता को प्राप्त होकर आनन्दस्वरूप हो जाता है। इसके विपरीत योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का कोई निश्चित लक्षण न होने के कारण ब्रह्मज्ञानस्वरूप मुक्ति भी पाषाणवत् ही है।[३]

योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत कर्म एवं ज्ञान का समच्चय सम्भव है। योगवासिष्ठकार ज्ञान एवं कर्म को जिज्ञासु के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हैं।[४] इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैत मत में कर्म केवल चित्तशुद्धि का साधन है। मुक्ति तोशांकर वेदान्त में ज्ञान द्वारा ही ग्राप्तव्य है, कर्म द्वारा नहीं।

ऊपर दिए गए तुलनात्मक विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि योगवासिष्ठ का दार्शनिक सिद्धानत अद्वैतवाद होते हुए भी वेदान्तिक अद्वैतवाद से कितना और किस प्रकार विलक्षण है। योगवासिष्ठ, किसी दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन की दृष्टि से लिखा हुआ ग्रन्थ न होने के कारण, उसके सिद्धान्तों में परस्पर एवं इतर सिद्धान्तों के साथ वैलक्षण्य एवं विरोध पाया जाना स्वाभाविक ही है।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और बौद्ध दर्शन (विज्ञानवाद एवं शून्यवाद) : तुलनात्मक अध्ययन

बौद्ध और दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्त्रिक, योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदाय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन सिद्धान्तों में योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवाद के अत्यन्त समीप हैं, इस तथ्य का समर्थन आगामी विवेचन से स्वतः हो जाएगा। वैसे तो, शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं बौद्धों के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में प्राप्त साम्य के आधार पर ही शतप्राय समालोचकों ने अद्वैतवादी शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया है। समालोचकों की इस धारणा का निर्णय शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक विवेचन स्वयं कर देगा। अतः इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् ही कुछ कहना औचित्यपूर्ण होगा। इस अवसर पर

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. 2, p. 271.
२. वही।
३. वही, पृष्ठ २७२।
४. वही।

तो यह उपयुक्त होगा कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक विवेचन करने से पूर्व दोनों बौद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाए। अतः पहिले विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय

मैत्रेयनाथ और उनके शिष्य असंग विज्ञानवाद सिद्धान्त के मूल प्रतिपादक हैं। इन की कृति–महायानसूत्रालंकार विज्ञानवाद का मौलिक ग्रन्थ है। महायान सूत्रालंकार के अन्तर्गत प्रतिपादित विज्ञानवाद का विचार विज्ञानवादी अद्वयवाद एवं असंग के अद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

योगाचार और 'विज्ञान' का अर्थ–योगाचार सम्प्रदाय का ही दार्शनिक सिद्धानत विज्ञानवाद है। वौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम सत्य ही उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही सम्भव वतलाई गई है, इसलिए इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार प्रचलित हुआ है। इस प्रकार योगाचार शब्द इस सम्प्रदाय के साधना पक्ष पर विशष वल देता है, जबकि विज्ञानवाद उसके दार्शनिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

जहां तक 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत चित् तथा मन को विज्ञान का पयार्यवाची वतलाया गया है।[1] चित्, मन तथा विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत कहा गया है कि चित्त 'आलय विज्ञान' है। इस प्रकर चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण ही 'चित्त' संज्ञा का प्रचलन हुआ है। मनन क्रिया करने के कारण मन संज्ञा का प्रचार हुआ है और विषय-ग्रहण में कारण होने के कारण विज्ञान शब्द का प्रवर्तन हुआ है।[2] त्रिशिंका के अन्तर्गत वसुबन्धु ने जगत् को आत्मधर्म का उपचार तथा विज्ञान का ही परिणाम माना है–"आत्मधर्मोपचारादि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञान परिणामोऽसौ।" वोधिचर्यावतार पंजिका में भी ज्ञान को अप्राप्त लक्षण कहा है–अप्राप्ति लक्षणं ज्ञानम्। इस प्रकार विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर विज्ञान का चित्त रूप होना निश्चित ही है।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् उपर्युक्त चित्त अथवा विज्ञान का ही रूप है। दशमूभीश्वर का यह वाक्य–'चित्तमात्रं भी जिनपुत्रयदुत्त त्रैधातुकम्,'[3] जगत् की सत्ता को चित् मात्र ही सिद्ध करता है। इस प्रकार विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् को चित्तमात्र स्वीकार करना योगवासिष्ठ के कल्पनावाद सिद्धान्त के अत्यधिक समीप है। जिसके अनुसार जगत् चित्त के संकल्प मात्र का फल है।[4] योवासिष्ठ के इस कल्पनावाद सिद्धान्त का विवेचन अभी पीछे किया जा चुका है। कल्पनावाद की ही तरह विज्ञानवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की ब्रह्मसत्ता का निराकरण किया गया है।

---

१. चित्तं मनश्चविज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जितः।
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः।।–लंकावतार सूत्र ३।४०।

२. चित्तमालयविज्ञानं मनोयत्मनत्यात्मकम्।
गृह्यति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।।–लंकावतार सूत्र, गाथा २।

३. देखिए–*V. Bhattacharya* : The Central Conception of Buddhism, p. 33.

४. चित्तमेवजगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।–यो० या० ६।१३३।१।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता पृथक्भूता नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को विज्ञानवादी ने संवृत्ति सत्य के अन्तर्गत माना है। विज्ञानवादी ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को न भावरूप मानता है और न अभाव रूप।[१]

ज्ञाता और ज्ञेय अथवा ग्राहक एवं ग्राह्य विज्ञानवादी के मतानुसार पृथक्-पृथक् न होकर चित्त मात्र ही हैं।[२] विज्ञानवादी ने चित्त को आलय विज्ञान का रूप दिया है। आलय विज्ञान समस्त क्लेशों को उत्पन्न करने वाले धर्मों का मूल स्थान है। इस प्रकार स्थिरमति के अनुसार आलय और स्थान दोनों पर्यार्यवायी शब्द हैं। लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत आलय विज्ञान को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि आलयविज्ञान समुद्र रूप है। सांसारिक विषय पवन रूप तथा सप्तविध विज्ञान तरंग रूप हैं।[४] जिस प्रकार कि पवन से प्रेरित होकर समुद्र में तरंगों का नृत्य दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आलय विज्ञान में भी विषयरूप वायु से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के विज्ञान उत्पन्न होते हैं।[५] जैसे कि समुद्र और उसकी तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान और अन्य विभिन्न विज्ञानों में भी कोई भेद नहीं है। यहां यह और कथ्य है कि विज्ञानवादी का यह आलय विज्ञान उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित है। उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित आलयविज्ञान की यह अवतारणा जागतिक विषयों की समस्या के स्पष्टीकरणार्थ की गयी प्रतीत होती है। इसीलिए डाक्टर दासगुप्त् ने इसे आनुमानिक कहा है।[६]

विज्ञानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि जागतिक विषयों का जो प्रत्यक्ष हमें दिखाई पड़ता है, वह हमारे विज्ञानों का ही अनुभव है।

क्षणिक विज्ञानवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद

विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानवाद का समर्थक है। क्षणिकविज्ञावाद के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विज्ञान एक दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके[७] नष्ट हो जाता है।[८] विज्ञानों की उत्पत्ति और निरोध का क्रम सतत रूप से चलता है। यही प्रतीत्यसमुत्पादवाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। विज्ञानवादी के मतानुसार विज्ञानों का उत्पन्न होना और निरोध होना ही परम तत्व है।[९] कुछ एक विज्ञानवादी आचार्यों ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का

---

१. असंग–महायान सूत्रालंकार, पृ० ५८-५६।

२. चित्तमात्रं नदृश्योऽस्ति द्विधाचित्तंहिदृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ।।–लंकावतार सूत्र ३।६५।
तथा देखिए–सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ० १२।

३. तत्रसर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानात् आलयः । आलयः स्थानमिति पर्यायी।–त्रिंशिका भाष्य, पृष्ठ १८।

४. लंकावतार सूत्र २।१००।

५. वहीं, १।६६।

६. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 146.

७. E. R. E. Vol. IX. p. 850.

८. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ४४६।

९. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ६६६।

द्विविध रूप स्वीकार किया है। प्रतीत्य समुत्पादवाद के दो रूप व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद और आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद हैं। व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का विषय जगत् के भौतिक विषयों का विवेचन है। जागतिक विषय व्यावहारिक या बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद रूप है। इसके अतिरिक्त अविद्या, तृष्णा, कर्म और स्कन्ध एवं उनसे उत्पन्न आयतन आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का प्रतिनिधत्व करते हैं।[1]

विज्ञानवादी का सांवृत्तिक सत्य–अद्वैत वेदान्त में जागतिक सत्य को, आविधिक होने के कारण व्यावहारिक कहा है। परन्तु विज्ञानवादी के दर्शन में शंकराचार्य का व्यावहारिक सत्य सांवृत्तिक है। दोनों का तुलनात्मक समीक्षण आगे यथा अवसर किया जाएगा। विज्ञानवादी के सांवृत्तिक सत्य (जागतिक सत्य) का मूल 'संवृत्ति' है। बौद्ध दर्शन की यह 'संवृत्ति' अविद्या का रूप है। संवृत्ति यथार्थ तत्त्व के परिज्ञान की आवरक है। इस प्रकार अविद्या रूपा यह संवृत्ति असत् पदार्थ के स्वरूप की आरोपिका तथा वस्तुओं के स्वभाव दर्शन में आवरण के समान बाधक है।२

विज्ञानवादी की इस 'संवृत्ति' के भी दो भेद हैं–एक तथ्य संवृत्ति और दूसरा मिथ्या संवृत्ति। तथ्य संवृत्ति के अन्तर्गत वे जागतिक विषय आते हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा अबाध प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार संवृत्ति के अन्तर्गत वस्तुओं के भौतिक यथातथ्य रूप का प्रत्यक्ष होता है। 'मिथ्या संवृत्ति' अद्वैत वेदान्त की प्रातिभासिक सत्ता के सदृश है। मृगमरीचिका आदि के समान जगत् में जिन पदार्थों का दोषपूर्ण प्रत्यक्ष होता है, वे मिथ्या संवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से मिथ्यासंवृत्ति की अपेक्षा कुछ सत्य है, परन्तु परमार्थ सत्य की उपलब्धि होने पर उक्त दोनों ही संवृत्तियां मिथ्या सिद्ध होती हैं। परमार्थ सत्य तो वस्तु स्वभाव के अधिगम का नाम है। अतः उसके जानने पर तो उक्त दोनों ही संवृत्तियों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानवादी भी अद्वैतवादी है। द्वैत का निराकरण करते हुए विज्ञानवादी का कथन है कि वस्तुतः द्वैत नहीं है मायाहस्ती की आकृति के ग्रहण के समान ही द्वैत की अनुभूति होती है, अतः ग्राह्यग्राहकरूप द्वैत जगत् सत्य नहीं है।[3] इस प्रकार जगत् के समस्त भाव विज्ञानवादी की दृष्टि से मायोपम हैं।[4] अब यहां परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

परमार्थ सत्य–मिथ्यादर्शी का विषय उपर्युक्त सांवृत्तिक सत्य है और तत्त्वदृष्टा का विषय परमार्थ सत्य है। विज्ञानवाद के अनुसार परमार्थ सत्य, भावाभाव के मिश्रित रूप एवं भाव और अभाव दोनों से अतीत है। इसके साथ-साथ वह दुःख और सुख की कल्पना का विषय भी नहीं है।[5] आचार्य असंग ने परमार्थ सत्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह (परमार्थ सत्य) सत्–असत् तथा

---

१. लंकावतार सूत्र, पृ० ८५।
२. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।
३. महायान सूत्रालंकार ११।२६।
४. वही, ११।२७।
५. अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्त शान्ताकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥–महायान सूत्रालंकार ११।४१।

अतथा, जन्ममरण, ह्रास-वृद्धि, शुद्धि-अशुद्धि आदि कल्पनाओं से मुक्त है।[1]

विज्ञानवादी आचार्यों ने इस परमार्थ सत्य को विशेष रूप से विज्ञप्तिमात्र, आलय विज्ञान एवं भूततथता शब्दों के द्वारा अभिहित किया है। विज्ञानवादी आचार्य असंग और वसुवन्धु ने उस परमस्तय को 'विज्ञप्ति' मात्र कहा है और लंकावतार सूत्र में उक्त तत्त्व को आलय विज्ञान रूप कहा गया है और लंकावतार सूत्र में उक्त तत्त्व को आलय विज्ञान रूप कहा गया है। अश्वघोष ने 'भूततथता' के रूप में चरम सत्य को विवेचन विशेष रूप से किया है। यहां उक्त तीनों मतों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

असंग और वसुवन्धु का 'चरम सत्य'–असंग और वसुवन्धु जब चरम सत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र कहते हैं तो वे क्षणिक विज्ञानवाद के समर्थक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विज्ञप्तिमात्रता की दृष्टि से निर्वाण काल में विाान में सक्रियता नहीं रहती। चरमसत्यरूप विज्ञप्ति विशुद्ध चैतन्य, आनन्द रूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है।

लंकावतार सूत्र में 'चरम सत्य' का रूप–जैसा कि ऊपर कहा गया है, लंकावतार सूत्र में चरमतत्त्व का विवेचन 'आलय विज्ञान' के रूप में मिलता है–आलय विज्ञान का स्वरूपोल्लेख भी ऊपर कर चुके हैं। इस सम्वन्ध में यहां केवल यही वक्तव्य है कि लंकावतार सूत्र के अनुसार ज्ञाता एवं ज्ञेय में अभेद है। इस प्रकार ज्ञाता रूप से देखने पर 'आलय विज्ञान' अहन्ता को प्राप्त होता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त ज्ञेय रूप से देखने पर वहीं आलय विज्ञान पदार्थ रूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

अश्वघोष और 'चरम सत्य'–अश्वघोष ने चरम सत्य को 'भूततथता' कहा है। भूततथता शाश्वत तथा स्वभाव सतय है। भूत तथता न सत् है और न असत्। वह एक तथा अनेक भी नहीं है। इसी प्रकार वह भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों ही है।[2]

विज्ञानवादियों की उकत भूततथता भी अद्वैतता की ही पोषिका है, क्योंकि जगत् की समस्त वस्तुओं में अद्वैतरूपा भूततथता ही सत्य है।[3] विज्ञानवादी की यह भूततथता भाषा द्वारा अवर्णनीय है। आलोचक सोजन के शब्दों में तो सत्य की स्थिति उसी प्रकार अवर्णनीय है, जिस प्रकार कि किसी भयानक युद्ध क्षेत्र का अथवा एक दृष्टि से देखे गये रमणीक दृश्य का वर्णन अवर्णनीय होता है।[4]

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक ही चरम तत्त्व का वर्णन विज्ञानवादियों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है। अब, जैसा कि आरम्भ में ही कह चुके हैं बौद्ध विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

---

१. नसन्न न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
नबर्धते नापिविशुद्ध्यते पुनः विशुद्धते तत्परमार्थलक्षणम् ।। –महायान सूत्रालंकार ६।१।

२. Systems of Buddhistic Thought, p. 257-258.

३. भूततथता implies oneness of the totality of things or धर्मधातु—the great all including whole; the quintessence of the doctrine. For, the essential nature of the soul is uncreated and eternal. *Suzuki*, The Awakening of Faith in Buddhism, p. 55-56.

४. Systems of Buddhistic Thought, p. 253.

विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद–वैसे तो, अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए उसका निराकरण प्रबल तर्कों के आधार पर किया है।[१] परन्तु शंकराचार्य द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण होने पर भी विज्ञानवाद एवे शांकर अद्वैतवाद में भी बहुत-सी समानताएं मिलती हैं। इन दोनों दार्शनकि सिद्धान्तों में समानता का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक उपलब्धि नहीं है, क्योंकि दोनों ही का मूल पृष्ठाधार एक ही उपनिषद् साहित्य है। अतः शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद के अन्तर्गत वैधर्म्य के साथ साम्य स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए, शांकर अद्वैतवाद[२] एवं बौद्ध विज्ञानवाद,[३] दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थ सत्य की अद्वैतता को स्वीकार किया गया है। इसके साथ-साथ परमतत्व की सर्वव्यापकता भी शांकर अद्वैतवाद[४] एवं विज्ञानवाद[५] दोनों सिद्धान्तों में स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार परमार्थ सत्य वाङ्मनसातीत तो है, परन्तु शांकर अद्वैत दर्शन के अनुसार वह अभाव रूप नहीं है।[६] अद्वैती शंकराचार्य ने स्पष्ट ही परमार्थ सत्य ब्रह्म को सत् रूप स्वीकार किया है। इसके विपरीत विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने परम तत्व को सत्, असत् एवं सदसद् से विलक्षण कहा है।[७]

विज्ञानवादी बौद्ध एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। परन्तु दोनों के जगन्मिथ्यात्व में अत्याधिक अन्तर है। विज्ञानवादी वाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करता है। जैसा कि विज्ञानवाद विचार का स्पष्टीकरण करते समय कह आये हैं, बाह्य जगत् की सत्ता चित्र की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवादी 'विज्ञप्तिमात्रता' का पक्षपाती है, परन्तु अद्वैती शंकराचार्य का दृष्टिकोण विज्ञानवादी के उक्त विचार से भिन्न है। अद्वैतवादी शंकराचार्य बाह्य जगत् को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार जगत् विज्ञानवादी की तरह कल्पनामात्र नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व के द्वारा शंकराचार्य जगत् के नामरूपात्मक प्रपंच का ही निषेध करते हैं।[८] इसीलिए शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (अलीक) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत सव कुछ अनिर्वचनीय ही है।[९]

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८-३२।
२. परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म–शा० भा०, छा० उ० ८।१।१ तथा देखिए–तै० उप०, शा० भा० २।६।
३. महायान सूत्रालंकार ६।१।
४. ब्र० उ०, शा० भा० २।४।६।
५. महायान सूत्रालंकार ६।१४।
६. वाङ्मनसातौतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणामिधीयते।–ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।
७. महायान सूत्रालंकार, ११।४१, ६।१।
८. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।
९. एवं च सतिसौगतब्रह्मवादिनोः कोविशेषइतिचेदयंविशेष : यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचीयं ब्रवादिनः सं गिरन्ते।–खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।

वाह्य जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान सिद्ध करते हुए विज्ञानवादी का विचार है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि का ज्ञान वाह्य अर्थ क विना ही ग्राह्य और ग्राहक के आकर में परिणत होता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का प्रत्ययत्व समान ही है।[1] इस प्रकार विज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में समानता मानकर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधर्म्य की स्थापना की है, परन्तु शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत यह साधर्म्य मान्य नहीं है। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थाओं के वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था के ज्ञान हों, यह युक्त मत नही है। अपने मत की पुष्टि में शंकराचार्य का कथन है कि स्वप्न एवं जाग्रत काल के प्रतययों में वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य वाध एवं अवाध रूप है। स्वप्नकाल की उपलब्धि का जाग्रत् काल में वाध हो सकता है। उदाहरणार्थ यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो वह जाग्रत में यही कहता है कि मुझे जो महाजनसमागम की उपलब्धि हुई थी।[2] इसके विपरीत जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु का किसी अवस्था में भी वाध नहीं होता। अद्वैती आचार्य शंकर का तर्क है कि स्वप्नकालिक अनुभव स्मृति रूप हैं और जाग्रत काल के अनुभव उपलब्धि रूप हैं।[3] इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शांकर अद्वैतवाद स्वप्न एवं जाग्रत का वैधर्म्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं संवृत्ति रूप दो सत्तायें मान्य हैं। परन्तु शांकर अद्वैतवादी पारमार्थिक व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक रूप से तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं। परमार्थ सत्य के सम्वन्ध में तुलनात्मक दृष्टि का निरूपण इस विवेचन के आरम्भ में ही किया जा चुका है। जहां तक संवृत्ति सत्य का प्रश्न है, यह अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता के वहुत कुछ समान है। जिस प्रकार अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या है, उसी प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति भी अविद्या रूप है। अविद्या रूप संवृत्ति वस्तुओं के स्वभाव की आवरण स्वरूप है। संवृत्ति ही अविद्यारूप से असत् पदार्थ की आरोपिका है।[4] इस प्रकार जहां अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहलाता है, वहां विज्ञानवाद दर्शन में उसे सांवृत्तिक सत्य कहा गया है। ऊपर स्वभावावरण एवं असदारोप रूप जो कार्य संवृत्ति के वतलाए गए हैं, वे अद्वैतवादी की अविद्या-माया के भी हैं। माया की आवरण और विक्षेप शांकर वेदान्त में प्रसिद्ध हैं। आवरण शक्ति विज्ञानवादी की संवृत्ति के समान स्वरूपशक्ति की आवरणकर्त्री है और विक्षेप शक्ति मिथ्या जगत् की निर्मात्री है।[5] संवृत्ति की तरह असत्वस्तु का आरोप अद्वैतवादी की अविद्या का प्रधान कार्य है। अविद्या, अद्वैत वेदान्त में अध्यास रूप है[6]—और अध्यास की

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।
२. वही, २।२।२९।
३. वही, २।२।२९।
४. संव्रियतआव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद्आवृतः प्रकाशंनाच्चानयेतिसंवृत्तिः। अविद्याह्यसत् पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृत्ति रुपपद्यते।—वोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।
५. विवेक चूडामणि, १४१, १४१, १४५।
६. अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते।—ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

परिभाषा 'अतस्मिस्तद् वुद्धिः' है। इस प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति और अद्वैतवादी की अविद्या में वहुत कुछ साम्य है। परन्तु यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत दर्शन की अविद्या एवं विज्ञानवाद दर्शन की संवृत्ति तथा अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक सत्य एवं विज्ञानवाद दर्शन के सांवृत्तिक सत्य में परस्पर वहुत कुछ साम्य होने पर भी यह मौलिक भेद अवश्य द्रष्टव्य है कि अद्वैत दर्शन के अनुरूए जहां व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है, वहां सांवृत्तिक सत्य की स्थिति मिथ्या दृष्ठि वालों के लिए है–मृषादृशां संवृत्तिसत्यमुक्तम् (वोधिचर्यावतार)।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख विज्ञानवादी द्वारा नहीं किया गया, परन्तु संवृत्ति का मिथ्यासंवृत्ति भेद, जिसका उल्लेख 'संवृत्ति' का विवेचन करते समय पीछे किया जा चुका है, प्रातिभासिक सत्त की ही ओर संकेत करता है। प्रातिभासिक सत्ता की ही तरह मिथ्या संवृत्ति के उदाहरण मृगमरीचिका आदि हैं।[1]

ऊपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि विज्ञानवाद, अद्वयवाद का ही रूप होते हुए भी शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रवल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।[2]

शुन्यवाद–एक दिग्दर्शन

सौत्रान्तिक वौद्धों ने जगत् के वाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञेय नहीं स्वीकार किया था और विज्ञानवादियों ने जगत् के पदार्थों की सत्ता केवल चित्त रूप में स्वीकार की थी। शून्यवादी का विचार उक्त दोनों से आगे है। शून्यवाद जगत् के वाह्य अस्तित्व को शून्य का रूप मानता है। शून्यवाद का निरूपण वौद्ध दर्शन में हमें दो रूपों में मिलता है। शून्यवाद का एक रूप तो वह है, जिसके अनुसार व्यावहिरक जगत् की सत्यता का निराकरण किया गया है।[3] शून्यवाद के दूसरे रूप के अनुसार परमार्थ तथ्य को ही शून्य रूप कहा है।[4] परन्तु उक्त दृष्टिकोण के अनुसार वौद्ध दर्शन को द्विविधा मूलक अथवा विरोधात्मक नहीं समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारा तर्क यह है कि नागार्जुन प्रभृति शून्यवादियों ने जो जगत् को शून्य रूप कहा है, उससे उनका तात्पर्य भाव, अभाव एवं भावाभाव से रहित तथा सर्वस्वभावानुत्पत्ति लक्षणा वाली शून्यता से है।[5] वौद्ध दर्शन की उकत शून्यता जगत् एवं परमार्थ तत्त्व दोनों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। शून्यवादियों की शून्यता अनिर्वचीनयता रूप है और इस प्रकार परमार्थ तत्त्व एवं जग़त् दोनों ही अनिर्वचनीय हैं। शून्यवादियों ने परम तत्त्व एवं जगत् दोनों को ही सत् तथा असत् से विलक्षण कहा है। यदि कहीं शून्यवादियों ने परमार्थ तत्त्व को सत् कह दिया होता

१. विशेष देखिए–आचार्य नरेन्द्र देव, वौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।
२. देखिए–ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८-३२।
३. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S) पृष्ठ ५०।
४. अतस्तत्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् शून्यमेव। माधवाचार्यः, सर्वदर्शन संग्रह, वौद्ध–दर्शनम् ३१।
५. भावाभावान्तरद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता।
–माध्यमिक वृत्ति, XXIV.

तो अद्वैतवाद और शून्यवाद में अन्तर ही क्या रह जाता। इस प्रकार शून्यवादियों का परमार्थ तत्त्व सदसद् से विलक्षण है, परन्तु वह नितान्त अभाव रूप नहीं है, यही उसकी अनिर्वचनीयता है। जगत् का स्वरूप भी अनिर्वनीय है। शून्यवादियों ने जगत् को भी सत् तथा असत् से विलक्षण माना है। जगत् की सत्ता को शून्यवादी यदि परमार्थ सत्य रूप नहीं मानते तो सांवृत्तिक सत्य रूप तो मानते ही हैं। जगत् को नितान्त अभाव रूप शून्यवादी भी नहीं मानते। इस प्रकार शून्यवादी की दृष्टि से भी जगत् सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार शून्यवादी सिद्धान्त परमार्थ सत्य एवं जगत् दोनों के सम्वन्ध में समान रूप से चरितार्थ होता है। यह वात दूसरी है कि अन्य सिद्धान्तों की तरह शून्यवाद के भी विविध अवान्तर पक्ष मिलते हैं। अतः इस विवेचन के आरम्भ में संकेतित शून्यवाद सम्वन्धी विरोध के सम्वन्ध में यह कहा जाएगा कि शून्यवाद का एक पक्ष यदि जगत् की सत्यता का निराकरण करता है तो दूसरा पक्ष परमार्थ सत्य को शून्य रूप कहता है। शून्यवादियों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद सिद्धान्त के द्वारा भी उक्त कथन का ही समर्थन होता है। शून्यवाद का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पादवाद ग्रहण करने पर उक्त विरोध को अवसर नहीं रहता, क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार जागतिक विषयों की सत्ता प्रातीतिक है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न हैं एवं अनष्ट हैं।

इस प्रकार जगत् के पदार्थों की स्थिति विच्छिन्न प्रवाह के समान हैं। उक्त ज्ञान ही शून्यता का ज्ञान है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पन्न रूप शून्यता का ज्ञान होने पर एक ओर तो जागतिक पदार्थों की सत्यता का निराकरण होता है और दूसरी ओर परमार्थ सत्य रूप प्रत्युत्पन्न शून्यता का बोध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शून्यवाद के उपर्युक्त पक्षों में विरोध मानना उचित नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्वरूप

शुन्यता, उपादाय प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपत्–ये शून्य की ही संज्ञाएं हैं।[1] शून्यवादियों के अनुसार जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है, वही शून्यता का अर्थ है, परन्तु शून्यता अभाववाचक कदापि नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएं प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्नता का आशय यह है कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न ही हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुओं का भी जो समुच्छेद प्रतीत होता है, वह भी प्रतीत्यसमुच्छेद ही है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद रूप शून्यता के स्वीकार कर लेने पर वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके विनाश का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। शून्यता के अनुसार सभी वस्तुजगत् की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त विच्छिन्न प्रवाह के मान लेने पर शून्यवादी की अनात्मवादिता स्पष्ट है। परन्तु अनात्मवादी होने पर भी शून्यवादी भौतिकवादी भी नहीं है। अपने पदार्थों के क्षणिक विनाश एवं क्षणिक प्रादुर्भाव रूप प्रवाह को माना है। इस प्रकार शून्यवाद आत्मवाद एवं भौतिकवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है।

---

१. यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ।। –मा० का० २४।१८।

शून्यता के विभिन्न रूप

महायानिक ग्रन्थों के अन्तर्गत शून्यता के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते हैं। कहीं शून्यता के १८ प्रकार[१] और कहीं २० प्रकार मिलते हैं।[२] शून्यता के यह रूप निम्नलिखित हैं–

(१) अध्यात्म शून्यता–अंध्यात्म शून्यता आत्मा के अनस्तित्व की समर्थक है। एतदनुसार अध्यात्म तत्त्व को शून्य ही कहा गया है।

(२) बहिर्धा शून्यता–बहिर्धा शून्यता के अन्तर्गत वाह्य जगत् के समस्त पदार्थ आते हैं। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन के अनुसार वाह्य जगत् के विषय भी शून्य रूप हैं।

(३) अध्यात्मबहिर्धा शून्यता–शून्यवादी आन्तरिक एवं वाह्य वस्तुओं की भेदव्यवस्था का विरोधी है। शून्यवाद दर्शन में आध्यात्मिक एवं वाह्य वस्तुएं शून्यता रूप का ही हैं।

(४) शून्यता की शून्यता–जिस प्रकार कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत मिथ्यात्व के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार शून्यवादियों ने भी शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन किया है। शून्यता का शून्यता के द्वारा ही परमार्थ की सिद्धि होती है।

(५) महाशून्यता–महाशून्यता के द्वारा समस्त दिशाओं की शून्यता की ओर संकेत किया गया है।

(६) परमार्थ शून्यता–शून्यवादी के मतानुसार परमार्थ रूप निर्वाण भी शून्य रूप ही है। इसीलिए शून्यवाद दर्शन में परमार्थ शून्यता का वर्णन किया गया हे।

(७) संस्कृत शून्यता–निमित्त प्रत्यय से जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे संस्कृत कहलाते हैं। ये पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं। यही संस्कृत शून्यता का आशय है।

(८) असंस्कृत शून्यता–उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि संस्कृत पदार्थ शून्य हैं तो असंस्कृत भी शून्य ही हैं। उत्पत्ति एवं विनाशराहित्य आदि धर्म जिन पदार्थों के कहे जाते हैं, वे असंस्कृत हैं। परन्तु अनुत्पन्नता आदि धर्म भी सापेक्षिक है। अतः यह भी शून्य रूप ही हैं।

(९) अत्यन्तशून्यता–अत्यन्त शून्यता के द्वारा पदार्थों की पूर्ण शून्यता का संकेत किया गया है।

(१०) अनवराग्र शून्यता–अनवराग्र शून्यता वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त की शून्यता की समर्थक है।

(११) अनवकार शून्यता–अनवकार से अनुपधिशेष निर्वाण का तात्पर्य है। यह भी साक्षेप होने के कारण शून्य रूप ही है।

(१२) प्रकृति शून्यता–प्रकृति स्वभाव की वाचक है और समस्त पदार्थों की प्रकृति न परिवर्तनीय है और न अपरिवर्तनीय। इसलिए प्रकृति भी शून्य रूप ही है।

(१३) सर्वधर्म शून्यता–जगत् के समस्त पदार्थ या धर्म स्वभाव विहीन होने के कारण शून्य रूप हैं, यही सर्वधर्म शून्यता का सार है।

(१४) लक्षण शून्यता–लक्षण शून्यतका के द्वारा समस्त पदार्थों, जैसे अग्नि आदि के उष्णत्व आदि की शून्यता सिद्ध की गई है।

---

१. *Dr. Suzuki* : Essays in Zen Buddhism. Third series, pp. 222-227.

२. देखिए–Indian Historical Quarterly, Vol. IX, 1933, pp. 170-187.

(१५) उपलम्भ शून्यता–उपलम्भ शून्यता के द्वारा भूतादि कालत्रय की शून्यता की पुष्टि होती है।

(१६) अभाव-स्वभाव शून्यता–अनेक धर्म संयोग से उत्पन्न पदार्थ का अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं होता। अभाव-स्वभाव शून्यता के अन्तर्गत तात्पर्य ही अन्तर्निहित है।

(१७) भाव-शून्यता–भाव-शून्यता के द्वारा स्कन्ध सत्ता का निषेध किया गया है।

(१८) अभाव-शून्यता–आकाशादि, जिनकी सांसारिक सत्ता नहीं है, अभाव रूप होने से शून्य रूप ही हैं।

(१९) स्वभाव शून्यता–साधारणतया वस्तुओं का जो स्वभाव दिखाई पड़ता है वह भी शून्य रूप ही है।

(२०) परभाव शून्यता–परमार्थ तत्व की किसी वाह्य कारण (परभाव) द्वारा उत्पत्ति स्वीकार करना नितान्त अनुचित है, यही परभाव शून्यता के निरूपण का उद्देश्य है।

इस प्रकार बीस प्रकार की शून्यता के द्वारा शून्यवाद-दर्शन में शून्यता का विशद रूप से वर्णन किया गया है। अब यहां शून्यवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए, शून्यवाद सम्मत धर्म निःस्वभावता, सत्यद्वयकल्पना एवं निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

धर्मनिःस्वभावता–शून्यवाद दर्शन के अनुसार सभी संस्कार मृषा एवं मोषधर्मा हैं। केवल निर्वाण ही मोषधर्मा न होकर सत्य है।[1] जगत् के समस्त धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं। इस प्रकार निःस्वभावता ही शून्यता है।

शून्यवादी की सत्यद्वयकल्पना–विज्ञानवादी की तरह शून्यवादी भी दो प्रकार का सत्य मानता है–एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य।[2] विज्ञानवादी के अनुसार परमार्थ सत्य 'विज्ञान' है और शून्यवादी के दर्शन में 'शून्य'। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति सत्य एवं परमार्थ सतय का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि संवृत्ति सत्य मिथ्या दृष्टि का विषय है और परमार्थ सत्य सम्यक् द्रष्टा का विषय।[3] यह सम्यक् द्रष्टा का विषय ही परम तत्व है। परन्तु स्वरूपतः यह भी असिद्ध है।

संवृत्ति सत्यानुवर्तिनी मिथ्या दृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत शुद्ध तथा नीरोग इन्द्रिय सम्पन्न व्यक्ति का वाह्य विषयक ज्ञान आता है और दूसरे प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत दोषपूर्ण इन्द्रियों वाले व्यक्ति का ज्ञान आता है। इन दोनों में भी आपेक्षिक दृष्टि से दूसरे प्रकार का सांवृत्तिक सत्य मिथ्या है। यहां यह कह देना और संगत होगा कि शून्यवादी के अनुसार सांवृत्तिक पदार्थों की सत्यता केवल लोकदृष्टि से ही विचार्य है, परमार्थ दृष्टि से तो यह कृत्रिम ही है।[4]

जहां तक परमार्थ सत्य का प्रश्न है, वह शून्यवादी के अनुसार वाणी एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह तो स्वसंवेद्य सत्य है। अतः इस तत्व का उपेदश भी असम्भव है, क्योंकि वह तो भाव, अभाव,

---

१. एतद्धि खलुभिक्षवः परमं सत्यं यदिह न मोषधर्मनिर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माण इति।–मा० का० वृ०, पृष्ठ २३७।

२. द्वेसत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।

३. मा० का० ६।२३।

४. मध्यमकावतार ६।२४, २८।

स्वभाव, परभाव, सत्य, असत्य, शाश्वत-उच्छेद नित्य, अनित्य, सु:दुख-दु:ख, शुचि, अशुचि, आत्मा, अनात्मा, शून्य, अशून्य, लक्षण, लक्ष्य, एकत्व, अनेकत्व एवं उत्पाद-विरोधादि से वर्जित है।[1] परन्तु परमार्थ तत्व की देशना उपर्युक्त सांवृत्तिक सत्य को स्वीकार किस बिना असंभव ही है। इसके साथ ही साथ यह भी तो निश्चित ही है कि परमार्थ ज्ञान के बिना निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती।[2] चन्द्रकीर्ति का कथन है कि उक्त सत्यद्वय का ज्ञान हुए बिना दुर्दृष्टा शून्यता उसी प्रकार नाश कर देती है, जिस प्रकार कि दुर्गृहीत सर्प अथवा दुष्प्रसाधिता विद्या नाशकर्त्री सिद्ध होती है।[3]

विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की संवृत्तिका अन्तर

संवृत्ति सत्य के विषय में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की विचार धारा में भेद है। शून्यवादी के अनुसार धर्मों का आभासरूप संवृत्तिसत्य अनधिष्ठान है। क्योंकि शून्यवाद के अनुरूप शून्य धर्मों से ही शून्य धर्म उत्पन्न होते हैं। विज्ञानवादी का मत उक्त विचार से भिन्न है। विज्ञानवादी के अनुसार तो संवृत्ति-धर्मों का अस्तित्व धर्मता-तथता विशेष के कारण है।[4]

निर्वाण

शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्यता ही निर्वाण रूप है। शून्यवादी निर्वाण की सक्रम व्यवस्था बतलाते हुए कहता हे कि शून्यता शिवरूप है और यह शिवरूप शून्यता अशेष प्रपंचोपशम कर्त्री है। इस शून्यता का ज्ञान होने पर अशेष कल्पनाजाल रूप प्रपंच का विनाश हो जाता है और प्रपंचविनष्टि होने पर समस्त विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। विकल्पनिवृत्ति होने पर अशेष कर्म क्लेषों की निवृत्ति होने पर जन्म वन्धन की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार शून्यता एवं प्रपंच की निवृत्ति का कारण होने से निर्वाण रूपा है।[5] बौद्ध दर्शन का निर्वाण अप्रहीण,[6] अश्रम प्राप्त,[7] अनुच्छिन्न,[8] अशाश्वत[9] तथा अनिरूद्ध एवं अनुत्पन्न है।[10] शून्यवादियों ने निर्वाण को भावाभाव रूप माना है।

शून्यवादी आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण रूप शून्य का लक्षण बतलाते हुए शून्य की निम्नलिखित पांच विशेषताएं बतलाई हैं–

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म् दर्शन, पृष्ठ ५५६।

२. व्यवहारमनाश्रित्यपरमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥–म० का० २४।१०।

३. विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्वो वा दुर्गृहीतो विद्यावा दुष्प्रसाधिता॥–मध्यमकावतार २४।११।

४. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ ४७८।

५. माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

६. जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता।

७. जो श्रम द्वारा लभ्य फल के समान प्राप्तव्य नही है।

८. जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता।

९. जो सस्वभाव पदार्थों के समान नित्य नहीं है।

१०. जो स्वभाव से अनिरुद्ध और अनुत्पन्न हो।

(१) अपर प्रत्यय–शून्य उपदेशादि द्वारा ज्ञातव्य न होकर स्वसंवेद्य है। अद्वैतवादियों का अद्वैत तत्व ब्रह्म भी इसी प्रकार का है। इस विषय का विवेचन अभी आगे यथास्थान किया जाएगा।

(२) शान्त–निर्वाण रूप शून्य शान्त होने के कारण समस्त धर्मों एवं स्वभावों से रहित है।

(३) प्रपंचाप्रपंचित–शून्य तत्व वाणी द्वारा व्याख्येय नहीं है। शून्यवादी नागार्जुन ने इस विषय का विवेचन करते हुए जहां प्रपंच शब्द का उल्लेख किया है, वहां उसका अर्थ वाणी ही है।[1]

(४) निर्विकल्प–शून्य तत्व निर्विकल्प होने के कारण चित्त के समस्त सत एवं असत् विकल्पों से रहित है।

(५) अनानार्थ–सधर्म वस्तुओं की तरह शून्य तत्व नानार्थ नहीं है। वह अधर्मा है। इसलिए अनानार्थ है।

इस प्रकार निर्वाण रूप शून्यता समस्त क्लेशों की निवृत्ति एवं परम सुख के अनुभव का नाम है।

निर्वाण की असत्यता–जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष की विवेचना पारमार्थिक नहीं है, उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत भी निर्वाण की सत्यता असिद्ध बतलाई गई है। शून्यवादी आचाय्र चन्द्रकीर्ति निर्वाण की अपारमार्थिकता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि निर्वाण सम्बन्धी समस्त देशना अनिर्वाण की ही देशना है। आचार्य चन्द्रकीर्ति का कथन है कि निर्वाण की समस्त देशना का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार की आकाशकृत ग्रन्थि आकाश द्वारा ही मोचित होती है।[2]

अब हम यहां शून्यवाद एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन करेंगे।

शून्यवाद और अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन

शुन्यवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवे वैषम्य दोनों मिलते हैं। साम्य का कारण तो यह है कि दोनों मिलते हैं। साम्य का कारण तो यह है कि दोनों दार्शनिक की उपनिषद्विचाररूपिणी मौलिक पृष्ठभूमि एक ही है। जहां तक दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों के वैषम्य का प्रश्न है, बौद्ध एवं अद्वैती दोनों के चिन्तन की दिशा का क्रम पूर्णतया भिन्न है। अतः शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक ही है। यहां इन दोनों सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का विवेचन किया जाएगा। शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ने ही परमार्थ सत्य को अद्वैत कहा है। शून्यवादी का यह सत्य शून्य है तो अद्वैतवादी का ब्रह्म। शून्यवादी ने शून्य की निःस्वभावता सिद्ध करके उसी निर्गुणता क़ा पिष्टपेषण किया है, तो उपनिषदों की भाषा में पूर्णतया संकेतित हुई है।[3] शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार परमार्थ तत्त्व को अपर प्रत्यय, शान्त,

---

१. माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

२. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतोग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः॥–म० का० वृ०, पृष्ठ ५४०।

३. केनोपनिषद्, ३।११, बृ० उ० २।५।१६, ३।८।८, कठ० उ० १।३।१५। ईशावास्योपनिषद् ५,६,७ मुण्डक उपनिषद् १।६, माण्डूक्योपनिषद् ७ देखिए, शांकर भाष्य।

प्रपंचाप्रपंचित, निर्विकल्प एवं अनानार्थ कहा गया है, उसी प्रकार अद्वैतवाद के प्रस्थापकों ने भी तत्त्व को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अवयपदेश्य, एकात्मप्रत्यय साररूप, प्रपंचोपशम रूप, शान्त, शिवरूप तथा अद्वैत तत्व वाङ्मनसातीत, हैं।[३] जिस प्रकार अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म एवं मुक्ति में भेद न होकर ब्रह्म की मुक्ति स्वरूप है,[४] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी शून्यता ही निर्वाण है।[५] जैसा कि शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ की देशना नहीं की जा सकती।[६] इस प्रकार शून्यवादी परमार्थ की उपलब्धि के लिए व्यवहार की भी देन मानता है।[७] अद्वैतवादी भी शून्यवादी के समान असत्य की उपत्ति स्वीकार करता है।[८] अद्वैती शंकराचार्य ने तो लोक व्यवहार को स्पष्ट ही सत्यानृत का मिथुन कहा है।[९] यह विचार दोनों दार्शनकि सिद्धान्तों में समान ही है कि परमार्थ की उपलब्धि हो जाने पर तत्ववेत्ता के लिए शून्यवादी सत्य एवं अद्वैतवादी के व्यावहारिक सत्य की सत्ताएं शेष नहीं रह जातीं। इस प्रकार शून्यवादी के शून्य एवं अद्वैतवादी के परमार्थ सत्य-ब्रह्म सम्बन्धी विचार में पर्याप्त समानता है। इसी समानता के कारण एकाधिक विद्वानों ने शून्यवादी बौद्ध को अद्वैयवादी[१०] और शून्यवाद को अद्वैतवाद कहा है।[११] परन्तु शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के अन्तर्गत कुछ ऐसा विरोध मिलता है कि दोनों की पृथक् स्थिति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। अब दोनों सिद्धान्तों के विरोध का विवेचन किया जाएगा।

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर साम्य होने पर भी यह भेद स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत के जहां परमार्थ सत्य ब्रह्म निश्चित रूप से 'सत्' घोषित किया गया है, वहां शून्यवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार से शून्य की अनिर्वचनीयता[१२] का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के शून्यवाद दर्शन में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभयात्मक तत्त्व[१३] की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चय ही अद्वैतवादी के 'सत्' ब्रह्म से भिन्न

---

१. माण्डूक्योपनिषद् ७ तथा शांकर भाष्य।
२. बोधिचर्यावतार ६।२।
३. कठोपनिषद् १।२।२३।
४. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था-ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।५२।
५. शून्यतैव सर्वप्रपंचलक्षणत्वान्निवर्णिमुच्येत।-मा० वृ०, पृष्ठ ३५१।
६. मा० का०२४।१०।
७. वही, २४।१०।
८. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।
९. सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः
-ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
१०. नामालिंगानुशासनम्-१।१४, नैषधीय चरितम्, २१।८७-चण्डिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित-१९५१, प्रथम संस्करण।
११. अद्वैतवाद सुगतस्य हन्तिपदक्रमो यच्च जडद्विजानाम्।-धर्मशर्माभ्युदय, १७।६६।
१२. खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।
१३. माध्यमिक कारिका, १।७।

है। अद्वैत दर्शन में तो सदसद्‌भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के बतलाए गए हैं।[१] इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कहकर माया को ही अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्य को अनिर्वचनीय मानने के कारण शून्यवादी को अद्वयवाद या अद्वैतवाद न कहकर अनिर्वचनीवाद कहना अधिक संगत है। परन्तु शून्यवादी द्वारा की अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में स्थापना होने पर शून्यवाद को अभावमूलक या असद्‌वादमूलक दर्शन नहीं समझना चाहिए। इसीलिए शून्यवाद के समालोचकों ने शून्य की सत्ता मानने में संकोच नहीं किया है।[२] शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहां अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहां शून्यवादी ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, शून्यवाद दर्शन में तो शून्यता ही निर्वाण रूप है।

इस विषय से यह स्पष्ट है, शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य होते भी, बहुत कुछ मौलिक वैषम्य मिलता है। अतः दोनों सिद्धान्तों का पार्थक्य स्पष्ट ही है।

सत्ता सम्बन्धी विचार

शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना का विवेचन करते समय शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शून्यवादी की ही तरह अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता को तो स्वीकार करता ही है, साथ ही वह प्रातिभासिक सत्ता का भी पक्षपाती है। शून्यवादी ने पृथक् रूप से प्रातिभासिक सत्ता को तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु शून्यवादी की मिथ्या संवृत्ति अद्वैतवादी की प्रातिभासिक सत्ता के पूर्ण रूप से समीप कही जा सकती है।[३]

संवृत्ति एव अविद्या

शून्यवादी के जिस सांवृत्तिक सत्य का ऊपर हमने उल्लेख किया है, उसक मूल संवृत्ति है। इसी प्रकार अद्वैतवादी के जिस व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी संवृत्ति को अविद्या रूप माना है। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार कि अद्वैतवाद दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तत्त्व की आवरणरूपिणी और विक्षेप शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टि कर्त्री मानी गयी है,[४] उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्यारूपिणी संवृत्ति यथार्थ परिज्ञान की आवरण कर्त्री तथा असत् पदार्थ की आरोपिका बतलाई गई है।[५] इस प्रकार शून्यवादी की संवृत्ति एवं अद्वैतवादी की अविद्या में भी पर्याप्त समानता

१. विवेक चूडामणि, १११।

२. There is in the midst of all them negative descriptions an inconceivable positive which is Sunya. (M.M.Harprasad Shastri, Journal of the Buddhist Text Society, Vol. 2, p. III. p.6.)

३. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।

४. विवेक चूडामणि १४१, १४२।

५. बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ३५२।

दिखाई पड़ती है।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जगत् के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। यहां तक कि अद्वैत मत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर केवल यही है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के विचार भिन्न-भिन्न है। अद्वैत वेदान्त में जहां जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है,[1] वहां शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है।[2] इस प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गये हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' मानता है। इसीलिए उसका शून्यवाद सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पादवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का निरूपण शून्यवाद का विवेचन करते समय किया जा चुका है।

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरमसाध्यावस्था का नाम है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते,[3] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है।[4] शून्यवादी ने तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहा है।[5] इसके अतिरिक्त शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिकसत्तागत ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही दर्शन सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण एवं मुक्तिकाल में प्रपंचप्रवृत्ति का विलय स्वीकार किया गया है।[6] अद्वैतवादियों के जीवन्मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी बौद्धों को भी यह मान्य ही है कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। उक्त कथन का उल्लेख भगवान् बुद्ध द्वारा बड़े बलपूर्वक किया गया है।[7] इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत परिनिर्वाण और अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत विदेह मुक्ति का सादृश्य भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मुक्ति विषयक स्थिति का यह अन्तर

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।
२. उदयोनास्ति न व्ययः, माध्यमिक कारिका, XXIV.
३. आत्मोपनिषत्, ३१।
४. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम् ।।–म० का० वृ०, पृ० ५४०।
५. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S), पृ० १०१, १०८।
६. Nirvana is nearly the cessation of the seeming phenomenal flow (Prapancha pravrtti). *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 142.
७. अंगुत्तर निकाय, तिकनिपात।–देखिए बुद्धवचन, पृ० १७।

विचारणीय है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था की प्राप्त होकर स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है और ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः मुक्तावस्था सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः मुक्तावस्था सच्चिदानन्द स्वरूप सम्पन्न है। इसके विपरीत शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत निर्वाण को न भावरूप स्वीकार किया गया है और न अभाव रूप।[१] इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों ने जहां मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द की चर्चा की है, वहां बौद्ध दर्शन में भी निर्वाण काल में परमसुख का अनुभव स्वीकार किया है।[२] परन्तु यहां यह विचारणीय है कि बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उक्त परमसुख या आनन्द निर्विषय मन का सुख या आनन्द है और अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत यह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शून्यवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहां जीव का मोक्ष माना गया है वहां शून्यवादी के अनुसार चित्त का निर्माण स्वीकार किया गया है।[३]

ऊपर शून्यवाद एवं अद्वैतवाद का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे, एक ओर तो शून्यवाद एवं अद्वैतवाद सिद्धान्तों की श्रृंखला का योग सिद्ध होता है और दूसरी ओर दोनों की मूल विचारभूमियों का विरोध प्रतीत होता है। दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के मौलिक सादृश्य के कारण ही विद्वानों एवं अनेक आलोचकों ने अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराहार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह दिया है। यहां उक्त समस्या की ओर दृष्टिगत करना अप्रासांगिक न होगा।

क्या अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' हैं ?

ऊपर, द्वैतवाद दर्शन एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करके समय अद्वैतवाद तथा उक्त बौद्ध सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिले हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनेक आचार्यों एवं समालोचकों ने अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों के मौलिक वैषम्य की ओर ध्यान न देकर, उक्तय सिद्धान्तों की कतिपय साम्यताओं के आधार पर ही शंकराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन के मूल में बौद्ध दर्शन के विचार-तथ्यों के दर्शन किए हैं। इसके अतिरिक्त इन समालोचकों ने अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। इस सम्बन्ध में हम यहां कतिपय प्रमुख मतों का उल्लेख करेंगे।

पद्म पुराण का मत–पद्मपुराण के अन्तर्गत शंकराचार्य के मायावाद को 'असत् शास्त्र' कहते हुए उस पर प्रच्छन्न बौद्धत्व का आरोप लगाया गया है।[४]

---

१. न चाप्रवृत्तिमात्रम् भावाभावेति परिकल्पितुं पायर्यते, एवं न भावाभावं निर्वाणम्।
–माध्यमिक वृत्ति, पृ० १६७।

२. निव्वाणं परमं सुखं। भागन्दियसुत्तन्त –मज्झिम० २।३।५ धम्मपद १५।८ थेरीगाथा, गाथा ४७६।

३. पदीपस्सेवनिव्वाणं विमोक्खोअदुचेतसो। थेरीगाथा, गाथा ११६।
तथा देखिए–आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५।

४. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैवकथितंवेवि, कलौब्राह्मणरूपिणा।। –पद्मपुराण।
तथा देखिये *N.Shastri* : A Study of Sankara, p. 92.

रामानुजाचार्य का मत–श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने शंकराचार्य को वेदवा- दच्छद्म प्रच्छन्न वौद्ध' कहा है।[1] उन्होंने शंकराचार्य के ज्ञानवाद को उपहासास्पद भी वतलाया है।

भास्कराचार्य का मत–भास्कराचार्य ने भी शांकर-दर्शन पर बौद्ध दर्शन के पूर्ण प्रभाव के दर्शन करते हुए, शांकर मायावाद को महायान बौद्ध दर्शन से ही गृहीत वतलाया है।[2]

योगवासिष्ठ का मत–योगवासिष्ठ के अन्तर्गत तो शून्यवादी के शून्य, ब्रह्मवादी के ब्रह्म और विज्ञानवादी के 'विज्ञानवादी के विज्ञान' को एक समान ही सिद्ध किया गया है।[3]

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त उदयनाचार्य, आनन्दतीर्थ एवं भीमाचार्य एवं भीमाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों ने भी मायावादसमर्थक शांकर दर्शन के मूल में, प्रच्छन्न रूप से बौद्ध विचारों का समर्थन किया है।[4] इन आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय निम्नलिखित समालोचकों के कथन भी विचारणीय है।

डा० दास गुप्त का मत–भारतीय दर्शन के वृहत् इतिहास के लेखक डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने शंकराचार्य के 'ब्रह्म' को नागार्जुन के 'शून्य' के अत्यंत समी प वतलाते हुए कहा है–

His Brahman was very much like the Sunya or Nagarjuna[5]

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त डा० दास गुप्त ने विज्ञानभिक्षु आदि प्रच्छन्न बौद्धवादियों के मत का अनुसरण करते हुए शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध वतलाया है तथा उनके दर्शन को उपनिषद् आत्मा की शाश्वतता के विचार के साथ बौद्धविज्ञानवाद एवं शून्यवाद का मिश्रण कहा है।[6]

डा० बरूआ का मत–डा० बी० एम० बरूआ तो माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असम्भव मानते हैं।[7]

राहुल सांकृत्यायन का मत–भारतीय दर्शन शास्त्र के वहुज्ञ समालोचक विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का ही नामान्तर मात्र कहा है।[8]

भरतसिंह उपाध्याय का मत–बौद्ध दर्शन के समालोचक लेखक भरतसिंह उपाध्याय तो शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वालों से एक पग और आगे बढ़ हैं। उपाध्याय जी ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध के साथ प्रकट बौद्ध भी कह दिया है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है–

---

१. ······वेदवादच्छद्मप्रच्छन्नबौद्धनिराकरणेनिपुणं प्रपंचितम् ।श्रीभाष्य २।२।२७।

२. महायानवौद्धगाथितं मायावदम् ।–भास्करभाष्य १।४।४५।

३. यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदांवरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ।।–यो० वा०, ५।८७।१८।

४. देखिए–भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०२८।

५. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I. p. 403.

६. वहीं।

७. डा० बरूआ के मत के लिए देखिए–*A.K. Ray Chaudhuri* : The Doctrine of Maya, p. 186.

८. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ८२०, किताव महल १९४७, द्वितीय संस्करण।

ब्रह्म को शून्यत्व की ओर ले जाने के कारण, आत्मा को शाश्वत विज्ञान का रूप देने के कारण, शंकर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे।[1]

समालोचना

ऊपर हमने शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' सिद्ध करने वाले जिन आचार्यों एवं अन्य समालोचकों के मत दिए हैं, उनके मतों का आधार शांकर मायावाद, अद्वैतवाद एवं विज्ञानवार और शून्यवाद सिद्धान्तों की यत्किंचित् समानता तथा अध्ययन की अनुकरणमूलक प्रवृत्ति है। शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवादं तथा शून्यवाद दर्शन के पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का अभाव भी उपर्युक्त आचार्यों एवं समालोचकों के मतों का एक प्रधान कारण है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त समालोचकों की दृष्टि, निज-मत-स्थापन के सम्बन्ध में, पक्षपातपूर्ण भी हो गई है।

पद्मपुराण के अन्तर्गत मायावाद को असत् शास्त्र कहकर उस पर प्रच्छन्नबौद्धत्व का आरोप किया गया है। मेरे विचार से, जैसा कि मायावाद को स्पष्ट करते समय कहा जा चुका है मायावाद असत् शास्त्र कथंचित् नहीं है। यहां यह कहना ही पर्याप्त होगा कि बौद्ध दर्शन के विपरीत मायावाद के अन्तर्गत सदसद्वाद से विलक्षण अनिर्वचनीय सत् की प्रतिष्ठा की गई है। अतः मायावाद असत् शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पद्मपुराण का उक्त मत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त की ज्ञानमात्र की परमार्थता के आधार पर शंकराचार्य को 'वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। वैसे तो, रामानुजाचार्य के कथन की पुष्टि में यह कहना सत्य ही है कि शांकर वेदान्त में जहां ब्रह्मज्ञान परमार्थ सत्य है, वहां विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञप्ति मात्र ही परमार्थ सत्य है। परन्तु जैसा कि विज्ञानवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन का भेद प्रदर्शित करते समय पीछे कहा चुका है, विज्ञानवादी के मतानुसार वाह्य जगत् भी विज्ञानमात्र ही है, जब कि शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत वाह्य जगत् की प्रत्यक्ष व्यवाहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। यहां तक कि अद्वैत वेदान्त मत के अन्तर्गत जीव के मुख्य होने पर भी प्रत्यक्ष जगत् का निराकरण नहीं होता।

भास्कराचार्य का भी मायावाद को महायानिक बौद्ध दर्शन से गृहीत वतलाना संगत नहीं प्रतीत होता। इस कथन के समर्थन में हमारा तर्क है कि मायावाद के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में महायान बौद्ध दर्शन की तरह शून्यता का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु जैसा कि कह चुके हैं, व्यावहारिक जगत् की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अद्वैतवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय इस विषय का निरूपण किया जा चुका है।

जहां तक, शंकराचार्य के प्रच्छन्नवौद्धत्य के सम्वन्ध में, डा० दासगुप्त, डा० बी० एम० बरूआ, राहुल सांकृत्यायन एवं भरतसिंह उपाध्याय के मतों का प्रश्न है, इन समालोचक विद्वानों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद को यत्किचित् समानता के आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद, बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से पूर्णतया भिन्न हैं, इस तथ्य का समर्थन अभी पीछे किया जा चुका है। अतः, यहां तो हम

---

१. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०४५।

यह कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० दासगुप्त का शांकर दर्शन के मूल में बौद्ध विज्ञानवाद की विचारभूमि खोजना उचित नहीं है। जहां तक शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद को शून्यवाद कहकर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने की बात है, मेरे विनम्र विचारनुसार यह भ्रममात्र ही है। इस भ्रम की आशंका आचार्य शंकर का भी थी। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि दिग्-देश-गुण-पति-फलभेदशून्य परमार्थ सतय अद्वयब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत्-सा प्रतीत होता है।[1] शंकराचार्य के उक्त कथन से शून्यवाद तथा अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद का भेद से अभिव्यंजित होता है। अतः जिन शंकराचार्य की समालोचक दृष्टि के अनुसार वैनाशिकों का सिद्धान्त सर्वथा अनुपपन्न है,[2] उन्हीं के सिद्धान्त के मूलरूप की पृष्ठभूमि में दर्शन करना निर्मूल एवं तर्कापुष्ट धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जैसा कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर देखा जा सकता है माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) एवं अद्वैतवाद में पर्याप्त विरोध है। अतः डा० वरूआ का शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं मायावाद को शून्यवाद के पूर्णतया समान मानकर माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असंभव मानना या शांकर मायावाद को नागार्जुन के शन्यवाद का ही नामान्तर कहना सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त भरतसिंह उपाध्याय का शंकराचार्य को 'प्रकट बौद्ध' कहना शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन के अभाव का फल या पूर्वग्रह का परिणाम मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः जैसा कि अद्वैतवाद और विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सिद्धान्तों पारस्परिक मौलिक वैषम्य से स्पष्ट किया जा चुका है, अद्वैतवादी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना किसी प्रकार संगत नहीं है। संक्षेपतः, अपने मत की पुष्टि में हम निम्नखित तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं–

(१) बौद्ध दर्शन के प्रस्थापक और अद्वैतवादी आचार्य शंकार दोनों ने ही उपनिषद्रूपिणी माता का स्तन्यपान किया था, अतः दोनों के सिद्धान्तों में समानता होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस समानता के आधार आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौ कहना कदापि संगत नहीं है। दोनों उपनिषद् विद्या के ऋणी हैं। शांकर अद्वैतवाद तो उपनिषद् विद्या की व्याख्या है ही। बौद्ध दर्शन के समालोचकों ने भी मूल बौद्ध दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया है।[3]

(२) शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है। यह विरोध इसी से स्पष्ट है कि अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का निराकरण किया है।[4]

(३) शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में ही समालोचकों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद को पूर्णतया बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के समान मानना है, परन्तु

---

१. दिग्देशगुणतिफलभेदशून्यं हिपरमार्थं सत्अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम् असद् इव प्रतिभाति। –छा० उ० शा०, भा० ८।१।१ का प्रास्ताविक।

२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३२।

३. It appears that early Buddhism was fundamentally influenced by the Upanishads which gave to it its early tendencies towards idealism and Absolutism. Studies in The origin of Buddhism, p. 556, *Dr. G.C. Pandeya* (University of Allahabad, 1957).

४. ब्र० सू०; शा० भा० २।२।२८-३२।

दोनों में मौलिक वैषम्य है। इसीलिए तो अद्वैत वेदान्त के प्रख्यात व्याख्याता विवरणकार प्रकाशात्मयति ने वेंदान्तवाद को सुगत विज्ञानवाद के समान कहने वाली वाणी को 'दुर्जनरमणीय वाणी' कहा है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यंह लेखक शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध न स्वीकार करने वाले डा० राधाकृष्णन[2] एवं सरजानवुडरफ[3] के मत का पूर्णतया समर्थक है। इस प्रकार शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न वौद्ध' कहना तर्क संगत नहीं कहा जा सकता।

भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद और शंकराचार्य का अद्वैतवाद

भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद का निरूपण भी तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शब्दाद्वयवाद के अन्तर्गत 'परा' वाक् या 'विमर्श' ही अद्वैत तत्व है और शांकर अद्वैतवाद में ब्रह्म तत्त्व को सर्वोच्च एवं परमार्थ सत्य के रूप में सिद्ध किया गया है। अद्वैतवादियों के ब्रह्म तत्त्व की तरह भर्तृहरि का शब्दब्रह्म भी शाश्वत तत्त्व है, यही नहीं शांकर अद्वैतवाद की तरह भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद विवर्तवाद का भी समर्थक है।[4] जिस प्रकार शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् ब्रह्म का विवर्त है[5], उसी प्रकार शब्दाद्वयवादी भर्तृहरि के मतानुसार भी जगत् शब्द ब्रह्म का ही विवर्त है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद और शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अन्तर्गत इस सिद्धान्त के विषय में भी मतैक्य ही है कि एक ब्रह्म ही भोक्ता, भोक्तव्य एवं भोगरूप से स्थित होता है।[6] शब्दाद्वयवादी एवं अद्वैतवादी के इस सिद्धान्त में भी समानता है कि एक ही ब्रह्मतत्त्व अविद्या के द्वारा नानारूपता को प्राप्त होता हुआ दिखाई पड़ता है।[7] इस प्रकार भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य है।

शब्दाद्वयवाद एवं शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्तों के उपर्युक्त साम्य के होते हुए भी दोनों की तत्त्वनिरूपणप्रणाली भिन्न ही है। शांकर अद्वैतवादियों का परमार्थ तत्त्व ब्रह्म है और शब्दाद्वयवादियों के अनुसार परमार्थ तत्त्व 'विमर्श' है। शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का नाम

---

१. दुर्जनरमणीयांवाचं जल्पति सुगतः विज्ञानवादसमानोऽयंविज्ञानवाद इति। पंचादिका विवरण, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग, २, पृ० १०३२ से उद्धृत।

२. *Radhakrishnan* : India Philosophy, Vol. II, p. 432.

३. *Sir John Woodroffe* : The World as Power, p. 72, (Ganesh and Co., Madras).

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वंयदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। –वाक्यपदीय।।

५. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविवर्त इत्युदीरतः। –वेदान्तसार २१।

६. एकस्य सर्वबीजस्य यस्यचेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः।।
–वाक्यपदीय, वेदान्तांक-कल्याण, पृ० २७३ से उद्धृतं।

७. विमर्शः (परवाक्) एव ब्रह्म तदेव अविद्यया नानारूपं भासत इतिप्राहुः। –भावप्रदीप, वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १११, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, संवत् १९९३ तथा मिलाइए ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।१९।

मोक्ष है और शब्दाद्वयवादी के अनुसार शब्द ब्रह्म के साथ तादात्म्य ही जीव का मोक्ष है। शब्दाद्वयवादी के अनुसार मोक्ष में भी शब्दात्मा की स्थिति रहती ही है।[1] इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार मुक्तावस्था में सच्चिदानन्दस्वरूपिणी ब्रह्मात्मता की स्थिति सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त शब्दाद्वयवाद एवं शांकर अद्वैतवाद का यह भेद भी विचारणीय है कि शब्दाद्वयवाद के अनुरूप शब्द जगत् की उत्पत्ति का कारण तो है, परन्तु शांकर अद्वैतवादियों की तरह उपादान कारण नहीं।[2] शांकर अद्वैतवाददर्शन में तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है। ब्रह्म की उपादानकारणता माया के कारण है।[3]

गौडपादाचार्य का अजातवाद और शांकर अद्वैतवाद

गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत विस्तार से किया जा चुका है। गौडापादाचार्य एवं शंकराचार्य दोनों के ही दृष्टि कोण के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाएं समान रूप से मिथ्या हैं। इस दृष्टि से तो गौडपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं की एकता का शांकर मत से कोई वैपरीत्य नहीं है। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से तो शांकर मत के अनुसार भी परमार्थ अवस्था में जाग्रत जगत् के अनुभव भी स्वप्नवत् ही हैं। इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का मिथ्यात्व शांकर वेदान्त में भी समान ही है।[4] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शंकराचार्य को स्वप्न अथवा जाग्रत् अवस्थाओं का वैधर्म्य स्वीकार न था। इस वैधर्म्य का प्रतिपादन तो आचार्य शंकर ने बड़े वलपूर्वक किया था।[5] इस विषय का विवेचन भी इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। जहाँ तक गौडपादाचार्य का प्रश्न है, उन्हें भी स्वप्न एवं जाग्रत का भेद स्वीकार ही है।[6] इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थाओं के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के सिद्धान्तों में समालोचकों का भेद देखना समुचित नहीं प्रतीत होता।

आचार्य गौडपाद एवं शंकराचार्य दोनों ही जगन्मिथ्यात्व के समर्थक हैं, परन्तु दोनों के मिथ्यात्व प्रतिपादन में कुछ अन्तर है। आचार्य गौडपाद ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए जो स्वप्नमाया एंव गन्धर्वनगर के दृष्टान्त दिए हैं,[7] वे शांकर सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। शांकर सिद्धान्त के अनुसार जगत् स्वाप्निक माया एवं गन्धर्वनगर के समान असत् न होकर व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत

---

१. वैयाकरणमते शब्दब्रह्मणा तादात्म्यमेवजीवस्य मोक्षः, मोक्षोऽपि शब्दात्मनोपस्थितिरितियावत्। –भावप्रदीप, वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १११।
२. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।२८।
३. विशेष देखिए–कुटुम्वशास्त्री का वेदान्तांक (कल्याण) के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद लेख, पृष्ठ २७३।
४. शा० भा०, मा० का० २।४।
५. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।
६. गौ० का०, २।४।
७. स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथाविश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेपु विचक्षणैः।। –मा० का० २।३१।

आता है। इसी प्रसंग में यह कहना भी संगत होगा कि शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहां माया को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है,[1] वहां अजातवादी गौडपादाचार्य ने माया को असत् ही कहा है।[2] इस प्रकार गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी यत्किंचित् भेद है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के मूल सिद्धान्तों में ऐक्य होने पर भी दोनों के दृष्टिकोण में किंचित् भेद है। शंकराचार्य की तरह गौडपादाचार्य भी अद्वैतवादी हैं, परन्तु उन्होंने अद्वैतवाद अजातवाद के सहारे किया है और शंकराचार्य ने अनिर्वचनीयवाद के आधार पर। दोनों की मायावादी भी हैं, परन्तु एक (गौडपादाचार्य) की माया असत् है और दूसरे (शंकराचार्य) की माया सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

---

१. महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा–विवेकचूडामणि १११।
२. सा च माया न विद्यते।–गौ० का० ४।५८।

अष्टम अध्याय

(उपसंहार)

अद्वैतवेदान्त पर एक विहंगम दृष्टि

इस प्रबन्ध के अन्तर्गत अभी तक हमारा प्रयत्न अद्वैतव वेदान्त का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करने का रहा है। अपने इस प्रयास में हमारी दृष्टि अपेक्षानुसार सर्वथा आलोचनात्मक रही है। फलतः अद्वैतवाद सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन करते समय, इन पंक्तियों का लेखक इस परिणाम पर पहुंचा है कि अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग एवं सैद्धान्तिक प्रतिपादन तो शंकराचार्य ने ही किया है, परन्तु इस सिद्धान्त की वीजात्मक पृष्ठभूमि ऋग्वेद से ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार इस प्रबन्ध में, ऋग्वेद से लेकर शंकराचार्य के उत्तरावर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यो एंव आधुनिक काले के विनोवा प्रभृत्ति दार्शनिक्कों के काल तक का, अद्वैतवाद का ऐतिहासिक विकासक्रम तो सप्रमाण विवेचित हुआ ही है, साथ ही भारतीय–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियों, क्सेनोफेन, डील्स, परमेनिद्, जेनो, प्लेटो एवं अरस्तू आदि यूनानी दार्शनकिों के सिद्धान्तों, इस्लामी दर्शन पद्धति एवं डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्निज, कान्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल तथा शोपेनहार प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ अद्वैतवाद का साम्यसम्बन्ध एवं वैषम्य देखना भी इस अध्ययन की प्रमुख दिशा रही है। दूसरे, शब्दों में, उक्त दिशा इस अध्ययन के विविध तुलनात्मक पक्षों में से एक पक्ष है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रियास्वरूप पुष्पित-पल्लवित होने वाली विभिन्न वैष्णवपद्धतियों के प्रवर्तक रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभुचैतन्य, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ-साथ इन सिद्धान्तों के साथ अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की तुलनात्मक समीक्षा भी इस अध्ययन के अन्तर्गत की गई है। इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए तथा अद्वैतसम इतर दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर अद्वैतवाद के भ्रम निवारण के लिए, इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद तथा शक्त्यद्वैतवाद, वौद्धविज्ञानवाद, शून्यवाद, योगवासिष्ठगात कल्पनावाद, गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं भर्तृहारि के शब्दाद्वयवाद सिद्धान्तों की स्थाना की गई है और इन सिद्धान्तों के साथ शांकर अद्वैतवाद की समताओं एवं विषमताओं पर भी विचार किया गया हे। प्रमुखतया ये विचार सूत्र ही प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठाधार रहे हैं। उपर्युक्त विचार सूत्रों की समालोचनात्मक एवं वैज्ञानिक व्याख्या के यथाशक्ति सम्पन्न करने का प्रयास तो किया जा चुका है, अव उपसंहारत्मक दृष्टि से यहां उपर्युक्त विचार सूत्रों की व्याख्या द्वारा उपलव्ध निर्णयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाएगा।

संहिताएं भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम निधि हैं। जब हम संहिताओं में अद्वैतसिद्धान्तसम्बन्धी विचारों की खोज करते हैं, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद या आत्मवाद का स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक उल्लेख न होने पर भी इनमें उत्तरोत्तर अद्वैतवाद की मूल पृष्ठभूमि अवश्य मिलती है। इतना ही नहीं, अद्वैत सिद्धान्त की पोषक मायावाद आदि विचारधाराओं का मूल स्रोत भी संहिताओं में मिलता है। इम्पीरियल गजेटियर के निम्नोद्धृत कथन में भी यही आशय निबद्ध है।

Even at this time the deepest thinkers began to see dimly that the Atman, or spirit, pervaded all things and that the world and even the gods themselves were but menifestations of it.[1]

इस लेखक के मतानुसार संहिताओं के विविध अद्वैतपोषी तत्त्वों के अतिरिक्त संहितागत देवतावाद में भी अद्वैतवाद की बीजात्मक पृष्ठभूमि मिलती है।

ऋग्वेद में दार्शनिक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से नहीं उपलब्ध होता, किन्तु शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म शब्द का दार्शनिक अर्थ में व्यवहार मिलता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय एवं पंचविंशादि अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अद्वैतवाद सिद्धान्त के स्पष्ट बीज मिलते हैं। इस प्रकार संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों के अद्वैतिक विचार कुछ अधिक स्पष्ट एवं सिद्धान्त पूर्ण हैं।

आरण्यक ग्रन्थों में ब्रह्म-विद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। आरण्यकों में परमात्मा के जगत् कारणत्व का विचार स्पष्ट रूप से मिलता है। ऐतरेयारण्यक में ब्रह्म को प्रज्ञान रूप बतलाया गया है। तैत्तिरीयारण्यक में परब्रह्म का वर्णन प्रजापति रूप से किया गया हैं। तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्मात्मा प्राप्ति की चर्चा भी मिलती है। इस प्रकार आरण्यक ग्रन्थों में ब्रह्म, आत्मा, जगत्कारणवाद एवं मोक्ष आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन मिलता है।

उपनिषद् साहित्य तो वेदान्त विद्या का साक्षात् आधार ही है। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य सदानन्द ने 'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्'[2] की उक्ति के द्वारा ही कर दिया है। इस लेखक की दृष्टि में, उपनिषदों में चाहे अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक प्रतिपादन न हो, परन्तु अद्वैतवाद सिद्धान्तसम्बन्धिनी समस्त सामग्री निश्चित रूप से उपलब्ध होती है। इस सम्बन्ध में इस लेखक का ब्लूमफील्ड, डायसन, मेक्समूलर, मेकेन्जी एवं गफ के मत से पूर्णतया साम्मत्य है। ये विद्वान् उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त की स्पष्ट पृष्ठभूमि स्वीकार करते हैं। हां, इस विषय में इस लेखक का प्रो० डायसन से अवश्य वैमत्य हो गया है कि प्रस्तुत लेखक डायसन महोदय की धारणा के विपारीत उपनिषदों के अन्तर्गत आचार दर्शन की पूर्ण प्रतिष्ठा मानता है। परन्तु उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त की गवेषणा के सम्बन्ध में इस विचार का प्रो० गफ एवं थीवो के इस मत से विरोध हो गया है कि मायावाद सिद्धान्त उपनिषद् दर्शन की देन है। मेरे विचार से प्राचीन उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त की पूर्ण पृष्ठभूमि तो मिलती है, परन्तु मायावाद का सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं। अपने मत की पुष्टि में, एक यह सामान्य कारण भी देखा जा सकता है कि यदि उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता तो विशिष्टाद्वैतवादादि विभिन्न वैष्णव सिद्धान्तों का विकास उपनिषदों की प्रामाणिकता के आधार पर कदापि न होता। अतः इस विषय में यह लेखक

---

१. Imperial Gazetteer of India, Vol. I, p. 404.

२. वेदान्तसार ३।

प्रो० कोलब्रुक एवं मैक्समूलर के इस मत से सहमत है कि प्राचीन उपनिषदों में मायासम्बन्धी विचारधारा का विकास जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इस प्रकार उपनिषदों में अद्वैतवाद दर्शन का स्वरूप देखेन पर, उनमें अद्वैतवाद से सम्बन्धित-आत्मवाद, जीव, जगत्, कार्य-कारणवाद एवं जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति आदि विभिन्न सिद्धान्तों का स्पष्ट एवं विकसित स्वरूप मिलता है।

अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि के रूप में बादरायण के ब्रह्मसूत्र का योगदान महान् है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत जगत् प्रपंच के मिथ्यात्व, मायात्व एवं ब्रह्म की परमार्थसत्यता का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। यह बात दूसरी है कि ब्रह्म सूत्र में अद्वैतवाद के प्रमुख मायासम्बन्धी विचार का उल्लेख केवल एक बार (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) ही मिलता है और वहां भी माया का अर्थ उत्तर कालिक अद्वैती आचार्यों द्वारा गृहीत सदसद्विलक्षणा 'अनिर्वचनीया' माया न होकर, स्वाप्निक प्रपंच मात्र है। कुल मिलाकर, ब्रह्मसूत्र अद्वैती शंकराचार्य के सिद्धान्तों का मूल पृष्ठाधार है। इसके अतिरिक्त शाण्डिल्य सूत्रादि में भी अद्वैतवाद से सम्बन्धित कतिपय विचार सूत्र उपलब्ध होते हैं।

अद्वैतवाद के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से पुराण साहित्य का मळतव भी किसी प्रकार कम नहीं है। पुराण साहित्य भारतीय धर्मदर्शन का यह रम्य कानन है, जिसमें धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के असंख्य सुतरूप वर्तमान हैं। फलतः, पुराणों के अन्तर्गत सामाजिक एवं अन्य विषयों के साथ-साथ अद्वैतवाद का निरूपण शताधिक स्थलों पर मिलता है। पुराणों जैसे प्रवृत्तिप्रधान साहित्य में किसी दार्शनिक सिद्धानत का सांगोपांग एवं सैद्धान्तिक प्रतिपादन खोजना समूचित नहीं प्रतीत होता। इसीलिए पुराण साहित्य के अन्तर्गत एकमात्र अद्वैतवाद सिद्धान्त का समन्यवयात्मक प्रतिपादन नहीं मिलता। वैसे, अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म, जीव, जगत्, आत्मवाद, विवर्तवाद एवं अध्यारोपवाद आदि सिद्धान्तों का निर्देश पुराण साहित्य के अन्तर्गत प्रचुर रूप में मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अद्वैतवाद का प्रमुख पृष्ठाधार मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत यद्यपि अद्वैत शब्द का उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु 'ब्रह्म' का प्रयोग अनेक बार हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मण', 'ब्रह्मणः' आदि शब्द भी गीता में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। हमारे विचार से श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त की प्रामाणिक एवं सैद्धान्तिक विचारधार का समन्वयात्मक निरूपण प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत ज्ञानकर्मसमुच्चय का निरूपण किया गया है। 'सर्वोपनिषदो गावः' के अनुरूप गीता तो उपनिषदों का ही सार है। अतः गीता में अद्वैतवेदानत का निरूपण मिलना स्वाभाविक ही है। इसीलिए अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य शंकर ने अपने भाष्यग्रन्थों में स्थान-स्थान पर गीता के उद्धरण दिए हैं। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता भी अद्वैत सिद्धान्त का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। स्वयं शंकराचार्य का गीता पर भाष्य लिखना ही उक्त तथ्य का प्रमाण है।

अद्वैतवादी शंकराचार्य एक महान् तान्त्रिक एवं शक्तितत्त्व के उपासक थे, यह एक सुविदित तथ्य है। इतना ही नहीं, उन्होंने सौन्दर्यलहरी प्रभृति कई-एक तन्त्र ग्रन्थों का निर्माण भी किया था।

---

१. देखिए–श्रीमद्भगवद्गीता–३।१५, ४।२४, ४।३१, ५।६, ५।१६, ५।२६, ७।२६, ८।१, ८।३, ८।१३, ८।२४, १०।१२, १३।१२, १३।३०, १४।४, १५।५।

साधनापक्ष के अतिरिक्त तन्त्र का दर्शन पक्ष तो अद्वैतवाद का ही समर्थ है। इसीलिए तान्त्रिकों का दार्शनकि सिद्धान्त भी शक्त्यद्वैतवाद के नाम से प्रचलित है। शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत शक्ति को ब्रह्म रूप ही कहा गया है। इस प्रकार तन्त्र के दार्शनिक पक्ष के अन्तर्गत शिव और शक्ति का अविनाभावसम्बन्ध भी अद्वैतवाद का ही पोषक है। परन्तु शांकर अद्वैतवाद तान्त्रिक अद्वैतवाद से सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न है, यह तथ्य भी उल्लंघनीय नहीं है। उदाहरण के लिए, अद्वैतवादी की सदसद्‌विलक्षणा अनिर्वचनीय माया की तरह शक्त्यद्वैतवादी की 'शक्ति' अनिर्वचनीय नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन सप्तम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन शास्त्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय ग्रन्थ है। योगवासिष्ठ के अन्तर्गत अद्वैतदर्शनसम्बन्धी प्रायः सभी सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। परन्तु योगवासिष्ठ पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिए शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठ के अद्वैतवाद में भी कुछ भेद हो गया है। शांकर मायावाद के विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् को 'कल्पना' मात्र सिद्ध किया गया है। अतएव योगवासिष्ठ का सिद्धान्त मायावाद न होकर कल्पनावाद है। इस विषय की तुलनात्मक समीक्षा भी सप्तम अध्याय के अन्तर्गत की गई है। परन्तु शंकराचार्य एवं योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों में भेद होते हुए भी यह निःसंकोच स्वीकार्य होना चाहिए कि योगवासिष्ठ में शांकर अद्वैत-दर्शन की विस्तृत पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्यादि कुछ ऐसे ऋषि-महर्षि भी मिलते है, जिनकी उक्तियों में अद्वैतवाद की अनेक अस्त-व्यस्त एवं असैद्धान्तिक विचार-रेखाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारूचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दी, टंक, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त एवं सुन्दर पाण्डय आदि कतिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं, जिनकी विचारोक्तियों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीज मिलते हैं। इन आचार्यों में शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य गौडपादा अद्वैत दर्शन के अत्यन्त प्रमुख आचार्य हैं। अद्वैतवाद सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित प्रतिपादन का भार सर्व प्रथम आचार्य गौडपाद ने ही संभाला था, जिसको आगे चलकर शंकराचार्य ने पूर्ण रूप से वहन किया था। प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि शंकराचार्य को अद्वैतवाद की पूर्ण सैद्धान्तिक प्रस्थापना के लिए गौडपादाचार्य की दार्शनिक देन के रूप में, अद्वैत दर्शन की एक संक्षिप्त रूपरेखा उपलब्ध हुई थी। इसीलिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रमाण रूप से भी गौडपादाचार्य को उद्धृत किया है। परन्तु जैसा कि सप्तम अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं स्वप्नवादपोषित अद्वैतवाद एवं शकराचार्य के मायावाद समर्थित अद्वैतवाद में भी अन्तर आ गया है।

जैसा कि, अभी तक उपसंहृत विषय से स्पष्ट हुआ है, शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अद्वैतवाद दर्शन के लिए उत्तरोत्तर सबल पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई थी, परन्तु शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्त के सिद्धान्त में अद्वैत दर्शन की पूर्ण व्यवस्थित एवं समन्वित सिद्धान्त योजना का अभाव था। इसी की पूर्ति शंकराचार्य ने की थी। शंकराचार्य ने मायावाद से पुष्ट अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना करके एक ओर तो उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र का समन्वित दर्शन-प्रस्तुत किया था ओर दूसरी ओर अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म ईश्वर, जीव, जगत्, माया एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों की सामंजस्यपूर्ण प्रतिष्ठा की थी। शांकर

अद्वैतवाद का सांगोपांग विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की विशेषताओं का निरूपण इसी अध्याय में आगे किया जाएगा।

शंकराचार्य के पश्चात्वर्ती अद्वैतवाद के समर्थक एवं प्रतिपादक आचार्यों में, सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोधभट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मयति, विमुक्तात्मा, चित्सुख, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि आचार्य प्रमुख हैं। यद्यपि ये आचार्य अद्वैतवाद के ही समर्थक हैं, परन्तु ब्रह्मवाद, अधिष्ठानवाद, जीववाद, मायावाद एवं मुक्ति प्रभृति अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उपर्युक्त आचार्यों में से कतिपय आचार्यों का दृष्टिकोण शंकराचार्य के दृष्टिकोण से कहीं-कहीं भिन्न हो गया है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त गंगापुरी भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्ष मिश्र, रामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्दगिरि, अखण्डानन्द, मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रंगराजाध्वरी, अप्पय दीक्षित, भट्टोजी दीक्षित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठ सूरि, सदानन्द योगेन्द्र आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, कश्मीरक सदानन्दयति, रंगनाथ, अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्न दीक्षित आदि आचार्यों की भी अद्वैत वेदान्त को एक समृद्ध देन प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के अद्वैत दर्शन के शास्त्रीय विचारकों एवे लेखकों में, महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री प्रमुख हैं। उन्नीसवीं बीसवीं के नयी परम्परा के अद्वैती दार्शनिकों में, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्दघोष एवं विनोबा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे तो, टैगोर एवं महात्मा गांधी आदि विचारकों पर भी औपनिषद् वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता ही है। वर्तमान में, डा० राधाकृष्णन् एवं महामहोपाध्याय, गोपीनाथ कविराज आदि विद्वान् भी अद्वैत वेदान्त की इतिहास परम्परा में अपना स्वतन्त्र स्थान रखते हैं।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली वैष्णव दर्शन पद्धतियों के जन्म दाता आचार्यों में, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य मध्वाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण अत्यंत प्रमुख हैं। शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण इन आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण का शांकर अद्वैतवाद के विरुद्ध होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उपर्युक्त वेष्णव आचार्यों ने शांकर दर्शन का ही आधार लेकर अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना की थी। अतएवं शांकर अद्वैतवाद एवं उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों में साम्य पाया जाना भी स्वाभाविक ही है। इस साम्य का उल्लेख पष्ठ अध्याय में हो चुका है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद का वैष्णव आचार्यों के विशिष्टद्वैतवाद, द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि सिद्धान्तों पर प्रभाव भी परिलक्षित होता है। विवधि वैष्णव सिद्धान्तों पर अद्धैतवाद के प्रभाव का उल्लेख भी षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के अतिरिक्त कतिपय अन्य ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त भी मिलते हैं, जिन्हें समालोचकों ने अद्वैतवाद का ही रूप दिया है। परन्तु यह सिद्धान्त शांकर अद्वैतवाद से भिन्न हैं। यहां इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अंगुलिनिर्देश मात्र ही पर्याप्त होगा।

काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य वसुगुप्त द्वारा प्रवर्तित स्पन्दवाद एवं सोमानन्दनाथ द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिा दर्शन के सिद्धान्त, अद्वैतवाद के अधिक समीप हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वयं माधवाचार्य

ने स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् समुचित विवेचन न करके दोनों को मिलाकर एक कर दिया है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है। जहां अद्वैतवाद और स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के वैषम्य की बात है, शैव दर्शन के यह दोनों सिद्धानत अद्वैतवाद से बहुत कुछ भिन्न हैं। उदाहरण के लिए शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है, परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के विपरीत स्पन्द-दर्शन में जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। इसी प्रकार अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी परमेश्वर की उपादान कारणता अभीष्ट नहीं है।

बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद को भी अनेक समालोचकों ने अद्वयवाद का रूप दिया है। परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। जहां विज्ञानवादी के मतानुसार जगत् विज्ञप्ति मात्र है, वहां अद्वैतवादी दर्शन के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। इसी प्रकार शून्यवाद के विरुद्ध अद्वैतवाद के अन्तर्गत परमार्थ सत्य शून्य न होकर सत्-तत्त्व-स्वरूप ब्रह्म है। इन सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन सप्तम अध्याय के अन्तर्गत हो चुका है।

इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का सिद्धान्त पूर्णतया न भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद है न गौडपादाचार्य का अजातवाद, न बौद्धों का विज्ञानवाद और न शून्यवाद, न योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, न काश्मीर शैव दर्शन का स्पन्दवाद और न प्रत्यभिज्ञावाद, और न शाक्तों का शक्त्यद्वैतवाद। उपर्युक्त सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन भी सप्तम अध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की स्वतन्त्र धारा तो ऋग्वेद से उत्पन्न हुई है और संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता एवं तन्त्रादि तथा बादरि प्रभृति प्राचीन आचार्यों से सार ग्रहण करती हुई शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थों में आकर ज्ञान गंगा के रूप में प्रवाहित हुई है।

अब यहां अद्वैतवाद एवं न्यायादि दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

वैसे तो, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से सैद्धान्तिक विरोध स्पष्ट ही है, परन्तु इन सभी दर्शनपद्धतियों के सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से उत्तर मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्त अद्वैतवाद के बहुत कुछ समान हैं। न्याय और अद्वैत वेदान्त की मुक्ति, वैशेषिक का वस्त्ववस्तुविपर्यय और अद्वैत वेदान्त का अध्यारोपवाद, सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अविद्या एवं अध्यास के सिद्धान्त, योगदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त के चित्तवृत्तिनिरोध तथा अविद्या एवं अध्यारोप के सिद्धान्त एवं पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का यह सिद्धान्त कि ईश्वरार्पण बुद्धि से क्रियमाण कर्म मोक्ष का हेतु होता है, आदि अनेक सिद्धान्त हैं जिनमें यत्किचत् भेद होते हुए भी पर्याप्त साम्य मिलता है। इस साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत हमने यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों की अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों से तुलना करते समय अनेक स्थलों पर सिद्धान्त साम्य देखा है। इस सम्बन्ध में हमने क्सेनोफेन, डील्स, परमेनिद, ज़ेनो, प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के फलस्वरूप हम. यहां यह केवल यही कह सकते हैं कि यूनानी

दर्शन पर भारतीय दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव है और इस प्रभाव को मेगस्थनीज प्रभृति यूनानियों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

अद्वैतवाद का डेकार्ट, स्पिनोजा एवं लाइब्निज आदि पश्चिमी विद्वानों पर भी अक्षुण्ण प्रभाव मिलता है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्नज, बर्कले, कान्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल एवं शोपेनहार के दार्शनिक सिद्धान्तों की अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ तुलना करते समय उक्त दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट किया जा चुका है।

स्पिनोज़ा का स्वतन्त्रसत्वसम्वन्धी सिद्धान्त और अद्वैतवाद का ब्रह्मतत्वसम्बन्धी सिद्धान्त, लाइब्निज़ का 'मैटिरियाप्राइमा' वाला सिद्धान्त और अद्वैतवादी का मायाविषयक सिद्धान्त अद्वैतवादी का दृष्टि-सृष्टिवाद और वर्कले का जगत् सत्ता सम्वन्धी सिद्धान्त, कान्ट का व्यावहारिक सत्ता और वस्तुसारात्मक सत्ता का सिद्धान्त और अद्वैतवादी का व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता का सिद्धान्त, फिकते का 'प्रतिनिवृत्ति' का सिद्धान्त और अद्वैतवादी का माया सम्वन्धी सिद्धान्त, शेलिंग का 'डार्कग्राउण्ड' और अद्वैतवादी का अविद्याविषयक सिद्धान्त, हेगल और अद्वैतवेदान्त का परमात्मतत्वसम्वन्धी सिद्धान्त और शोपेनहार और अद्वैतवाद का संकल्पवाद का सिद्धान्त, आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें परस्पर यत्किंचित् विरोध होने पर अत्यन्त साम्य मिलता है।

अद्वैतवाद और इस्लामी दर्शन के अनेक सिद्धान्तों में भी पर्याप्त साम्य मिलता है। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त का 'यतोवाइमानि-भूतानिजायन्ते' से सम्बन्धि सृष्टिसिद्धान्त कुरान के 'इन्नालि' ल्लाह वइन्ना इलैहे राजयून' सिद्धान्त के ही समान है, जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि हम लोग परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और परमात्मा में ही जाएंगे। यही नहीं, इस्लामी दर्शन का 'हमावुस्त' (सव कुछ वहीं है) का सिद्धान्त भी अद्वैतवादी के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ही समान है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयावस्थाओं के समान ही इस्लामी दर्शन में--नासूत, मलकूत, जवरूत और लाहूत अवस्थाएं मानी गई हैं। इन प्रकार के अनेक स्थल प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की तुलना करते समय उद्धृत किए जा चुके हैं। इस लेखक का विचार तो यह है कि यदि भारतवर्ष के मुसलमान एवं हिन्दू अपने दार्शनिक ग्रन्थों के सिद्धान्तों को उचित रूप से समझ लेगें तो भारतवर्ष की इन दो प्रधान जातियों का वैमनस्य पूर्ण रूप से मिट जाएगा।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्व मीमांसा से ही नहीं है, अपितु, यूनानी दर्शन एवं अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों तथा इस्लामी दर्शन से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दिशा में जैसा कि कहा जा चुका है, अद्वैत दर्शन का प्रभाव भी उपर्युक्त दर्शनों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

अद्वैतवाद की विशेषताएं

वेदान्त दर्शन के सम्राट् सिद्धान्त अद्वैतवाद की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो अन्य विविध दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होतीं। यह विशेषताएं ही अद्वैत दर्शन के महत्त्व की प्रकाशिका हैं। यहां इन विशेषताओं का संक्षेप में निरूपण किया जाएगा।

(१) ब्रह्म की सगुणता एवं निर्गुणता

वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसर ब्रह्म के दो रूप हैं–एक 'पर' और दूसरा 'अपर'। 'परब्रह्म' निर्गुण और अपर ब्रह्म सगुण है। अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर संज्ञा दी गई हैं। वस्तुतः, यदि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की सत्त न स्वीकार की गई होती तो देवादि की उपासना के लिए कोई स्थान न रह जाता। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके अद्वैतवादियों ने उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि सम्भव मानकर ईश्वर उपासना की संगति सिद्ध की है। इससे अद्वैत वेदान्त की समन्वयवादिता भी स्पष्ट होती है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन की समन्वयवादिता के कारण ही इस दर्शन में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, तान्त्रिकों एवं मान्त्रिकों तथा अन्य आगामी सिद्धान्तों के लिए भी स्थान प्राप्त होता है।

(२) सृष्टिवैषम्य और ईश्वर

लोक में सृष्टिवैषम्य स्पष्ट है। इस वैषम्य के कारण ही संसार में कोई राजा, कोई भिक्षुक, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई मुमुक्षु और कोई बुभुक्षु दिखाई पड़ता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सृष्टिवैषम्य ईश्वर का दोष नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर धर्म एवं अधर्म की अपेक्षा करके ही विषम सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार सृष्टि वैषम्य का मूल धर्माधर्म मानने के कारण, अद्वैत वेदान्त में कर्म का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है।

(३) आचार का महत्त्व

अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति की उपलब्धि सिद्ध की गई है। इस दृष्टि से तो समस्त कर्मजाल अविद्या है, परन्तु अद्वैतवाद दर्शन के प्रतिपादक शंकराचार्य ने परमसाध्य मोक्ष की उपलब्धि में कर्म के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कर्म द्वारा संस्कृत होने पर ही विशुद्धात्मा आत्मबोध करने में समर्थ होता है।[1] आत्म दर्शन के लिये चित्तशुद्धि, उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार कि मुखदर्शन के लिए दर्पण का नैर्मल्य आवश्यक होता है। इस प्रकार कर्म का महत्त्व स्वीकार करते हुए अद्वैतवादियों ने भारतीय दर्शन में अध्यात्म एवं आचार पक्ष का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। अद्वैत दर्शन में जिस काम्यरहित कर्म का समर्थन किया है, वह भारतीय आचारवाद का ही समर्थक है। मैं इस सम्बन्ध में प्रो० डायसन के इस मत से सहमत नहीं हूं कि उपनिषदों में आचारतत्त्व की प्रतिष्ठा की न्यूनता है।

(४) सत्तात्रय की कल्पना

प्रातिभासिक व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं की स्थापना अद्वैतवाद दर्शन की अत्यंत उपयोगी विशेषता है। इस सत्तात्रय की कल्पना के द्वारा न अद्वैतवाद की हानि होती है और न जगत् की सत्यता का निराकरण होता है। शुक्ति-रजत प्रातिभासिक सत्ता का, जगत् व्यावहारिक सत्ता का और ब्रह्म परमार्थ सत्ता का उदाहरण है। व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत होने के कारण शून्यवादी की तरह शून्य

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य ४।४।२२।

अथवा नितान्त असत् न होकर सत्य है। परन्तु जगत् परमार्थ दृष्टि से सत् भी नहीं है। परमार्थावस्था में तो जगत् की व्यावहारिक सत्यता का ही निराकरण किया गया है। यही अद्वैत दर्शन का वैशिष्ट्य है। इससे जगत् की व्यावहारिक सत्यता की भी रक्षा हो जाती है और अद्वैतवाद की पुष्टि भी हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन की यह विशेषता उसे व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करती है।

(५) मायावाद की देन

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन की प्रमुख विशेषता है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किए विना अद्वैतवाद का प्रतिपादन कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव ही कहा जाएगा। शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप माया सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवर्चनीय बतलाई गई है। इस प्रकार अनिर्वचनीय होने के कारण अद्वैतवादी की मायां स्वप्न, गन्धर्व नगर, एवं शशश्रृंग आदि की कल्पना से भिन्न है। इसी माया शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर सृष्टि का निर्माता है। माया के कारण ही परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है।

(६) जगत् का मिथ्यात्व

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् को मिथ्या सिद्ध किया गया है। परन्तु यहां यह विचारणीय है कि अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत जगत् शशश्रृंग अथवा आकाश कुसुम के समान अलीक नहीं है, अपितु जैसा कि कहा जा चुका है, व्यावहारिक दृष्टि से सत् है। अतः अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व से सदसद्विलक्षणत्व का ही आशय ग्राह्य है। शांकर वेदान्त का यह मिथ्यात्व अनिर्वचनीयत्व पर आधारित है।

(७) विवर्तवाद

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में विवर्तवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन का अनुपम सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अनुरूप जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। यह उसी प्रकार है, कि जिस प्रकार कि बुद्बुदों एवं तरंगादि की सत्ता जल से पृथक् नहीं है। जिस प्रकार जल तरंगादि को जलभिन्न देखना अज्ञान बुद्धि है, उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् को देखना भी अविद्या है। यही विवर्तवाद का सिद्धान्त हैं। अद्वैतमण्डन के लिए यह सिद्धान्त महान् उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(८) अधिष्ठानवाद और अध्यासवाद

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठानवाद और अध्यासवाद के आधार पर ब्रह्म, और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। इस सिद्धान्तद्वय के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास है। अध्यास अविद्या का रूप है और जगत् का उत्पादक है। परन्तु मृगतृष्णा आदि अनुभव भी विना अधिष्ठान के नहीं उत्पन्न हो सकते, इसीलिए अद्वैतवाद दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से असत् जगत् की कल्पना भी अधिष्ठान के अभाव में सम्भव नहीं है। अतएव अद्वैत वेदान्त में, आध्यासिक जगत् की सत्ता

सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादियों ने ब्रह्म को अधिष्ठान कहा है।

(९) मुक्ति का सिद्धान्त

मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की योजना एक अनुपम देन है। आत्मबोध हो जाने पर, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्ण न होने के कारण शरीर धारण करने वाला जीव भी अद्वैत वेदान्त में मुक्त कहलाता है। जब जीव के प्रारब्ध कर्मों का भी भोग समाप्त हो जाता है तो वह शरीरत्याग होने पर विदेहमुक्त कहलाता है। इस प्रकार अद्वैतवदोन्तसम्मत मुक्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वारा एक ओर तो कर्म-फलभोग के न्याय का निर्वाह हो जाता है और दूसरी ओर इसी जगत् में अज्ञानबन्धन से मुक्ति सम्भव होने के कारण भारतीय दर्शन की प्रामाणिकता का समर्थन हो जाता है।

(१०) अनिर्वचनीयख्यातिवाद

रामानुजाचार्य के सत्ख्यातिवाद, मीमांसक के अख्यातिवाद नैयायिक के अन्यथाख्यातिवाद, बौद्धों के आत्मख्यातिवाद एवं असत्ख्यातिवाद के विपरीत अद्वैतवादी ने अनिर्वचनीयख्यातिवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त के अनुसार शक्ति रूप अधिष्ठान में अध यस्त रजत सत् अथवा असत् न होकर सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त का विशद् विवेचन चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस प्रकार अद्वैतवाद दर्शन की उपर्युक्त कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो इसके सैद्धान्तिक स्वरूप को महान् उपयोगी एवं अपेक्षित महत्व प्रदान करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण अद्वैतवाद की महत्ता अन्य विविध दार्शनिक सिद्धान्तों से बढ़ी-चढ़ी है।

अद्वैतवाद का दार्शनिक एवं व्यावहारिक महत्त्व

दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों आलोचनादृष्टियों से अद्वैतवाद का महत्त्व परम श्लाध्य है। अद्वैतवाद की दार्शनिक महत्ता का एक पक्ष तो इसी से सिद्ध है कि प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय दर्शन पद्धतियों से अद्वैतवाद के सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतीति होती है। कदाचित् ही कोई भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा हो, जिसमें अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिविम्ब न मिलता हो। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत हम विशद रूप से अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का, विविध भारतीय एवं पाश्चातय दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ साम्य एवं सम्बन्ध स्पष्ट कर चुके हैं। अद्वैतवाद के दार्शनिक महत्त्व का दूसरा पक्ष उसी समन्वयवादिता है। अद्वैतवाद की इस समन्वयवादिता के भी दो रूप मिलते हैं। एक समन्वयवादिता तो वह है, जिसके कारण अद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त भारतीय दर्शन पद्धतियों के स्थान प्राप्त है और दूसरी समन्वयवादिता वह है, जिसके कारण अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं प्रतीत होता। अद्वैतवाद सिद्धान्त के दार्शनिक महत्व का तृतीय पक्ष परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया एवं स्वरूप का निरूपण है। वृत्तिनिर्माण द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति का उच्छेद एवं तूलाज्ञान का विनाश करके परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की जो प्रक्रिया अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत बतलाई गई है वह इस दर्शन के अध यात्म पक्ष को एक व्यवस्थित एवं आकर्षक रूप प्रदान करती है। इसके साथ ही साथ अद्वैत दर्शन के

अनुसार जीव वौर ब्रह्म की अद्वैतता के द्वारा परमात्म साक्षात्कारका जो स्वरूप निश्चित किया गया है, वह सायुज्यादि की तरह स्थूल कारणों की अपेक्षा न रखता हुआ चरमसूक्ष्मता का रूप है। अतः यह स्पष्टतया स्वीकार होना चाहिए कि समीप आधारों पर आधारित सायुज्यादि से प्राप्त आनन्द की अपेक्षा असीम तत्त्व की उपलब्धि से प्राप्त आनन्द कहीं अधिक व्यापक, शाश्वत एवं सघन होगा। इस प्रकार अद्वैतवाद का दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट है।

अद्वैत दर्शन अद्भुत आध्यात्मिक दर्शन होने के साथ-साथ एक विलक्षण व्यावहारिक दर्शन या जीवनदर्शन भी है। अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता का समर्थन करना उसके व्यावहारिक दर्शन या जीव दर्शन होने की ही मूल पृष्ठभूमि है। अद्वैतवादियों द्वारा जगत् की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना होने के कारण ही इस दर्शन में जीवनदर्शन के उपयोगी तत्वों–जैसे, दया, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा एवं विश्वबन्धुता का समावेश मिलता है। ऐसे असंख्य तत्वों का मूल अद्वैतवेदान्तदर्शन का एकात्मवाद का सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत ईर्ष्या, द्वेष, अस्मिता एवं असूया आदि दुर्भावों को किंचित् मात्र भी स्थान नहीं है।

अद्वैतवादियों ने कर्म द्वारा चित्त शुद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार करके अद्वैत दर्शन को पूर्णतया व्यावहारिक दर्शन बना दिया है। अद्वैतवाद के आचार पक्ष के फलस्वरूप पहले मनुष्य एकात्मवाद पर आधारित सत् कर्मों के द्वारा आदर्श नागरिक बनता है और फिर इसी जीव में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुयायी का उद्देश्य जहां परम सत्य की जिज्ञासा एवं मुक्त होना है, वहां आत्मसंयम, धैर्यशालिता एवं चित्तशान्ति आदि भी उसकी प्रमुख आवश्यकताएँ हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रख्यात समालोचक विद्वान् प्रो० उमेशचन्द्र भट्टाचार्य के नीचे उद्धृत कथन में भी यही आशय निहित है–

The true requirements of a Vedantist according to him, were self restraint, tranquility, etc. and a desire to know the truth and be librated.[1]

इस प्रकार अद्वैत दर्शन एक सफल जीवन दर्शन भी है। अद्वैत दर्शन सम्मत जीवनदर्शन की यह विशेषता विचार करने योग्य है कि इसके अनुसार जीव को इसी लोक में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति सम्भव वतलाई गई है। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई समालोचक अद्वैत दर्शन को पलायनवादी कहे तो इससे तो उसे समालोचक की ही पलायनवादिता का अनुमान लगाना औचित्यपूर्ण होगा।

---

१. देखिए—Indian Historical Quarterly, 1920 के अन्तर्गत उमेशचन्द्र भट्टाचार्य का Vedanta and Vedantist लेख।

परिशिष्ट–१

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृतग्रंथः–

अग्निपुराण
अथर्वशीर्ष, गीताप्रेस गोरखपुर
अद्वैतचन्द्रिका
अद्वैततत्त्वसुधा, (प्रथम तथा द्वितीय भाग)
अर्थसंग्रह लौगाक्षि भास्कर, चौखम्बा दि० १६७३
अद्वैतब्रह्मसिद्धि
अद्वैतसिद्धि सरस्वती, मधुसूदन, निर्णयसागर बम्बई १६६१
अहिर्बुध्न्यसंहिता
अणुभाष्य, प्रकाश टीका (पुरुषोत्तमाचार्य)
अमरकोष
अभिधावृत्तिमातृका
आगम प्रामाण्य
आत्ममीमांश
आत्मबोध ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना
आलवन्दार स्तात्र (यामुनाचार्य)
इष्टसिद्धि, विमुक्तात्मा
ईशावास्योपनिषद् श्रीरंगम्
ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र
उपदेश साहस्री, शंकराचार्य निर्णयसागर
ऋग्वेद संहिता, होशियारपुर १६६१
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेयाण्यक
ऐतरेयाण्यकपर्यालोचनम्
ऐतरेयोपनिषद् शांकर भाष्य, श्री रंगम्
कुलार्णव तन्त्र
कुलचूडामणि तन्त्र, गणेश एण्ड कं० मद्रास १८५६
कूर्म पुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
केनोपनिषद्, श्रीरंगम्
कैवल्योपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास १६८० दिल्ली
कौषीतकि ब्राह्मण
कौषीतकि उपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास १६८० दिल्ली
क्षेमराजकृत उद्योत टीका
खण्डनखण्डखाद्य, लक्षमण शास्त्री सम्पादित बनारस १६१४
ख्यातिवाद (शंकर चैतन्य-भारती, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, काशी)
गरुडपुराण, काशी संस्कृत सिरीन वाराणसी
गन्धर्व तन्त्र
गौडपादकारिका, गौड़पाद, आनन्दाश्रम
विमुक्तात्मा
चिद्गगनचन्द्रिका, आगमानुसंधान-समिति, कलकत्ता १६३७
चिन्तामणिरहस्य
चैतन्यचरितामृत
छान्दोग्योपनिषद्, श्री रंगम्
तर्कालंकार भाष्य
तन्त्रालोक काश्मीर सिरीज
तर्कसंग्रह, अन्न भट्ट, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
तर्कदीपिका

कठोपनिषद्, श्रीरंगम्
कर्पूरादिस्तवराज
तत्त्ववैशारदी हार्वर्ड ओरियन्टल सीरिन
तत्त्वप्रदीपिका
तत्त्वबोध
तत्त्वनिर्णय मध्वाचार्य
तन्त्ररहस्य
तत्त्वार्थदीपखण्ड
तांड्यब्राह्मण
तैत्तिरीयब्राह्मण
तैत्तिरीयाण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
त्रिंशिका भाष्य
दशश्लोकी, चौखम्वा संस्करण, १९८५
दुर्गासप्तशती, गीता प्रेस गोरखपुर
देवीभागवत पुराण
देवीभावत–देवी गीता
दैवत्तब्राह्मण
दृगदृश्यविवेक
नयनप्रसादिनी टीका
नारदपंचरात्र
नारदीय पुराण, क्लाइन रोड कलकत्ता
नैषधीयचरितम्, मोतीलाल बनारसीदास
नृसिंहतापिन्युपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास
नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास
नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्, मोतीलाल वनारसीदास
न्यायसूत्र, गोतन
न्यायवार्तिकतात्पर्य निर्णय टीका
न्यायभाष्य, वात्स्यायन
न्यायमंजरी
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, विश्वनाथ पंचानन
न्यायवार्तिक उद्योतकर
न्यायरत्नमाला
न्यायमकरन्द
न्यायरत्नावली
न्यायकन्दली
न्यासदशक, वेदान्त देशिक
पद्मपुराण, क्लाइन रोड कलकत्ता
तत्त्वरहस्यदीपिका
तत्त्वकौमुदी
पंचविंशब्राह्मण
पंचपादिका विवरण, विजय नगरम् सिरीज
पंचदशी, बुद्धि सेवाश्रम, रतनगढ़ सं० २०११
प्रश्नोपनिषद्, श्री रंगम्
प्रशस्तपादभाष्य
प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्रपंचहृदय
प्रकरणपंचिका
प्रभाकरविजय
प्रस्थानरत्नाकर
वाजसनेयीसंहिता
वाल्मीकिरामायण
वृहदारण्यकोपनिषद्, श्रीरंगम्
वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मवैवर्तपुराण, मोतीलाल वनारसीदास १८२०
ब्रह्मगीता, क्लाइन रोड कलकत्ता
ब्रह्मसूत्र, अच्युत गंन्थ माला, काशी
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
ब्रह्मसिद्धि, मंडन मिश्र, मद्रास, १८३७
ब्रह्माण्डपुराण क्लाइन रोड, कलकत्ता
भक्तिमार्तण्ड
भक्तिरसामृतसिन्धु
भागवततात्पर्यनिर्णय
भामती, वाचस्पति मिश्र निर्णय सागर वम्वई, १९१६
भास्करभाष्य
भोजवृत्ति हार्वर्ड ओरियण्टल, सिरीन
महाभारत, पूणा संस्करण
मत्स्यपुराण, क्लाइन रोड कलकत्ता
मध्वभाष्य (वेदान्तसूत्र)
महानिर्वाणतन्त्र गणेश एण्ड कं० मद्रास
मनुस्मृति, चौखम्भा, वाराणसी १८६०
महायानसूत्रालंकार
मध्यमकावतार,
मध्ववृहद्भाष्य

पाराशरसंहिता (बाम्बे संस्कृत सिरीज)
पष्टिप्रवाहमर्यादाभेद
मार्कण्डेयपुराण क्लाइव रोड, कलकत्ता
माध्यमिकवृत्ति
माध्यमिककारिका
मानमेयोदय
मानसोल्लास महादेवं शास्त्री संपादित्त मद्रास, १६२०
मीमांसा न्यायप्रकाश
मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर १८८४
मैत्रायण्युपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर १८८४
यतिपतिमतदीपिका व्रज बी० दास एण्ड कं० बनारस
यजुर्वेद संहिता परोपकारिणी सभा, संवत् १६६६, षष्ठ संस्करण
योगसूत्र, पतञ्जलि, वाराणसी १६७६
योग भाष्य, व्यास, वाराणसी १६७६
योगवासिष्ठ, वशिष्ठ, अ० ग्र० काशी १६६१
योगवार्तिक, विज्ञानभिक्षु, वाराणसी १६७१
रत्नप्रभा, गोविन्दानन्द, अ० ग्र० काशी १६७१
रहस्यत्रय
रामोत्तरतापिन्यपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास १६२०
वेदान्तसार रामानुजाचार्य
वेदान्त संग्रह रामानुजाचार्य भगवद्रामानुज ग्रंथमाला १६५६
राजर्मातण्डवृत्ति
रामानुजभाष्य-गीता
लघुचन्द्रिका, गौड ब्रह्मानन्द
लक्ष्मी तन्त्र, निर्णयसागर बम्बई १६७१
ललिता सहस्रनाम, मास्टरखेलाड़ीलाल एण्ड सन्स वाराणसी
लंकावतारसूत्र लन्दन १६२३
वायुपुराण
वाक्य पदीय
वाचस्पत्यम्
वादावलि
वामन पुराण, क्लाइव रोड कलकत्ता
मध्व सिद्धांतसार
माण्ड्क्योपनिषद्, श्री रंगम्
वेदान्तकौमुदी, रामाद्वयाचार्य, मद्रास १८५५
वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, वाराणसी १८५४
वेदान्तकल्पतरु, अभयानन्द नि० सा० बम्बई १८३२
वेदान्तकल्पलतिका
वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली प्रकाशानन्द, कलकत्ता १६३१
वेदार्थसंग्रह
वेदान्तकौस्तुभ
वेदान्तमंजूषा
वैशेषिकसूत्र
शतपथब्राह्मण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
शरणागतिगद्यम् रामानुजाचार्य
शंकरदिग्विजय
शास्त्रदीपिका
शास्त्रदर्पण वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्
शांडिल्यसूत्र
शांकरभाष्य-गीता
शांकरभाष्य-कठोपनिषद्
शांकरभाष्य-वृहदारण्यकोपनिषद्
शांकरभाष्य-गौडपाद कारिका वाणी विलास संस्कृत ग्रंथमाला, काशी १६४२
शांकरभाष्य, ईशादिदशोपनिषद्
शिवदृष्टि
शिवपुराण क्लाइव रोड कलकत्ता
शिवसूत्रविमर्शिणी
शिवगीता
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गिरिधर चौखम्बा बनारस
शैवभाष्य श्रीकठाचार्य
श्वेताश्वतरोपनिषद्, आनन्दाश्रम पूना १८११
श्लोकवार्तिक, कुमारिल भट्ट, मद्रास, १६४०
श्रीभाष्य, रामानुजाचार्य, नि० सा० बम्बई १६१६
श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर
श्रीमद्भागवत पुराण रामानुजाचार्य
श्रीरंगगद्यम् रामानुजाचार्य

विष्णुसहस्रनाम–शांकर भाष्य
विष्णुपुराण, क्लाइन रोड कलकत्ता
विवेकचूडामणि शंकराचार्य, भा० नि०
विवरणप्रमेयसंग्रह
वेदान्तसार, सदानन्द (राममूर्ति शर्मा) दिल्ली १९८९
सप्तपदार्थी
सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य
सकलाचार्य मतसंग्रह रत्नगोपाल भट्ट द्वारा संपादित, चौखम्बा बुक डिपो बनारस १९६०
संक्षेपशारीरक, सर्वज्ञात्म मुनि, चौखम्भा, वाराणसी १९२४
सामवेदसंहिता, कलकत्ता, १८९५
साम्यसूत्र, विनोवा
सायणभ,ष्य, ऋग्वेद
सायणभाष्य, अर्थववेद संहिता
सांख्यकारिका, ईश्वर कृष्ण, नेशनल दि० १९१५
सांख्यसूत्र, कपिल, भा० वि० प्र० काशी
सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञान भिक्षु, भा० वि० प्र० काशी
सिद्धान्तलेशसंग्रह अच्युत ग्रंथमाला काशी, सं० २०११
श्रीवचनभूषण
श्रुतिप्रकाशिका
षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति
षट्संदर्भ जीवगोस्वामी
सिद्धान्तजाह्नवी
सिद्धान्तरत्न
सुबोधिनी, भागवत
सूक्ष्मटीका, गोविन्द भाष्य
सूतसंहिता
सौन्दर्यलहरी, शंकराचार्य, कल्याण मन्दिर कटरा, प्रयाग
स्वर्णसूत्र
स्वच्छन्दतन्त्र
स्पन्दकारिका
स्पन्दकारिका, कल्लट की टीका
स्पन्दकारिका, राम-टीका
स्पन्दकारिका, क्षेमराज की टीका सहित
हलायुधकोष
हलायुधकोषविवृत्ति

(ख) आंग्ल ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं आदिः

A critical History of Greek-Philosophy. Stance, W.C.
A critical Study of the Sankhya-system. Sovani, V.V.
Āgamaśāstra of Gauḍapāda. Bhattacharya, B.University of Calcutta, 1943.
Ancient India. Mecrindle, J.W.
An Introduction to Ancient Philosophy. Armstrong, A.H. Mathuen & Co: London, 1947.
A Practical Sanskrit Dictionary. Macdonell. Oxford University, 1924.
A Study of Kant. Ward, J.
A Study of Śaṅkara Shastri, N.Calcutta, 1924.

Aristotle. Ross. Mathuen. London. 1953.
Brahma Sutra Chatussutri. Sharma, H.D. Oriental Book
Bhuler's report for Sanskrit 1875-76 Agency Poona, 1940.
Catalogue of Manuscripts of the India office, Part IV.
Collected works of Sir R.G. Bhandarkar
Vol : II, IY, VII.
Complete Works of Swami Vivekananda,
Vol : II, VII.
Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy Ranade, R.D. Oriental Book Agency, Poona, 1926.
Conception of Divinity in Islam & Upaniṣads. Wahid Hussain.
Contemporary Philosophy. Dutta, D.M. the University of Culcutta 1950.
Critique of Pure reason. (ET) Meikli John, J.M.D. London, G. Belle & Sons, 1920
Deussen's System of Vedanta (ET)
Dictionary of Philosophy. Rumes. Vision Press, London
Early Greek Philosophy. Burnet, Adam & Charles Black
East & West Radhakrishnan, S.London Allen & Unwin 1954.
Encyclopaedia of Religion & Ethics.
Vol. I, IV, V, VII, IX.
Eassays in Zen Buddhism. Suzuki.
Eassays on Truth and reality. Bradley, F.H.
Evolution of Religion Vol: I Caird, E.
Fifth Oriental Conference Proceedings Lahore.
Gauḍāpāda Mahadevan, T.M.P.
Hegal's Lectures on the Philosophy of Religon.
Hegal's Logic.
Hibbert Lectures for 1890. Upton.
History of Bengālı Language and Literature. Sen, D.C.
History of Dharmaśsāstra Vol; I Kane, P.V. Bhandarkar Oriental Research Instt. Poona.

History of Indian Literature. Weber.
History of Indian Philosophy Vol: VII. Belvalkar, S.K. & Ranade R.D.
History of Philosophy, Vol: I & II. Radhakrishnan, S.Allen & unwin, London.
History of Philosophy. Schreglar, A,Oliver Boyd, Edinburgh
Idealistic thought of India. Raju, p.T. London, Allen & Unwin 1952.
Imperial Gazetter of India Vol: I
Indian Antiquary, Oct, 1933.
Indian Historical Quarterly, Vol: VI, 1920:
Indian Language Literature and Philosophy.
Indian Theism. Nical Mecnical, Oxford University Press.
Indian Thought Thibaut, G. & JHA, G.N.
Institution of Metaphysics. Ferrier.
Indian Philosophy : Vol: I, II, III, IV. Das Gupta, S.N. Cambridge University Press.
Indian Philosophy: Vol: I & II. Radhakrishnan, S. London Allen & Unwn.
Indian Philosophy: Vol: I, II, III, IV, V. Maxmuller, F. Sushil Gupta Calcutta.
Indian Philosophy: Vol: I & II Sinha, J.N.Central Agency, Calcutta.
Jha Commemoration Volume Oriental Book Agency Poona.
J.N. Majumdar's paper on the philosophical religion & Social Significance of the Tantra Śāstra. (July, 1915).
Journal of the Amercian Oriental Society 1911, 1913.
Journal of the Annamalai University, Vol: VI No. I
Journal of the Buddhist Text Society Vol: II.
Journal of Oriental Research Vol; III.
K.B. Pathak Commemoration Volume.

Kant's Metaphysics of Experience
Vol: I.
Krishna Swami Aiyangar Commemoration
volume.
Lectures on the Philosophy of Religion Vol: I
Lectures of Shri Aurobindo Shri Aurobindo Circle Bombay
Second SeriesN
Lights of Vedanta Upadhyaya, V.P. Chaukhamba
Sanskrit Series Varanasi, 1952.
Mahāmāyā Woodroffee, J.& Mukhyopadhyaya,
P.N. Madras, 1954.
Misc, essays Vol: I Colebrooke.
Modern Buddhism. Mahamahopadhyaya Shastri, H.P.
Monier Williams Sanskrit English Oxford Clarendon.
Dictionary.
N.B. Utgikar's Report on search
For Sanskrit 1883-84.
Outlines of Indian philosophy. Hiriyanna, M. London Allen &
Unwin
Outlines of the History of Greek Zeller, Routledge & Regan
Philosophy paul, 1953.
Pātañjala Mahābhāṣya Edited by Keilhorn.
Pathway to reality Vo. II Haldane, Gifford Lctures for 1902-
Murray.
Philosophy of Upaniṣads (ET) Deussen, P. Edinburgh.
Philosophy of the Upaniṣads Gough.
Philosphy of Kant Caird, E. Glasgow, James
Maclepose 1877.
Philosophy of Religion Pfleiderer, Willams and Norgate, 1887.
Poona Orientalist Vol. I
Post-Prayer Speech of Vinobaji
in Bihar.
Poussin's Opinions.
Principles of Nature and Grace. Liebniz. Oxford Clarendon 1812.
Principles of Human Knowledge. Berkrley.
Principles of Tantra. Bhattacharya, S.C. Ganesh and
Co: Madras

Proceedings and Transactions of the Seventh All India Oriental Conference, Baroda, 1933.

Religon and Philosophy of the Veda. — Keith, A.B. Harward Series Vol:12.

Sacred Books of the East. Vol: XXXIV. — Thibaut, G. Oxford Clarendon Prcss 1890.

Sacred Books of the East Vol: XV

Sacred Books of the East Vol : XIX.

S.B. Fellowship Lectures (1929). — University of Calcutta 1937

Sanskrit Texts. — Muir.

Sanskrit English Dictionary. — Caral Capller, London 1890.

Satapatha Brāhmaṇa. (S.B.E. Vol:XLIIII) (E.T.) — Eggeling.

Shakti and Shakta — Woodroffee, J.

Studies in Vedānta. — Kirtikar, Vasudeva J. Taraporewala Bombay in 1924

Swami Vivekananda's Speech delivered in Los Angles, California.

System Of Buddhistic thought. — Sozen.

The Awakening of Faith in Buddhism. — Suzuki

The Doctrine of Māyā. — Shastri P.D. Liuzac and Co: London 1911.

The Doctrine of Māyā — Ray Choudhuri, A.k. Das Guptta and Co: Calcutta, 1950.

The Ethics of Spinoza. — Duttan and Co: 1930.

The Great Philospoers. (The Eastern World) — Tomlin, E.V.F. Skeffington, London 1952.

The Great Liberation — Aurthur Avalen.

The Hymns of the Sāma Veda. — Griffith, Lazzaras and Co: Banaras 1919.

The Life of Ramkrishna — Romain Rolland.

The life of Vivekanand and The Universal Gospel. — Romain Rolland.

The Monodology. — Robert Latter, Oxford Glarendon Press, London 1898.

The Origin of Buddhism — Pandeya, G.C. University of

Allahabad. 1957.

The positive Sciences of the Hindus. — Seal, B.N. Longman, 1912.

The Philosophy of Ancient India.

The Philosphy of Viśiṣṭādvaita. — Srinivasachari, P.N. Adyar Library 1946.

The Philosophy of Yogaśiṣātha. — Atreya, B.L.

The Religion of the Veda.

The Ṛgveda — Kaegi.

The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji. — Tandon, V.N. Rajghat Kashi.

The Vedānta. — Ghate, Bhandarkar Oriental Instt. Poona.

The World as Will and Idea. (E.T.) — Haldane.

The World as Power, Power as Matter. — Ganesh and Co: Madras.

Three Great Ācāryas. — Aiyer, C.N. and Tattvabhushan, S. Nastesan, Madras.

Three Lectures on the Vedānta Philosophy. — Maxmuller, F. Longman's Green London.

Vaiśeṣika Philosophy. — Ui.

Vedic Mythology. — Maedonell.

Yoga System of Patañjali. — Woods The Harvard University Press, 1927.

Yoga.Vaśiṣṭha and modern Thought. — Atreya, B.L. Indian Book Shop Banaras 1954.

(ग) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं आदि :

अच्युत — (अच्युत ग्रन्थ माला, काशी)

अद्वैतवाद — गंगाप्रसाद (कला प्रेस इलाहाबाद १९५७)

उपनिषदों का अध्ययन — विनोबा (सस्ता साहित्य मण्डल, १९६१)

कल्याण (वेदान्तांक) — गीत प्रेस, गोरखपुर

कल्याण (उपनिषद् अंक) — गीताप्रेस, गोरखपुर

दर्शन-दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन (किताब महल इलाहाबाद, १९४७)

बौद्धदर्शन तथा अन्य — भरतसिंह उपाध्याय (बंगाल हिन्दी-मण्डल, कलकत्ता)

भारतीय दर्शन (भाग १,२)

बौद्धधर्म-दर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव (विहार राष्ट्रभाषा परिषद् १६५६)
भारतीय-दर्शन — डा० उमेश मिश्र (सूचना विभाग, लखनऊ, १६५७)
भारतीय-दर्शन — बलदेव उपाध्याय
भारतीय-दर्शन शास्त्र — डा० देवराज (हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, १६५०)
भारतीय-दर्शन शास्त्र (न्याय वैशेपिक) — डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (बनारस)
भूदानयज्ञ.....(साप्ताहिक) १६-५-६५ — अ० भ० स० से० सं० राजघाट वाराणसी
मीमांसादर्शन — डा० मण्डन मिश्र शास्त्री
योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त — डा० भीखनलाल आत्रेय (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)
रामकृष्ण लीलाप्रसंग–(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड) — स्वामी सारदानन्द (रामकृष्ण-आश्रम धनतोली, नागपुर)
विचारसागर — मनसुख राम सूर्यराम सम्पादित
विनोबासम्वाद — व्योहार राजेन्द्रसिंह (अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वाराणसी)
शंकराचार्य — डा० राममूर्ति शर्मा साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ)
सर्वोदय दर्शन — दादा धर्माधिकारी (अ० भा० से० सं० राजघाट, वाराणसी)
सूफीमत-साधना और साहित्य — रामपूजन तिवारी (ज्ञान मण्डल, बनारस २०१५)
स्थितप्रज्ञ दर्शन — विनोबा (सस्ता साहित्य मण्डल)

(घ) बँगला ग्रन्थः

अद्वैतवाद — राजेन्द्रनाथ घोष
वेदान्तदर्शन–अद्वैतवाद — आशुतोष शास्त्री
वेदान्तदर्शनेर इतिहास (प्रथम भाग) — प्रज्ञानानन्द सरस्वती

(ङ) संस्कृत-जर्मन ग्रन्थ :

सेन्ट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी — बोथलिंक एवं रॉथ

(च) अरबी ग्रन्थ :

कुरान (अंग्रेजी अनुवाद)

परिशिष्ट–२

अनुक्रमणिका

अ

अंगुत्तर निकाय ३३५
अंतरंग स्वरूपशक्ति २६२
अंशांशिभाव २५४, २८८
अंशांशिभाव सम्बन्ध २८१
अंसटास ७६
अखण्डानन्द १८४, १८५
अखण्डानुभूति १८५
अख्यातिवाद ७, ४५, २०२
अख्यातिवादी २०३, २२३
अग्नि ६६
अग्नि पुराण ११६, २१५, २१६, २१७
अचित् १८६
अचिन्त्य भेदाभेदावाद २६०
अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ १८४, १८८
अजहत् लक्षणा २४३
अजहत् स्वार्था २४४
अजातवाद १४१, १४२, १४३, २०५, ३४१, ३४२
अणुभाष्य २७६, २८०
अथर्ववेद १०२
अथर्ववेद संहिता १०३
अथर्वशीर्ष १२३
अथर्वशीर्षेपनिषद् ३०६
अदृष्ट १२
अद्वैत २
अद्वैत चन्द्रिका १६५, १६६
अद्वैततत्वसुध १८६
अद्वैतदर्शन ११
अद्वैतदीपिका १८५
अद्वैतब्रह्मसिद्धि ५१, १८७
अद्वैतमत १८५
अद्वैतरत्न १८५
अद्वैतरत्न रक्षण १८०
अद्वैतरसमंजरी १८८
अद्वैतवाद २, १०, ५६, ८१, ६१, ६७, १०२, ११६, ११८, ११६, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १३०, १४०, १४३, १६६, १६७, १६८, १७०, १७२, १७३, १७६, १८५, १८८, २७८, २८६, ३०५, ३०६, ३०८, ३१६, ३३२, ३४०
अद्वैतवादी आचार्य १६६
अद्वैतविद्यामुकुर १८६
अद्वैत विद्याविलास १८६
अद्वैतवेदान्त ८,६,१३,२३,२४,३६,५१,५७
अद्वैत सम्प्रदाय १८०
अद्वैतसिद्धि १७१, १८०, १८१, १८२, २११, २१२
अद्वैतानन्द बोधेन्द्र १७२
अधिष्ठान ६४, १०१, १०३, १४३, १६६, १७५, १६६, २००, २१०, २१८, २२०, २२२,
अधिष्ठानवाद ६२, १०६, १७२, १७६, १८२ २१६,२६१,३४१
अध्यारोप १०३, १८६, २१५, २१७
अध्यारोपवाद १३, ८१, २१६

अद्वैतचिन्ता कौस्तुभ १८८
१६६, २००, २०६, २२१, २२३, २२४, ३२७
अध्यासवाद २३, ३५१
अध्यास सम्बन्द १८२
अनकसागोर ५६
अनन्त कृष्ण शास्त्री ६०, १८६, २६५
अनन्त्य १२७
अनलहक ८८
अनिर्वचनीय २३, १६६, १७४

२०४, ३५२
अनिर्वचनीयता १०
अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति २६७
अनीश्वरवाद २२
अनुभवानन्द १७६
अनुमन्त्रण वाक्य ४६
अनुमान
अनुव्यवसाय ४४
अनेकान्तवाद १३५
अन्धकार ४६
अन्यथाख्याति ७, २०२
अन्यथाख्यातिवाद २०३, २२२
अन्वयार्थ प्रकाशिका १३२, १८७
क्षपरनिश्रेयस ६
अपरब्रह्म १६७
अपरमोक्ष १३५
अपराविद्या १२०
अपवर्ग ८
अपवाद १०३
अपवादन्याय १७६
अपान्तरतमा २३३, २२४, २६२
अप्पय दीक्षित ७२, १७१, १८४, १८६, १८८,
२११, २१२, २१५, २२६
अबुलहसन अशमरी ८५
अबुलहुसैन ८८
अबूयाकूबकिन्दी ८६
अबूहाशिम बस्ती ८५
अमर कोष ११, ४७
अध्यास ३५, ७४, १०६, १६२, १६६, १७६
अभिनवगुप्त १२६, ३१४
अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ १८६
अभिनिवेश २८, २६
अभेद्‌रत्न १८५
अमरकोष १
अमरूक ३४
अमलानन्द १७०, १७६, १७७
अयमात्माब्रह्म २७५
अधोध्याकाण्ड ५
अरविन्द १८८
अरस्तू ४, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६
अर्चिमार्ग २२६,
अर्जुन १२२
अर्थवाक्य ४६
अर्थवाद ४६
अर्थवैनाशिक ११
अर्थशास्त्र ५
अर्थसंग्रह ४८
अर्थापत्ति ६, ४२
अलनूरी ८८
अलवर १३३
अवच्छैदवाद १६७, १६८
अवच्छेदसम्प्रदाय १६६
अविद्या १३, २४, २८, ३१, ३४, ६८, १६१,
१६२, १६३, १६४, १६५, १६७, १६८, १६६,
१७०, १७१, १७३, १७५, १७७, १७८, १७६,
१८०, १८१, १८२, २००, २१२, २१३, २१५,
२१८, २२०, २२५, २२६, २३७, २७५,
२६७, ३३४
अविद्यानिवृत्ति १६८, २२६, २३०
अव्यक्त १७, १६४
अव्यक्तावस्था १६
अशअरीसम्प्रदाय ८५
अश्वघोष ३२४
अष्टादशपुराणदर्पण ११६
असंग २२, ३२२, ३२४
असत् ४७, ५६, ६०, ६३, ६८, १०४, १०६,

अभिधावृत्ति मातृका १३२
असत्कार्यवाद ८, २१०, २११
असत्ख्यातिवाद २०३, २०४
असत्वाद ३१८
अस्मिता २४८
असम्प्रज्ञात ३०, ३१, ३६
असित १२६
अहंकार २०, २१, १८३
अहंग्रह २२७
अहंब्रह्मास्मि १३४, १३५, २३६, २४०, २४१ २४७
अहिकुण्डल दृष्टान्त २७६
अहिर्बुध्न्यसंहिता २५१
अज्ञान ३५, १६४, १७५, १७६, १८६, १८६ २४०

आ

आकाश ४६
आगम पुराण ३६६
आगमसार ३०२
आगस्ताइन १४८
आग्नय पुराण १२०
आचार ५०
आचार दर्शन ६१, ६२, ६३
आत्मा २, ३, ६, ४६, ५१, ८६, ८७, १०६ ११३, ११४, ११५, १४२, १७४
आत्मकण ७०
आत्मख्यातिवाद ७, २०१
आत्मख्यातिवादी २०३, २२
आत्वोध ६२, १३६, ३०६
आत्ममाया २६३
आत्मस्वरूप १३६
आत्मपुराण १८५
आत्मानात्म विवेक १६६
आत्मानुभूति १७५
आत्मोपनिषद् ३३५
आत्म विद्याविलास १८८
आत्म साक्षात्कार २२६
१६२, १७२, १७३
आनन्दपूर्ण विद्यासागर १८३, १८७
आनन्दवोध भट्टारकाचार्य १७३
आनन्दवोधचार्य १७२, २०४, २३०
आनन्दज्ञान १८५
अन्नवीक्षिकी ५
आपदेव ४८, ५२, १५२, १५७
आपस्तम्व ५
आपस्तम्वीय मण्डनकारिका १६७
आभासवाद १६७, १६८, १७०, १७७, २१४ २१६
आयन्न दीक्षित १८३, १८६
आरुणि १०७
आर० डी० रानाडे १०, ३०८
आरण्यक ग्रन्थ १०५
आर्थर अवेलन १२२
आरोप ३५
आरोप न्याय १७६
आरोपवाद २८०, ३०५
आर्मस्ट्रांग ५७, ६६
आलय-विज्ञान ३२१, ३२४
आवरण ३५, १६५, १६६, २०६
आशुतोष ३, १७०, १८८, १६५
आश्मरथ्य १२६, १२६
आश्रम व्यवस्था ६१, ६३, ६४
आश्रयानुपपत्ति २६४, २६५

इ

इक्ष्काकु २५
इच्छाशक्ति १५३
इटली ८५
इडा ३०२
इत्सिग १३१
इन्द्र ६६, १५६
इम्पीरियल गजेटियर ६५, ३४४
इष्टसिद्धि १३२, १६७, १७४, १७५
इस्लामी दर्शन ३, ४, ५, ८५, ८६, ८७, ८६

आनन्दतीर्थ २७४

ई

ई० कैर्ड ६२, ६४
ईश्वर १३, २२, ३१, ३३, ३६, ३७, ४८, ५२, ५६, ६५, ७५, १२६, १४६, १५०, १५४, १७१, १७७, १७८, १७६, १८२, १६०, २१२, २१३, २५२, २७१, २७६, २८६, २६७ २६८
ईश्वरकृष्ण १७, २०, २१, २२
ईश्वरवाद ३१५, ३१७
ईश्वराद्वयवाद ३०८

उ

उई ११
उत्पल १३१, १३२
उत्तमा भक्ति २६१, २६६
उत्तर मीमांसा ३८, १७६, १८०
उत्तर सांख्य १५
उद्दालक २५१
उद्योतकर ६, १०
उपदेश साहस्री ३४, १६४, १८७, २३२
उपनिषदों का अध्ययन १६४
उपमान ७, ४२
उपवर्ष १३०
उपादान कारण ६०, १७१, २१३, २६१
उपाय प्रत्यय ३०, ३१
उपासना २२६
उमामहेश्वर १३२
उमेशचन्द्र भट्टाचार्य ३५४
उमेश मिश्र ६, १३, ३७, ४४

ऊ

ऊर्मिषट्क ७

ऋ

ऋग्वेद ६७, ६८, १०४, १०५
ऋग्वेदसंहिता ५७, ६६, २०७
ऋजुप्रकाशिका १८५
ऋत १०२

ए

एकजीववाद १५५, १५७, १८१, १८७
एकहार्ट ११६, १६८
एकात्मवाद ६
एकेश्वरवाद ५५, ५७
ए० के० रे चौधरी ७६, ७८
एगलिंग १०४, २७०
एच० जे० पेटन ७३
एडोल्फकेगी ६६
एन० शास्त्री ६६, ७४, ७६
एन० वी० थदानी ५१, ५२
एपीकुरू ६६
एम्पोदोकल ५६
एर्ड मैन ७१
एनीड्स १६८
एस० के० दास ७३, ७४
एस० के० मित्रा ८४

ऐ

ऐतरेयब्राह्मण ७०, १०४, १०५
ऐत्तरेयारण्यक १०५, १०६
ऐतरेयोपनिषद् ६५, ६३, २०८
ऐतरेयोपनिषद् १६१
ऐतिह्य ६

औ

औड्लोमि १२६, १२८
औलूक्य दर्शन ११

क

कठरुद्रोपनिषद् ११५
कठोपनिषद् ३०, ६०, ६१, ६२, ८४, १०८ १०६, ११३, १३४
कठोपनिषद् भाष्य १६१
कणाद १३

कपर्दिक १३०
कपर्दी १३०, १३१
कपिल १७, १६, २४
कबन्धी ६४
करणमन्त्र ४६
करपात्री १८६
कपूरादिस्तवराज ३०८
कर्म ४७
कर्मकाण्ड ३८
कल्पतरु १३६
कल्पनावाद ५६, १२५, १२६, ३१८
कल्लट ३११
कविता कल्प वल्ली १८८
काञ्ची १७२
काण्ट ४, ५०, ६६, ६७, ७२, ७३, ७४, ७५ ७७, ७६, १४७
काण्ट का सब्सटेन्शिया १४७
काणाद ११
कात्यायन ६४
कामकोटिपीठ १७२
कामिल हुसैन ४
कारणवाद ८
कारुण सिद्धान्ती ३१०
कारुणिक सिद्धान्ती ३१०
कार्य ८
कार्य कारणवाद १५,२३, २०५, २०८, २११ २१२, २१३, २६१, २६८
कार्यकारण सम्बन्ध २०६, २७६
कार्ष्णाजिनि १२६, १२८
काल ४६
कालामुख ३१०
काली १६०
कावेल १६५
काशकृत्स्न १२६, १२७, १२८
काशी २३६
काशी मोक्ष निर्णय १६७
काश्मीरक सदानन्द यति १८४, १८७
काश्मीर शैव मत ३१०
काश्यप १२६, १२६
कीलहार्न १२७
कुटुम्ब शास्त्री ३४१
कुण्डलिनी ३०२
कुप्पू स्वामी शास्त्री १३६
कुमारिल भट्ट ४३, ५१, ५२, १३२
कुम्भक ३०२
कुलचूडामणितन्त्र १२३, ३०४
कुलपाण्ड्य १३६
कुलाचार ३०२
कुलार्णवतन्त्र १२४, ३०२, ३०६, ३०८
कुलूक भट्ट की टीका ३०२
कूटस्थ चैतन्य १५२, १७८
कृतकोटि १३०
कृष्ण ५५, ७०, १००, १२२
कृष्णबोधाश्रम १८६
कृष्णानन्द १८५
कृशणालंकार १८८
कृष्णोपनिषद् ११५
केदारनाथ ३४
केनोपनिषद् भाष्य १०१
के० बी० पाठक १३२
के० माधवकृष्ण शर्मा १३१
केवलाद्वैतवाद २८७, २८८
केशव काश्मीरी ३१०
केशोण्ड्रक २१६, ३१८
कैर्ड २१३
कैपेलर २
कैलास संहिता ११७
कैवल्योपनिषद् २६, ११५
कोकिलेश्वर शास्त्री १६३
कोलब्रुक ३८, १५८, १५६, १६५
कौलाचार्य ३०२
कौटिल्य ५
कौषीतकी ३६, १११
कौषीतकी आरण्यक १०७

काश्मीर शैव दर्शन ३१०
क्रियमाणानुवादिमन्त्र ४६
क्रिशक्ति १५३
क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध २२१
क्षिप्त २६
क्षेत्रज्ञशक्ति २६६
क्षेमराज ३११, ३१२, ३१४, ३१६
कसेनोफेन ४, ५५, ५७, ६१

ख

खण्डन कुठार १७०
खण्डनखण्डखाद्य १७५, १८७, २४०, ३२५
३३३
खल्दून ८८
ख्यातिवाद ७, ४५, २०१

ग

गंगानाथ झा ३१८
गंगाप्रसाद १४०
गंगापुरी भट्टारकाचार्य १८४
गंगेश ४, १७५
गजाली ८७
गन्धर्व १२४, २६८
गफ १०८, १४५, १५८, १७६, १६५
गरुडपुराण ११६
गर्ग १२६
गार्गी ११०
गार्वे १४, ३२
गिरधर महाराज २७६
गीता २४, २५, ५५, ८०, १२२, १२३, १४७
१५०, १६४
गीता प्रवचन १६४
गुण १७, ४७
गुणभद्र १४४
गुणमाया २६३
गुणरत्न १३, १५
गप्ताचार्य २८३
गुरुप्रदीप १७२
कौशीतकी उपनिषद् ६
गृहदेव १३०, १३१
गूढार्थ दीपिका १८०
गोपीनाथ कविराज १६, १६५
गोपेश्वर २८३
गोल्ड जीहर ८६
गोवर्धन भट्ट १८६
गोविन्द चक्रवर्ती २८३
गाविन्दपाद १४३, १४४
गोविन्द भाष्य २६८
गोविन्दानन्द १८४, १८७
गौडपादकारिक ६५, १३७, १३६, १४२, १४
२०५, २५६
गोडपादकारिका
गोडपादाचार्य ६५, ८०, ८६, १२६, १३०
१३६, १३७, १४१, १४२, १४३, १६१
१६६, २०५, २०६, २१८, ३४१, ३४२
गौतम धर्मसूत्र ५
ग्रिफिथ १००, १०१
ग्रीक ४

घ

घाटे २४८, २५५, २५८, २६१, २७५, २७६

च

चन्द्रकान्तनर्कालंकार ११, ४४
चन्द्रकीर्ति ३३२
चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती १७२
चरक ४
चरकासांख्य १५
चार्ल्स विल्किन्स १६५
चार्वाक ६
चित् ११०, १६२
चिति ३३
चित्त २६
चित्त की पांच अवस्थायगो २६
चित्तवृत्तिनिरोध ३४
चित्शक्ति २६३

गुरुरत्नमालिका १८६
चित्सुख तत्व प्रदीपिका १३१
चित्सुखाचार्य १७५
चित्सुखी १७५
चिद्गगन चन्द्रिका ३०८
चिद्विलास १७२
चिन्तामणि रहस्य ४४
चिस्तान ६
चैतन्य १८३, २३७
चैतन्य चरितामृत २६१
चैतन्य महाप्रभु २८६, २६०

छ

छः प्रमाण ४०
छान्दोग्योपनिषद् १५, ३६, ५८, ८२, ८३
६१, १०६, ११०, ११४, ११५, ११६, १२६
१२७, १३२, २०७
छान्दोग्योपनिषद् भाष्य १६१
वेदार्थ संग्रह १३३

ज

जगत् ८, १२, १८, १७४ १७५
जगन्मिथ्यात्व १३८, १६६
जडचेतनवाद १६३
जडदेहवाद ७१
जबरूत ८८
जयन्त १३२
जल ४६
जहदजहल्लक्षणा २४७
जहीज ८५
जाग्रत् ८८, १३८, १३६, १४१, १७६, १८२
१६१, १६२, २५५, २६१, २७२, २७७, २८१
२०४
जाहिर ८६
जिनसेन १४४
जीव २, १२५, १२८, १३४, १४१, १५३
१५४, १५५, १६१, १६६, १७०
१७७, १७८, १८२, १६०, २१३, २३०
चित्सुख ७१
३१२, ३१६
जीव ईश्वर २४७
जीव गोस्वामी २८६, २६०, २६१, २६२
२६३, २६४, २६५, २६७, २६८, २६६,
जीव चैतन्य २३६, २४१, २४२, २४३
जीवन दर्शन १८६
जीवन्मुक्त १६६, २००, २३५
जीवन्मुक्ति ६, २१, ११६, १३५, १६४
२३२, २३३, २३५, २६२, ३१७
जीव परमात्मा २४६
जीवानन्द १७६
जी० सी० चटर्जी ७१
जे० एस० मैकऊँजी १०८
जे० कीर्तिकर ६६, ७६, ७७, ८१, ६६, २१४
जेनो ४, ६०, ६१, ६६
जेलर ४, ५४, ६०, ६२, ६४
जैकब १४५, १६५
जैकोबी १२०, १३७
जैगीषवय १२६
जैनतन्त्र ३०२
जैमिनि ३८, ३६, ४८ख ५२, १२६, १२७, १३०
जैमिनि भारत १२७
जैमिनीय रत्नमाला १७७
जोन्स ६६
जोरोस्टर ८६
ज्ञ २१
ज्ञातता ४४
ज्ञान कर्मसमुच्चय ६३
ज्ञानक्रियाभक्ति २६३
ज्ञानशक्ति १५३

ट

टंक १३०
टी० एम० पी० महादेवन १३१
टामलिन ६५, ७५

ड

२५३, २५४, २६०, २७२, २७६, २८१
११४, ११५, १४६, १५६, १६५
डार्कग्राउन्ड ७८
डी० एम० दत्त १६०
डील्स ४, ५५, ५६, ५७
डेकार्ट ४
डेविड ८३, ८४

ढ

ढुण्ढिराज शास्त्री १३

त

तक्की ५
तटस्थ शक्ति २६२
तत्त्वकौमुदी १६, १७०
तत्त्वकौस्तुभ १८६
तत्त्वदीपन १६६, १८८, २८१
तत्त्व दीपिका १३२
तत्त्वनिर्णय २७७
तत्त्व विन्दु १७०
तत्त्व बोध ६०
तत्त्व वोधिनी १८५
तत्त्वमसि ४२, ४३, ४४, ४६, १८३, २४१, २६३, २७५
तत्त्वमुक्ताकलाप १३३, २५४
तत्त्वरहस्यदीपिका १५
तत्त्वविवेक १८५
तत्त्व वैशारदी २४, २६, २६, ३१, ३५, ३७ १७०
तत्त्व संग्रह ३१२
तत्त्वानुसंधान १८८
तत्त्वार्थ दीप २८०, २८४
तन्त्र १२३, ३०१
तन्त्ररत्न ४०
तन्त्ररहस्य ४२, ४३
तन्त्रालोक ३१४
तन्मात्रा २१
तमोगुण १८
डायसन ६, १५, २३, ६१, ६५, १०७, ११३
तर्कदीपिका ११
तर्कविद्या ५
तर्कशास्त्र ५
तर्कसंग्रह ७
ताण्ड्य ब्राह्मण ३६
तात्पर्य दीपिका १३६
ताराचन्द ४
तिरूज्ञान सम्बन्धर १३६
तुरीया ८८
तैत्तिरीय ब्राह्मण १०५
तैत्तिरीय श्रुति वार्तिक १६७
तैत्तिरीय संहिता ३६
तैत्तिरीयारण्यक १०६, २०७
तैत्तिरीयाछ्पनिषद् ६, ३६, ८६, ८७, ६१, ६८ १०४, १०६, ११४, २०८
तौहीद ८६
त्रिंशिका ३२१
त्रसरेणु १२
त्रिपुटी प्रत्यक्ष ४३
त्रयणुक १२

थ

थीबो ३, ६३, १३०, १४५, १४६, १५७ १५८, १५६, १६५, ३१८
थ्रेस ५४

द

दर्शन दिग्दर्शन ७०, ८८
दशश्लोकी २७१, २७२, २७३
दादा धर्माधिकारी १६५
दास गुप्त २३, ३७, १०७, ११२, ११३, १४६ १५६, १७१, १७३, १८१, २११, २७८ २८२, २८३, ३२०, ३२३, ३३७, ३३६
दिव्य भाव ३०२
दिशा ४६
दीपिका ८
दुर्गासप्तशती ३०३

तमोयोग्य जीव २७७
दृग्दृश्यविवक ३५
दृष्टान्त १३६
दृष्टिसृष्टिवाद ७२, १७६, २१४, २१५, २१६
देकार्त ६७, ६८
देमोक्रितु ५६
देवतावाद ६६
देवयानमार्ग २२६
देवराज २७१
देवल १२६
देवी ३०३
देवी भागवत १२१, १२३
देवेश्वराचार्य १७१
दैवत ब्राह्मण १०५
द्रव्य ११
द्रविडा चार्य १३०, १३२, १३३
द्वयणुक १२
द्वेष २८, २६
द्वैतवाद ३, २७४, २७५, २७६, २७८
द्वैतवादी ६३
द्वैताद्वैतवाद ३, २१०

ध

धम्मपद ३३६
धर्म ४८
धर्मराजाध्वरीन्द्र १८३, १८४, २०६
धर्मशर्माभ्युदय ३३२
धर्मसूत्र १३१
धारणा ३०
ध्यान ३०

न

नज्जाम ८५
नयन प्रसादिनी १७५
नरसिंह स्वरूप १३६
नरेन्द्र देव ३२२, ३२७, ३३१, ३३६
नर्मदा १४३
नलिनीमोहन शास्त्री १६२
दृक् १३१, १७४, १७५
नव्य न्याय ६
नागार्जुन ३३१
नाट्य्य शास्त्र १२६
नाद ३१२
नान्यदेव १२६
नामधेय ५०
नारद ४०
नारद पंचरात्र २५६
नारदीय पुराण ११८
नारायणाश्रम १८४, १८५, १८६
नासदीय सूक्त ६६
नासूत ८८
निकुंजबिहारी बनर्जी ७०
निगमन १३६
नित्यबोधाचार्य १७१
नित्य संसारी जीव २७७
निदिध्यासन १८७४, १८२, २३४
निम्बार्काचार्य ८५, १०८, २४८, २७०, २७१
२७२, २७३, २६६, ३००
निमित्त कारण ६०, २६१
नियाम्य नियामक भाव सम्बन्ध २६०
निगुर्ण १२१, १६६
निर्गुण ब्रह्म १६८
निर्वाण ३३१, ३३२
निर्विकल्पक ४१
निराशावाद ८३, ८४
निरीश्वरवादिता १५
निवर्तकानुपपत्ति २६८
निवृत्यनुपपत्ति २६६
निवृत्ति २२८
नीलकंठ सूरि १८४, १८६
नूर-अल-नूरिन् ८६
नृसिंह तपापिन्युपनिषद् ११५
नृसिंह सरस्वती १८४, १८७
नृसिंहाश्रम १८४, १८५, २०३
नेति नेति ११२, ११३
नेडुमारण नायनर १३६

नवधा भक्ति २८३, २९५
नैष्कर्म्य सिद्धि १२७,१३३,१३४,१६७
न्याय ४, ९
न्याय कन्दली
न्यायकारिका १७०
न्यायचन्द्रिका १८७, २४०
न्यायदर्शन ७, ८, ४८, १७०
न्याय निर्णय १८५
न्याय भाष्य ७
न्यायमकरन्द १७३, १७५, २०४, २३०
न्याय मञ्जरी १३२
न्याय रत्नमाला ४३
न्याय रत्नाकर १३२
न्याय रत्नावली १८२
न्यायवार्तिक ९
न्यायवार्तिक तात्पर्य १७०
न्याय विद्या ५
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली १४८
न्यायसुधा १३६
न्याय सूची निवन्ध १७६
न्यायसूत्र ६, ८
न्याय दशक २५७

प

पंचतन्मात्रा २०
पंचदशी ३४; १५२, १६५, १७७, १७८, २४१
पंचधाभक्ति २६१
पंचपादिका १३६, १६६, १७०, १७२, १८७
पंचपादिका दर्पण १७६, १८५
पंचपादिका विवरण १६५, १७४
पंचमकार ३०२
पंचमहाभूत २०
पंचविश ब्राह्मण १०५
पंचशिख १५, १६,
पंचानन तर्करत्न १८६
पंचावयववाक्य ४०
नैपाली बौद्ध धर्म ३०३
पंतजलि १६, २४, २६, ३०, ३२, ३३, १२७, १४४
पदयोजनिका १५७
पदार्थ ६, ८, ११
पदार्थ निरूपण ४५
पद्मपाद १३६, १६७, १६७, १७३, १७४
पद्मपुराण १२०, ३३६
परतः प्रामाण्यवाद ४३, ४४
परब्रह्म १६७
परमतत्त्व ६७
परमात्मा २, ११८, २६२
परमहंसोपनिषद् २२८
परमाणु ११
परमाणुवाद ८, १३, ४८
परमार्थठक्कुर १८३
परमार्थ सत्य ३३०
परमेनिद् ४, ५५, ५७, ५८, ६०, ६१
परलोक गमन २३२
पदार्थानुमान ४१
पराप्रपत्ति २५६
परामुक्ति १३५
परावाक् १३२
पराशक्ति २६६
परिणामवाद १६, १३२, १३५, २१०, २८८
परिमल १८६
परिसंस्थान १७७
पशुभाव ३०२
पश्यन्ती १३२
पांचरात्र ३०२
पातंजलयोग ३४, ३५
पार्थसारथि मिश्र १३२
पारमार्थिक ३०४
पारमार्थिक सत्ता ७४
पाराशर ४६
पाराशर संहिता १२१, १३१
पाशुपत १३
पिंगला ३०२

पंजीकरण १६७, १८६
पिरहो ६६
पी० एम० मोदी १६४
पी. टी. राजू १६३
पी. वी. काणे १३१
पूर्णप्रज्ञ २७४
पूर्व मीमांसा ३८, ३६, १७६
पूर्वमीमांसा दर्शन १७०
पुराण साहित्य ११६
पुरुष १६, १७, १८, १६, २१, २३, २४, २५
२८, ३२, ३३, ३७
पुरुष वहुत्व १६, २३
पुरुष बहुत्ववाद २४
पुरुष विशेष ३२, ६५
पुरुष विशेष ईश्वर ३५
पुरुष सूक्त ६७, ६८
पुरुषोत्तमाचार्य २८८, २७६
पुरुषोत्तम २८०
पुष्टि प्रवाह मर्यादाभेद २८५
पुष्टिभक्ति २८४
पुष्टिमार्ग २८४, २८५
पुलिन्द ३०३
पृथ्वी ४६
पृश्नि १०२
पैटन ७४
पैष्पंजि १२७
पौराणिक सांख्य २०
प्रकट वौद्ध ३३८
प्रकरण पंचिका ४३, ४६
प्रकार प्रकारी सम्वन्ध २५२
प्रकाशानन्द ७२, १७८, १७६, २१२, २१५
२१७
प्रकाशानुभव १७३
प्रकाशात्मा १७४, २३०, २३७
प्रकाशत्मयति १६५, १७१, १७३, ३४०
प्रकृति १६, १७, १६, २०, २३, २४, २५
प्रच्छन्न वौद्ध ३३६
प्रजापति ६७, १०३, १०६
पिथागोरस ६१
प्रणव ३२, १३७
प्रत्यक्ष ६, ४०
प्रत्यक्ष अपवाद १३६, २१७
प्रत्यग् रूप १३१
प्रत्यभिज्ञा ३१३
प्रत्यभिज्ञादर्शन ३१४, ३४८
प्रत्याभिज्ञाशास्त्र १७, ३१५
प्रत्याभिज्ञासूत्र ३१४
प्रत्यभिज्ञाहृदय ३१४
प्रत्याहार ३०
प्रतिज्ञा १३६
प्रतिनिवृति ७८
प्रतिविम्ववाद १६१, १६७, १७०, १७४
२१४, २८७
प्रतीकोपासना २२७
प्रतीतयसमुत्पाद ३२२, ३२३, ३२८
प्रद्युम्न २७२
प्रदोष ४५
प्रपंच १८२
प्रपंचसार १६६
प्रपंच हृदय १३०
प्रबोध परिशोधिनी १३६
प्रभाकर ६, ७, ४१, ४५, ४६, ४७, ५१,
५२
प्रभाकरमत ४०, ४३, ४४
प्रभाकर विजय ४८
प्रभावक चरित १४४
प्रभुदत्त शास्त्री १५८, २६४, २६५
प्रमाण २७
प्रमाण चैतन्य १८३
प्रमाणमाला १७३
प्रमाणशास्त्र ५
प्रमाणसमुच्चय १३५
प्रमेय ८
प्रमेय रत्नावली २६०
प्रवाहमार्ग २८५
प्रश्नोपनिषद् ७२, ११५

प्रज्ञानानन्द १८५
प्रशस्तपाद भाष्य १२, १३, ४६
प्रस्थान भेद १८०
प्रस्थान रत्नाकर २८०
प्रसंख्यान १७०, १७६
प्रह्लाद २८१
प्राचीन अद्वैतवाद १३६, १४४
प्रचीन मीमांसा, ४८
प्राचीन सांख्य २०
प्राज्ञ १३७, १५३
प्राण १६४, १६५
प्राणमय १५३
प्राणामय ३०
प्रातिभासिक ३०४
प्रातिभासिक जीव १५२, ३०४
प्रातिभासिकसत्ता ३१६
प्रामाण्यवाद ४०
प्रेम रसायन २८३
प्रेम लक्षण चन्द्रिका २८३
प्लेटो ४, ६१, ६२, ६३, ८७
प्लोटिनस ८६

फ

फारावी ८७
फिक्ते ४, ६७, ७५, ७६
फ्रूडेन्थल ५६, ५७
फ्रैड्रिकश्लेगल ६६
फैरियर ६०

व

बकुलाभरण १३३
बर्कले २, २१३
बर्नेट ५७, ५८, ६७, ७१, ७२
बरुआ ३३७, ३३८
बलदेव उपाध्याय १३, १५, ६७, २५६, २७४
२७६
बलदेव विद्याभूषण २६८, २६६
बहुदेववाद ५२, ६७
प्रशस्तपाद ११, १२, १३
बहुत्ववाद ६१
बादरायण १२, ३८, ३६, ५२, १०६, १११
११४, ११६, १२७, १२६
बादरि १२६, १२७, १३०
बालबोधिनी १८७
बादावलि २८२
बी० एन० सील १८
विधुशेखर भट्टाचार्य १३१, १२७
बीजांकुरन्याय २१६
बु-अली-मस्कविया ८७
बुद्धि २८, १८३
बूह्लर ५
बृहदारण्यक उपनिषद् १३४, १६२
बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य १६१
बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्यवार्तिक १६७, १६८
बोडास ५
बोथलिंक २, १६५
बोधायन १३०
बोधार्थात्मनिवेद १८६
बोधिचर्यावतार ३३३
वोधिचर्यावतार पंजिका ३२१, १२६
बौद्ध ६
बौद्ध तन्त्र ३०२
बौद्धधर्म दर्शन ३२२
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन ३२२
बौद्ध दर्शन १३७
ब्रह्म २, ३, २३, १००, १०२, १०३,
१०६, १०७, १०८, १०६, ११०, १११,
११२, ११४, ११६, १२१, १२४, १२६,
१२७, १३७, १४०, १४१, १७१, १७८
१७६, १७५, १७६, १६४, १६६, १६७,
२०१, २१३, २५०, २५१, २५३, २५५,
२५६, २७६
ब्रह्मकीर्तन तरंगिणी १८६
ब्रह्मगीता ११६
ब्रह्म चैतन्य २३८
ब्रह्मज्ञानी १२२

ब्रह्मदत्त १३०, १३३, १३४, १७०, १७४, १७६
ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका १८८
ब्रह्मतत्त्व समीक्षा १७०
ब्रह्म पुराण ११६, १२०
ब्रह्मवाद ८७
ब्रह्मरन्ध्र ३०२
ब्रह्मलोक २२५
ब्रह्मविद्याभरण १७२
ब्रह्मवैवर्त्त पुराण १२०
ब्रह्मसाक्षात्कार १७५, १७६
ब्रह्मसिद्धि १३१, १६७, २३४
ब्रह्मसूत्र १५, ११६, १२६, १२७, १२८, १२६, १३०, १३५, १६१, १७०, १८५, १८८, २५१
ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री ४५, २०२
ब्रह्मसूत्र दीपिका १८५
ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य २, ७, ६, ११, २२, २३, ३५, ३६, ५८, ६५, ७२, ८७, ८८, ६०, ६३, ११४, १२३, १२८, १२६
ब्रह्मसूत्र भाष्यवार्तिक १६७
ब्रह्मनन्दी १३०, १३२, १३३
ब्रह्माद्वैतवाद १६२
ब्रह्मानन्द १७२, १८२, १८३, २१२
ब्रह्मानन्दी १३०, १७१, १८२
ब्रह्माण्डपुराण १२१
ब्रह्मानन्द सरस्वती १८२, १८६
ब्रह्मवरकत्वानुपपत्ति २६६
ब्रह्मामृतवर्षिणी १८७
ब्रह्मोपंनिषद् ११२
ब्राउन ८६
ब्राह्मणग्रन्थ १०४
ब्रैडले ३६, १४१, १६८

(भ)

भक्त २६५, २६६
भक्ति २५६, २८३, २६१, २६४, २६६, २६६ ३०३
भक्तिचिन्तामणि २८३
भक्तिपूजा ३०३
भक्तिमार्तण्ड २८४, २८५, २८६
भक्तिरसामृतसिन्धू २६१
भक्ति वर्द्धिनी २८४
भक्तियोग १२२
भक्तिसूत्र १२६
भक्ति के (सोलह) साधन २८५
भगवान् १२२, २८५, २६०, २६२, २६६
भगवान् कृष्ण २६५, २६६
भट्टारकगोविन्द १४४
भट्टोजिदीक्षित १८४, १८६
भर्तृहरि १, १२६, १३०, १३१, १३६, ३४०
भर्तृप्रपंच १३४, १३५
भरतसिंह उपाध्याय ३२२
भवप्रत्यय ३०, ३१
भवप्रत्यय समाधि ३६
भविष्यपुराण २७५
भागलक्षणा २४२, २४४
भागवततात्पर्यनिर्णय २७६
भाट्टमत ४०, ४१, ४३, ४४, ५२
भाट्टमीमांसक ५१
भाट्टसंप्रदाय ४७
भामती १२८, १५२, १७०, १७१, १८५, १६६, २६७
भारतभावप्रदीप १८६
भारतसंहिता १२७
भारती ३४
भारती कृष्ण तीर्थ १८६
भारतीय दर्शन (उव मि०) ६, ६७
भारतीय दर्शन (ब० उ०) १३
भारुचि १३०, १३१
भावना ५०
भावनाविवेक १६८
भावप्रकाशिका १८५
भावप्रदीप, १३२, ३४१
भास्कर १३२

भास्कराचार्य २७०, २८१, ३३७, २३८
भास्कर भाष्य १३२
भूदानयज्ञ १६५
भूमानन्द सरस्वती १७५
भृगु १२६
भेदाग्रह ४५
भेदधिक्कार १८३, १८५, १८६
भेदधिक्कार सत्क्रिया १८६
भेदधिक्कार सत्क्रियोज्ज्वला १८६
भेदाभेदवाद १२६, १७४
भोज २५, १४४
भोजवृत्ति ३२, ३५, ३६

म

मंगलदेव शास्त्री १०६
मक्का ८५
मण्डन मिश्र ३४, ४०, ४६, ५०, १३१, १६७, १७०, १७६
मतसारार्थसंग्रह १८६
मत्स्यपुराण १२१
मदीना ८५
मथुरादास तर्कवागीश ४४
मध्ववेदान्त १८६
मध्वाचार्य ८५, २४८, २७४, २७५, २७६, २६६, ३००
मध्ववृहद् भाष्य २७६
मध्वसिद्धान्तसार २७६, २७७
मधुसूदन सरस्वती ८६, ६३, १३२, १३४, १६४, १८०, १८१, १८२, १४६
मन ४६, १८३
मनन १७४, १७८, १८२, १८३
मनु २५, ४६
मनुस्मृति ५, ३०२
मनोमय १५३
मन्त्र ४६
मन्त्रयोग २५
मर्यादा भक्ति २८४
मर्यादा मार्ग २८६
मल्लनाराध्य १८४
मलकृत ८८
महत्तत्व १७, २१
महादेवन १७५
महादेवसरस्वती १८४, १८८
महाप्रभुचैतन्य २६६
महाभारत ५, १४, १५, १२७, १८२, १२६, १८६, ३०१
महानिर्वाणतन्त्र १०३, ३०६, ३०८
महाभाष्य १२७
महानारायणोपनिषद् ६१
महावाक्य २४१
महेश्वरतीर्थ १८५, ३१३, ३१५
मार्कण्डेयपुराण ११८, १२७
माठर १८
माण्डूक्यकारिका १३८, १४०, १६१
माण्डूक्यकारिका-शांकरभाष्य ६०
माण्डूक्योपनिषद् ६२, ७६, ११२, १३३
माण्डूक्योपनिषद् शांरकभाष्य २, ८०, १६१
माध्वभाष्य २४८
माधवमन्त्री १३६
माधवाचार्य १३१, ३११, ३१२, ३१३, ३१४
मानमेयोदय ४०, ४१, ४३, ४६, ४८, ५१, ५२
मालसोल्लास १६७, २२६, २३१, ३०६
माया १७, २३, ७०, ७६, १०२, ११७, ११५, ११७ ११८, १२०, १२२, १२३, १२४, १३७ १४२, १४३, १४६, १४६, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १७१ १७७, १७८, १८०, १६०, १६१, २०६, २१३, २२०, २६१, २१२, २६०, ३०४
मायावाद ३, १३, ६३, ६०, ११५, १२५, १५७, १५८, १५६, १६०, १६१, २६१, २६४, २६६, २७८, ३०४, ३१८
मायावी २०८, २०६
मिक्क्रिण्डिल ५४
मिताक्षरा १३१
मिथ्यात्व ३, १७४, १८१, १८२, १८४, १६२
मीमांसा दर्शन ४०, ४६, ५१

मीमांसान्याय प्रकाश ५०
मीमांसा सूत्र १२५, १२६, १३२
मुअम्मर ८५
मुइर ६६
मुक्तजीव २५६
मुक्त पुरुष ११६, २३१
मुक्ति ४, ६, ७, ६, २१, ३६, १२०, १२३, १२८, १८२, २२८, २३२, २३६, २५५ २६५, २७३, २७७,. २७८, २८६, ३०६
मुकुन्दशास्त्रीखिस्ते ४६
मुकुल भट्ट १३२
मुण्डकोपनिषद् ६, ६१, ११७ख १५४
मुतलक ८६
मुद्रा ३०२
मुमुक्षु ३४, १२२
मुरारि ४४
मुरारिमत ४३
मुहम्मद ८५
मुहीत ८६
मूढ २६
मूलाज्ञान २३६
मेगस्थनीज ५४
मैक्समूलर ११, १६, २२, २४, २५, ३३, ३४, ३७, ३६, ५४, ६६, ८२, ८६, ६५, ६६, १०७, ११३, १३१, १४७, १५८, १५६
मैकेंजी १५६
मैक्डोनल ६६, २
मैक्सहार्टिल
मैटेरिया प्राइमा ७०, ७१
मैत्रायणीउपनिषद् ६
मैत्रेयी ११२, १६०
मोक्ष ८, १६, २०, ३१, ३३, १८६, २२६, २३४, २६६, ३००, ३०५
मोक्ष (मीमांसा) ५२
मोतजलासम्प्रदाय ८५
मोनिज्म २

य

यजुर्वेद १०२
यजुर्वेद संहिता १०१
यतिपतिमत दीपिका २५२, २५३, २५४
यतीन्द्र मत दीपिका १३१
यम २१,
यास्त्रिव ८५
याज्ञवल्क्य ४१, १११, ११२, ११३, २५१
यादवप्रकाश १२६
यामुनाचार्य १३१, १३३, १३४, २५६
युनानी दर्शन ५४, ८८
योग १, २५, २६
योगदर्शन २४, २५, २६, २८, ३१, ३४, ३५ ३७, ३८, ६५
योगभाष्य २५, २८, ३०
योगवार्तिक ८, २४
योगवाशिष्ठ १२४, १२६, ३१७, ३१८, ३१६ ३२०, ३४६
योगसाधन रहस्य १८५
योगसूत्र १८, २५, २६, २७, ३०, ३१, ३३
योगसूत्रभाष्य २७, २६, ३१, ३२
योगसूत्रभाष्य (पा० टि०) ३३
योगाचार ३२१
योगाचार बौद्ध १४०

र

रंगनाथ १८४, १८८
रंगराजाध्वरी १८४, १८६
रजोगुण १७, १८, १६
रत्नप्रभा १५१, १८७, १६८, १६६, २१२ २२३, २२४
रविन्द्रनाथ टैगोर १६५
रसहृदय १४४
रहस्यत्रय २५२
रहस्यत्रयसार २५४
राग २८
राजमार्तण्डवृत्ति ३३

राजयोग २६
राजस २०
राजानक ३१४
राजेन्द्रलाल मित्र ३३
राधाकृष्णन् ११, २२, ३२, ६७, ७५, ७८,
८२, ८४, ६२, १३६, १४८, १६५,
१६५, २१३, २५८, २५६, २६२,
रानाडे ५३, ६४, ७३, ७४, ८३, ८४, १०८
११६
रामकृष्णपरमहंस १८६, १६०, १६५
रामतीर्थ १६६, १७१, १८४, १८७
राममूर्ति शर्मा ७, १०
रामाचार्य १८२
रामाद्वयाचार्य १५६, १८४, २२५
रामानन्द २६०, २६१
रामानन्द तिवारी १६१
रामानन्द सरस्वती १७१, १८४, १८५, १८७
रामानुज ५७, १०८, १३०, १३१
रामानुजाचार्य ४०, ८५, २४८, २५०,
२५२, २५३, २५६, २५८,
२५६, २६०, २६१, २६२,
२६३, २६४, २६५, १६६,
२६७, २६८, २६६, २७०,
२७१, २७३, २७४, २८१,
२८३, २८६, २६६, ३००,
३१०, ३३६
रामायण ५, ७
रामोत्तरतापिन्युपनिषद् ११२, ११५
राशित्रयवाद १३५
राहुल ५७, ६४, ६६, ६७, ७०, ८७, ८८
राहुल सांकृत्यायन ३३७
द्र ११८, ३०६
दसंहिता ११७
निस २, ३३
रानाडे १५८, १५६
चौधरी ६३, ७०, ७१
अर १६५
लर्ट लेटर ७०
रोम्यां रोला १६०, १६१
रौथ २, ६४
रौस ६५, ६६

ल

लंकावतारसूत्र ३२१, ३२२, ३२४
लघुचन्द्रिका १८०, १८१, १८२
लाघुवार्तिक १६७, १६६
लययोग २८
ललितासहस्रनाम ३०७
लक्ष्मी २७६
लक्ष्य-लक्षणभावसंबंध २४५
लाइब्निज़ ४, ६५, ६६, ७०, ७१
लाहूत ८८, ८६
लिंगस्थल ३१०
लीला १६३
लौगाक्षिभास्कर ४८, ५२

व

वनमाला १८८
वाररुचि १२६
वरुण ६६, १११
वल्लभदर्शन २८६
वल्लभाचार्य १, २४८, २७६, २८०, २८१,
२८३, २८४, २८५, २८६, २८७,
२६६, ३००
वसुगुप्त ३१२, ३१४, ३१५, ३४७
वसुबन्धु ३२१, ३२४
वस्तुवाद ५६
वस्तुसारात्मक सत्ता ७४
वाकोवाक्य ५
वाक्यपदीय १३२, ३४०
वाचस्पति ५,६
वाचस्पति मिश्र ५, १६, १७, २४, २६, ३१
१२८, १३६, १५२, १६६,
१६७, १६६, १७०, १७१
१७३, १७६, १७७, १६६,
२००, २१२

वाचस्पत्यम् १
वार्तिकसार १६७
वार्तिकसार संग्रह १६
वात्स्यायन ५, ७, १०
वाद-विद्या ५,
वामकेश्वर तन्त्र १२४
वामन १२०
वामन-पुराण ३१०
वामाचार्य ३०२
वायु ४६,
वायु-पुराण ११६
वाप्य-भट्टि १४४
वाहिद हुसैन ८६
वादीन्द्र १८५
विकल्प २७
विक्टर कज़िन ६६
विचार सागर ४
विदेह ३०
विदेह कैवल्य १८४, २३३, २३४
विदेह मुक्ति ६, १०, २१, २२, १३५, २३२, २३३, २६२, ३१७
विदेहावस्था ३०, ३१
विद्यारण्य १४४, १६५, १६६, १७८, १८५
विद्यासागरी १७६
विद्वन् मनोरंजिनी १८७
विधिविवेक १६७, १६८, १७०
विनोबाभावे १८६, १९३, १९४, १९५
विनोबासंवाद १९४
विपरीत-ख्याति ४५
विपर्यय २७
विमंसी ५
विमुक्तात्मा १३२, १७४, १७५
विराट् पुरुष ६७, १०२, १६७
विलियम २
विलियम जोन्स १६५
विल्सन १६५
विवर्त २३, २१०
विवर्तवाद ६१, ७८, ६७, १०२, १३२, २०५, २०६, २६१, २६२, २७३, २८७, ३०५, ३५१
विवरण १६६, १८७
विवरण दर्पण १८६
विवरण प्रमेय संग्रह १६५, १६६, २०१, २५६, २३४
विवरण संप्रदाय १६६, १७३
विवरणोपन्यास १८७
विवेकचूडामणि ३५, २०४, २१८, २६०, २८२, २६७, ३२६
विवेकानन्द १८६, १६०, १६२, १६५
विशिष्टाद्वैत १३०, २७४, ३११
विशिष्टाद्वैतवाद १३१, २७६, २६६, २५०, २५८
विशेषण-विशेष्य-भाव संबंध २४५, २६०
विशेष सिद्धान्त २६६
विश्व १५३
विश्वकर्मा ६७
विश्वनाथ १४८, २८३
विषय चैतन्य १८३, २३७, २३८
विषयिता १६२
विषयित्व १६३, १६४
विषय-विषयी-भाव २३८
विष्णु ११७, ११८, १२०, १३१, २७६
विष्णु-पुराण ११७, २६३, २१०
विष्णु-भक्ति २६६
विष्णु-शक्ति २१०
विष्णु सहस्रनाम १४
विष्वक्सेन २७२
विसंवादी भ्रम १७८
विस्तर १७७
विक्षिप्त २६
विक्षेप ३५, १६५, १६६, २०६
विज्ञान ६१, ६२, ६३
विज्ञानभिक्षु ८, १३, १७, २२, २४
विज्ञानमय १५३
विज्ञानवाद ३१८, ३२१, ३२२, ३२५, ३३६, ३२०

विज्ञानवादी ३२६, ३३१
विज्ञानवादी बौद्ध १३६, १४१, १७४
विज्ञानेश्वर १३१
वी० एन० टण्डन १६५
वीरभाव ३०२
वीरमणि प्रसाद उपाध्याय १३५, १६८, १७७
वीर शैवमत ३१०
वीरशैव सम्प्रदाय ३११
वुड्रफ १२३
वुड्स ३३
वूल्फ २
वेदव्यास १२७
वेदाचार्य ३०२
वेदान्त २, २४, २२६, २४६
वेदान्त कल्पतरू १७०, १७१, १७६
वेदान्त कल्पलतिका ५०, ५१, १८०
वेदान्त कौमुदी २३, १५६, १८४
वेदान्त कौस्तुभ २७२
वेदान्त तत्व विवेकी १८६
वेदान्त दर्शन १७०
वेदान्तदीप १८८
वेदान्तदेशिक १३३, २५७
वेदान्तपरिभाषा १४३, १४७, १४८, १८३, १८४, २०६, २१८, २४६, २४७
वेदान्तपारिजात सौरभ २७०, २७३
वेदान्तरत्न मंजूषा २७३
वेदान्तसार १३, २३, ३४, ३५, ६१, ८१, १०३, १०७, १६, १८६, १८७, २४१, २४४, २८७, ३४२
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ६२, ७२, १७८, १७६, १८०, २१२, २१५
वेदान्तसिद्धान्त सूक्ति मञ्जरी २२८
वेदान्त सूत्र १०२, १८५
वेदान्तांक (कल्याण) १३५, २७३, १७७, १७८, १८५, ३४०, ३४१
वेदार्थ संग्रह १३१, २५६
वेनिस १६५
वेवर २५, ६६, १६५
वैकुण्ठ २४६
वैदिक सिद्धान्त संग्रह १८५
वैधर्म्य १४०
वैशेषिक ३, ६, १३
वैशेषिक दर्शन ११, १२
वैशेषिक सूत्र ११, १२, १३
वैश्वानर १५३
वैष्णव तन्त्र २६५
वैष्णवाचार्य ३०२
वृत्ति १८०, १८१, १८३; २३६, २४०
वृत्तिनिरुपण २३६
वृत्तिभेद १८३
वृहद् वाशिष्ठ ८
वृहदारण्यकोपनिषद् ६, १०, ६५, ८७, ६१, ६३, १०६, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६
वृहदारण्यकोपनिषद शांकरभाष्य ६२, ६३, ११३
व्यक्तावस्था १६४
व्यावहारिक ३०४
व्यावहारिक जीव १५३
व्यावहारिकता १६२
व्यावहारिक सत्ता ७४, ३१६
व्यासभाष्य १६
व्यासराज १८२
व्युत्थान ३०
व्यौहारराजेन्द्रसिंह १६४

श

शंकर ३४, ५८, ६६, ७४, ७६, ८०, १२१, १६७
शंकर दिग्विजय १४४, १८५, १८६
शंकराचार्य २, ३, ६, ११, २१, ३६, ३८, ६० ६५, ७०, ७२, ७३, ७५, ८५, ८६, ८७, ६०, ६३, ६६, १०८, ११४, ११६, १२३, १२७, १२८, १२६, १३०, १३३, १३५, १३६, १४०, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७,

१४८, १५१, १५७, १५८, १६०, १६१, १६२, १६३, १६५, १६६, १६७, १६८, १६६, १७२, १७३, १७५, १७७, १८२, १८४, १८५, १८७, १६१, १६६, १६६, २०६, २२८, २२६, २३४, २४८, २५८, २५६, २६२, २८७, २८८, २६७, ३००, ३३७
शंकराचार्य अमलानन्द १३६
शंकराचार्य का आचारदर्शन १६१ शास्त्र दीपिका
शंकरानन्द १८५
शक्ति ४६, ११८, १२१, १२३, १८६, १६२, २८२, ३०४
शक्तिसंगम तन्त्र ३०५
शक्ति संप्रदाय ३०२
शक्त्यणुवाद ६६
शक्त्यद्वैतवाद १, १२३, १८६, १६३, ३०१, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७
शतपथब्राह्मण ५७, ६६, १०४, २०७
शतभूषणी १८६
शवर ३०३
शब्द ६
शब्दब्रह्मवाद १३१
शब्दब्रह्माद्वैतवाद १३२
शब्दाद्वयवाद ३४०, ३४१
शब्दाद्वैतवाद १, १३२
शरणागति भाव २६५
शांकर अद्वैत १२
शांकर अद्वैतवाद १६२, ३२०
शांकरभाष्य कठोपनिषद् १०६
शांकरभाष्य गीता १२२
शांखनारण्यक १०७
शान्तिपर्व ५,
शाक्त तन्त्र ३०३
शाक्तागम ३०२
शाण्डिल्य १२६
शाण्डिल्य १२६
शाण्डिल्य सूत्र ११६, २८२, २८३
शान्तरक्षित १३२
शन्ति विवरण १७२
शावर भाष्य १३०
शब्दप्रमाण ४१
शारदातिलक तन्त्र ३०४
शारदामठ १७२, १८६
शार्कराक्ष्य ३०६
शारीरैकजीवाद १५६
शास्त्र दर्पण १७६
४०, ४२, ४४, ४७, ५०, ५२, ५३
शिव ११७, १२२, १६२, ३०६, ३१०, ३११, ३१२
शिवचन्द्र भट्टाचार्य ३०७
शिशुपालवध ४०
शिव दृष्टि १३२, ३१५
शिवपुराण ११७
शिवसंहिता १३६
शिवसत्रविमर्शिणी ३१२, ३१३, ३१४
शिवाद्वैत ११७, १६२
शीर्षासन २६
शुद्धचित् १७१
शुद्धवस्तु ७३
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २६६, २८१, २८६
शुद्धाद्वैतवाद १, ३, २७६, २८६
शुद्धा भक्ति २६
शून्यवाद १४८, ३१८, ३२०, ३२७, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३६
शून्यवादी २१६, २२०, २२१, ३२८, ३३१
शेलिंग ४, ६७, ७७, ७८, ७६
शेष शार्ङ्गधर १८५
शेषशेषीभाव ३५२
शैवदर्शन १३१, ३१५
शैवभाष्य ३०२
शैवमत १८६
शैव संप्रदाय ३०६
शैव संप्रदाय ३०६
शैवागम १, ३०२

शैवाचार्य ३०२
शोपेनहार ४, ६६, ६७, ८१, ८२, ८३, ८४
श्लोकवार्तिक ४७, ५१, ११८, १२१, १३१
श्वेतकेतु १०६
श्वेताश्वतरोपनिषद् १५, २३, ८५, ९०, ११०, १११, ११५
श्रवण १७४, १७८, १८२
श्रृंगेरी मठ १७१
श्रीकण्ठ मत १८६
श्रीकृष्णाचार्य ३०२
श्रीनिवासदास १३१
श्रीनिवासाचारी २५६, २५७
श्रीनिवासाचार्य २७२
श्री भाष्य २५०, २५१, २५३, २५४, २५५, २५६, २५६, २६६
श्रीमत्अनन्यानुभव १७३
श्रीमद्भगवद्गीता १२१, १६१, २८२, २८३, २६०
श्रीमद्भागवत २०, ६५, ११७, ११८, २८२
श्रीरामशर्मा आचार्य १००
श्रीवचनभूषण २५७
श्रुतप्रकाशिका २०१, २५५
श्रुतिरहस्य १८५
श्रुत्यर्थापत्ति ४२
श्रौत अपवाद २१७

ष

षट्सन्दर्भ २६२, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८
षट्सन्निकर्ष ४१
षड्विंश ब्राह्मण १०५
षाट्कौशिक शरीर ३६

स

संन्यास २२६
संन्यासोपनिषद् २६१
सकलाचार्यमतसंग्रह २७६
सगुण १६६, १६७
सगुण ब्रह्म १६८
सत् ५७, ५८, ५६, ६०, ९०, ६६, १०४, १०६, १४३, १७२, १७३, २०६, २०८
सत्तात्रय ३५०
सतीशचन्द्र विद्याभूषण ८
सत्कारणवाद २११
सत्कार्यवाद १६, १८, २३, २१०, २११
सत्ख्यातिवाद २०१, २०२
सत्ख्यातिवाद २०३, २०६
सत्त्वगुण १७
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिवाद १४
सत्त्वान १२७
सदसत्ख्याति २६७
सदानन्द २३, १०७, १६६, २१६, २३४
सदानन्दकाश्मीरक १८५
सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती १८४, १८६
सदाशिव ब्रह्मेन्द्र १८४, १८६
सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण १८८
सदाशिवेन्द्र सरस्वती १८४, १८८
सन्धिनी २१०
सप्त पदार्थी ११
समाधि, २७, ३०
समानाधिकरण सम्बन्ध २४५
सम्प्रज्ञात ३०
सम्भव ६
सरस्वती हृदयालंकार १२६
सरस्वती विलास १३१
सर्वदर्शन संग्रह, २५०, २५२, २५५, ३१२, ३१३, ३२७
सर्वसंवादिनी २६०
सर्वसारोपनिषद् ११५
सर्वसिद्धान्त संग्रह ३२२
सर्वज्ञात्मा १४६
सर्वज्ञात्म मुनि १३३, १७१, १७२, २११, २१८, १५२, २२८, २३३, २३०
सर्वार्थसिद्धि १३३
सर्वोदय १६५
सर्वोदयदर्शन १६५

सहस्रार ३०२
संकल्पवाद ८२, ८३
संकर्षण २६२
संस्कार २७, ३०
संवादी भ्रम, १७८
संवित् २६०
संवृत्ति ३२४, ३२७, ३३४
संवृत्ति सत्य ३३०
संसार २८१
संक्षेप शारीरक १३२, १३३, १३४, १६६, १७१, १८७, २११
सात्विक २०,
साधन चतुष्टय ३४
साध्यभक्ति २६६
सामर्थ्य ५०
सामवेद १०१, १२७
सामवेदसंहिता १००
समान्य ४७
सामीप्य २७८
सामीप्य मुक्ति २६४
साम्य दर्शन १६४
साम्य योग १६५
साम्य सूत्र १६४
सायण ६७, १०१, १०६
सायणभाष्य ६७, ६६, १००, १०३
सायुज्य २७८, २८६
सायुज्य मुक्ति २६४
सारूप्य २७८
सारूप्य मुक्ति २६४
सालोक्य २७८
सालोक्य मुक्ति २६४
सार्ष्टि मुक्ति २६४
साहित्यदर्पण २१५
साक्षी १६, १५४, १७१, १७२, १७५, १७८, १८४
सांख्य ३, ४, १६, २०, २४
सांख्य और अद्वैतवेदान्त १४
सांख्य कारिका १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, १७०
सांख्यदर्शन ६, ११, १७, २१, २२, २३
सांख्य प्रवचनभाष्य १७, २१, २२, २४
सांख्य सूत्र १६, १७, २२, २४
सिद्धान्त जान्हवी २७१
सिद्धान्तरत्न २६६
सिद्धान्तलेश संग्रह ७१, ७२, १५२, १७२, १७६, १७७, १७८, १८६, १८८, २११, २१२, २१३, २१४ २१५, २१६, २१७, २६६
सिद्धान्तविन्दु १७१, १८०, १८२
सिद्धान्ताचार्य ३०२
सिद्धार्थ ४१
सिद्धासन २६
सिद्धित्रय १३१, १३३
सी० कुन्हन राजा १३१
सुकरात ६१
सुजुकी ३२६
सुबोधिनी १८७, २८७
सुदर्शनाचार्य १६५, १७०
सुन्दरपाण्ड्य १३०, १३५, १३६
सुमन्तु १२७
सुरेशराम भाई १६५
सुरेश्वर १३४, १२७
सुरेश्वराचार्य १३३, १६७, १६८, १६६, १७१ १७७, २१६, २२६, २२८, २३१,
सुषुप्ति ८८
सुषुम्ना ३०२
सूक्तांकर १३०
सूक्ष्मटीका २६८
सूर्यनारायण शुक्ल १३२
सूत्र रत्नावली १८२
सूत्र साहित्य ११६
सूत्रात्मा १५३
सेवाफल २८७
सोज़न ३२४
सोमानन्द १३१, १३२
सोमानन्दनाथ ३४७

सोवानी १८
सौन्दर्य लहरी १२३, ३४५, ३०४
सृष्टि दृष्टिवाद २१४, २१६
सृष्टिवैषम्य १५१, ३५०
स्कन्दपुराण ११६
स्कम्भ २०७
स्टीवेन्सन १०१
स्टेस ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६४
स्थितप्रज्ञ दर्शन १६४
स्पन्द कारिका ३११, ३१२, ३१६
स्पन्द दर्शन ३११, ३१५, ३१७
स्पन्द निर्णय ३१२
स्पन्द सर्वस्व ३११
स्पिनोज़ा १३१
स्मृति २७, ४६
स्मृतिसंग्रह १७०
स्वतन्त्र-सत्व ६८, ६६
स्वतः प्रामाण्यवाद ४४
स्वप्न ८८, १३६, १४०
स्वप्नवाद ३१८
स्वप्नसिद्धान्त १३८
स्पप्नेश्वर २८२
स्वर्णसूत्र २८१
स्वराज्य सिद्धि १६७
स्वरूप भक्ति २६३
स्वरूपाद्वैतवाद १८६
स्वरूपानुपपत्ति २६६, २६७
स्वार्थानुमान ४१

ह

हंसवतीऋचा ६६
हरदत्तशर्मा ४७, २०१
हरिदास २८३
हरिभाऊ उपाध्याय १६४
हरिराम २८७
हरिवंश १४४
हलायुध ३४६
हलायुधकोश १
हलायुधकोश विवृत्ति १
हल्डेन २१४
हस्तिमल्ल १४४
हाइल ६३
हिरण्यगर्भ १५२
हिरण्यनाभ १२७
हिरियन्ना १२६, २५३
हिलेब्रां ११४
हिसियड ५७
हेगल ४, १४८
हेतु १३६
हेतूपनयन १३६
हेनोथीज्म ६६
होमर ७५
हृदयंगमा १२६
ह्लादिनी २६०





डॉ० राममूर्ति शर्मा–दिल्ली विश्व विद्यालय के संस्कृत–विभाग में एमरिटस फैलो (यू० जी० सी) रह चुके हैं। ये पंजाब विश्व विद्यालय चंडीगढ़ के संस्कृत विभाग में प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष भी रहे हैं। इन्होंने वेदान्त विषय पर पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग ने इन्हें भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शन विषय पर भाषण देने के निमित्त नेशनल लेक्चरर के पद पर नियुक्त किया था। ये विश्वविद्यालय अनु-आयोग के नेशनल फैलो भी रह चुके हैं (१९९०)। ये देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में दर्शन पर व्याख्यान दे चुके हैं। १९८२ में ये अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत संगोष्ठी में भाग लेने के लिए मैक्सिको गए थे। इस अवसर पर ये कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज़ एवं लन्दन विश्वविद्यालय भी गए। डा० शर्मा इन्टरनेशनल एसोसियेशन आफ बुद्धिस्ट स्टडीज़ के ५वें अधिवेशन में भाग लेने के लिए अगस्त १९८२ में भारत सरकार द्वारा ऑक्सफोर्ड भेजे गए थे। ऑक्सफोर्ड में एक विशेष सभा का सभापतित्व इन्होंने किया था। १९८४ में भारत सरकार ने इन्हें छठे विश्वसंस्कृत सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारतीय प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के रूप में फ़िलाडेल्फ़िया भेजा था। १९९४ में यू० जी० सी० ने उन्हें नवें विश्व संस्कृत सम्मेलन में भाग लेने के लिए मेलबर्न (आस्ट्रेलिया) भेजा था। १९९४ में डा० शर्मा थाईलेण्ड एवं सिंगापुर भी गए थे, जहाँ इन्होने भारतीय दर्शन पर अपने भाषण दिए थे। डा० शर्मा आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के शान्ति-निकेतन अधिवेशन में दर्शन अनुभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त उक्त कान्फ्रेंस के १९८६ में सम्पन्न एशियाटिक सोसायटी अधिवेशन में ये साउथ ईस्ट एशिया अनुभाग के भी अध्यक्ष रह चुके हैं। आल इण्डिया ओरियण्टल कांफ्रेंस के ३५वें अधिवेशन में प्रोफ़ेसर शर्मा बौद्ध दर्शन अनुभाग के अध्यक्ष थे। पुरस्कार–

(i) राष्ट्रपति सम्मान एवं पुरस्कार

(i) भीमसेन पाठी ट्रस्ट (उड़ीसा) अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार

(i) संस्कृत अकादमी, दिल्ली पुरस्कार

(i) उ. प्र. शासन एवं संस्कृत अकादमी से तीन ग्रन्थ पुरस्कृत।

BOOKS BY
PROFESSOR RAM MURTI SHARMA

- ŚAṄKARĀCĀRYA : A critical study of his Doctrine of Māyā and Other Concepts (Ph.D. Thesis 1963).
- VIŚVASANSKṚTI (1964).
- HISTORY OF VEDIC LITERATURE (1967).
- ANUSAṄDHĀNA-BHĀRATĪ : (Edited 1964).
- ABHIJÑĀNAŚĀKUNTALAM : Edited and annotated, (1967).
- ADVAITAVEDĀNTA : A critical and comparative study of its History and its Tenets (1972).
- VEDĀNTASĀRA : Edited with the Commentary, Viveka and Vidvanmanorañjanī (1978).
- DHVANI-SIDDHĀNTA (1978).
- SANSKṚTA-NIBANDHĀDA RŚAḤ (1979).
- SOME ASPECTS OF ADVAITA PHILOSOPHY (1985).
- GLIMPSES OF VEDĀNTA (1989).
- ENCYCLOPAEDIA OF VEDĀNTA (1993).
- VEDIC COSMOGONY (1995).
- VEDĀNTA MEN BRAHMA KĀ SVARŪPA EVAM JĪVANADARŚANA (1996).

Available at :